भाषाविज्ञान
सिद्धान्त और स्वरूप

डॉ० जितराम पाठक

अनुपम प्रकाशन
पटना-4

माई

सुगिया देवी

और

बाबू जी

रामदास पाठक

के

पुनीत चरणारविन्दों

में

श्रद्धा-सहित

समर्पित

—जितराम

अनुक्रम

पुरोवाक्

भाषा मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन है अभिव्यक्ति के क्रम मे ही उसे व्यंजना-प्रखर रूप मिलता है। भाषा-विकास के सम्बन्ध मे रिबोट ने ठीक ही कहा है कि भाषा का विकास व्यावहारिक उत्कृष्टता के कारण होता है। वह मानव-प्रकृति को अभिव्यक्त करती है। सभ्यता, संस्कृति और मानसिक-बौद्धिक विकास को उसके द्वारा सुनिश्चित किया जाता है। देश-काल के संदर्भ मे ही इस विकास को रेखांकित करना संभव होता है, क्योंकि ये दोनो भाषा की अभिव्यक्ति के मंच है। देश-काल का मंच बिखरने के पहले ही भाषा अपना मार्ग बना चुकी होती है। वह कोई नया रूप लेती है, जो लोकग्राह्य होता है। एकाधिक पर्यायवाची शब्द एक साथ थोक के भाव नहीं गढे गये। ये भाषा की विकास-यात्रा के माइल स्टोन है। इनमे देश की संस्कृति का रूप उरेहा गया है। आदमी, पुरुष, लोग, जन, व्यक्ति आदि भाषा-विकास की मंजिले है। नर शब्द वैदिक मानस प्रकट करता है तो आदमी मे आदिम मनोभाव की व्यंजना होती है। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति पुरु से हुई है। पुरु का अर्थ है वीर, योद्धा। पुरुष का बल-विक्रम पौरुष है। लोग की उत्पत्ति लोक से हुई। गणतांत्रिक भावना के साथ प्रजनन भाव भी इसमे निहित है। मानव तो मनु की संतान माना ही गया है। मनुष्य भी मनु मे ही जुडा है। व्यक्त होने से मनुष्य व्यक्ति होता है। जन्म के पूर्व वह अव्यक्त होता है। जन्म धारण कर वह व्यक्ति बनता है।

भाषा पूर्णतः समाज-सापेक्ष है। समाज की गति, सभ्यता, संस्कृति, मानसिकता का प्रतिदर्श भाषा में निहित है तो भाषा का विश्लेषण करते समय समाज के अधुनातन प्रभाव को भी ध्यान मे रखना होगा। ऐतिहासिक संदर्भ का विश्लेषण करते हुए प्रचलित भाषा-स्वरूप का विवेचन भाषाविज्ञान मे होना चाहिए। यही भारतीय परम्परा है। यास्क ने पद-पाठ-प्रक्रिया के क्रम मे प्रचलित भाषा का विश्लेषण किया है—'स्वर मात्रा विभाग ज्ञो गच्छेदाचार्य संसदम्।' डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि अपने प्रदेश की बोली पर आधारित भाषा को महान् भाषाशास्त्री पाणिनि ने संस्कार दिया, नियमित किया। वैकल्पिक प्रयोगो के बाहुल्य से प्रचलित भाषा के स्वरूप को उन्होने व्याकृत किया। पतंजलि ने अपभ्रंश शब्दों की अधिकता को रेखांकित करते हुए कहा कि गौ जैसे साधु शब्द के गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि विविध रूपान्तर, लोक मे प्रचलित है। हेमचन्द्र के समय अपभ्रंश का प्रचलन था। उन्होंने संस्कृत,

प्राकृत और अपभ्रंश विश्लेषित किया, किन्तु उनके अपभ्रंश सूत्र विशेष महत्त्व के है, क्योंकि उनके उदाहरण समसामयिक है। इनके अतिरिक्त कात्यायन, वररुचि आदि भाषाविदो ने प्राचीन और प्रचलित का समीकरण प्रस्तुत किया है। बोली को भी भाषा के संदर्भ से जोड़ा गया है।

हिन्दी भाषाविज्ञान का जो स्वरूप विदेशी विद्वानो ने निर्धारित किया हम उसे ही ढो रहे हैं। अँगरेजो ने भाषाविज्ञान के बदलते परिप्रेक्ष्य को, भाषा की प्रकृति को नही पहचाना। उनके विवेचन की सीमाएँ थी। वे कथ्य भाषा (समकालीन भाषा) की प्रकृति, प्रवृत्ति और विविध कारणो से होने वाले भाषिक परिवर्तनो की धीमी गति को रेखांकित नही कर सके। विभाषी होने की सीमा उनके सामने थी। इसीलिए भाषा के सांस्कृतिक संदर्भों को वे सही रूप मे पहचान नही पाये। वे ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा-विश्लेषण कर सके हैं। और आज भी हम उसी लकीर के फकीर है। भाषा और बोली का रूप कई संदर्भों मे विकसित हो गया है। लल्लूलाल और भारतेन्दु की भाषा के आगे भाषा का विकास-निकास हो गया है। हिन्दी और उसकी बोलियों की प्रवृत्तियाँ, प्रकृति और सामाजिक परिदृश्य बदल गये हैं, फिर भी हम पुराने उदाहरण और झूठी पड़ी स्थापनाएँ ही दुहराते जा रहे हैं। ऐतिहासिक भाषा विज्ञान मे गतिरोध उत्पन्न हो गया है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के गतिरोध का प्रबल कारण है किसी आदि जननी भाषा से पुत्री भाषाओं की उत्पत्ति का सिद्धान्त।' इसीलिये विवेच्य-विषय के आधारो का स्पष्ट ज्ञान न होने से विवेचन सतही हो गये है, ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान अभी ध्वनि तन्त्र के दायरे में घूम रहा है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के मार्ग से शब्दो का विकास दिखा देना ही हमारा एकमात्र लक्ष्य बन गया है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की स्थापनाएँ एकांगी और रुढ़िबद्ध परम्परा को व्याकृत कर रही है।

पाणिनि, पतंजलि, हेमचन्द्र आदि ने ऐतिहासिक संदर्भ मे समकालीन भाषा को व्याकृत किया और ध्वनि, रूप तथा अर्थ के मानदण्ड स्थिर किये। हिन्दी भाषावैज्ञानिक शब्दो की व्युत्पत्ति में उलझे रह गये। तब भी तद्भव शब्द-रूप मे से कुछ की ही पहचान बन सकी। देशज आदि की संरचना अब भी हमारे लिए प्रश्न की तरह है। कहते है कि जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न निर्धारित हो, वे देशज हैं। बस हो गयी छुट्टी। देशज शब्द यो ही नही प्रकट हो गये। लोकभाषाओ द्रविड भाषाओ ने भी हिन्दी को बहुत कुछ प्रभावित किया है। हिन्दी का ध्वनितन्त्र, रूपतन्त्र, अर्थतन्त्र और वाक्यतन्त्र भी संस्कृत से भिन्न है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हिन्दी को प्राकृत परम्परा की भाषा मानते हैं। फिर भी हम संस्कृत से हिन्दी को कोरमकोर जोडने का प्रयत्न करते हैं। इस क्रम में भाषाविज्ञान अपने को दुहरा रहा है। इसमे हिन्दी और उसकी उपभाषाओ का अधूरा

अध्ययन ही हाथ लगता है।

हिन्दी और संस्कृत के ध्वनितत्र मे एक प्रमुख अतर मूर्धन्य ध्वनियो को लेकर है। विद्वानो की मान्यता है कि मूर्धन्य ध्वनियाँ हिन्दी या लोकभाषाओ मे आदिवासी भाषाओ से आई है। मोनियर विलियम्स मानते है कि मूर्धन्य ध्वनियाँ, आदिवासी भाषा से हिन्दी मे आई है। भाषाविज्ञान में ड और ढ का उक्षिप्त उच्चारण ड़ और ढ़ है। किन्तु 'वह पड़ गया' का भोजपुरी रूप 'पर गइले' है। र और ड़ की समीपता विचारणीय है। पूर्वी क्षेत्र में घोड़ा का घोरा, छौडा का छोरा, छौरा आदि रूप लोकभाषाओ मे प्रचलित है। डॉ० रामविलास शर्मा का कथन सही है कि ध्वनि परिवर्तन के अटल नियम स्थापित करने के बदले, ध्वनि प्रवृत्तियो को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। ध्वनि मे सामान्य ध्वनि चिह्नो के व्यवहार पर अभी गहराई से विचार-विमर्श नही हुआ है। मूर्धन्य ध्वनियो का प्रचलन हिन्दी मे व्यापक स्तर पर है—ठाकुर, ढ़कना, ठोकपीट, टॉका, टॉकी, डलिया, टीका, डोलना आदि। 'ण' का उच्चारण भी अनुनासिक ड़ जैसा होता है। मूर्धन्य 'ष' और 'श' के उच्चारण सिमटते जा रहे हैं। दत्य 'स' का प्रयोग क्षेत्र बढ रहा है। ऋ का उच्चारण हिन्दी मे 'रि' जैसा ही सभव है।

हिन्दी मे तालव्य 'श' भले उच्चारण से बाहर हो जाने की स्थिति मे हो, च वर्ग के तालव्य व्यंजन प्रयोग मे खूब चलते है। डॉ० रामविलास शर्मा बताते है कि भारतीय भाषाओं मे भी 'श' केन्द्र है। बगाल, महाराष्ट्र क्षेत्रो मे श का प्रयोग-बाहुल्य है। 'स' केन्द्र की पहचान हिन्दी से जुडी हुई है। हिन्दी और हिन्दी की उपभाषाओ मे दन्त्य 'स' के प्रयोग मिलते है। सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र 'स' केन्द्र के रूप मे रेखाकित किया जा सकता है। इसी प्रकार हिन्दी के अवधी से लेकर मिथिला तक के क्षेत्र मे महाप्राण व्यजनो का प्रचलन अधिक है। ब्रज, बागरू और राजस्थानी मे महाप्राणता क्षीण हो गयी। हिन्दी तथा भोजपुरी-मैथिली के क्षेत्र मे ह्रस्व 'अ' के प्रयोग मिलेंगे। सभी व्यजनो के उच्चारण ह्रस्व अ की सहायता से ही होते है। जाहिर है कि ध्वनि की दृष्टि से सस्कृत की तालव्य और मूर्धन्य ध्वनियाँ दन्त्य हो जाती हैं। महाप्राण ध्वनियाँ हिन्दी मे खूब चलती हैं—धधक, झझक, भभक, झोपडी, झगा, झिल्ली, झीगुर आदि।

डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते है कि हिन्दी में कुछ यौगिक संकर शब्दों की रचना, ईरानी, संस्कृत तथा अरबी भाषाओ से ग्रहण किये गये उपसर्गो से हुई है। डॉ० वारान्निकोव ने कहा है कि हिन्दी भाषा मे संकर शब्दो की सबसे अधिक सख्या हिन्दी-ईरानी, ईरानी-हिन्दी, अरबी-हिन्दी उपवर्गों के शब्दो की है। इसी प्रकार सस्कृत की परम्परा से हटकर हिन्दी ने कुछ ऐसे शब्द लिये हैं, जिनके प्रतिरूप सस्कृत मे नही हैं। जैसे भागदौड, ठढ आदि शब्द विदेशी भाषाओ से आये हैं। उनकी प्राचीनता को पर्कोनी जैसे विद्वान् ने स्वीकार किया है। केवल

सस्कृत से ही भाषा संरचना की प्रक्रिया और रिक्थ हिन्दी ने ग्रहण नही किया, बल्कि अन्य स्रोतो से भी, जो विदेशी भी हैं। देशज शब्दो की सख्या कम नही है। फिर क्रिया रूप और नामिक क्रिया के अथाह भण्डार को मिला दिया जाय तो भाषाविज्ञान हिन्दी के अथाह भण्डार की भाषिक संरचना को स्वरूप देने में अक्षम रहा है। वह मात्र थोडे से शब्दो की व्युत्पत्ति पर बहुत दिनो से चल रहा है। हम उसे ढो रहे हैं। तत्सम और तद्भव शब्दो की रचना एक अलग स्वरूप है। उससे ही भाषा के अमल स्वरूप को देखा-परखा जाना चाहिए। तभी भाषा सार्थक होकर हमे आनन्द देगी।

भाषाविज्ञान के सदर्भ मे डॉ० शर्मा आदि ने जो सुझाव दिये है, वे सतही ढंग से खारिज नही किये जा सकते। आचार्य किशोरीदास के मूल्याकन और स्थापनाएँ हमारा मार्ग दर्शन करेंगी।

इस पुस्तक की रचना का सारा श्रेय अनुपम प्रकाशन के संचालक श्री भीमसेन जी को जाता है। उनकी प्रेरणा का परिणाम यह पुस्तक है। अनेक विद्वानो की मान्यताओ और प्रयोगो को मैंने उदारतावश समेटा है। उनका ऋण पुस्तक मे बोल रहा है। आभार भी मुखर हो उठा है।

अनेक मित्रो की स्नेह-छाया मे पुस्तक रची गई। सहजानन्द ब्रह्मर्षि कालेज के डॉ० रामकिशोर राय, डॉ० जयनारायण राय, डॉ० आनन्द बिहारी मिश्र, डॉ० रमेशचन्द्र पाठक आदि के योग-सयोग से लेखन सम्पन्न हुआ। उनकी कृपा से धन्य हुआ हूँ।

पौत्र अमित, आत्मज गौरीशकर, डॉ० दीनबन्धु, अजय, संजय और वधू प्रतिभा के सहयोग के बिना मैं लिख नही पाता। उन्होने आपद्धर्म को सफलता से निबाहा। उनके लिए मेरा सहज स्नेह छलकता रहा है। प्राची और प्रज्ञा तथा भास्कर के बोल अनमोल हो उठे लेखन क्रम मे। इन्हे अथोर स्नेह।

महाशिवरात्रि, 1991 ई०

—जितराम पाठक

भाषाविज्ञान

विषय-प्रवेश

भाषा व्यक्त और सार्थक उच्चरित तथा श्रौत ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था है। इसका कार्य-क्षेत्र परस्पर सबोध्य समाज है। मनुष्य की समाज-सापेक्ष उपलब्धियों की अभिव्यक्ति का सर्वोपरि साधन भाषा है। समाज और अभिव्यक्ति से जुड़ने के कारण भाषा की प्रेषणीयता और ग्राहकता सुनिश्चित होती है। ग्राहक और प्रेषक का समाज परिवर्तित होता रहता है। उनकी मानसिकता भी बदलती रहती है। स्पष्ट है कि बोलने वाले और सुनने वाले का परिवेश कालक्रम से बदलता रहता है। वैदिक युग का परिवेश और अपभ्रंशकालीन परिवेश में पर्याप्त अन्तर आ गया। श्रोता और वक्ता बदल गये। पीढ़ी बदल गयी। देश, काल और व्यक्ति के परिवर्तन से अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा भी बदल जाती है। उसकी ध्वनिगत, पदगत, अर्थगत और वाक्यगत संरचना बदल जाती है। भाषा के इस स्वरूप परिवर्तन के कारणों और परिवर्तन की दिशाओं की ओर विद्वानों का ध्यान गया और उन्होंने उसके विकास-निकास का बारीकी से अध्ययन किया। यह अध्ययन भाषाविज्ञान के उद्भव का आधार हुआ।

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ० श्यामसुन्दर दास कहते हैं—'मनुष्य किस प्रकार बोलता है, उसकी बोली का किस प्रकार विकास होता है, उसकी बोली, भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं, किस भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन-किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप और का और हो जाता है तथा कैसे एक भाषा परिवर्तित या विकसित होकर पूर्णतया स्वतंत्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है—इन विषयों तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले और सब उप-विषयों का भाषाविज्ञान में समावेश होता है।'[1] भाषा के अध्ययन-क्रम में भाषा के उद्भव और किसी कालखण्ड में निरन्तर प्रवहमान और परिवर्तित उसके रूपों के विकास-निकास का अध्ययन होता है। भाषा के विकासगत सोपानों का अध्ययन भाषाविज्ञान का विषय है। विकास की प्रक्रिया में भाषा-परिवर्तन के कारणों और दिशाओं का विवेचन-विश्लेषण भाषाविज्ञान द्वारा किया जाता है।

---

1 भाषा विज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० 2

परम्परा

भाषा की उत्पत्ति से भाषाविज्ञान की उत्पत्ति जुड़ी हुई है। भाषा देश और कालभेद से नित्य नया रूप धारण करती रहती है। भाषा-धारा के प्रवाह को गहराई से देखने-परखने के वैज्ञानिक प्रयास प्राच्य और पाश्चात्य विचारकों ने किये हैं।

भारतीय वाङ्मय का मूल स्रोत वेद है। मनु ने 'सर्वज्ञानमयो हि सः' कहकर वेद को समस्त ज्ञान का मूल बताया है। आर्य भाषा का आदि ग्रंथ वेद है। आर्यों के विस्तार के साथ ही वेद की रक्षा और शुद्ध पाठ की समस्या का समाधान आवश्यक हो गया, क्योंकि विजित जातियों के सम्पर्क से होने वाले भाषिक प्रभाव से उसे अप्रभावित रखना था। भौगोलिक और जातीय भेद के कारण भी आर्य-भाषा-काल में भाषिक भेद उत्पन्न हो गये थे। इसके पर्याप्त प्रमाण तत्कालीन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। अतः वैदिक भाषा को अविकल शुद्ध रखने के लिए तथा बाह्य प्रभाव को नियन्त्रित करने के लिए वेद के साथ ही छः वेदांगों की रचना भारतीय मनीषियों ने की। वेद के छः अंग निम्नांकित हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें चार—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द का सम्बन्ध भाषा से ही था।

शिक्षा

ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याकार विष्णु मित्र ने शिक्षा को आधुनिक ध्वनि-विज्ञान का समानार्थी माना और उसे 'स्वरवर्णोपदेशक शास्त्र' कहा। जाहिर है कि आज जिसे ध्वनिविज्ञान कहते हैं, वही वैदिक काल में शिक्षा के नाम से ख्यात था। सायण कहते हैं—'वर्णस्वराद्युच्चारण प्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।' अर्थात् स्वर और व्यंजन के उच्चारण का जिसमें निरूपण हो, वह शिक्षा है।

शिक्षाग्रंथों की संख्या बहुत अधिक बताई गयी है। प्रातिशाख्यों को प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान का स्वरूप कहा जाता है। वेद की 1130 शाखाओं के पारस्परिक भेद का ध्वनि के आधार पर विश्लेषण और निर्धारण प्रातिशाख्य के माध्यम से होता था। उच्चारण की शुद्धता के लिए ऋषियों ने ऋचाओं के ध्वनिमूलक पाठ का निर्धारण किया। पाठ की पाँच पद्धतियाँ प्रचलित थीं—मन्त्रपाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ। इस प्रकार वेदपाठ के लिए शाखानुसार शुद्ध उच्चारण का निर्देश देना प्रातिशाख्य का मुख्य कार्य था। शिक्षा और प्रातिशाख्यों के सिद्धान्तानुसार वेदपाठ को परम्परा-प्रचलित होने के कारण आज भी ऋग्वेद मिश्रण और परिवर्तन से अछूता है।

निरुक्त

निरुक्त का अर्थ है व्युत्पत्ति। शब्दों के निकास-विकास के कारणों और दिशाओं का दिग्दर्शन कराना निरुक्त का लक्ष्य है। शब्द के अर्थतत्त्व और रचना-तत्त्व को व्यक्त करना निरुक्त का प्रतिपाद्य है। निरुक्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण विकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पचविद्यम् निरुक्तम्।

अर्थात् वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-नाश (वर्णलोप) और धातु का अर्थ-विस्तार निरुक्त के पाँच भेद हैं।

आज केवल यास्क का निरुक्त ही प्राप्त है। इससे पता चलता है कि लगभग आठवी शती ई० पू० भी हमारा भाषा-ज्ञान कितना समृद्ध था। निरुक्त के दो खण्ड है—1. निरुक्त, 2. निघटु। निरुक्त व्युत्पत्ति शास्त्र है और निघटु वैदिक शब्दकोश। यास्क ने शब्दों की व्युत्पत्ति का विश्लेषण करके उनके अर्थ का निर्धारण किया। वस्तुतः निरुक्त व्युत्पत्तिविज्ञान और अर्थविज्ञान है। यास्क ने पद-विभाजन प्रस्तुत किया। उनके अनुसार पद के चार विभाग है—नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात (अव्यय)।

कोशविज्ञान के अंतर्गत निघटु, अमरकोश, हलायुधकोश प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। व्युत्पत्तिविज्ञान के अंतर्गत यास्क का निरुक्त अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

व्याकरण

व्याकरण की महत्ता का आख्यान करते हुए कहा गया है—'मुख व्याकरण स्मृतम्।' भर्तृहरि का कहना है कि 'प्रथम छन्दसामङ्ग प्राहुर्व्याकरणं बुधा'।' व्याकरण शब्द का अर्थ है विश्लेषण। तात्पर्य कि व्याकरण भाषा के विविध अंगो का विश्लेषण करता है।

आजकल भाषाविज्ञान मे जिन तथ्यो का विश्लेषण किया जाता है, उनका विवेचन व्याकरण मे होता था। भारतीय साहित्य मे व्याकरण के अध्ययन की एक परम्परा रही है। कहते है कि पाणिनि के पूर्व सत्तावन वैयाकरण हुए और पाणिनि के बाद पन्द्रह। किन्तु पाणिनीय अष्टाध्यायी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का अन्यतम ग्रथ है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे केवल व्याकरणिक सिद्धान्त-सूत्र ही उपलब्ध नही है, बल्कि भाषा के विश्लेषण, विवेचन एवं वर्गीकरण की दिशा मे भाषाशास्त्रियो के लिए वह आधार ग्रंथ रहा है। उसमें वाक् ध्वनियों के स्थान और प्रयत्न के आधार का विवेचन किया गया है। पाणिनि ने रूप-सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार पर निरूपित किया है। उसमे प्राप्त अपवाद लोकभाषाओं के अस्तित्व और प्रचलन को प्रमाणित करते हैं। पतंजलि के महाभाष्य

के वार्तिक और सायण के भाष्य में अपवादों का विश्लेषण हुआ है। कहते है कि कात्यायन ने पाणिनि के व्याकरण मे 1500 स्थलों पर सशोधन किया था। इसी दिशा मे भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी महत्त्वपूर्ण विवेच्य ग्रन्थ रहा है। हेमचन्द्र का शब्दानुशासन देसी नाम माला और दामोदर शर्मा रचित 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' की चर्चा भी इसी संदर्भ मे की जाती है। ब्लूमफील्ड ने पाणिनि को सबसे बड़ा वर्णनात्मक भाषाविज्ञानी कहा है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पर पाणिनि के ऋणको कैरोल ने स्वीकार किया है।

छन्द

पद्य की भाषा-सरचना में छन्द की महत्ता सर्वविदित है। भारतीय वाङ्मय पद्यात्मक होने से उसकी सरचना पर छन्दशास्त्र मे विचार किया गया है।

यूरोपीय परम्परा

यूरोप मे भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की प्रेरणा सस्कृत से ही प्राप्त हुई। 'यूरोप और शेष ससार में ऐतिहासिक पद्धति से भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन सस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं के शब्दो मे समानताओं की खोज के बाद प्रारंभ हुआ।'[1] सस्कृत की समृद्ध परम्परा की ओर यूरोप का ध्यान पहले ही गया था, किन्तु सर्वप्रथम 1767 ई० मे फ्रांसीसी विद्वान पादरी कोर्दो ने सस्कृत, ग्रीक, लैटिन और फ्रेंच की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की। 1778 ई० में हालहेड में बगला भाषा का व्याकरण प्रस्तुत किया। 1786 ई० मे विलियम जोन्स ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की और सस्कृत, लैटिन आदि भाषाओ के एक ही मूलभाषा से उत्पन्न होने की सभावना व्यक्त की। 1808 ई० मे प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी फ्रेडरिक श्लेगल ने भारतीय भाषा की समृद्ध परम्परा को बड़े विस्तार के साथ उजागर किया।

मैक्समूलर ने बताया है कि भाषाविज्ञान के पिता बॉप, श्लेगल, लासन, रोजन, बुर्नूफ आदि ने सस्कृत के अध्ययन के लिए कुछ समय लन्दन मे बिताया। 'इस काम मे उन्हे सस्कृत के आदि यूरोपीय विद्वान् किलकिन्स, कोलब्रुक, विलसन और पुरानी इण्डियन सिविल सर्विस के अन्य संस्कृत विशेषज्ञ विद्वानो से बहुत सहायता मिली थी।'[2] फ्रान्सबॉप ने 1816 मे सस्कृत के रूपो से जर्मन, ईरानी, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओ की धातु प्रक्रिया का तुलनात्मक विश्लेषण कर उनकी समानता प्रतिपादित की। 1816 ई० मे सोस्युर ने Cours de Linguistique

---

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 311
2 भाषाविज्ञान पर भाषण पृ० 188

Generale के द्वारा भाषा के अध्ययन की वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धतियो की स्थापना की। सर विलियम जोन्स, बिशप कौडवेल, जौन बीम्स, डी० ट्रम्प, एच० एच० केलाग, सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रूडल्फ हार्नली, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, रेल्फ लिले टर्नर, ज्यूल ब्लाक आदि विदेशी विद्वानो ने भाषा के विभिन्न पक्षो का अध्ययन प्रस्तुत किया और भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो की स्थापना की।

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी बीम्स को भारतीय भाषाविज्ञान का सस्थापक मानते है। भारतवर्ष मे भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे काम करने वाले अध्येता मूलत. टर्नर और ज्यूल ब्लॉक के ही शिष्य-प्रशिष्य है।

परिभाषा

भाषाविज्ञान एक यौगिक शब्द है। भाषा और विज्ञान के योग से इसकी सरचना हुई है। भाषा का शाब्दिक अर्थ बोलना है और विज्ञान का अर्थ वस्तुनिष्ठ विश्लेषण-विवेचन है। अतः भाषाविज्ञान का अर्थ श्रोत और उच्चरित सार्थक वाक् का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण और अध्ययन है। प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो ने भाषाविज्ञान के कार्य एव क्षेत्र की व्यापकता का बडी गहराई के साथ अध्ययन किया है और तत्सबन्धी सिद्धान्तों का निरूपण किया है। भारत मे भाषाविज्ञान के अध्ययन-विश्लेषण की प्राचीन परम्परा प्रमाणित होने पर भी उसे वर्तमान रूप और सदर्भ देने का श्रेय पाश्चात्य विद्वानो को ही है।

भाषाविज्ञान भाषा के अध्ययन-विश्लेषण का विज्ञान है। भाषाविज्ञान की परिभाषा देते हुए इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका मे कहा गया है कि भाषा-विज्ञान का अर्थ भाषा का विज्ञान है—अर्थात् भाषा की सरचना और उसके विकास का विश्लेषण-विवेचन उसका कार्य है—'The word philology is here taken as meaning of the science of language i.e the study of the structure, and development of languages, thus corresponding to linguistics, but differing from philology as it is generally understood.'[1]

मेरिओ पेई ने भाषाविज्ञान को सपाट ढग से परिभाषित करते हुए कहा है—'भाषाविज्ञान भाषा और भाषाओ का वैज्ञानिक अध्ययन है।'[2]

रॉबिन्स ने कहा है कि 'सामान्य भाषाविज्ञान का सम्बन्ध मनुष्यो की भाषाओ से है। भाषाएँ मनुष्य की सहज शक्तियो और व्यवहार की सर्वस्वीकृत

---

1 इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खण्ड 17

2 इन्विटेशन टू लिंग्विस्टिक्स—मेरिओ पेई, पृ० 5

एव सर्वाधिक प्रभावी उपलब्धियाँ है।'[1]

ब्लॉख और जी० एल० ट्रैगर के अनुसार 'जब भाषाविद् वाणी के सभी समाजगत रूपों का विश्वस्त विवरण प्रस्तुत करता है, तब उसे भाषा का व्याकरण अथवा भाषा की व्यवस्था कहते हैं।'[2]

जोन लियोन्स कहते हैं कि 'भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषाविज्ञान कहा जा सकता है।...भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का अभिप्राय है—नियन्त्रित और तत्त्वतः परीक्ष्य निष्कर्षों के माध्यम से भाषा का अन्वेषण-परीक्षण।'[3]

रोबिन्स के अनुसार 'सभी देशकालो की मानव भाषा के समग्र रूपो एव प्रयोगो का वैज्ञानिक अध्ययन भाषाविज्ञान कहलाता है।'

हॉकेट कहते है कि 'भाषाविदो की खोजो के उपरान्त उपलब्ध भाषा सम्बन्धी व्यवस्थित सूचनाएँ भाषाविज्ञान कहलाती है।'

हाल का कहना है कि 'भाषाविज्ञान भाषा की प्रकृति और क्रियाशीलता को समझने वाला विज्ञान है।'

फिशमैन ने भाषाविज्ञान को सामाजिक व्यवहार को समझने के लिए साधन के रूप मे स्वीकार किया है। स्किनर तथा मिलर ने मानव के मानसिक व्यवहार को दिग्दर्शित करने वाले साधन के रूप मे भाषाविज्ञान का प्रयोग किया है।

भारतीय विद्वानो ने भी भाषाविज्ञान को परिभाषित किया है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भाषाविज्ञान मे लिखा है कि 'भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमे भाषामात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।...सारांश यह कि भाषाविज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते है।'[4] उनकी परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषाविज्ञान एक शास्त्र है, जिसका विषय भाषा मात्र के विभिन्न अगो और स्वरूपों का अध्ययन-विवेचन करना है।

डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार 'भाषा तत्त्वो का अध्ययन भाषाविज्ञान का विषय है।'[5]

डॉ० मगलदेव शास्त्री कहते हैं कि 'भाषाविज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं, जिसमे सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा की रचना और

1. जेनरल लिंग्विस्टिक्स—ऐन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे—रोबिन्स, पृ० 1-2
2. आउटलाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस—ब्लॉख-ट्रैगर, पृ० 4
3. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान—जोन लियोन्स, पृ० 1
4. भाषाविज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० 1
5 सामान्य भाषाविज्ञान—डॉ० बाबूराम सक्सेना

इतिहास का और अंततः भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं या बोलियों के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।'[1]

डॉ० उदयनारायण तिवारी के मत से 'भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते है, जिसमे भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अगो का विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं।'[2]

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने विस्तार के साथ भाषाविज्ञान की विवेचना की है। भाषाविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते है, 'भाषाविज्ञान वह विज्ञान है जिसम भाषा अथवा भाषाओ का एककालिक, बहुकालिक, तुलनात्मक, व्यतिरेकी अथवा अनुप्रायोगिक अध्ययन-विश्लेषण तथा तद्विषयक सिद्धान्तो का निर्धारण किया जाता है।'[3]

भाषा रहस्य मे भाषाविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।'

डॉ० मनमोहन गौतम कहते है कि 'भाषाविज्ञान वह शास्त्र है, जिसमे ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास एवं ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।'[4]

डॉ० देवीशकर द्विवेदी के अनुसार 'भाषा-विज्ञान को अर्थात् भाषा के विज्ञान को भाषिकी कहते है।'[5]

डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन के विचार से 'भाषाविज्ञान वह विज्ञान है, जिसमे भाषाओं का सामान्य रूप से या किसी एक भाषा का विशिष्ट रूप मे प्रकृति, सरचना, इतिहास, तुलना, प्रयोग आदि की दृष्टि से सिद्धान्त निश्चित करते हुए वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।'[6]

राजेन्द्र द्विवेदी कहते है कि 'ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा के जन्म, गठन, विकास, स्वरूप, अग, परिवार आदि का विवेचन करने वाले शास्त्र को भाषाविज्ञान कहते है।'[7]

---

1. तुलनात्मक भाषाशास्त्र—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृ० 3
2. भाषाशास्त्र की रूपरेखा—डॉ० उदयनारायण तिवारी
3. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 20
4. सरल भाषाविज्ञान—डॉ० मनमोहन गौतम, पृ० 4
5. भाषा और भाषिकी—डॉ० देवीशकर अवस्थी, पृ० 106
6. भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग—डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन, पृ० 7
7. भाषाशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश—राजेन्द्र द्विवेदी पृ० 186

डॉ० हरीश के अनुसार 'भाषाविज्ञान भाषा मात्र के अध्ययन से सम्बद्ध एक गत्यात्मक अध्ययन है। भाषा तत्त्वों के विश्लेपण-सश्लेषण सम्बन्धी देशकाल-सापेक्ष व्यवस्थित अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षों के माध्यम से भाषा मात्र के अनुशीलन एवं सिद्धान्त-निरूपण सम्बन्धी अध्ययन को भाषाविज्ञान कहते है।'[1]

डॉ० तिलकसिंह के मत से 'विज्ञान की वह शाखा जिसमे भाषा (उच्चरित) की उत्पत्ति, उसके गठन, उसके रूप, प्रकार्य, अग तथा परिवर्तनों का साकालिक तथा ऐतिहासिक स्तर पर वस्तुनिष्ठ विश्लेषण-विवेचन करके विशिष्ट तथा सामान्य नियम निर्धारित किये जाते है, भाषाविज्ञान कहते है।'[2]

परिभाषाओ के सदर्भ को ध्यान में रखकर भाषाविज्ञान की निम्न परिभाषा दी जा सकती है—

'भाषाविज्ञान भाषा के उद्भव, सरचना, विकास आदि का वस्तुनिष्ठ देश-काल-सापेक्ष विश्लेषण-विवेचन है।' वास्तव मे भाषाविज्ञान भाषा की उत्पत्ति, प्रकृति और क्रियाशीलता का वैज्ञानिक अध्ययन है।

परिभाषाओं का मूल्यांकन

भाषाविज्ञान की जो परिभाषाएँ विद्वानो द्वारा उपस्थित की गयी हैं, उनमे डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० उदयनारायण तिवारी की परिभाषा मे भाषा मात्र के विभिन्न अंगो और स्वरूपो का अध्ययन निर्दिष्ट है। डॉ० बाबूराम सक्सेना और डॉ० देवीशकर अवस्थी की परिभाषाएँ केवल भाषाविज्ञान शब्द का शाब्दिक अर्थ प्रस्तुत करती है। इनमे अव्याप्ति दोष है। डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० मंगलदेव शास्त्री और डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन की परिभाषाओ मे अतिव्याप्ति दोष दिखाई पड़ता है। उनमें परिभाषा का गुण—सूत्रात्मकता—नही है। भाषाविज्ञान के सभी ज्ञात अगो और स्वरूपो को अपनी परिभाषा मे समेट लेने का प्रयास इन विद्वानो ने किया है।

इन परिभाषाओं मे भाषाविज्ञान के निम्नाकित पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है—

1. भाषाविज्ञान मे भाषा मात्र का विवेचन होता है।

2. देशकाल का परिवेश बदलने से भाषा बदल जाती है। अत: उसका अध्ययन करने वाले शास्त्र के मनन-विश्लेपण की पद्धति और स्थापनाएँ भी परिवर्तन के अधीन हैं। इस कारण भाषाविज्ञान गत्यात्मक (*Dynamic*) विज्ञान है।

3. भाषाविज्ञान मे भाषा का देशकाल-सापेक्ष अध्ययन होता है।

---

1. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश, पृ० 3
2. नवीन भाषाविज्ञान—डॉ० तिलकसिंह, पृ० 81

4 भाषाविज्ञान भाषा-तत्त्वों ध्वनि रूप वाक्य-संरचना अर्थ आदि का विश्लेषण-संश्लेषण प्रस्तुत करता है।

5 भाषाविज्ञान का अनुशीलन भाषा की प्रकृति और क्रियाशीलता के आधार पर होता है और उसके आधार पर सिद्धान्त-निरूपण किया जाता है।

विदेशी विद्वानों की परिभाषाओं के मूल्यांकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पेई की परिभाषा सपाट है। उसमे अव्याप्ति दोष है। हॉकेट ने भी जो परिभाषा प्रस्तुत की है उसमे परिपूर्णता नही है। 'व्यवस्थित सूचना' को ही भाषाविज्ञान कहना पर्याप्त नही है, क्योंकि इससे उसकी प्रकृति और क्रियाशीलता के पूर्ण तथ्य उजागर नही होते। रॉबिन्स की परिभाषा से भी कोई स्पष्ट दिशा-निर्देश प्राप्त नही होता। उसमें भाषा के महत्त्व पर ही प्रकाश पड़ता है। ब्लॉख और ट्रेगर की परिभाषा मे भाषा के समाजगत रूपों और उसकी व्यवस्था का निर्देश किया गया है। भाषा की व्यवस्था से उनका तात्पर्य भाषाविज्ञान से है।

भाषाविज्ञान की परिभाषा देना दुरूह कार्य है। रॉबिन्स ने ठीक ही कहा है कि 'भाषा को भाषाविज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है, किन्तु यह स्थिर नही है।'[1] भाषा परिवर्तनशील होती है। अतः उसका विज्ञान भी स्थिर नही हो सकता। उसकी स्थापनाएँ, सिद्धान्त और सक्रियता देश-काल के संदर्भ से बदलती रहती है।

परिभाषा मात्र विवरण नही है। परिभाषा से वस्तुओं की उन विशेषताओं को प्रत्यक्ष किया जाता है, जो वस्तु की संरचना मे निर्णायक महत्त्व रखती हैं। गत्यात्मक शास्त्र की विशेषताओं को रेखांकित करना सहज नही है। इसलिए भाषाविज्ञान की जो भी परिभाषा दी गई है या दी जाएगी, वह किसी न किसी दृष्टि से संपूर्ण नही होगी, क्योंकि उसका कोई-न-कोई अंग परिभाषा की परिधि से परे ही रह जाएगा।

भाषाविज्ञान : नाम

भाषाविज्ञान गत्यात्मक विज्ञान है। प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य मे वह नया विषय भी है। इसलिए भारतीय साहित्यशास्त्र मे भाषाविज्ञान शब्द नही मिलता। भाषा के विभिन्न पहलुओं को संश्लेषित-विश्लेषित करने वाले शास्त्र को निर्वचन शास्त्र, व्याकरण, शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र आदि के नाम से जाना जाता था।

आधुनिककाल मे तुलनात्मक भाषाविज्ञान, भाषाशास्त्र, भाषाविचार, भाषाविज्ञान, भाषातत्त्व, भाषालोचन, भाषिकी, शब्दशास्त्र, शब्दतत्त्व, आदि नाम प्रचलित रहे है, किन्तु भाषाविज्ञान सर्वाधिक प्रचलित और ग्राह्य अभिधान है।

1. जनरल लिंग्विस्टिक्स—एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे—रॉबिन्स, पृ० 102

भाषाविज्ञान और व्याकरण को पहले एक ही माना और समझा जाता था। इसलिए भाषाविज्ञान के लिए प्रारंभिक अभिधान तुलनात्मक व्याकरण (Comparative grammar) प्रचलित हुआ। जब यह निर्धारित हुआ कि भाषाविज्ञान केवल तुलनात्मक व्याकरण ही नहीं है, यह नाम छोड दिया गया। 19वी शताब्दी मे तुलना को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। इस कारण भाषाविज्ञान के लिए कम्पेरेटिव फिलालॉजी (Comparative Philology) का प्रचलन हुआ। डेवीज ने भाषाविज्ञान के समकक्ष अर्थ मे ग्लासॉलॉजी (Glossology) शब्द का प्रयोग किया। Glottology (ग्लाटॉलॉजी) शब्द भी भाषाविज्ञान के लिए प्रयोग मे आया। मैक्समूलर तथा टकर ने ग्लाटॉलॉजी का प्रयोग किया था।

भाषाविज्ञान के लिए फिलालॉजी (Pholology) शब्द कुछ समय तक प्रचलित रहा। फिलालॉजी ग्रीक शब्द है। Philos का अर्थ है प्यार या प्रेमी और logos का अर्थ है बातचीत। इस प्रकार उक्तकाल मे Philology का अर्थ व्याकरण, आलोचना, साहित्य और ज्ञान का प्रेम था। डॉ० तिलकसिंह कहते है कि फिल का अर्थ प्रेम और लॉजी (लोगास) का अर्थ शास्त्र है। अतः फिलालॉजी का अर्थ शास्त्रप्रेम है।

19वी शताब्दी में अमेरिका मे वैज्ञानिक अध्ययन को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'बोआज, सापियर तथा ब्लूमफील्ड आदि ने भाषा के अध्ययन-मार्ग मे नवीन मोड दी। इन प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों ने जीवित भाषा या बोली के अध्ययन पर विशेष बल दिया। इसी कारण यहाँ भाषाविज्ञान (Philology) तथा भाषाशास्त्र दो पृथक् विषय बन गए। 'अमेरिका मे भाषाविज्ञान के अंतर्गत प्राचीन भाषा-सामग्री का विश्लेषण किया जाता है और लिंग्विस्टिक्स (भाषाशास्त्र) के अतर्गत आधुनिक जीवित भाषाओं और बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।'[1] डॉ० तिवारी कहते हैं कि 'अमरीकी भाषाशास्त्रियो के दृष्टिकोण के आधार पर ही हिन्दी मे भी क्रमशः भाषाविज्ञान तथा भाषाशास्त्र शब्द व्यवहृत किए जाने लगे है।'[2]

डॉ० उदयनारायण तिवारी के इस विचार को डॉ० भोलानाथ तिवारी तथा डॉ० हरीश आदि ने अस्वीकार कर दिया है। डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते है कि जीवित भाषा और प्राचीन भाषा के अध्ययन को अलग-अलग नाम देना समीचीन नहीं है। प्रत्येक जीवित भाषा का ऐतिहासिक विश्लेषण प्राचीन भाषा से ही जुड़ा होता है। ऐसी दशा मे एक ही भाषा के प्राचीन तथा समसामयिक रूप के अध्ययन

1. भाषाशास्त्र की रूपरेखा—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 9-10
2. वही

को अलग-अलग नाम से अभिहित करना उचित नही है।

इस सम्बन्ध मे आर० एच० रॉबिन्स के विचार द्रष्टव्य है। उनके अनुसार फिलालॉजी का सम्बन्ध तुलनात्मक एव ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से है। भाषाविद् प्राचीन पाठो, अभिलेखो आदि के आधार पर जीवित भाषा के सौदर्य एव स्वरूप का विश्लेषण करते हैं। सकीर्ण अर्थ मे लिंग्विस्टिक्स भाषा का रूपात्मक और वर्णनात्मक अध्ययन करता है, जबकि वह अर्थ-विवेचन से सबद्ध होकर फिलालॉजी के क्षेत्र मे प्रवेश करता है। उनके अनुसार लिंग्विस्टिक्स तथा फिलालॉजी एक-दूसरे के बहुत निकट है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान—जैसाकि बताया गया है, प्रारभ में भाषाविज्ञान के लिए तुलनात्मक व्याकरण नाम प्रचलित था। इसी आधार पर भाषाविज्ञान को भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के नाम से अभिहित किया जाने लगा। बाद मे यह शब्द छोड़ दिया गया। वास्तव मे शास्त्रीय ज्ञान तुलनात्मक होता है। अत: भाषा-विज्ञान के पूर्व तुलनात्मक (Comparative) शब्द की कोई उपयोगिता नही है। तुलनात्मकता विज्ञान की विश्लेषण-पद्धति का एक अंग ही है।

भाषालोचन—प० सीताराम चतुर्वेदी भाषाविज्ञान शब्द को त्रुटिपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार इस शास्त्र का नाम भाषालोचन होना चाहिए। उनके अनुसार भाषालोचन के दो अर्थ-सदर्भ है। भाषा + लोचन, अर्थात् भाषा को परखने की आख, अथवा भाषा + आलोचन, अर्थात् भाषा की जॉच या आलोचना। वस्तुत इस नाम से भाषाविज्ञान की विशिष्टताओ का पूर्णत प्रत्यक्षीकरण नही होता। नवीनता के प्रति लेखक का आग्रह ही इस नामकरण का मूल कारण ज्ञात होता है।

भाषिकी—डॉ० देवीशंकर अवस्थी ने भाषाविज्ञान के लिए भाषिकी नाम को सार्थक तथा उपयुक्त बताया है। इस संदर्भ मे डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का कथन है, 'Linguistics के लिए उन्होने भाषाविज्ञान के बजाय 'भाषिकी' शब्द को अधिक उपयुक्त समझा है। 'इक्स' वाले शब्दो के लिए सर्वप्रथम डॉ० रघुवीर ने इस ढाचे के अनेक शब्दो का निर्माण किया था, जैसे भौतिकी, दैहिकी इत्यादि। इस तर्ज पर देवीशकर जी ने भी लिंग्विस्टिक्स के लिए भाषिकी शब्द का निर्माण और व्यवहार किया है। सस्कृत मे भाषिकी शब्द का अर्थ प्राय: निम्नकोटि की भाषा के लिए हुआ है, पर भाषिकी शब्द सामान्य अर्थ में भाषा के लिए कभी-कभी व्यवहृत होता है।'[1]

भाषातत्त्व—भाषातत्त्व कहने से भी भाषाविज्ञान की कोई विषयगत स्पष्ट धारणा नही बनती। भाषातत्त्व से Elements of Language (भाषा के तत्त्व) का बोध उभरता है। **भाषा विचार** से भी भाषाविज्ञान का अर्थ व्यजित नही होता।

1. भाषा और भाषिकी—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद की भूमिका, पृ० 'क'

क्योंकि भाषाविज्ञान भाषा का विशिष्ट ज्ञान है, जिसमे विश्लेषण-विवेचन का सदर्भ जुड़ा हुआ है। विचार मे विज्ञान की अर्थव्यजना नही है। शब्दशास्त्र अभिधान भी अव्याप्तिदोष से पूर्ण है। शब्द से भाषा की सम्पूर्णता का बोध नही होता।

भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र नाम सार्थकता की दृष्टि से हिन्दी मे प्रचलित है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'लिग्विस्टिक्स के स्थान पर हिन्दी मे भाषाविज्ञान का प्रयोग भी उचित माना जा सकता है। यो भाषाशास्त्र या इस तरह के अन्य नामो मे भी कोई अशुद्धि नही है।'[1] डॉ० बाबूराम सक्सेना भाषाशास्त्र को लिग्विस्टिक्स के लिए अशुद्ध मानते है।

आज भाषाविज्ञान वैज्ञानिक अध्ययन से जुडा हुआ है। भाषा के लिखित, उच्चरित रूपों का ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्याकरणिक आदि दृष्टियों से विवेचन-विश्लेषण होता है। अत. भाषा के विशिष्ट ज्ञान से सदर्भित शास्त्र का नाम भाषाविज्ञान सर्वथा समीचीन और व्यावहारिक है। ऐसी स्थिति मे भाषाविज्ञान के साथ भाषाशास्त्र अभिधान प्रचलित करने का कोई औचित्य नही है।

भाषाविज्ञान विज्ञान है या कला

भाषाविज्ञान को कला की श्रेणी मे परिगणित करना चाहिए या विज्ञान मे? यह प्रश्न औचित्यपूर्ण नही प्रतीत होता है। वास्तव मे कुछ समय पूर्व यह प्रश्न सभी शास्त्रो के सम्बन्ध मे उठाया जाता रहा है। उक्त काल मे शास्त्रो का वर्गीकरण कला और विज्ञान की पद्धति पर किया जाता था। आज ऐसे प्रश्न का कोई औचित्य नही है।

आजकल ज्ञान के विषय को तीन वर्गों में रखने की परम्परा का सूत्रपात हुआ है—1. प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science)—जैसे भौतिकी, रसायन-शास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि, 2. सामाजिक विज्ञान (Social Science)—जैसे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि, 3. मानविकी (Humanities)—जैसे साहित्य, चित्रकला, संगीत, आदि। ऐसी दशा में कला और विज्ञान के सदर्भ से आज भाषाविज्ञान या ज्ञान के किसी विषय को पहचानना सदर्भहीन चर्चा है।

पूर्व परम्परा के अनुसार ज्ञान के विषयो को कला और विज्ञान नाम की दो शाखाओ मे बाँटा जा रहा है। यहाँ कला से तात्पर्य ललित कलाओ या उपयोगी कलाओ से नही है। अध्ययन-अध्यापन के विषय को विज्ञान और कला (Arts) की कोटि मे रखा गया। मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि को आज भी कला की कोटि मे रखा जाता है। इसलिए यहाँ कला का अर्थ निश्चित

1 भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 22

नही है राजनीति शास्त्र आदि की मास्टर डिग्री पास व्यक्ति को एम० ए० की उपाधि दी जाती है। पश्चिम के कुछ विश्वविद्यालय तो सभी विषयो मे साइन्स की ही उपाधि देते है और कुछ विश्वविद्यालय आर्ट्स की। इस प्रकार बी० ए०, एम० ए० आदि मे कला का जो विस्तृत रूप व्यंजित या ध्वनित है, उसी दृष्टि से भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि कला की कोटि मे आते है।

भाषाविज्ञान आजकल वैज्ञानिक अध्ययन की ओर गतिशील है। भाषाविज्ञान के प्रयोगो के आधार पर उसे विज्ञान की कोटि मे रखना उचित होगा। विज्ञान विशिष्ट बोधयुक्त व्यवस्थित ज्ञान है। इस दृष्टि से भी भाषाविज्ञान विज्ञान है। किन्तु भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि की तरह इसके परिणाम निश्चित नहीं होते। इसके परिणाम परिवर्तनशील है। भाषाविज्ञान गत्यात्मक विज्ञान है। अतः भाषाविज्ञान के संदर्भ मे विज्ञान का अर्थग्रहण उदारता से किया गया है। व्यवस्थित अध्ययन और उसके आधार पर प्राप्त निष्कर्षो, सिद्धान्तो के कारण मनोविज्ञान एवं राजनीति विज्ञान की तरह भाषाविज्ञान को भी विज्ञान की कोटि मे रखा जाता है। विज्ञान के लक्षणो के आधार पर भाषाविज्ञान का परीक्षण करना यहाँ उचित होगा।

1 कार्य-कारण सम्बन्धी खोज विज्ञान का लक्षण है। भाषाविज्ञान के अध्ययन मे भाषिक विकास के अन्तर्गत सामान्य निरीक्षण के उपरान्त कार्य-कारण सम्बन्धी वास्तविकताएँ सामने आती है। मूल भारोपीय परिवार की कल्पना कार्य-कारण-लक्षण पर आधारित है।

2 विज्ञान का दूसरा लक्षण वस्तुनिष्ठता है। वस्तुनिष्ठ अध्ययन मे व्यक्तिशः भिन्नता नही होती और विज्ञान के सिद्धान्तो के व्यावहारिक रूप परिवेश-सापेक्ष होते है। भाषा पर भी परिवेश का प्रभाव पडता है, किन्तु परिवेश-जन्य परिवर्तन के भी कारण होते है। मूलत. भाषा की प्रकृति एवं प्रवृत्ति और उसकी विकास-प्रक्रिया वैज्ञानिक होती है।

3. **अन्वीक्षण और प्रयोग**—वैज्ञानिक अध्ययन का आधार अन्वीक्षण और प्रयोग (Observation and Experiment) होते हैं। प्रयोग द्वारा सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत होता है। अन्वीक्षण के द्वारा सिद्धान्त-निरूपण होता है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के अन्तर्गत उसकी सक्रियता तथा प्रक्रिया को बडी सूक्ष्मता से निरखते-परखते है। इसके बाद भाषा के प्रयोगो द्वारा परीक्षणोपरान्त निरूपित सिद्धान्त पक्ष का व्यावहारिक रूप प्रकट किया जाता है। ध्वनिविज्ञान के अन्वीक्षित सिद्धान्तो का प्रयोगशालाओ में भी परीक्षा करके निष्कर्ष स्थापित किया जाता है।

4. **विकसनशीलता**—वैज्ञानिक उपलब्धियाँ विकास की प्रक्रिया से गुजरती

हैं। अन्वीक्षण और प्रयोग की प्रक्रिया मे निष्कर्षो तथा उपलब्धियो मे निरन्तर विकास होता रहता है। भाषा का अन्वीक्षण और प्रयोग निरन्तर गतिशील रहता है। भाषिक अध्ययन की प्रक्रिया के उपरान्त प्राप्त उपलब्धियाँ सदा विकास की ओर अग्रसर रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि भाषाविज्ञान भी विज्ञान की कोटि मे आता है, क्योंकि वह विशिष्ट बोध युक्त व्यवस्थित ज्ञान है। उसके परिणाम स्थिर नही होते, किन्तु अध्ययन की व्यवस्था, सिद्धान्त-निरूपण और भाषिक प्रयोग के कारण मनोविज्ञान आदि की तरह वैज्ञानिक अध्ययन के निकट है। मनोविज्ञान आदि विज्ञानो की तरह उसकी भी प्रक्रिया स्पष्टत. लक्षित है। भाषा और भाषाविज्ञान का निरन्तर विकास होता रहता है और नये सिद्धान्तो के आधार पर उनकी नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती है। इसीलिए विद्वानो ने भाषाविज्ञान को भाषा की भाषा कहा है। इस सदर्भ मे डॉ० भोलानाथ तिवारी का कथन द्रष्टव्य है—'हम कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान विज्ञान तो है, किन्तु उस सीमा तक नही जितना कि गणितादि। यो इसमे सदेह नही कि दिनोदिन यह विकसित तथा अधिक वैज्ञानिक होता जा रहा है।'[1]

भाषाविज्ञान के प्रयोजन

1. यह प्रश्न उठाया जाता है कि भाषाविज्ञान के अध्ययन से क्या लाभ है? जीविका से शिक्षा-प्रणाली को सम्बन्धित करने के कारण ही यह प्रश्न उठाया जाता है। पतजलि ने कहा है—

ब्राह्मणेन निष्कारण. षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

अर्थात् ब्राह्मण को बिना किसी कारण के, तात्पर्य के बिना किसी लौकिक लाभ की इच्छा के षडङ्गो (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) से युक्त वेदो का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार समस्त ज्ञान केवल लौकिक उपयोगिता के आधार पर ही ग्राह्य-अग्राह्य नही होता। ज्ञान का प्रमुख उपयोग बौद्धिक जिज्ञासा की तृप्ति है। भाषाविज्ञान भाषा के उद्भव, विकास, परिवर्तन आदि के सदर्भ मे महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। भाषाविज्ञान भाषा के सम्यक् ज्ञान का आधार है। भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, भाषा के अध्ययन-अध्यापन का कार्य उतना ही सुकर हो जाता है। भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो और निष्कर्षो के आलोक मे भाषा का अध्ययन अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

2. मनुष्य जाति के इतिहास का अध्ययन भाषाविज्ञान पर आधारित है।

---

1 — डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 23 24

इसके अध्ययन से मनुष्य जाति के इतिहास की अनदेखी परतें प्रत्यक्ष होती है। भाषाविज्ञान के निष्कर्षों के आधार पर मनुष्य जाति के विकास का मार्ग लक्षित होता है। भाषा की जीवन्तता के आधार पर मानव की जीवन्त गतिविधियाँ उजागर की जाती है। हेम्मलेव का कहना है कि 'भाषाविज्ञान के सिद्धान्त भाषात्मक विधान को पहचानने की आतंरिक आवश्यकता से परिचालित नहीं होते, वरन् भाषा के नेपथ्य मे मनुष्य और मनुष्य समाज को पहचानने की दृष्टि से भी सक्रिय रहते है। भाषाविज्ञान के द्वारा भाषा के माध्यम से विश्वज्ञान की जानकारी सभव होती है। यहाँ आकर भाषाविज्ञान सम्पूर्ण विश्व का मानव ज्ञान सिद्ध होता है।'

3. भाषाविज्ञान के अध्ययन से साहित्य का ज्ञान विकसित होता है। भाषा के निर्माणपक्ष (संरचना) का परिज्ञान इसके अध्ययन से ही होता है।

4. भाषाविज्ञान अत्यन्त रोचक विषय है। एक ही भाषा की ध्वनियो मे विभिन्न कालो मे कैसे परिवर्तन होता जाता है, एक ही मूल से निष्पन्न विभिन्न शब्द विभिन्न अर्थ के वाचक कैसे हो जाते है? जैसे भक्त, भाग, भजन, भात आदि एक ही धातु से निष्पन्न होने पर भी अलग अर्थ-बोध देते है। हरि, सारग जैसे शब्दो के अनेक अर्थ होते हैं। काकु और बलाघात से अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है।

5. भाषा के शुद्ध प्रयोग और सार्थक प्रेषण के लिए भाषाविज्ञान का ज्ञान अपेक्षित है। प्रयोग शुद्ध न होने तथा सप्रेषण असलक्ष्य होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। एक पुत्र ने अपने पिता को लिखा था—'आपका कतिपय पुत्र।' इस अशुद्ध-सदर्भहीन प्रयोग का अनर्थ सहज ही लक्षित है।

6 भाषा समाज से जुडी है। समाज की एक सस्कृति होती है। अत भाषा और उसके विज्ञान के माध्यम से हम समाज तथा सस्कृति के विविध पहलुओ से साक्षात्कार करते है। समाज के बौद्धिक विकास और मानसिक उत्कर्ष का ज्ञान भाषा और भाषाविज्ञान से होता है। वेदो की भाषा, मध्यकालीन भाषा तथा आधुनिक भाषा के सामाजिक और सास्कृतिक विकास को हम भाषा के माध्यम से जान पाते है। भाषा का अध्ययन भाषाविज्ञान के माध्यम से किया जाता है।

7. सचार के साधनों को विकसित करने मे भी भाषाविज्ञान की भूमिका रेखाकित की गयी है। दूर सचार या टेलीकम्युनिकेशन के संकेतो का निर्देशन भाषाविज्ञान के द्वारा ही होता है। मशीन ट्रासलेशन की व्यावहारिक समस्या का समाधान भी भाषाविज्ञान से सभव किया जा सकता है। वाक्-सचार-व्यवस्था के विकास मे भाषाविज्ञान की उपलब्धियो का उपयोग स्वीकार किया गया है।

8. वाक्‌चिकित्सा मे भी भाषाविज्ञान का उपयोग होता है। तुतलाहट, हकलाहट जैसे वाक रोगो के निदान मे भाषाविज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार

की गयी है।

इस प्रकार भाषाविज्ञान का उपयोग साध्य और साधन दोनो रूपो मे किया जाता है। इसमे उसका प्रयोजन सहज सिद्ध है।

भाषाविज्ञान के अग

भाषाविज्ञान भाषा का विशिष्ट ज्ञान है। भाषा के कई अग-उपांग होते है। भाषा के इन अगो-उपागो का विवेचन-विश्लेषण करना भाषाविज्ञान का कार्य है। भाषा के ध्वनि, पद, शब्द, वाक्य और अर्थ अग हैं।

पश्चिमी भाषा वैज्ञानिको ने भाषाविज्ञान के अलग-अलग अंगो का निर्धारण किया है। उन्होने भाषाविज्ञान के प्रमुखतः तीन अग बताए है—1. फोनोलॉजी, 2 ग्रामर, 3. सेमेन्टिक्स। फोनोलॉजी मे फोनेटिक्स और फोनोग्राम दोनो का अतर्भाव होजाता है। ग्रामर के दो भाग किए गए है—1. मारफोलॉजी, 2 सिन्टेक्स। इस प्रकार भाषाविज्ञान के चार अग निर्धारित किए गए है—1 .फोनोलॉजी, 2. मारफोलॉजी, 3. सिन्टेक्स और 4. सेमेन्टिक्स। भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने इन्ही चार अगो का हिन्दी अनुवाद कर दिया और क्रमश. ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान और अर्थविज्ञान नाम दिया है।

अधिकाश भाषाविज्ञानी भाषाविज्ञान के निम्नलिखित अगो को स्वीकार करते है—1 ध्वनिविज्ञान, 2 रूपविज्ञान या पदविज्ञान, 3. वाक्यविज्ञान और 4 अर्थविज्ञान। डॉ॰भोलानाथ तिवारी शब्दविज्ञान को एक अलग विभाग मानते है और भाषाविज्ञान के पाच अगो का निर्देश करते है। शब्दविज्ञान को अलग विभाग मानने का कोई तर्क-सगत आधार नही है। वह रूपविज्ञान का ही एक उपाग है। रूपविज्ञान के लिए प्रचलित अँगरेजी समानार्थक शब्द मारफोलॉजी है। मारफोम का अर्थ आकृति, रूप, रूप-रचना आदि है। शब्द और प्रत्यय के सयोग से रूप-रचना होती है। शब्दो की आकृति की सरचना प्रत्यय-योग से ही होती है। पद ही शब्द का रूप होता है। अतः शब्द, पद और रूप को अलग-अलग करना उचित प्रतीत नही होता। अतः भाषाविज्ञान के चार विभाग ही क्रमिक अध्ययन के लिए अभीष्ट है—1. ध्वनिविज्ञान, 2. रूप या पदविज्ञान, 3. वाक्यविज्ञान और 4 अर्थविज्ञान।

सामान्यतः भाषा के दो स्तर माने गए है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य के अन्तर्गत ध्वनि, पद और वाक्यविज्ञान ग्राह्य हैं और अर्थविज्ञान आतरिक के अन्तर्गत। ये चारो विभाग स्वतत्र रूप से विकसित हो गए हैं। इनका विस्तृत विवेचन भाषाविज्ञान के अतर्गत किया जाता है। यहां इनका सामान्य परिचय ही अभिप्रेत है।

1. **ध्वनिविज्ञान** (Phometics)—भाषा ध्वनियो में अध्ययन-विश्लेषण

करने वाले विभाग का अभिधान ध्वनिविज्ञान है। ध्वनियों के उच्चारण के स्थान, प्रयत्न और करण का विश्लेषण इसके अंतर्गत होता है। ध्वनियों के उच्चारण में उत्पन्न भेद, ध्वनि की तारता एवं मन्द्रता, ध्वनि परिवर्तन आदि का विचार इसके अंतर्गत होता है।

2 **रूपविज्ञान** (Morphology)—इसके अंतर्गत रूपतत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है। शब्दान्तर्गत रूपतत्त्व भाषा की न्यूनतम अर्थमूलक इकाई है। शब्द, पद, पदांश, पदों के रूप परिवर्तन की दिशाएँ, परिवर्तन के कारण आदि का विवेचन रूपविज्ञान के अंतर्गत होता है। लिंग, वचन, कारक, काल से सम्बन्धित परिवर्तनों की अर्थभंगिमा पर रूपविज्ञान में विचार होता है।

3 **वाक्यविज्ञान** (Syntax)—भाषा की मूलभूत इकाई वाक्य है। वाक्य-विज्ञान, भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है। रचना, अर्थ आदि की दृष्टि से वाक्य का मूल्यांकन-विवेचन इसके अंतर्गत होता है। क्रम, मैत्री, व्यवस्था आदि की दृष्टि से वाक्य का विवेचन होता है। ध्वनिविज्ञान की उपलब्धियों का प्रयोग भी वाक्यविज्ञान में होता है।

4. **अर्थविज्ञान** (Semantics)—भाषा का आंतरिक पक्ष अर्थ है। अर्थ से ही भाषा की प्रयोजनीयता सिद्ध होती है। अर्थविज्ञान के अंतर्गत अर्थ का स्वरूप, अर्थ का भेद, अर्थ-परिवर्तन तथा परिवर्तन की दिशाओं पर विचार किया जाता है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ

पश्चिमी भाषाशास्त्रियों ने भाषाविज्ञान के अध्ययन की तीन पद्धतियों का निर्देश किया है—(1) सांकालिक (Synchronic), 2. अनेककालिक या ऐतिहासिक (Dichronic), 3 प्रायोगिक (Applied)। सांकालिक अध्ययन पद्धति को सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त किया गया—1. वर्णनात्मक (Descriptive), 2. संरचनात्मक या गठनात्मक (Structural)। इसी प्रकार अध्ययन सौविध्य के लिए अनेककालिक को भी दो भागों में बाँट दिया गया—1 तुलनात्मक (Comparative), 2. ऐतिहासिक (Historical)। इस प्रकार भाषाविज्ञान का अध्ययन पाँच पद्धतियों से किया जाता है—1. वर्णनात्मक, 2. संरचनात्मक, 3 तुलनात्मक, 4. ऐतिहासिक, 5. प्रायोगिक। अध्ययन-पद्धति के आधार पर भाषाविज्ञान के भी उपर्युक्त पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में एक कालखंड में स्थित भाषा के स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है। काल-विस्तार में प्रवाहित भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का विवेचन इसकी अध्ययन सीमा के अंतर्गत नहीं आता। इसीलिए इसे समकालिक

या सांकालिक (Synchronic) भाषाविज्ञान के नाम से जाना जाता है।

एक कालखंड में अवस्थित भाषा-रूप का अध्ययन होने से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में जीवित भाषा या बोली का अध्ययन होता है। इस भाषाविज्ञान को Superiority of ear philology over eye philology के प्रचलित मुहावरे में व्यक्त किया जाता है।

वास्तव में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के विकास का श्रेय अमरीकी भाषाविदों को दिया जाता है, जिन्होंने अल्पज्ञात, साहित्य रहित भाषाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया।

मृत भाषाओं का अध्ययन भी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अंतर्गत होता है। पाणिनि ने संस्कृत भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उक्त काल में संस्कृत की जनभाषिक जीवन्तता संभवतः समाप्त हो चुकी थी। जीवित भाषा के अध्ययन का आग्रह इसमें इसलिए होता है कि जीवित भाषाओं के परीक्षण, प्रमाण और निष्कर्ष अधिक प्रामाणिक होते हैं, जबकि मृत भाषाओं में ऐसा नहीं होता।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में भाषा का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। अध्ययन-सामग्री की छँटाई, विश्लेषण और वर्गीकरण इस प्रकार होता है कि अनुमान और कल्पना अथवा पूर्वाग्रह, सापेक्ष दृष्टि और संस्कार से प्रभावित होने का अवसर नहीं होता। ग्लीसन ने स्वयं वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के पक्ष-समर्थन में अपने सिद्धान्त स्थापित किए हैं। उनका कहना है कि 'यदि एक भाषा पर दो भाषाशास्त्री अलग-अलग कार्य करें तो उनके निष्कर्ष प्रायः एक से ही होंगे।'[1] उनमें जो नगण्य अंतर लक्षित होंगे, वे सूचक सामग्री के अंतर के कारण ही होंगे। इस आधार पर वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को सदोष नहीं कहा जा सकता।

भाषाविज्ञान के अध्ययन-विश्लेषण में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की मूलभूत सत्ता को उसकी आधारगत अनिवार्यता के कारण स्वीकार किया गया है। यह कहना अयुक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इस भाषाविज्ञान की मूलभूत सत्ता सभी प्रकारों का आधार है। ऐतिहासिक और वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के विभिन्न चरणों का अध्ययन वर्णनात्मक पद्धति के आधार पर ही किया जाता है।

भाषाविज्ञान के वर्णनात्मक अध्ययन का सम्बन्ध भाषा के सक्रिय और व्यावहारिक पक्ष से है। इस पद्धति के अंतर्गत भाषा के वर्तमानकालिक स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है। यह पद्धति वस्तुपरक (Objective) होती है, जिसमें भाषा के गठन और रचना-विधान का संश्लेषणात्मक अध्ययन होता है। ग्लीसन के अनुसार 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान एक विशिष्ट विधा है। इसमें भाषाओं का अध्ययन आंतरिक संरचना की दृष्टि से होता है। यह अन्य अध्ययन-दृष्टियों से इस

---

1. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन, पृ० 12

रूप मे भिन्न है कि यह मनुष्य की वाणी के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन भिन्न दृष्टि से करती है।[1]

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान प्रवृत्ति के विशेषीकरण पर ध्यान देना होता है। इसका कारण यह है कि एक काल-विशेष के अंतराल मे भाषा के संरचनात्मक गठन का विश्लेषण इसके अंतर्गत होता है। लियोन्स ने वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के विस्तार का संकेत करते हुए कहा है कि 'यह जान लेना आवश्यक है कि समकालिक अध्ययन की सीमा केवल आधुनिक व्यवहृत भाषा तक ही सीमित नही होती। हम ऐसा अध्ययन उन भाषाओं का भी कर सकते है, जिन्हें हम 'मृत' कह आए हैं, यदि उनके सम्बन्ध मे पर्याप्त अध्ययन-सामग्री प्राप्त आलेखो-उल्लेखो मे सुरक्षित है।'[2]

सामान्यत यह माना जाता है कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान अर्थ-पक्ष का निषेध रूप है। मात्र ध्वनि के खण्डीय पक्ष के सन्दर्भ मे यह बात मान्य है। ध्वनि के रूप और वाक्यगत विभाजन तथा अध्ययन अर्थ के सन्दर्भ से जुड़ा होता है। 'अतः यह कहना, किसी प्रकार भी उचित नही कि वर्णनात्मक अध्ययन अर्थ-विरोधी होता है।'[3] हाँ, यह सच है कि ध्वनिगत अध्ययन अर्थ-निरपेक्ष होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान मे वर्णनात्मक अध्ययन-पद्धति का उपयोग अर्थ के सन्दर्भ मे भी होने लगा है। इस सन्दर्भ मे उल्मा जैसे भाषावैज्ञानिकों का साक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैसे वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का विकास अमरीका में हुआ, किन्तु विश्लेषण-विवेचन से यह विदित होता है कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का उच्चतम स्तर भारत मे प्रशस्त-व्याप्त हो चुका था। महर्षि पाणिनि तथा अन्य विद्वानो ने वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का प्रामाणिक स्वरूप अपनी अष्टाध्यायी मे प्रस्तुत कर दिया था। ब्लूमफील्ड जैसे भाषाविदों ने पाणिनि के भाषा के वर्णनात्मक अध्ययन को इसके प्रमाणस्वरूप निर्देशित किया है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान

दो या दो से अधिक भाषाओं की पारस्परिक तुलना से तुलनात्मक भाषाविज्ञान का सम्बन्ध है। इसमे दो या अधिक भाषाओं का समकालिक परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन होता है। जिन भाषाओ की परस्पर तुलना की जाती है उनका अध्ययन एक निश्चित कालखण्ड के अन्तर्गत किया जाता है। भाषाशास्त्री यह मानते है

---

1. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन, प्रीफेस (111)
2. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान—जॉन लियोन्स, पृ० 49
3. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश, पृ० 16

कि तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन दो कालखण्डों की भाषाओं का भी किया जाना अनुचित नहीं है। जैसे प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ एक होते हुए भी दो प्रकार की प्रवृत्तियों और नामो के कारण अलग पहचान बनाती है। इनके काल-सदर्भ भी अलग-अलग हैं। फिर भी इसका अध्ययन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अतर्गत होता है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान का मुख्य आधार दो भाषाओ की वास्तविक समानता या समानता का भ्रम है। भाषाओ की पारस्परिक समानता के तत्त्व के विश्लेषण के लिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। डॉ० हरीश का मत है कि भाषा के सभी अगो का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।[1] तुलनात्मक भाषाविज्ञान को व्यतिरेकी (Contrastive) पद्धति भी कहते है। इसके अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के कालक्रमागत वर्तमान और पूर्व रूपो का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए भौगोलिक सदर्भ के साथ ही ऐतिहासिक और सास्कृतिक घटनाओं का ज्ञान होना अपेक्षित है, क्योकि बोलने वालो की भौगोलिक निकटता, ऐतिहासिक और साम्कृतिक परिस्थितियो के आधार पर ही दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। 'माता' शब्द उदाहरणस्वरूप लीजिए। लैटिन 'मातेर', ग्रीक 'मेतेर', प्राचीन आयरिश 'माथिर' तथा स्लाबोनी 'माति' की समानता के आधार पर हम इन भाषाओ के एक परिवार की भाषा होने का अनुमान लगा सकते है और पूर्णतः तुलनात्मक अध्ययन कर एक निष्कर्ष दे सकते है। अँगरेजी 'मदर', फ्रासीसी 'मेरे', जर्मनी 'मतर', स्पेनी 'मद्रे' की समानता से इनके एक मूल से विकसित होने का अनुमान कर सकते है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर विश्लेषण कर इनके मूल शब्द तक पहुँचने का प्रयास किया जा सकता है। प्राप्त प्रमाणो के आधार पर पुनर्रचना के सदर्भ से शब्द के मूलरूप तक पहुँचने का प्रयास इसमे किया जाता है। 'भारोपीय मातेर की कल्पना पुनर्रचना के सिद्धान्त पर की गई है।'[2] इसी आधार पर पिता, भ्राता, दुहिता, द्वौ, त्रय, चत्वारः, दश, शतम् आदि के अन्य भाषाओ में पाये जाने वाले प्रतिरूपो के आधार पर भारोपीय भाषा परिवार की इकाई कल्पित हुई। इस परिवार-कल्पना को ध्वनि-विकास की प्रवृत्तियो के साक्ष्य से प्रमाणित पौर पुष्ट किया गया। इस क्रम मे इस तथ्य पर ध्यान देना अनिवार्य है कि शब्द के व्याकरणिक रूप और व्याकरणिक अर्थ समान हो। इसी आधार पर कई भाषाओं को एक पारिवारिक मूल की भाषा माना जा सकता है और उसका क्रमिक विकास दर्शाया जा सकता है।

---

1. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश, पृ० 18
2 वही पृ० 19

यदि व्याकरणिक रूप और व्याकरणिक अर्थ मे भिन्नता हो तो प्रतिरूपो की समानता होने पर भी उसे एकमूल से उद्भूति नही माना जा सकता। अँगरेजी 'बैड' (Bad) और फारसी 'बद' मे प्रतिरूप की समानता है। इतालवी 'दोन्ना' और जापानी 'ओन्ना' के प्रतिरूप के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि इतालवी और जापानी भाषाओ की उत्पत्ति एक मूल से है। ऐसी प्रतिरूप समानता मिथ्या व्युत्पत्ति (False Etymology) को प्रश्रय देती है। ऐसे निष्कर्ष पूर्णतः भ्रमपूर्ण और अनुपयुक्त होगे, क्योकि ये दो भिन्न परिवारो की भाषाएँ है और इनके अर्थ एव रूप का विकास एक मूल से नही हुआ है।

भाषाओं की भिन्नता दर्शाने के लिए भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान का उपयोग होता है। ध्वनि, अर्थ आदि की भिन्नता का तुलनात्मक विश्लेषण इसके अन्तर्गत किया जाता है और उनमे समानता-विभिन्नता का निदर्शन किया जाता है। पूर्ववर्ती सरचना ही ऐसे विवेचन का आधार होती है। तात्पर्य कि तुलना के पूर्व भाषाओ की सरचना या आतरिक गठन को विश्लेषित करना अपेक्षित है। यह कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का है। इस प्रकार तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आधार वर्णनात्मक भाषाविज्ञान ही प्रस्तुत करता है। तुलना का कार्य एक कालखण्ड के अन्तर्गत होने से ऐतिहासिक भाषाविज्ञान भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान से जुड़ा हुआ है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का सहायक या साधन भी है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान

भाषा के गत्यात्मक स्वरूप का अध्ययन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विषय है। इसमे भाषा का अध्ययन एक स्थिर या निर्धारित कालखण्ड के सदर्भ में नही किया जाता। काल निरतर प्रवहमान है। इस प्रवहमान काल के ऐतिहासिक सदर्भ निरन्तर बदलते रहते है। इसमे भाषा के रूप भी बदलते रहते है। तात्पर्य कि काल-प्रवाह गतिशील रहता है। इस प्रवाह मे भाषा के स्वरूप और सदर्भ बदलते रहते है। किन्तु क्षण-क्षण बदलते भाषिक परिवर्तन का अध्ययन नही किया जा सकता। छोटे-छोटे भाषिक परिवर्तन निरन्तर घटित होते रहते है। ऐसे छोटे-छोटे परिवर्तन जब एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर लेते है तो ऐतिहासिक भाषाविज्ञान उनके विकासगत सोपानो या अवस्थाओ का अध्ययन करता है। 'काल के परिप्रेक्ष्य मे एक के स्थान पर आयी हुई दूसरी, दूसरी के स्थान पर आयी हुई तीसरी और इसी प्रकार एक के बाद एक आने वाली भाषाओं की ध्वनि, रूप, वाक्य-रचना, अर्थ और शब्द-समूह से क्या परिवर्तन होते गये है, इन परिवर्तनो के कारण और दिशाएँ क्या है, जो परिवर्तन हुए हैं वे कहाँ तक स्वत. है और कहाँ तक बाह्य

प्रभावी, इन सबका अध्ययन भाषाविज्ञान का विषय है।'[1] तात्पर्य यह कि भाषा-परिवर्तन के सिद्धान्त, कारण और दिशाएं ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत विचार्य है।

मेरियो पेई का कहना है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा सदैव कठिनता से सरलता और संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की दिशा मे पहुँचने का यत्न करती है। कम-से-कम अब तक ज्ञात भाषाओ का इतिहास यही है।[2] वैदिक संस्कृत से लेकर आधुनिक आर्य भाषाओ की विकास-परम्परा के संदर्भ मे इस कथन को परखा जा सकता है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से भाषा या भाषाओ का कालानुक्रमिक अध्ययन संभव होता है। जॉन लियोन्स ने इसी संदर्भ को दर्शाते हुए कहा कि 'किसी भाषा के कालक्रमिक अध्ययन (Chronological Study) का अर्थ उसके ऐतिहासिक अर्थात् कालानुसारी विकास के वर्णन से है।'[3] लेइमैन भी कहते है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान मे दो काल बिन्दुओ पर पाये जाने वाले भाषागत भेदो का अध्ययन किया जाता है।[4] भाषा और भाषाओ का कालक्रमानुगत अध्ययन होने से फ्रांसीसी विद्वान् सोस्युर के अनुसार इसे गत्यात्मक (Dynamic) प्रणाली भी कहा जाता है। इस अध्ययन-क्रम मे भाषा के इतिहास पर ध्यान केन्द्रित रहता है और ध्वनि, रूप, पदबन्ध, वाक्य,अर्थ आदि के प्रचलित रूप के विकास-सोपानो को विश्लेषित किया जाता है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की परम्परा का श्रीगणेश 1786 ई० मे विलियम जोन्स किया। उन्होने संस्कृत भाषा की संरचना पर विचार करते हुए ग्रीक और लैटिन मे उसकी उत्कृष्टता प्रतिपादित की और इनके बीच असाधारण समानता की पुष्टि प्रमाणो के आधार पर की। इसी आधार पर उन्होने यह स्थापना दी कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ एक-दूसरे से सम्बन्ध है। इस भाषा-परिवार को उन्होने भारोपीय भाषा-परिवार कहा। इस विज्ञान को मारिस स्वाडेस ने 1950 ई० मे प्रांजल सिद्धान्तों के आधार पर विकसित किया।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान वर्णनात्मक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। भाषा के गत्यात्मक (Dynamic) स्वरूप का अध्ययन तभी संभव है, जब उसके प्रत्येक कालखण्ड का स्थित्यात्मक अध्ययन पूरा हो चुका हो। यह कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का है।[5] वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 5
2. इनविटेशन टू लिंग्विस्टिक्स—मेरियो पेई, पृ० 98
3. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान—जॉन लियोन्स, पृ० 48
4. हिस्टॉरिकल लिंग्विस्टिक्स—लेइमैन, पृ० 3
5. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 5-6

१२५१०

अध्ययन की भूमिका प्रस्तुत किये जाने पर ही तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का कार्य प्रारम्भ होता है। इसीलिए कहा जाता है कि भाषाविज्ञानो मे वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की आधारभूत सत्ता होती है। इसी प्रकार भाषाओं की आन्तरिक और बाह्य संरचना का ध्वनि, रूप, पदबन्ध, अर्थ और वाक्य के स्तर पर तुलना करने के बाद ही, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए इतिहास, भूगोल, नृविज्ञान, पुरातत्त्व, पुरालेखशास्त्र और पुरालिपिशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है।

संरचनात्मक भाषाविज्ञान (Structural Linguistics)

भाषातत्त्वों की व्यवस्था से सबन्धित व्याख्या को संरचनात्मक भाषाविज्ञान की सज्ञा दी गयी है। संरचनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत संरचनात्मक पद्धति से विवरण के आधार पर भाषा का विश्लेषण किया जाता है। इसे भाषा के सम्बन्धो की एक सुग्रथित प्रणाली भी कहा जाता है। भाषा के विभिन्न तत्त्व एव रूप एक-दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। यह सम्बन्धता रचना की क्रममूलकता से होती है या स्थिति-मूलकता में। इसमे दोनो प्रकार से भाषा की सापेक्षसिद्ध विवेचना की जाती है। लियोन्स ने कहा है कि 'किसी भाषा को सम्बन्धो की एक प्रणाली या अन्त ग्रथित प्रणालियों का एक विन्यासमात्र कहा जा सकता है। भाषा के ध्वनि, शब्द आदि अवयवो की समतुल्यता, वैषम्य आदि सम्बन्धो से वियुक्त रूप मे कोई औचित्य नही ठहरता।'[1]

संरचनात्मक भाषाविज्ञान भाषिक अवयवो की सघटना की क्रमिकता पर आधारित है। भाषा की संरचना रूपतत्त्वो से होती है। ध्वनियों के तारतम्य मे भी संरचना की क्रमिकता लक्षित होती है। निकट स्थित भाषा के अगो, उनका क्रम और उनकी व्यवस्था संरचनात्मक पद्धति की विशेषता है।

ब्लूमफील्ड, सपीर, फ्रँजबोआ आदि भाषावैज्ञानिको की रचनाओ मे संरचनात्मक भाषाविज्ञान के बीज दिखाई पड़ते है। जैलिग हैरिस ने संरचनात्मक भाषाविज्ञान नामक पुस्तक लिखकर इसके सिद्धान्त स्थापित किये। कुछ भाषा-वैज्ञानिक इसे 'भाषा का गणित' कहना उचित समझते है। कारण यह कि संरचनात्मक अध्ययन गणितीय कोटि का होता है। इसके अन्तर्गत भाषा के विविध अगो को एकाकी रूप मे नही देखा जाता, बल्कि पारस्परिक सम्बन्धो के आलोक मे उन पर विचार किया जाता है।

प्रायोगिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो के आधार पर किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के

1. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान—लियोन्स, पृ० 53

लिए भाषा प्रयोग की एक अन्य पद्धति का निरूपण प्रायोगिक भाषाविज्ञान का विषय होता है। वास्तव में भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों के विभिन्न अनुप्रयोग ही प्रायोगिक भाषाविज्ञान में विश्लेषित किये जाते है। सिद्धान्तो का अनुप्रायोगिक विश्लेषण होने के कारण इसकी प्रकृति मूलतः प्रकार्यात्मक (Functional) होती है। 'भाषाविज्ञान के द्वारा भाषिक संरचना और उसकी आन्तरिक प्रकृति से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसका उपयोग अनुप्रयुक्त (प्रायोगिक) भाषाविज्ञान अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए करता है।'[1]

भाषा प्रयोक्ताओं के मन की प्रकृति को समझने के लिए (मनोभाषाविज्ञान के लिए) इसका उपयोग किया जाता है। शैलीविज्ञान और समाज भाषाविज्ञान में भी प्रायोगिक भाषाविज्ञान का उपयोग होता है। कोशविज्ञान, भाषा-सर्वेक्षण, अनुवाद, टंकण, भाषा-शिक्षण, पाठ्यपुस्तक रचना आदि की दिशा में भी इसकी आवश्यकता होती है। प्रायोगिक भाषाविज्ञान के द्वारा साहित्य की रूपात्मक समीक्षा, छन्दों की ध्वनि, वैज्ञानिक मैत्री तथा व्यवस्था, अलंकारों की अर्थमूलक और ध्वनिमूलक व्याख्या होती है।

प्रायोगिक भाषाविज्ञान के लिए कायमोग्राफ, पैलेटोग्राफ, सोनोग्राफ, ओसेलोग्राफ, मिंगोग्राफ, स्पैक्ट्रोग्राफ आदि की आवश्यकता होती है। शैलीविज्ञान, मनोभाषाविज्ञान, समाज भाषाविज्ञान के उदय से प्रायोगिक भाषाविज्ञान की अनेक संभावनाएँ प्रकट हो रही है।

भाषा के सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन के लिए विस्तृत भाषाविज्ञान (Macro Linguistics) और सूक्ष्म भाषाविज्ञान (Micro Linguistics) का प्रचलन हो रहा है। इनसे भाषा के विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन की दिशाएं विस्तृत हो रही है।

प्राचीन अध्ययनो में भाषाविज्ञान के वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक स्वरूप का स्पष्ट विभाजन नही मिलता। भाषा के विकास तथा उसकी तुलना के क्रम मे उपर्युक्त तीनो अंगो का स्पर्श स्पष्ट दिखाई देता है। यूनानी और भारतीय विद्वानो के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। सोस्युर ने इन तीनो को विभाजित और अलग विवेचित करने का प्रयास किया। फिर भी, तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का मार्ग वर्णनात्मक भाषाविज्ञान से होकर ही प्रशस्त होता है। अतः इन तीनो के सम्पर्क सूत्र की अविच्छिन्नता अब भी बनी हुई है।

भाषाविज्ञान तथा अन्य ज्ञान-विज्ञान

संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान मानव के जीवन-जगत् से सम्बद्ध है। भाषा के

1. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश, पृ० 2।

माध्यम से अभिव्यक्त होकर ही ज्ञान विज्ञान जीवन जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं इसलिए भाषा और उसका विज्ञान सभी ज्ञान विज्ञानो से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध है। यहाँ भाषाविज्ञान से उनके सम्बन्धो का संक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक होगा।

व्याकरण और भाषाविज्ञान

सर्वप्रथम भाषा की उत्पत्ति हुई। भाषा परिवर्तनशील होती है। वैदिक ज्ञान-विज्ञान का अपौरुषेय ग्रथ वेद भी इस परिवर्तन से अछूता नही रह सका। अत उसके सरक्षण के धार्मिक महत्त्व को ध्यान मे रखकर भारतीय मनीषियो ने व्याकरणशास्त्र की रचना की। व्याकरणशास्त्र को 'वेदानाम् वेद.' और 'व्याकरणम् नामेयम् उत्तरा विद्या' कहकर उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया।

'भाषा के निरन्तर परिवर्तनशील होने के कारण प्राचीन भाषाओ के वाङ्मय को सुरक्षित तथा बोधगम्य बनाये रखना तथा प्राचीन एव नवीन भाषाओ की पारस्परिक भिन्नता को स्पष्ट करते चलना सास्कृतिक सरक्षण और व्यावहारिक उपयोगिता, दोनो ही दृष्टियो से अनिवार्य होता गया।'[1] महाभारत मे भी कहा गया है—'रक्षार्थम् वेदानामध्येय व्याकरणम्।' कैयट ने इसके प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है—'रक्षोहागम लघ्वसदेहा प्रयोजनम्।' महाभारत मे व्याकरण को व्याकृत करने वाला बताया गया है—'तन्मूलतो व्याकरण व्याकरोतीति तत्तथा।' व्याकरण मुख्यत. भाषा के रूप एव अर्थतत्त्व की व्याख्या करता है।

व्याकरण भाषा के काल-विशेष मे प्रचलित रूपो की शुद्धता का आख्यान करता है। वह भाषा के तात्कालिक स्वरूप और नियमो को दर्शाता हुआ भाषा के शुद्ध वाचन एवं लेखन की दिशा निर्धारित करता है। उसका सम्बन्ध भाषा-विशेष से होता है। सभी भाषाओ के लिए एक ही व्याकरण नही होता। इसलिए व्याकरण भाषा के स्थिर-स्थापित रूप का विवरण प्रस्तुत करता है और यह मानता है कि शब्द की अर्थवत्ता स्थिर है।

किन्तु भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषा की उत्पत्ति से लेकर उसके वर्तमान रूप के निष्पन्न होने तक से है। भाषाविज्ञान यह भी निर्देशित करता है कि भाषा के वर्तमान रूप के उभरने का कारण क्या है। इस प्रकार भाषाविज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और सार्वकालिक है। भाषाविज्ञान के नियम केवल एक ही भाषा पर लागू नही होते। वह दो परस्पर सम्बद्ध या असम्बद्ध भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। वह भाषा के कार्य-कारण भाव को दर्शाता हुआ भाषा के नियमो और परिवर्तनो को विश्लेषणित करता है। वह भाषा के भूत और

---

1. दि फिलॉसफी ऑफ संस्कृत ग्रामर—पी० सी० चक्रवर्ती, पृ० 16

वर्तमान की सीमाओं और शक्तियों को स्पष्ट करता है तथा प्रवृत्तियों के आधार पर पूर्वानुमान भी प्रकट करता है। भाषाविज्ञान गत्यात्मक होता है। वह भाषा के रूपात्मक एवं अर्थतत्त्व को निरन्तर परिवर्तनशील मानकर उसका विवेचन करता है। किसी शब्द के उद्भव और विकास की दिशाओं का सकेतक होने से भाषाविज्ञान निरन्तर अन्वेषणरत रहता है।

व्याकरण भाषाविज्ञान का अनुगमन करता है। भाषाविज्ञान जिन भाषिक रूपों को विकास मानकर स्वीकार कर लेता है, व्याकरण उनके अनुरूप अपने को व्यवस्थित कर लेता है। जिन रूपों की निष्पत्ति भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं हो पाती, उन्हें व्याकरण स्वीकार नहीं करता और उन्हें अशुद्ध प्रयोग मानता है।

भाषाविज्ञान और व्याकरण अत्यन्त घनिष्ठ हैं। वे एक-दूसरे पर अन्तरावलंबित हैं। इसीलिए भाषाविज्ञान को व्याकरण का व्याकरण कहा गया है। कुछ विद्वान् भाषाविज्ञान को तुलनात्मक व्याकरण भी कहते हैं। एक उदाहरण लीजिए। 'आय' शब्द प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार व्यय, अन्वय, प्रत्यय आदि की तरह पुर्लिंग होना चाहिए, किन्तु फारसी 'आमद' के प्रभाव से उसे व्याकरण ने स्त्रीलिंग मान लिया। व्याकरण की इस मान्यता का समाधान भाषाविज्ञान ही करता है। व्याकरण आरोपित मान्यताओं को प्रयोग की भूमि प्रदान करता है। स्वीकृत मान्यताओं के विरोध की क्षमता उसमें नहीं है। स्वीकृत नियम के विरुद्ध जो भी है, वह अशुद्ध है। जैसे कहीं-कहीं 'मैंने जाना है' प्रयोग दीख पड़ते हैं। यह पंजाबी प्रभाव है। भाषाविज्ञान इसकी व्याख्या करता है। व्याकरण इसे अशुद्ध घोषित करता है। भाषिक परिवर्तन को भाषाविज्ञान भाषा का विकास मानता है और व्याकरण उसे अशुद्ध बताता है।

व्याकरण से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान अधिक जुड़ा हुआ है। उसका रूप-विचार वाक्यविचार व्याकरण पर ही आधारित होते हैं। तुलनात्मक, संरचनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान भी व्याकरण द्वारा प्रदत्त सामग्री पर विचार करते है तथा उनके लिए व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य और भाषाविज्ञान

साहित्य शब्द और अर्थ का सौहित्य है। शब्द और अर्थ के माध्यम से भावों और विचारों को प्रकट किया जाता है। भाषाविज्ञान भाषा के स्वरूप, अर्थ आदि को विश्लेषित करता है। भाषाविज्ञान भाषा के जिस स्वरूप का अध्ययन करता है वह साहित्य ही प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान की अध्ययन-सामग्री साहित्य में ही उपलब्ध है। वैदिक, पालि, प्राकृत अपभ्रंश और देसी भाषाओं के उपलब्ध साहित्य के आधार पर ही भाषाविज्ञान ऐतिहासिक, तु या त्मक प्रस्तुत कर पाता है एक प्रकार से साहित्य

ही भाषाविज्ञान के लिए कच्चा माल (Raw material) सुलभ कराता है। यदि साहित्य विवेच्य आधार प्रस्तुत न करे तो भाषाविज्ञान के लिए अपने नियम, सिद्धान्त, तुलनात्मक विवेचन या प्रायोगिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण करना सभव नही हो सकेगा। इसलिए जिस भाषा का साहित्य नही है, उसके भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की सभावना नही है। उपलब्ध साहित्य के आधार पर ही भाषा के स्वरूप एव गठन का भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। वैदिक भाषा (ऋग्वेद की भाषा) के पूर्व की भाषा का साहित्य उपलब्ध नही हो सकने के कारण उसके सम्बन्ध मे भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कुछ भी कह सकना सभव नही है। यदि अनुमान से कुछ कहा भी जाय तो उसका कोई ठोस आधार नही है। इस प्रकार साहित्य भाषाविज्ञान के लिए सामग्री उपलब्ध कराता है।

इसी प्रकार साहित्य भी भाषाविज्ञान की सहायता से सहज और बोधगम्य हो जाता है। प्राचीन साहित्य को प्राचीन भाषारूपो और प्रयोगगत भाषावैज्ञानिक वैशिष्ट्य के माध्यम से ही समझा जा सकता है। 'असुर' शब्द वैदिक युग मे देवता का वाचक था, किन्तु कालान्तर मे वह राक्षस का वाचक हो गया। साहित्य मे अभिव्यक्ति ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ आदि को सही भाषावैज्ञानिक सदर्भ मे समझ लेने पर साहित्य का सौन्दर्य, उसका मर्म और उसकी शक्ति उद्घाटित होती है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य न केवल सास्कृतिक धरोहर के रूप मे ही ग्राह्य है, बल्कि भाषावैज्ञानिक अध्ययन की आधार-सामग्री के रूप मे रक्षणीय है।

पाठालोचन के अन्तर्गत प्राचीन साहित्य का पाठनिर्णय भी भाषावैज्ञानिक आधार पर ही संभव है। आलोच्य कृति की भाषा की शुद्धता का परीक्षण एव सशोधन देश-काल एव तत्कालीन भाषिक प्रकृति के परिप्रेक्ष्य मे ही हो सकता है।

साहित्यालोचन के अन्तर्गत शैलीविज्ञान आता है। यह साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष का आख्यान है। शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान के विस्तृत क्षेत्र का नया आयाम है। भाषा का सौन्दर्य भाषाविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। इस प्रकार साहित्य और भाषाविज्ञान का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

मनोविज्ञान और भाषाविज्ञान

भाषा के द्वारा मनोभावो और मनोविचारों की अभिव्यक्ति होती है। भाषा भावविचार के प्रेषण का साधन है। किसी भी भाव और विचार की अभिव्यक्ति मन से होती है। मन के अधीन ही अभिव्यक्ति की प्रक्रिया होती है। भाषा मनोभावो को प्रकट करने का एकमात्र वाचिक साधन है। भाव और मनोभाव मनोविज्ञान के क्षेत्र मे आते हैं। भावों की अभिव्यक्ति में जो प्रेषणागत वैचित्र्य लक्षित होता है, उसका मूल कारण मनोविज्ञान है। देश-काल के अनुसार जो मनोदशा होती है उसके अनुरूप भाषिक अभिव्यक्ति मे विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ध्वनि

सुर, क्रम, बलाघात आदि विभिन्न मनोदशाओं के द्योतक है।

अर्थविज्ञान की प्रक्रिया पूर्णत. मनोविज्ञान पर ही आधारित है। अर्थविकास, उसकी दिशाएँ, लोकोक्तियाँ, वाक्पद्धति आदि मनोविज्ञान पर ही आधारित है। एक शब्द के कई अर्थ होते है। उनके सही अर्थ को ग्रहण करने की परिस्थिति मनोदशा के अनुकूल ही होती है। किसी शब्द का हमारे ऊपर अनुकूल प्रभाव होता है और किसी का प्रतिकूल। 'आप चतुर है' और 'तुम गदहा हो' का प्रभाव मनोदशा के अनुकूल-प्रतिकूल ही ग्राह्य होता है। यह सब मनोविज्ञान से ही सभव होता है। इसलिए भाषाविज्ञान की एक नई शाखा मनोभाषाविज्ञान (Psycholinguistics) का उद्भव और विकास मनोविज्ञान और भाषाविज्ञान के अन्तरग सम्बन्ध को द्योतित करता है। वक्ता की मानसिक दशा का पता मनोविज्ञान को भाषा के माध्यम से ही चलता है। पागलो के प्रलाप की भाषा से उनके मनोराज्य की क्रिया-प्रतिक्रिया जानने का कार्य होता है। इस आधार पर ही मानसिक रोग का निदान और उपचार किया जाता है। मनोविज्ञान के नियमो, सिद्धान्तो और विचारो की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है।

मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान

मनुष्य के भौतिक, सामाजिक और सास्कृतिक विकास और व्यवहार का विवेचन मानवविज्ञान (Anthropology) का विषय है। इसके अन्तर्गत भाषातत्त्व का भी विवेचन किया जाता है। इस प्रकार मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान एक-दूसरे से सम्बन्धित है।

एक प्रकार से भाषा पर विचार करते समय हम मानव के विकास की कथा पर ही विचार करते है। शब्द भाण्डार का विकास, अर्थ-विकास की दिशाएँ आदि मानव जाति के सांस्कृतिक, सामाजिक और सभ्यतामूलक विकास का परिचय प्रस्तुत करती है। भाषा-विचार के अन्तर्गत मानव के सामाजिक और सास्कृतिक परिवर्तन की ऐतिहासिक भूमिका का विश्लेषण किया जाता है।

भाषा के द्वारा मनुष्य के भाव और विचारो की अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक विशेषताओ की पहचान मिलती है। भाषा के अन्तर्गत अधविश्वास, रूढ़िप्रियता, घृणा, आह्लाद आदि को व्यक्त करने वाले शब्द मानव समाज की सास्कृतिक स्वीकृतियो और मानसिक विकास को द्योतित करते हैं। दिया बढ़ाना, दूकान बढ़ाना, स्वर्ग सिधारना, भेट-पूजा (रिश्वत), पान-पत्ती आदि मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान दोनो के अध्ययन के विषय है। रंगदारी, पोगा पडित, चदा आदि के अर्थ सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे भिन्न हो गए है। शौच-निवृत्ति के लिए मैदान जाना, टट्टी जाना, निबटना आदि की कथा मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान दोनो के लिए रोचक है। मानवविज्ञान एक प्रकार से भाषा के विकास की रोचक

कथा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान के लिए मानवविज्ञान पर्याप्त अध्ययन-सामग्री उपलब्ध कराता है।

इतिहास और भाषाविज्ञान

इतिहास जातीय उत्थान-पतन की भूतगाथा है। भाषाविज्ञान जातीय उत्थान-पतन के इतिहास को भाषिक सदर्भ मे प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इतिहास और भाषाविज्ञान घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। प्राचीन अभिलेख, साहित्य, शिलालेख, सिक्के आदि के द्वारा इतिहास तथा भाषाविज्ञान दोनो की विस्मृत शृंखला को जोडा जा सकता है। कीलाक्षर लेख पट्टियो ने जहाँ इतिहास के लिए सामग्री प्रस्तुत की, वही इस मान्यता की स्थापना की कि 'हिन्दी' भाषा भारोपीय परिवार की भाषा थी। इसी प्रकार हडप्पा और मोहनजोदडो के शिलालेखो-अभिलेखो से तत्कालीन इतिहास और भाषा दोनो पर प्रकाश पडता है।

देशकाल के प्रभाव से भाषा मे हुए परिवर्तन से ऐतिहासिक विकास की रेखाएँ भी स्पष्ट होती है। वैदिक भाषा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और पाणिनिकालीन भाषाओ से तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। ऐतिहासिक घटनाक्रम मे एक जाति दूसरी जाति के सम्पर्क मे आती है। दोनों की भाषाओ मे परस्पर आदान-प्रदान भी होता रहता है। इससे भाषा और इतिहास दोनो के तथ्य प्रकाश मे आते है। भारत से बौद्ध धर्म चीन, जापान, श्रीलंका, जावा, सुमात्रा आदि देशो मे फैल गया। इन देशो की भाषा के अनेक शब्द हमारी भाषा मे आ गए है। इससे इतिहास के नये तथ्यो पर प्रकाश पड़ता है।

इतिहास न केवल घटनात्मक विवरण ही प्रस्तुत करता है, वरन् सांस्कृतिक और सामाजिक सदर्भो को उजागर करता है। विधवा, बारात, कन्यादान, बुआ, मौसी जैसे शब्द प्राचीन साहित्य मे मिलते है, किन्तु विधुर, मौसा, फूफा आदि नजर नही आते। इससे प्रकट होता कि मातृसत्ता-प्रधान युग-व्यवस्था उक्त काल मे थी। मानवविज्ञान, पुरातत्त्व आदि से भी भाषा के इतिहास की रोचक कथा रूपायित होती है। इससे स्पष्ट होता है कि इतिहास के ज्ञान से भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो का व्यावहारिक प्रतिफलन प्रत्यक्ष होता है। 'भाषाविज्ञान इतिहास को प्रामाणिक बनाने मे बहुत सहायता करता है और ऐतिहासिक ज्ञान से भाषावैज्ञानिक उपलब्धियो की सहायता और प्रामाणिकता पुष्ट होती है।'[1]

भूगोल और भाषाविज्ञान

भूगोल एक ओर मानव और मानव समाज को प्रभावित करता है तो दूसरी

---

1 भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डा० हरीश पृ० 35

ओर उसके भाव, विचार और उनको अभिव्यक्ति देने वाली भाषा को भी देशानुकूल संदर्भ प्रदान करता है। जहाँ कृषिप्रधान कर्म है, वहाँ की भाषा कृषि संबंधी शब्दों से भरपूर होती है। जहाँ उद्यान आदि है, वहाँ की भाषा में तदनुरूप शब्दावली का बाहुल्य दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा के विकास में भौगोलिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। कुछ विद्वान उच्चारण अवयवों पर भी भौगोलिक प्रभाव स्वीकार करते हैं। जैसे अँगरेजी और हिन्दी भारोपीय परिवार की भाषा है। किन्तु अँगरेजी में ख, घ, ङ, च, छ, झ, ठ, ण, त, थ, ध, फ, भ, ध्वनियाँ नहीं मिलती। इटली वाले ट और ड का उच्चारण नहीं कर पाते। भारत के बंगला प्रभावित क्षेत्र में 'ड़' का उच्चारण 'र' होता है। इसी प्रकार 'व' का उच्चारण वे 'ब' करते हैं। इससे निष्कर्ष निकाला जाता है कि ध्वनियों के उच्चारण पर भौगोलिक प्रभाव पड़ता है।

भौगोलिक व्यवधानों—वन, पर्वत, समुद्र आदि—के कारण एक भाषा बोलने वालों की भाषा में भी कालांतर में अन्तर दिखाई पड़ने लगता है। भाषा के परिवर्तन में भौगोलिक स्थितियों का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। अतः भौगोलिक कारणों से ही भाषा-भेद आ जाता है। इसे भाषिक परिवर्तन में कारण-रूप में भी स्वीकार किया गया है।

भूगोल के प्रभाव से भारतीय आर्य भाषा में प्राकृतिक तत्त्वों के लिए जितनी शब्दावली है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। सूर्य, समुद्र, हवा, पानी आदि के लिए इतने अधिक शब्द हैं कि चकित रह जाना पड़ता है। पानी के लिए नीर, तोय, पय, जीवन, जल, सलिल आदि शब्द प्रचलित हैं। सूर्य के लिए सूर्य, दिवाकर, अरुण, सविता आदि शब्द मिलते हैं। फूल, पत्तियों, पेड़, पौधों, नदी, नालों आदि प्राकृत तत्त्वों के अनेक नाम हैं। न केवल सामान्य भाषा, बल्कि काव्यभाषा भी भूगोल से प्रभावित होती है। भाषाविज्ञान इस शब्दावली के मूल तक जाने का प्रयत्न करता है और उसका विस्तृत अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भाषा-साहित्य में स्थान-विशेष के रम्य वर्णन भौगोलिक संदर्भ से ही प्रस्तुत करते हैं। भाषाविज्ञान भौगोलिक परम्पराओं की खोज की दिशा में प्रयत्न करता है।

समाजविज्ञान और भाषाविज्ञान

समाजविज्ञान मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक मूल्यों का मूल्यांकन करता है। समाज-सापेक्ष उपलब्धियों को विश्लेषित करने का एकमात्र साधन भाषा है। भाषा की प्रकृति भी समाज-सापेक्ष है। अर्थात् भाषा समाज के लिए होती है तथा समाज के विविध संदर्भों में विविध रूप धारण करती है। भाषा के इतिहास का समाजवैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित होता है। भाषा की संरचना और अर्थविधान में सामाजिक परिस्थितियाँ प्रमुख भूमिका अदा करती हैं। एक

प्रकार से भाषा का समाज सापेक्ष अध्ययन उसके प्रयोक्ता समाज का ही अध्ययन होता है। जिस रूप में मानवविज्ञान भाषाविज्ञान से जुड़ा हुआ है, उसी रूप में समाजविज्ञान और भाषाविज्ञान भी सबद्ध है। मानवविज्ञान में समाजविज्ञान की अनेक स्थितियों का आकलन होता है। भाषा का सामाजिक संदर्भ यह सिद्ध करता है कि समाजविज्ञान और भाषाविज्ञान एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए है। समाजविज्ञान भाषा को आशिक रूप में स्वीकार करता है, किन्तु भाषाविज्ञान समाजविज्ञान को पूर्णत' ग्रहण कर चलता है।

तर्कशास्त्र और भाषाविज्ञान

तर्कशास्त्र कार्य-कारण की सापेक्षता को अनिवार्य मानता है। इस प्रकार तर्कशास्त्र के अनुसार युक्ति-युक्त कथन ही तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है। तर्क और तर्कशास्त्र की अभिव्यजना का माध्यम भाषा है।

भाषाविज्ञान के सिद्धान्त, नियम और प्रयोग तर्काश्रित होते हैं। युक्ति-युक्त तथ्यों के आधार पर ही भाषाविज्ञान का विश्लेषण आधारित है। तर्कशास्त्र में वाक्य की स्पष्ट महत्ता प्रतिपादित की गयी है। वाक्य भाषाविज्ञान की लघुतम सार्थक इकाई मानी गयी है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान और तर्कशास्त्र एक-दूसरे से जुड़े हैं।

भाषा का विवेचन दार्शनिकों और नैयायिकों ने किया है। वैयाकरणों का स्फोटवाद, बौद्धों का अपोहवाद नैयायिकों का जातिवाद, मीमासकों का शब्द नित्यवाद दर्शन से जुड़े है। वाणी के चार प्रकार—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भी दर्शनशास्त्र के अग हैं।

भौतिकी और भाषाविज्ञान

भौतिकी मे ध्वनि और प्रकाश के सचरण-सिद्धान्त विश्लेषित होते हैं। भौतिकी के अनुसार 'ईथर' के प्रभाव से ध्वनि-तरंगे सचरण करती हैं तथा वक्ता की वाणी श्रोता सुन पाता है। इस प्रकार ध्वनि को निकट या दूर पहुँचाने, प्रेषित करने के सिद्धान्त भौतिकी से सम्बद्ध है। बेतार का तार, रेडियो, टेलीविजन आदि इस बात के साक्षी है कि भौतिकी ने ध्वनि-सचार की दिशा मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।

भाषाविज्ञान ध्वनन और प्रेषण क्रिया से जुड़ा है। ध्वनियों के प्रेषण के बिना ध्वनन का कोई महत्त्व ही नही है। भाषाविज्ञान का ध्वनिविज्ञान भाषाध्वनि के उत्पादन, सवहन और ग्रहण से सम्बद्ध होता है। इसके लिए भौतिकी मे प्रयुक्त होने वाले यत्रों और सिद्धान्तों का प्रयोग उपयोगी होता है। भाषाध्वनि के क्षेत्र मे भाषाविज्ञान ने जो उन्नति की है- उसका श्रेय भौतिकी को ही है। दो

ध्वनियों के बीच जो सूक्ष्म अंतर है, उसे भौतिकी के माध्यम से ही समझा जा सकता है। लैरिंगोस्कोप, कायमोग्राफ, ओसिलोग्राफ, कृत्रिम तालु, एक्सरे से भाषा ध्वनियों को समझने से काफी सफलता मिली है। भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता का आधार भौतिकी ही है।

शरीरविज्ञान और भाषाविज्ञान

शरीर-रचना और अवयवों की क्रियाओं का वैज्ञानिक ज्ञान शरीरविज्ञान से होता है। मनुष्य के उच्चारण और श्रवण अवयव भी शरीर के ही अंग हैं। मुखविवर और नासिका-विवर उच्चारण अवयव और कर्णविवर श्रवण अवयव हैं।

भाषा का उच्चारण विभिन्न उच्चारण अवयवों और श्रवण कर्णेन्द्रिय से होता है। मुख से निकली ध्वनि सार्थक होने पर भाषा रूप में ग्राह्य होती है। भाषा कानों से सुनी जाती है और मस्तिष्क में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। श्रवण या उच्चारण अवयव में दोष होने पर भाषा का अधूरा रूप ही सम्प्रेषित हो पाता है। भाषा का श्रवण या उच्चारण अधूरा होने से शरीर की सदोषता ज्ञात होती है। भाषाविज्ञान और शरीरविज्ञान का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है।

भाषा

भाषा संप्रेषणीयता है

भाषा भावाभिव्यंजन का साधन है। मात्र अभिव्यजना ही भाषा का लक्ष्य नही है। अभिव्यजित भावो या विचारो को हम संवाहित-सचारित कर श्रोता मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करना चाहते है। अभिव्यंजन, सप्रेषण भाषा की प्रकृति है। संप्रेषण के माध्यम रूप मे भाषा की सरचना मानव की अन्यतम उपलब्धि है। सप्रेषण के विविध साधनों के सदर्भ मे ही भाषा को स्वीकार किया गया है।[1] इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज मे इसी विचार को प्रकट करते हुए कहा गया है कि 'भाषा सर्वाधिक सुनिश्चित सप्रेषणीय व्यवहार है।'[2] मानव के प्रेषणीय विचारो का संवहन भाषा के माध्यम से ही होता है। भाषा सप्रेषण का माध्यम है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से संप्रेषण 'उत्तेजना की निश्चित प्रतिक्रिया' है। भावो के सवहन और उत्तेजना की प्रतिक्रिया के उद्भव मे सम्बन्ध स्थापित करना सप्रेषणीयता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रतीको द्वारा विचार, कल्पना तथा संवेदना के अदान-प्रदान को संप्रेषण कहा जाता है। समस्त उत्तेजना को दूसरे व्यक्ति तक संवहन कराकर प्रतिक्रिया उत्पन्न कराना संप्रेषणीयता है। भाषा संप्रेषणीयता का साधन है। सप्रेषण के फलस्वरूप ही मानव की सम्पूर्ण चेष्टाओं, क्रियाओ, व्यवहारो और विचारों का संवहन होता है, जिसका आधार भाषा है।

सप्रेषण की परिधि मे वे समस्त उत्तेजनाए अंतर्भुक्त है, जिनके द्वारा कोई एक प्राणी दूसरे तक सवहन कराकर उसमे प्रतिक्रिया उत्पन्न करा पाता है।[3] ग्लीसन की मान्यता है कि भाषा मे मानव तत्त्व अनिवार्य हो सकता है, किन्तु सम्प्रेषण केवल मानव-जीवन की ही विशेषता नही है।[4] उन्होने सम्प्रेषण सिद्धान्त के अतर्गत सम्पूर्ण मानवीय सम्प्रेषण विधियों को अतर्भुक्त माना है। सम्प्रेषण प्रक्रिया में सकेत भेजने और ग्रहण करने का कार्य मनुष्य के ध्वनि-यन्त्र करते है।

मनुष्य अपनी चेष्टाओ के द्वारा दूसरे व्यक्ति तक अपने मनोभावो को प्रेषित

---

1. इन्ट्रोडक्शन टू सेमेन्टिक्स—रूडोल्फ, पृ० 3
2. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज, खण्ड 4, पृ० 78
3. भाषा एव भाषाविज्ञान—डॉ० महावीर सरन जैन, पृ० 19
4. इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन, पृ० 374

करता है । पशु-पक्षी भी अपने समूह के अतर्गत सप्रेषण का कार्य करते है । अनेक माध्यमों से वे अपनी संवेदनाओ और सूचनाओ को दूसरो तक प्रेषित करते है । सप्रेपणा प्रक्रिया का प्रयोग मानव और मानवेतर प्राणियो द्वारा किये जाने के कारण सेबाक ने प्राणी जगत् के सप्रेषण सकेतो का अध्ययन करने वाले शास्त्र का नामकरण 'प्राणी संकेत विज्ञान' (Zoosemiotics) किया है।[1] मनुष्य की तरह ही मनुष्येतर प्राणियो मे भी संप्रेषण के लिए ध्वनि, दृष्टि, स्पर्श, गध आदि इन्द्रियग्राह्य एवं अनुभाव्य साधनों का प्रयोग होता है।[2] मानव और मानवेतर प्राणियो मे सप्रेपण की कुछ विधियाँ समान होने पर भी भाषागत सप्रेषण बिधियो के प्रयोग से मानव ने अन्य प्राणियो की अपेक्षा अपने को अलग कोटि मे प्रतिष्ठित किया है।

संप्रेषण के साधन

मानव और मानवेतर प्राणियों के संप्रेपण-व्यवहार की दो विधियाँ है—

1. ध्वनि रहित सप्रेषण
2. ध्वनि सहित संप्रेपण

1 ध्वनि रहित संप्रेषण

ध्वनि रहित सप्रेपण तीन प्रकार से संभव होता है—(क) मुखमुद्राओ द्वारा, (ख) अन्य शारीरिक अंगों के विक्षेप द्वारा, (ग) इन्द्रिय इगितो द्वारा।

(क) **मुखमुद्रा द्वारा**—मुखमुद्रा की एक भाषा होती है। हृदय के भावो को मुख की भगिमा प्रकट कर देती है। मुख की भगिमा की सप्रेषण-विधि केवल मानव की ही विशेपता नही है। पशु-पक्षी भी मुखमुद्रा से आतरिक भावो को प्रेषित कर देते है। बछड़े को दुलार से चाटते समय गाय की मुखमुद्रा और होती है तथा क्रोध की मुद्रा कुछ और।

मानव की मुखमुद्राओ से भी संप्रेपण क्रिया होती है। बच्चे का प्रसन्न होना और रूठना अलग-अलग मुद्राओ से प्रेषित हो जाता है। लज्जा से गालों का आरक्त हो जाना तथा क्रोध से भौहो का कुटिल हो जाना, ओठ का फड़कना हृदय के भावों को प्रकट कर देता है—

माँखे लखन कुटिल भइ भौहे। रद पट फरकत नयन रिसौहे।

प्रसन्नता के अवसर पर हमारी मुखमुद्रा चमक और उल्लास से भरपूर होती है। 'विना बोले हुए बात व्यक्त कर देने के ऐसे प्रयोग और प्रसंग निर्जीव पदार्थों के

---

1. परस्पेक्टिव इन जूसेमिओटिक्स—टामस सेबाक
2 मीनिंग ऐण्ड स्ट्रक्चर ऑफ लैंग्वेज वैलेस चेफ

ही नही जीवित प्राणियो के भी मिलने है।'[1] डॉ० द्विवेदी के अनुसार निर्जीव पदार्थों में भी ऐसी भगिमाएँ होती हैं।

(ख) **अन्य शारीरिक अगों के विक्षेपों द्वारा**—शरीर के अन्य अंगो के विक्षेप द्वारा भी मनुष्य अपने भावो और विचारों को अभिव्यक्त करता है। सिर, हाथ, आँख आदि के संचालन मे भी सप्रेषण क्रिया होती है। सहमति-असहमति के लिए किया गया सिर-सचालन स्वतः बोधगम्य होता है। बुलाने, हटाने, मना करने, मारने और आरजू मिन्नत के लिए किये गये हस्तसकेत सहज ही अर्थ-गम्य होते है। प्रेम, क्रोध, दीनता आदि प्रकट करने वाले आगिक सकेत बडी आसानी मे समझ लिये जाते है। ये मानव के सहज व्यापार हैं, जिनमे सप्रेषण का कार्य होता है।

मनुष्य के सहज, स्वाभाविक शारीरिक विक्षेपों को साहित्य में अनुभाव कहा गया है। भाव का अनुगमन करने से ये अनुभाव कहे गये। इन आगिक चेष्टाओं के द्वारा भावों का अनुभव होता है। इस कारण भी ये अनुभाव कहे जाते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय को सात्विक अनुभाव नाम से अभिहित किया है—

स्तंभ स्वेदोऽथ रोमाचः स्वरभगोऽथ वेपथु.।
वेवेर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ मात्विका : स्मृताः।[2]

रत्नाकर की गोपियाँ आगिक चेष्टाओं से उद्धव तक अपने हृदय की बात पहुँचाती है—'नेकु कही बैनन, अनेक कही सैनन सो, रही-सही सोऊ कहि दीन हिचकीन सो।' अनुभावो के सटीक वर्णन हिन्दी साहित्य मे प्रचुर मिलते है। भाषा के अतिरिक्त आगिक विक्षेपो से मनोभाव को प्रेषित करने के प्राकृतिक साधनो का प्रयोग मनुष्य अनादि काल मे करता आया है।

पशु-पक्षी अपने अगों के विक्षेप से मनोभावो को संप्रेषित करते है। बन्दर सिर झुकाकर पास बैठ जाता है तो दूसरा उसके सिर मे जूँ बीनने लगता है। वान फ्रिस्क ने यह सिद्ध कर दिया है कि मधुमक्खियो का नृत्य निश्चित सूचना प्रदान करने का साधन है।[3] मधुमक्खियाँ अपने नृत्य से पराग क्षेत्र और उसकी दिशा की सूचना देती है। मधुमक्खियो के नृत्य का विवेचन करते हुए हाकिट ने कहा है कि 'मधुमक्खी के नृत्य की गति तथा आवृत्तियो से उसकी अर्थ-बोधकता का सम्बन्ध या दृच्छिक नही है, अपितु वंश-परम्परा से संबधित है। मधुमक्खियो

1. भाषा और भाषिकी—देवीशकर द्विवेदी, पृ 20
2. साहित्य दर्पण—विमलाख्या टीका, पृ० 94
3 फ्रांटियर्स ऑफ नॉलिज इन द स्टडी ऑफ मैन वान फ्रिस्क पृ० 228

को इसका नैसर्गिक ज्ञान होता है ।'[1] टिनबर्गन ने यह प्रतिपादित किया है कि 'पशुओं की विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ परस्पर तदनुरूप उत्तेजनाओं को जाग्रत करती है ।'[2]

(ग) **इन्द्रिय इंगितों द्वारा**—पशु-पक्षी नाक से सूँघकर अपनी इच्छा व्यक्त करते है। स्पर्शेन्द्रिय से भी प्राणी अपने भाव को सप्रेषित करते है । शरीर-स्पर्श से मनोभावो को कहने और समझने की परम्परा प्राकृतिक एव सहज स्वाभाविक है।

नाक से सूँघकर, शरीर का स्पर्श कर मनुष्य भी बिन बोले अपने मनोभावो को प्रकट करता है। नयनो के द्वारा अनेक गूढ एव गोपन रहस्य प्रकट करने की कला मे वह पारंगत है। आँख मिलाना, आँख उठाना, आँख चुराना, आँख दिखाना, आँख लडाना, आँखे चार करना आदि मुहावरे आँखों की विविध क्रियाओ के संदर्भ से ही प्रचलित हुए है। ये क्रियाएँ की जाती हैं और इनका एक निश्चित अर्थ होता है, जो सार्वदेशिक होता है। बिहारी के नायक-नायिका तो 'भरे भवन में करत है नैनन ही सो बात।' नयनो की भाषा बैन से अधिक मार्मिक होती है। नयनो की भाषा के स्पर्शी एवं द्रावक संदर्भ हिन्दी काव्य मे बहुलता से सुलभ हैं। 'इन्द्रियो के अप्रयत्नज सहज सात्विक व्यवहार, जहाँ प्राणी से प्रेषणीयता के अतर्गत आते हैं, वही सायास 'आँख मारकर' अपनी बात कहना मानव की विशेष संप्रेषण विधि का उदाहरण है।'[3] अँगूठा दिखाने, खाँसने, जीभ दिखाने, पीठ दिखाने का अर्थ भला कौन नही जानता !

2. ध्वनि सहित संप्रेषण

सहज स्वाभाविक वाचिक उत्तेजनाओं के द्वारा बिना किसी प्रयास के ही मनोभाव प्रकट हो जाते है। आदिम काल से ही ध्वनि सहित संप्रेषण-विधियो से प्राणी अपने मन की बात प्रकट करते रहे हैं। मानव और मानवेतर प्राणी ध्वनि-सकेतों से भी संप्रेषण करते हैं। हाथी चिंघाडकर, शेर दहाड़कर, घोड़ा हिन-हिनाकर, गाय रँभाकर, मच्छर-मक्खी भिनभिनाकर अपने मनोभाव अभिव्यक्त करते हैं। चिड़िया बिल्ली को देखकर एक विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न करती है। यौन-सम्पर्क के लिए भी विशिष्ट ध्वनियाँ पशु-पक्षियो द्वारा उत्पन्न की जाती है।

हॉकिट ने लंगूरो की ध्वनियों का अध्ययन करते हुए यह कहा है कि 'वे मुख-मुद्राओ एवं संकेतों के अतिरिक्त वाचिक ध्वनिक आवाजो के द्वारा भी परस्पर

---

1. ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स—हॉकिट, अध्याय 64
2. सोशल बिहेवियर इन एनीमल्स—टिनबर्गन
3 भाषा एव डॉ० महावीर सरन जैन पृ० 24

व्यवहार करते हैं।'[1] इधर समुद्रीय जीवो की ध्वनियों का अध्ययन एवं अनुसधान-कार्य प्रारंभ हुआ है।[2]

मनुष्य ध्वनि उत्पादन करने में सिद्धहस्त है। मेज पर हाथ पटककर, ताली बजाकर, कुंडी खड़काकर वह अभिप्रेत भाव को अभिव्यक्त कर देता है। 'मनुष्य ने अपनी वागेन्द्रियो द्वारा सायास उच्चरित वाक् ध्वनियो के विशिष्ट क्रम से जहाँ भाषा का निर्माण एवं अर्जन किया है, वही भाषेतर उच्चारों को भी विशिष्ट अर्थ प्रदान किये हैं।'[3] सायास खाँसने से घर की बहुएँ बुजुर्गों के आगमन की सूचना पा जाती है। सड़क छाप रोमियो की सीटी, खाँसी या खँखारने की ध्वनि से उनका मनोभाव जाहिर हो जाता है। जब कोई हमारा दरवाजा खटखटाता है तो किसी के आने की सूचना पा लेते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि संप्रेषणीयता के अंतर्गत मानवेतर प्राणियो के अनेक संप्रेषण साधनों एव विधियों के साथ मानव द्वारा विकसित सप्रेषण के विविध साधन एव विधियाँ भी अंतर्भुक्त है। भाषा मानव द्वारा विकसित सप्रेषण-साधनो मे से एक है। मानव तथा मानवेतर प्राणी विविध प्रकार की ध्वनियो के साथ ही आगिक चेष्टाओ के द्वारा मनोगत भावो को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। भाषा मनुष्य के उच्चारण-रूपो का साकेतिक स्वरूप है। इसी प्रकार अन्य सकेतो से भी मानव अपने मनोभावो को प्रकट करता आया है।

चौराहे पर खड़ा ट्राफ़िक पुलिस का सिपाही हस्तसकेतो से तथा सीटी की ध्वनि से यातायात को एक निश्चित गति देता है। स्काउट, सैनिक या नाविक झंडे की सहायता से अपना संदेश दूर-दूर तक पहुँचा देते हैं। ट्राफिक की लाल तथा हरी बत्ती आवागमन को नियत्रित करती हैं। गार्ड भी हरी झडी और हरी बत्ती ट्रेन के गतिवान होने के निर्देश हैं। तार की टकु-ट्रा ध्वनियाँ सकेत है सप्रेषण के। 'कहने की आवश्यकता नही कि भावाभिव्यंजन या अर्थबोध के ये सभी साधन गौण और स्थूल रूप मे ही भाषा की सीमा मे आते हैं।'[4]

1. ए कोर्स ऑफ मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स— हॉकिट, पृ० 573
2. मेरिन एनीमल साउण्ड—टेवोल्गा, साइन्स न० 134
3. भाषा एव भाषाविज्ञान—महावीर सरन जैन, पृ०25
4. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 18

भाषा का निर्माण

मनोभावो की व्यजना के लिए आदिम काल मे ध्वनि रहित और ध्वनि सहित सप्रेषण-विधियो का प्रयोग किया जाता था। मानव और पशु-पक्षी द्वारा प्रयुक्त सप्रेषण-विधियाँ अधिकाशत' अयत्नज, सहज और प्राकृतिक थी। उस समय मानव और मानवेतर प्राणी आगिक क्रियाओ तथा चीखने-चिल्लाने की ध्वनियो द्वारा अपने मनोभाव प्रकट करते रहे होगे। उषा का अनुपम सौंदर्य देखकर आदिम मानव उल्लास से आलाप लेता होगा। प्रेम और यौन-सम्बन्ध के अवसर पर उसकी आँखों की चमक और वाचिक उल्लास उत्तेजक रहे होगे। चीखना, चिल्लाना, हँसना, तथा मनोभावों की अभिव्यक्ति की अन्य ध्वनियाँ सहज स्नायविक प्रतिक्रियाएँ है। ये प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक एव प्राकृतिक है।

सप्रेषण के लिए स्नायविक ध्वनियों एव आगिक चेष्टाओं के अपर्याप्त प्रतीत होने पर सामाजिक जीवन की आवश्यकता के अनुसार मानव ने 'भाषा' का निर्माण एव विकास किया। शारीरिक बनावट और मानसिक विकास के अनुरूप उसने भाषा की रचना की। मानव मे ध्वनि-उत्पादन, ध्वनि-श्रवण और उन्हे स्मरण रखने की क्षमता भी विकसित हुई।

ध्वनियो के उच्चारण की क्रिया मस्तिष्क के मेरुशीर्ष (Medulla Oblon gata) द्वारा संचालित होती है। ध्वनियों के उच्चारण का नियत्रण प्रमस्तिष्क (Cerebrum) के चेष्टा क्षेत्र (Motor or Excitable area) के वाक् चेष्टा क्षेत्र (Motor Speech Centre) द्वारा होता है। इसे ब्रोका केन्द्र (BrocaCentre) भी कहा जाता है। 'यह विभिन्न वाक् अवयवो की विभिन्न गतियो का मध्यस्थ नियत्रण करता है तथा उनकी कार्यविधि एवं क्रमबद्धता का सहयोगमूलक सचालन करता है।'[1] मनुष्य में प्रमस्तिष्क का विकास अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक होता है। इसीलिए वह सायास यादृच्छिक प्रतिक्रियाओ का प्रयोग अधिक मात्रा मे करता है। इसी कारण प्राकृतिक ध्वनियो के अतिरिक्त सायास बोली जानेवाली भाषा का निर्माण एवं विकास उसने किया। 'घोष तत्री को विभिन्न स्थितियों मे नियंत्रित कर उसने ध्वनियो को अघोष-सघोष के भेदक रूप मे बोलना सीखा। नियंत्रित सुरो एवं सुर-लहर के विभिन्न स्तरो का प्रयोग करना सीखा। जिह्वा

---

1. भाषा एवं भाषाविज्ञान—डॉ॰ महावीर सरन जैन, पृ॰ 30

को विविध स्थितियों मे ले जाकर विविध स्थानों से ध्वनियो का उच्चारण करना सीखा।'[1] उच्चारण की शक्तियो के विकास के साथ ही उसने विभिन्न सामाजिक स्तरों के अनुरूप मनोभावों को प्रकट करने के लिए ध्वनि-समूहो को नियन्त्रित एव परिवर्तित किया। विभिन्न दृश्यो, वस्तुओं, स्थितियो को ध्वनि-समूहो द्वारा व्यक्त करने की परम्परा का विकास कालक्रम से हुआ। इस प्रकार मानव विभिन्न ध्वनि-समूहो को वस्तु के प्रतीक रूप मे प्रयोग मे लाने मे सफल हुआ। इन्ही 'विचारो के प्रतीक-रूप उच्चरित या लिखित सकेतो को शब्द कहते है।'[2] प्रतीकात्मकता का विकास ही भाषा की रचना का आधार माना जा सकता है। वाक् प्रतीको का प्रयोग करने से मानव पशु-पक्षी से अपने को भिन्न कर सका है। उसका मानसिक स्तर पशु-पक्षी से भिन्न रूप मे विकसित हुआ।

भाषा के बिना मानव का विकास संभव नही था। वान्द्रियैज का कहना उचित ही है कि मानव का भाषा पर अधिकार न होता तो वह जीवन के महत्त्व-पूर्ण ध्येय की पूर्ति नही कर पाता। विचारो के आदान-प्रदान के साधन रूप मे और सामाजिक व्यवहार के लिए भाषा का निर्माण मानव की बहुत बड़ी उपलब्धि है। 'मानवता के इतिहास के प्रारम्भ मे ही एक सुसम्बद्ध भाषा का अस्तित्व रहा होगा, क्योकि भाषा के बिना उसकी गति ही न हो पाती।'[3] काव्यादर्श मे कहा गया है कि वाणी की कृपा से यह लोक-यात्रा चल रही है। यदि वाणी रूपी ज्योति इस ससार मे नही चमकती तो ये तीनो लोक अधकार मे रहते—'इदमन्धतम. कृत्स्न जायेत् भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वय ज्योतिरा ससारं न दीप्यते।' भर्तृहरि ने भी कहा है कि शब्द की शक्ति के कारण सारा विश्व बँधा है—'शब्देष्वाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।'[4] मनुष्य की 'सास्कृतिक जय यात्रा' का उच्चार भारतीय वाङ्मय मे अनेकशः उपलब्ध हैं।

---

1. भाषा एव भाषाविज्ञान—डॉ० महावीर सरन जैन, पृ० 31
2. तुलनात्मक भाषाशास्त्र और भाषाविज्ञान—डॉ० मगलदेव शास्त्री, पृ० 38
3. भाषा—जे० वान्द्रियैज, प्राक्कथन, पृ० 1
4. वाक्यपदीय—भर्तृहरि

भाषा : अर्थ और परिभाषा

अर्थ

भाषा मनुष्य के अंतस् में वाणी रूप में विराजमान होती है। उसके चार स्तर बनाए गए हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी का तात्पर्य है उच्चरित या उच्चारण। वैखरी को समस्त विद्याओं को प्रशस्त करने वाली कहा गया है—'वैखरी सर्वविद्यास्तु प्रशस्ता।' वैखरी उच्चारण क्रम मे वायु (श्वास) के अवरोध से उत्पन्न होती है। इसका सम्बन्ध वक्ता की श्वास-प्रक्रिया से है। श्वास-प्रक्रिया मे वायु के अवरोध से उत्पन्न स्वन ही ध्वनि है।

ध्वनि भाषा की लघुतम इकाई है। भाषा का प्रारंभ ही ध्वनि से होता है। वह भाषा की अर्थ-भेदक इकाई है। ध्वनियो के सार्थक सयोजन से शब्द और शब्दों के सयोजन से वाक्य की रचना होती है। इस प्रकार भाषा ध्वनियों का सप्रयोजन सयोजन है। हेनरी स्वीट कहते है कि 'वाक्ध्वनियों के माध्यम से विचाराभिव्यक्ति ही भाषा है (Language may be defined as the expression of thought by means of speech sound)।[1] डैनियल जोन्स ने भाषा के स्वरूप को वाक्मय अर्थात् ध्वनिमय बताया है (Spoken language consists of succession of sounds, emitted by the organs of speech, together with certain attributes)।[2]

वर्णो के समुदाय विशेष को शब्द कहा जा सकता है। शब्द वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक होते है—'शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनि:। कंठसयोगादिजन्या वर्णास्तेकादयो मता:।'[3] शब्द अर्थ के सवाहक होते है। भाषा मे शब्द का प्रयोग अर्थ के निमित्त होता है—'अर्थे शब्द प्रयोगात।'[4] महाभाष्य मे यह भी कहा गया है कि शब्द प्रयोग अर्थ के लिए किया जाता है—'अर्थगत्यर्थ शब्द प्रयोग:।' पद और अर्थ के सम्बन्ध के कारण ही भाषा का सप्रेषण होता है। तन्त्रवार्तिक में कहा गया है कि शब्दो का प्रयोजन अर्थ प्रत्यय के निमित्त होता है—'सर्वो हि शब्दोऽर्थ प्रत्ययनार्थम् प्रयुज्यते।' शब्दो का सच्चा स्वरूप अर्थ से ही प्रकट

---

1. The History of Language—Henry Sweet
2. An Outline of English Phonetics—Daniel Jones, पृ० 1
3. भाषा परिच्छेद, पृ० 164-165
4. व्याकरण महाभाष्य—पतजलि, पृ० 33

होता है—'अर्थ नित्यः परीक्षेत ।[1] व्याकरण महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने कहा है—'एवः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।'[2] अर्थात् ठीक प्रकार से जाना हुआ और ठीक रीति से प्रयुक्त हुआ एक शब्द भी स्वर्ग और लोक मे मनोरथ को पूर्ण करने वाला होता है।

भाषा मे भाव को साक्षात् रूप से प्रकट करने वाला लिखित सकेत शब्द ही होता है। उससे ही विचारो की प्रतीति होती है। उपचारादि अनेक कारणो से शब्द अनेकार्थवाची हो जाते है। शब्द का वास्तविक स्वरूप उसका उच्चरित रूप नही होता। 'उसका तादात्म्य उसके अर्थ पर, जो वाक्य मे अन्य शब्दो के साथ उसके सम्बन्ध से प्रकट होता है, और इतिहास मे किसी प्राचीन शब्द के साथ उसके सम्बन्ध पर आश्रित होता है।'[3]

यह विचारणीय है कि भाषा का स्वरूप शब्दों के माध्यम से रचित है या वाक्य के माध्यम से। डॉ० मगलदेव शास्त्री के मत से 'भाषा का प्रारम्भ, पृथक्-पृथक रहने वाले शब्दो से न होकर वाक्य से ही होता है।'[4] उनके अनुसार शब्दो की वाक्य से पृथक् स्वतन्त्र स्थिति नही होती। हम वाक्यो मे ही सोचते है और तात्पर्य समस्त वाक्य मे ही रहता है—'पद समूहो वाक्यमर्थ परिसमाप्तौ।'[5] वाक्य के बिना हमारा कोई भी विचार प्रकट नही किया जा सकता। वे यह भी मानते है कि सार्थक शब्दो का प्रारम्भ वाक्यो से ही हुआ है। उनका प्रयोग वाक्य के अभिप्राय से हुआ होगा या वाक्य रूप से—'सर्व पदेपुचास्ति वाक्य शक्तिः' (योग सूत्र व्यास भाष्य, 3/16)। शब्द शक्ति प्रकाशिका मे कहा गया है कि भावाभिव्यजन के अभिप्राय से वाक्य ही सार्थक होते है—'वाक्य भावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।' वाक्यपदीय मे कहा गया है कि वाक्य वाचकत्व से सयुक्त होते है—'वाक्य वाचक-मित्येव युक्तम्।'

भाषा की प्रारम्भिक दशा मे हस्तादि संकेतों से वाक्य रूप भाव की व्यजना की जाती होगी। हस्तादि सकेतों का अलग से कोई अर्थ ध्वनित नही होता। सकेतो के साथ जुडे अभिप्राय या विचारो से ही तात्पर्य प्रकट होता था। कैयट ने स्पष्ट किया है कि वाक्य मे शब्दो/पदो की कल्पना अन्वय और व्यतिरेक द्वारा उसी प्रकार कर ली गयी जैसे शब्दो मे प्रकृति (धातु) और प्रत्यय की—अन्वयोऽनुगम., सति

1. निरुक्त, अध्याय 2, खड 1
2. महाभाष्य पर कैयट का प्रदीप तथा महाभाष्य 6/1/84
3. तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान—डॉ० मगलदेव शास्त्री, पृ०45
4. वही, पृ० 46
5. न्यायसूत्र—वात्स्यायनभाष्य, 2/1/55

शब्देऽर्थावगमः । व्यतिरेकः शब्दाभावे तदर्थानवगमः ।'[1]

व्यावहारिक दृष्टि से शब्द से भाषा की अभिव्यक्ति मानने वालो का तर्क यह है कि शब्दो मे ही पदार्थो के नाम का प्रत्यय होता है। 'गुणो और पदार्थो के विषय में जो हमारा अनुभव और ज्ञान होता है उसको हम उनके नामो द्वारा ही स्मरण रखते है।'[2] बचपन में पृथक्-पृथक् शब्दो के अनुकरण मात्र से ही अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि शब्दो का सघटन ही वाक्य है और वर्णो का सघटन पद—'पद सघातज वाक्य वर्णसघातज पदम् ।' डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'भाषा मे प्रयुक्त ध्वनि-समष्टियाँ (या शब्द) सार्थक तो होती है, किन्तु उनका भावों या विचारो से कोई सहजात सम्बन्ध नही होता।'[3] ध्वन्यात्मक शब्दो मे ध्वनि से शब्दार्थ का सम्बन्ध होता है, किन्तु वह भावाभिव्यंजन की एक छोटी इकाई के अनुरूप ही है।

भाषा : परिभाषा

भाषा का उद्देश्य भावो या विचारो का ध्वनि-सकेतो के माध्यम से अभिव्यजन है। भाषा के उद्देश्यो, लक्षणो तथा सघटक तत्त्वो के आधार पर भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। उनमे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषो के दर्शन होते है। कहा गया है कि परिभाषा का वही लक्षण है जो तीनो दोषों—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव रूप—से मुक्त हो—'तदेव हि लक्षण यद्व्याप्ति, अति०याप्ति, असभवरूप दोषत्रय—शून्यम् ।' डॉ० भोलानाथ तिवारी दोषशून्य परिभाषा की असम्भाव्यता के कारण कहते हैं कि भाषा की ठीक-ठीक परिभाषा देना बहुत ही कठिन है। 'तदपि कहे बिनु रहा न काई।'

भाषा शब्द 'भाष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—व्यक्त वाणी—'भाष् व्यक्तायां वाचि।' पाणिनि ने भी 'व्यक्तिवाचा' पद का प्रयोग किया है—'व्यक्तवाचा सम्मुचारणे।'[4] यहां 'व्यक्त' शब्द से अभिप्राय है, 'स्पष्ट बोलना'। डॉ० मगलदेव शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि 'क्रोध या हँसी की आवाज जैसी अव्यक्त है अपरिस्फुट ध्वनि को भाषा नही कह सकते।'[5] उच्चरित सार्थक ध्वनियो की सज्ञा भाषा है। वर्णात्मक या व्यक्त शब्दो से ही मनोभाव प्रकट किए जाते हैं। पतजलि ने कहा है—'व्यक्ता वाचि वर्णा येषा त इमे व्यक्त वाच.।' इससे जाहिर होता है कि भाषा का

---

1. महाभाष्य पर कैयट की व्याख्या, 1/2/45
2. भाषाविज्ञान—डॉ० मगलदेव शास्त्री, पृ० 49
3. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 3
4. अष्टाध्यायी—1/3/48
5 भाषाविज्ञान डॉ० मगलदेव शास्त्री पृ० 21

वर्णात्मक होना आवश्यक है, क्योंकि 'व्यक्त' से तात्पर्य वर्णात्मक होने का ही है।

शब्द कल्पद्रुम के अनुसार शास्त्र और व्यवहार के लिए जिसका प्रयोग होता हो उसे भाषा कहा गया है—'भाष्यते शास्त्र व्यवहारा दिना प्रयुज्यते इति भाषा।'[1] जैन दर्शन मे भाषा सयम के लिए प्रियवचन, मितभाषण आदि के निर्देश किया गया है—

अनवद्य मृतं सर्वजनीनं मितभाषणम्।
प्रियावाचंयमानां सा भाषा समिति रुच्यते।[2]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे भाषा की परिभाषा नही दी है, किन्तु शब्द-व्यापार या भाषण-प्रक्रिया को दो बुद्धियो के बीच विचारो के आदान-प्रदान का माध्यम बताया है—

शब्द' कारणमर्थस्य सहितेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धि विषयादर्थाच्छब्द: प्रतीयते।—वाक्यपदीय, 3.3.3.2
बुद्ध्यर्थादिव बुद्ध्यर्थे जातेतदानि दृश्यते।—वाक्यपदीय, 3.3.3.3

न्यायकोश मे भी शास्त्र और व्यवहार के लिए प्रतिज्ञासूचक वाक्य को भाषा कहा गया है—'व्यवहारशास्त्रज्ञास्तु प्रतिज्ञासूचक वाक्य भाषा।'[3] इस दृष्टि से भाषा के प्रयोग मे शुद्धता, बोधगम्यता, सक्षिप्तता और मधुरता आदि का होना अपेक्षित है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी भाषा को परिभाषित किया है। प्लेटो ने भाषा और विचार का अन्तर स्पष्ट करने के क्रम मे भाषा को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती हैं तो उसे भाषा की सज्ञा देते है।'[4]

डैनियल जोन्स के मत से भाषा का स्वरूप वाक्मय अर्थात् ध्वनिमय होता है—Spoken language consists of successions of sounds emitted by the organs of speech, together with certain attributes.[5]

ए० एच० गार्डीनर ने विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले ध्वनि-सकेतो को भाषा कहा है—The common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought.[6]

1. शब्द कल्पद्रुम, खण्ड 3
2. सर्वदर्शन सग्रह पृ० 164
3. न्यायकोश—भीमाचार्य, पृ० 627
4. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 2
5 ऐन आउटलाइन ऑफ इग्लिश फोनेटिक्स—डैनियल जोन्स, पृ० 1
6 स्पीच ऐण्ड लैंग्वेज—ए० एच० गार्डीनर

हेनरी स्वीट कहते हैं कि भाषा वाक्ध्वनियों के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति है—Language may be defined as the expression of thought by means of speech sounds [1]

एडवर्ड सपीर के अनुसार 'Language is purely human and non instinctive method of Communicating ideas, emotions and desires by means of a system of voluntarily produced symbols. These symbols are in the first instance auditory and they are produced by the so called organs of speech. अर्थात् विचारो, भावनाओ और इच्छा को स्वेच्छा से उत्पन्न प्रतीको के माध्यम से सप्रेषित करने की विशुद्ध मानवीय और यत्नज पद्धति को भाषा कहते हैं। उच्चारण अवयवो से उत्पन्न माध्यम प्रतीक प्राथमिकत. श्रावणिक होते है।[2]

जेस्पर्सन कहते है कि भाषा का सारतत्त्व यह है कि वह एक मानवीय सक्रियता है, मनुष्य-मनुष्य के बीच पारस्परिक बोध के लिए एक सक्रियता, ताकि वक्ता के मन की बात को श्रोता समझ सके—The essence of Language is human activity—activity on the part of individual to make himself understood by another and activity on the part of that other to understand what was in the mind of first.[3]

स्त्रुत्वा(Strutevant)मानते है कि भाषा उन वाचिक प्रतीको की यादृच्छिक व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज विशेष के सदस्य परस्पर व्यवहार और क्रिया-प्रतिक्रिया मे सलग्न होते है—Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of social group co-oprate and interact.[4]

ब्लूमफील्ड लिखित भाषा को भाषा नही मानते। फिर भी वे मानते है कि वाक् ध्वनियो का उच्चार प्रतीक रूप मे होता है। अतः वाक् ध्वनियों का अध्ययन अर्थ-सदर्भ मे ही उचित है—The study of speech sound without regard to meanings is an abstraction; in actual use speech sounds are uttered as signals.[5]

ब्लॉक-ट्रेगर के अनुसार भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीको की वह व्यवस्था है,

---

1. दि हिस्ट्री ऑफ लैंग्वेज—हेनरी स्वीट, पृ० 1
2. लैंग्वेज—एडवर्ड सपीर, पृ० 8
3. फिलॉसफी ऑफ ग्रामर—जेस्पर्सन
4. लिंग्विस्टिक चेंज—स्त्रुत्वा (strutevant), पृ० 2
5. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड, पृ० 139

जिसके सहारे कोई सामाजिक समुदाय परस्पर सहयोग करता है—A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which social groups co-operates.[1]

चॉम्सकी कहते हैं कि अर्थपूर्ण उच्चरित ध्वनियो की नियमानुशासित व्यवस्था भाषा है—It (language) is rule governed system, definable in terms of grammar which separates grammatical from ungrammatical sentences assigning a pronounciation and meaning to teach grammatical sentences.[2]

क्रोचे के मत से भाषा सीमित ध्वनियो मे सयोजित व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य अभिव्यक्ति होता है—Language is articulated limited sound organised for the purpose of expression.[3]

एलान और कॉर्डर के अनुसार भाषा सचरित होती है, अर्थात् प्रत्येक भाषिक उक्ति किन्ही सिद्धान्तो के आधार पर सघटित होती है। ये सिद्धान्त प्रयुक्त शब्दो के रूप, शब्द-क्रम आदि का निश्चय करते है—Language is structured i.e. each utterance far from being a random series of words, is put together according to some principles, which determines the word, that occur and the form and order of the words.[4]

डिनीन (Dinneen) कहते है कि भाषा ध्वनि क्रमिक होती है, अर्थात् उसमे उच्चार की शृखला होती है—A fundamental feature of spoken language is that it is linear.[5]

राबर्ट हाल मानते हैं कि प्रत्येक मानव भाषा की व्यवस्था दुरूह सघटना से सयुक्त होती है—Every human language is a system with a very complicated organization.[6]

हाकिट ने कहा है कि प्रत्येक भाषा की अपनी व्यवस्था तथा संरचना होती है—Every language has its own grammar.[7]

---

1 ऐन आउट लाइन ऑफ लिग्विस्टिक्स एनालिसिस—ब्लॉक और ट्रेगर, पृ० 5
2. दि रिजल्ट ऑफ चॉम्सकीज रिवोल्यूशन—नीलस्मिथ और विल्सन पृ० 31
3 एस्थेटिक्स—क्रोचे
4 पेपर्स इन अप्लायड लिंग्विस्टिक—एलान और पिट कॉर्डर
5. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू जेनरल लिग्विस्टिक्स—डिनीन, पृ० 7
6. इन्ट्रोडक्टरी लिग्विस्टिक्स—रॉबर्ट हाल, पृ० 15
7 ए कोर्स इन मॉडर्न हाकिट पृ० 129

एम० के० हैलीडे कहते है कि भाषा एक व्यवस्थित ध्वनि-योजना है, जिसका प्रयोग वास्तविक सामाजिक स्थितियो मे किया जाता है। दूसरे शब्दो मे भाषा को सदर्भ-जनित व्यवस्थित ध्वनि-योजना कहना समीचीन होगा —Language can be thought of as organised noise used in situations, actual, social situations, or in another words contextualized systematic sounds [1]

पी० डी० गुणे के अनुसार अपने व्यापक अर्थ मे भाषा के अतर्गत ऐसे ध्वनि-सकेतो का पूर्ण योग होता है, जिनके द्वारा हम अपने विचारो और अनुभूतियो को व्यक्त कर सकते है तथा स्वेच्छानुसार उत्पन्न कर सकते है तथा दुहरा सकते है— Language in its widest sense means the sum total of such signs of our thoughts and feeling as are capable of external perception and as could he produced and repeated at will.[2]

डिक्शनरी ऑफ लिंग्विस्टिक्स मे भाषा को परिभाषित करते हुए कहा गया है—A system of communication i e through the organs of speech and hearing, among human beings of certain groups or community using vocal symbols possessing arbitrary conventional meanings अर्थात् वर्ग विशेष या समुदाय के व्यक्तियो के मध्य मे ध्वनियो के द्वारा विचाराभिव्यक्ति के माध्यम रूप मे अर्थात् वाक् तथा श्रोताओ द्वारा व्यक्त जिनमें यादृच्छिक रूढ़ार्थो की वाक् प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति होती है, भाषा कहलाती है।[3]

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका मे 'भाषा' को यादृच्छिक वाक् प्रतीक की व्यवस्था रूप मे परिभाषित किया गया, जिनके माध्यम से सामाजिक समुदाय के रूप मे मनुष्य संस्कृति में भाग लेते है और क्रिया-प्रतिक्रिया तथा विचारो का आदान-प्रदान करते है—Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols, by means of which, human beings as members of social group and participants in culture interact and communicate.

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज मे कहा गया है कि भाषा मानव आचार की सबसे अधिक सुनिश्चित संप्रेषण विधि है—Language is the most

1. डिस्क्रिप्टिव ऐण्ड अप्लायड लिंग्विस्टिक्स—एम० के० हैलीडे, पृ० 3
2. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू कम्पेरेटिव फिलोलॉजी—पी० डी० गुणे, पृ० 3-4
3. डिक्शनरी ऑफ लिंग्विस्टिक्स—मेरियो ए० पेई, पृ० 119
रमेरियो ए० पेई पृ० 119

explicit type of communicative behaviour that we know of[1]

एमन बच के अनुसार भाषा एक सामाजिक संस्था है। तात्पर्य कि वह सामाजिक वस्तु है और समाज मे रहकर उसका अर्जन होना है—Language is a social institution[2]

एस० उलमान के मत से भाषा प्रतीको से निर्मित होती है और प्रतीक-प्रक्रिया के व्यापक सदर्भ मे ही इसका विश्लेषण होना चाहिए—The fact that language is made up of signs, makes it necessary to consider it within the wider context of symbolic process[3]

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ मे अव्याप्ति दोष है, क्योकि प्रायः सभी परिभाषाओ मे भाषा के किसी-न-किसी आयाम का समावेश नही हो पाया है। स्वीट की परिभाषा सटीक लगने पर भी 'सार्थक' शब्द की ओर उनका ध्यान नही गया और इसीलिए उसका उल्लेख परिभाषा मे नही हो पाया है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार 'मनुष्य-मनुष्य के बीच वस्तुओ के विषय मे अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-सकेतो का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते है।'[4]

आचार्य कामताप्रसाद गुरु कहते है कि 'भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरो के विचार आप स्पष्टतया समझ सकता है।'[5]

डॉ० बाबूराम सक्सेना ने कहा है कि 'जिन ध्वनि-चिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप मे भाषा कहते है।'[6] इस परिभाषा मे अति व्याप्ति है, क्योकि इसके अनुसार दस्तक देना, ताली बजाना, तार की सकेत-ध्वनि भी भाषा मानी जायेगी। इसमे वाग्यंत्र का उल्लेख भी नही है।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार 'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द-समूह ही भाषा है। इसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरो के प्रति बहुत

---

1. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज, खण्ड 4, पृ० 78
2. इन्ट्रोडक्शन टू ट्रान्सफॉरमेशनल ग्रामर—एमन बच, पृ० 3
3. सेमन्टिक्स : ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी साइन्स ऑफ मीनिंग—एस० उलमान, पृ० 13
4. भाषाविज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० 20
5. हिन्दी व्याकरण—आ० कामताप्रसाद गुरु, प्रस्तावना, पृ० 1
6. सामान्य भाषाविज्ञान—डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० 5

सरलता मे प्रकट करते है।'[1] इस परिभाषा में लिखित और मौखिक, दोनो भाषाओ का उल्लेख होने से अतिव्याप्ति है।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री के विचार मे 'भाषा मनुष्यो की उस चेष्टा या व्यापार को कहते है, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवो से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दो द्वारा अपने विचारो को प्रकट करते है।'[2] इसमे अर्थपूर्ण और प्रतीकात्मक ध्वनियो का उल्लेख न होने से अव्याप्ति दोष है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते है कि 'भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित मूलत प्रायः यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा किसी भाषा समाज के लोग आपस मे विचारो का आदान-प्रदान करते हैं।'[3]

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भाषा का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'भाषा मनुष्य के प्रतीकात्मक कार्यो का प्राथमिक एव बहुविस्तृत रूप है।'[4] उन्होने इस परिभाषा को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। जाहिर है कि उपर्युक्त परिभाषा मे स्पष्टता नही है।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय या सहयोग करते है, उस यादृच्छिक, रूढ़, ध्वनि-संकेत की प्रणाली को भाषा कहते है।'[5]

देवीशंकर द्विवेदी कहते हैं कि 'भाषा यादृच्छिक वाक् प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।'[6]

डॉ० महावीर सरन जैन के अनुसार 'परम्परित होने हुए भी परिवर्तनशील तथा यादृच्छिक वाक् प्रतीको की विशिष्ट, जटिल तथा क्रमबद्ध व्यवस्थाओ की व्यवस्था का नाम भाषा है जिसे सामाजिक-सास्कृतिक आवश्यकतानुसार अपने मे अभिव्यक्ति के यथासभव पूर्ण साधन के रूप मे उस भाषा मे अर्जित कर मानवीय सप्रेषणीयता के लिए वाक् व्यवहार की आदतो के समुच्चय के रूप मे व्यक्ति विशेष उसका प्रयोग करता है।'[7]

---

1. भारतीय भाषाविज्ञान—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, पृ० 6-7
2. तुलनात्मक भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान—डॉ० मगलदेव शास्त्री, पृ० 21
3. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 5
4. भाषाशास्त्र की रूपरेखा—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 6
5. भाषाविज्ञान की भूमिका—आ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 20
6. भाषा और भाषिकी—देवीशकर द्विवेदी, पृ० 27
7. भाषा एव भाषाविज्ञान—डॉ० महावीर सरन जैन पृ० 50

इन परिभाषाओं में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष के साथ ही संक्षिप्तता का अभाव है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के अनुसार भाषा की निम्न परिभाषा हो सकती है

मनुष्य के विचार-विनिमय के साधन रूप में व्यक्त सार्थक वाक् प्रतीकों की यादृच्छिक, रूढ, क्रमबद्ध व्यवस्था को भाषा कहते है।

भाषा के लक्षण

ऊपर जो परिभाषाएँ दी गई है उनके आलोक मे भाषा का स्वरूप-विश्लेषण किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा की कुछ विशेषताएँ होती है। भाषा का स्वरूप या विशिष्टताएँ भाषा के लक्षण के अन्तर्गत होती है। भाषा के निम्नाकित लक्षण रेखाकित किये जा सकते है :

1. **वाक् रूप**—भाषा का प्रमुख लक्षण है उसका वाक् रूप होना। वाक् का अर्थ है—वाच्, वचन अर्थात् ध्वनि, उच्चारण, वाणी, अभिव्यक्ति।[1] मानव-मुख से उच्चरित ध्वनियो को ही भाषा कहा गया है। जो ध्वनियाँ अन्य अगों से उत्पन्न होती है, उन्हे भाषा नही कहा जा सकता। चुटकी बजाना, पैर पटकना, मेज थपथपाना, कुडी खटखटाना एक निश्चित मन्तव्य के लिए प्रकट ध्वनियाँ हैं, फिर भी इन्हे भाषा नही कहा जा सकता। इसी प्रकार मुख से सीटी बजाना, चुचकारना, खाँसना आदि एक निश्चित भाव-बोध के लिए की जाने वाली ध्वनि भी भाषा नही है। मानवेतर प्राणियो द्वारा उत्पन्न ध्वनि को भी भाषा नही कहा जा सकता। भाषाविज्ञान के अन्तर्गत मानव-मुख से उच्चरित सार्थक ध्वनियाँ ही भाषा कही जा सकती है।

भाषा वाक् रूप होती है। मन के भावो की अभिव्यक्ति ही वाक् है। 'वाक् मे उच्चार और भाषा-व्यवहार की सत्ता है।'[2] हम जो बोलते और सुनते हैं, वह वाक् ही है। वक्ता के वाग्यत्र और श्रोता के श्रवण यत्र के सामजस्य से ही वाक्-रूप भाषा सघटित होती है। भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित होती है। कण्ठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि उच्चारण अवयव है। इनकी सहायता मे ध्वनियो या वर्णो का उच्चारण होता है। शरीरावयवों के अवरोध से श्वास के कम्पन से उत्पन्न ध्वनि या वर्ण वक्ता के मुख से निकलकर श्रोता के श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचते है। मानव-मुख से निकली सार्थक ध्वनियाँ ही भाषा की सीमा मे ग्राह्य है।

एम्युलियर ऑस्कर ने भाषा के उच्चरित सघटक तत्त्वो को रेखाचिह्नो द्वारा अकित करने का न्यूनाधिक अपूर्ण एव यादृच्छिक प्रयत्न मात्र को लेखन-कला

---

1. अमरकोष, 1/6
2. भाषा और भाषिकी—देवीशकर द्विवेदी, पृ० 33

कहा है।[1] ब्लूमफील्ड ने भी लेखन-कला को दृश्य संकेतो द्वारा उच्चरित ध्वनियो को लेखबद्ध करने का प्रयत्न कहा है।[2] आर्किबाल्ड ए० हिल कहते है कि सारी लेखन-प्रणालियाँ वस्तुत. भाषेतर जगत् के विचारो या वस्तुओ के प्रतिनिधित्व की अपेक्षा भाषा के उच्चरित रूपो का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।[3] भाषाविज्ञान का लक्ष्य भाषा के मौखिक रूप या उच्चरित रूप का अध्ययन करना है। उच्चरित या मौखिक ध्वनियों के माध्यम से विचारो का सप्रेषण होता है।

उच्चारण एव लेखन के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए सोस्यूर कहते है कि भाषा के लिखित रूप की उपेक्षा नही की जा सकती, क्योंकि उच्चरित शब्द अपने लेखबद्ध रूप मे इस तरह से आवद्ध हो जाता है कि लेखबद्ध शब्द उच्चरित शब्द का प्राधिकारी बन जाता है।[4] भाषा का इतिहास प्राचीन है। उसमे ध्वनियो का ही महत्त्व एव विश्लेषण है। वाक् रूप उच्चरित भाषा को प्रतीको से लेखबद्ध करने की परम्परा का उद्भव लगभग सात हजार वर्ष पूर्व हुआ।

लेखन की अपेक्षा उच्चरित भाषा की प्रधानता इससे प्रतिपादित है कि बालक बाल्यकाल मे ही उच्चरित भाषा सीख जाता है, किन्तु उसको लिपिबद्ध करने की कला—लेखन-कला—बाद मे सीखता है। इसी प्रकार एक भाषा को कई लिपियो मे बद्ध किया जा सकता है। जापानी भाषा को तीन लिपियो (प्रणालियों) में लिखा जाता है और चौथी का विकास हो रहा है। लिपि का अध्ययन भाषा-सदर्भ में ही होता है। 'आज यद्यपि अनेक भाषाएँ अस्तित्व मे है, तथापि उनकी अपनी अधिकृत पारपरिक रेखाचिह्न-युक्त लेखन-प्रणाली नही है।'[5] इसीलिए हाकिट ने 'भाषा और लेखन, दोनो को अभिन्न रूप की दो अभिव्यक्तियाँ' कहा है।[6] आज भी ससार के कुछ भागो मे निरक्षर लोग हैं, तथापि उनका एक समाज है और उनकी उच्चरित भाषा भी है।

इससे प्रमाणित है कि भाषा का अर्थ उसका उच्चरित रूप है। 'समाज के प्रौढ व्यक्ति, यहाँ तक कि वयस्क व्यावसायिक लेखक भी, अपने दैनिक जीवन मे लेखन कार्य-व्यापार की अपेक्षा उच्चरित भाषा का प्रयोग करते है।'[7] भाषा वाक्

---

1. लेक्चर इन लिंग्विस्टिक्स—एग्युलियर ऑस्कर लुइस कवेरिया, पृ० 6-7
2. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड, पृ० 21
3. इन्ट्रोडक्शन टू लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर्स—आर्किबाल्ड ए० हिल, पृ० 2
4. कोर्स इन जेनरल लिंग्विस्टिक्स—फर्डिनेण्ड डी० सोस्यूर, पृ० 23-24
5. इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—एच० ए० ग्लीसन, पृ० 10-11
6. ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स—सी० एफ० हाकिट, पृ० 4
7. इन्ट्रोडक्शन टू लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर्स—आर्किबाल्ड हिल, पृ० 2

प्रतीकों द्वारा विचारों को प्रेषित करने का माध्यम है। वाक् प्रतीकों को लिखित रूप देकर हम उन्हें दृश्य बनाने का प्रयास करते हैं।

2. प्रतीक—वाक्यपदीय में कहा गया है कि 'वर्ण सघातज पदम्' : वर्णों के सयोग से पदों का संघटन होता है। वर्ण ही ध्वनि है। वर्णों को दृश्य बनाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया गया। क, ख, ग आदि ध्वनियों या वर्णों के उच्चरित और लिखित रूप मे कोई साम्य नहीं है। प्रत्येक भाषा ध्वनि के लिए अलग-अलग प्रतीकों का प्रयोग होता है। क, ख, ग, के उच्चरित रूप को रेखकीय अनुक्रम (Linear) में व्यक्त किया जाता है। भाषा का उच्चरित रूप प्रतीकों के रेखीय अनुक्रम से ही दृश्य बनता है।

'विचारों के प्रतीक-रूप उच्चरित (या लिखित) संकेतों को शब्द कहते हैं।'[1] शब्दों के द्वारा उनके वाच्य अर्थ का बोध होता है। पतंजलि ने कहा कि भाषा मे शब्द का प्रयोग अर्थ बतलाने के लिए होता है—'अर्थे शब्द प्रयोगात्।' भाषा के शब्दों का अर्थ प्रतीकात्मक होता है। शब्द वस्तु के वाचक होते है। जिस वस्तु के लिए जो शब्द जिस भाषा समाज द्वारा मान लिया जाता है, उस समाज में उस वस्तु को उक्त मान्य शब्द से पुकारने की परम्परा क्रमशः विकसित होने लगती है। इस प्रकार उक्त वस्तु का प्रतीक मान्य शब्द हो जाता है। यह प्रतीकात्मकता है, जो काल्पनिक, अर्जित और सर्वमान्य होती है।

आदिम मानव परिस्थिति तथा घटना के सन्दर्भ मे उत्पन्न मनोभाव को व्यंजित करने के लिए वाचिक उच्चार को सकेतों से ग्रहण करता होगा, उसी दिन प्रतीकात्मकता का उद्भव हुआ होगा। मानव किसी बात को स्मरण करने के लिए कपड़े में गाँठ लगा देता है या संख्या आदि को स्मरण करने के लिए लकीरें खीचता है या अपने वासगृह की पहचान के लिए द्वार पर कोई चिह्न अंकित कर देता है। किसी वस्तु को अभिहित करने के लिए अपनाए गए काल्पनिक चिह्न ही प्रतीक है। हायकवा ने ठीक ही कहा है कि 'जब कभी दो या अधिक मनुष्य परस्पर विचारों का सवाहन करते है तो वे समझौते के द्वारा किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु के लिए मान लेते हैं।[2] संप्रेषण तथा सामाजिक विकास के लिए मनुष्य ने प्रतीकों का निर्माण किया है। भाषा के शब्द प्रतीक होते है। वे अर्थवान होते है। यह अर्थ यादृच्छिक होता है। इसलिए भाषा वाक् प्रतीकों द्वारा विचारों को प्रेषित करने का एक माध्यम है।

3. यादृच्छिकता—यादृच्छिकता का अर्थ है अपनी इच्छा से माना हुआ सम्बन्ध। यादृच्छिक सम्बन्ध सकेतों के द्वारा व्यक्त किए जाते है। उनके शब्द

1 तुलनात्मक भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान —डॉ० मगलदेव शास्त्री, पृ० 38
2. लैंग्वेज इन ऐक्शन—एस० आइ० हायकवा, पृ० 24

और अर्थ मे कोई तर्कसम्मत सम्बन्ध नही होता। भाषा के यादृच्छिक (Arbitrary) होने का अभिप्राय यह है कि शब्द रूप मे सक्रमित ध्वनि समूहों का उनके प्रायोजित अर्थ से कोई सहज या अपरिवर्तनीय सम्बन्ध नहीं होता। हम वस्तु को जिस नाम से पुकारते है, वह नाम वस्तु का प्राकृत सम्बन्ध व्यक्त नही करता। वह नाम या सम्बन्ध या अर्थ स्वेच्छा से ही मान्य होता है। यदि यह सम्बन्ध प्राकृत होता तो संसार की सभी भाषाओं में एक वस्तु का वाचक एक ही होता। किन्तु संसार की विभिन्न भाषाओं मे वस्तु के कई नाम या वाचक होते हैं। जैसे हिन्दी मे जिसे कुत्ता कहते है उसे अंग्रेजी मे डॉग (Dog), चीनी में गोऊ (Gou), जर्मन मे हुण्ड (Hund), इटैलियन मे कैने (Cane), स्पेनिश मे पेरो (Perro), और रूसी मे सुबाका (Sobaka) कहते है। हिन्दी की आँख, मराठी मे डोला, तमिल मे कणमणि, कन्नड मे पापे है। हिन्दी का गेहूँ, पंजाबी मे कणक, गुजराती मे घउं, बंगला मे गम या गाम नाम से पुकारा जाता है। व्हाटमउ (Whatmough) ने ठीक ही कहा है कि 'नाम तो लोगो द्वारा परस्पर सहमति से अथवा परम्परा मे स्वीकृत अर्थ मे चला आया होता है।'[1]

वस्तु, वस्तुगत बिम्ब (Image) और बिम्बगत प्रतीक (Symbol) भाषा के आधार है। मानव समुदाय ने व्यवहार में विभिन्न वस्तुओ के लिए पृथक्-पृथक् प्रतीकों की कल्पना की। ये कल्पित प्रतीक ही वस्तुओं के नाम का सबोधन होने लगता है। बार-बार उस नाम का प्रयोग होने से वह नाम (शब्द) समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेता है। तब वह शब्द व्यक्तिगत वाक् धरातल से उठकर भाषा का अग बन जाता है। बच्चा अपने माता-पिता से सुनकर वस्तु के प्रतीकार्थक नाम को अपने मस्तिष्क मे सस्कार रूप मे स्थापित कर लेता है। इस प्रकार उसके मस्तिष्क मे वस्तु के भेदक लक्षण अर्थ रूप में निश्चित तथा स्थिर हो जाते है।

भारतीय मनीषियो ने स्फोट सिद्धान्त के अन्तर्गत इसका विवेचन करते हुए कहा है कि जिससे अर्थ प्रकट हो उसे स्फोट कहते है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति।' ध्वनियो से अर्थबोध नही होता। उनमे वाचकत्व नही है। 'कमल' के क, म और ल मे अर्थबोध की क्षमता नही है। क, म, ल ध्वनियों के उच्चारण से बुद्धिस्थ अर्थ का प्रस्फुटन होता है। यह बुद्धिस्थ अर्थ सस्कार रूप में हमारे मस्तिष्क मे वर्तमान होता है। यही स्फोट है। डी० सोस्यूर ने कहा है कि प्रतिपादक शब्द और प्रतिपाद्य वस्तु के बीच एक प्रतिपाद्य भाव होता है, जो बुद्धिस्थ होता है। शब्द उस वस्तु को प्रकट नही करता, वरन् उस वस्तु के भाव को प्रकट करता है।

कुछ विद्वान शब्द एव अर्थ के यादृच्छिक सम्बन्ध को स्वीकार नही करते।

---

1. लैंग्वेज : मॉडर्न सिन्थेसिस—व्हाटमउ जोशुआ, पृ० 19

उनके अनुसार धातुओं से भाषा का निर्माण हुआ है। वस्तु की क्रियात्मक ध्वनि के आधार पर शब्द के व्यंजक अर्थों का निर्माण किया गया है। पेड़ से पत्ता गिरने पर 'पत्' ध्वनि सुनकर 'पत्' धातु का निर्माण हुआ। पत् से पतन, पतित आदि शब्दों का संघटन किया गया। जाहिर है कि अनुकरण या अनुरणन के आधार पर शब्दों का निर्माण हुआ। किन्तु ऐसे शब्दों की संख्या कम है। दूसरी आपत्ति यह है कि पत्ता गिरने की ध्वनि से संस्कृत में पत् धातु का निर्माण हुआ, किन्तु गिरने के अर्थ में अँगरेजी मे फाल (Fall) शब्द प्रचलित है। तीसरी आपत्ति यह है कि ध्वनि उत्पन्न करने वाली वस्तुओं का ही नाम ध्वन्यात्मक आधार पर दिया जा सकता है, किन्तु भावनाओं, विचारों और अन्य पदार्थों का नामकरण इस आधार पर संभव नही है।

वास्तव मे वस्तु मे वाचकता या अर्थ का समायोजन अपनी इच्छा या कल्पना से ही होता है। इस सम्बन्ध के कारण ही वस्तु अर्थवान् होती है। सामाजिक परम्परा के फलस्वरूप यादृच्छिकता समाप्त हो जाती है और हमे ऐसा लगता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, समवाय है। 'भाषा की इस यादृच्छिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है भाषाओं की विविधता। यदि वाक् प्रतीक यादृच्छिक न होकर अनिवार्य होते तो सारा संसार एक ही भाषा बोलता होता।'[1]

4. **रूढ़ता**—भाषा रूढ़ होती है। भाषा का कोई यादृच्छिक प्रतीक समाज के प्रयोग-प्रचलन मे आने से सामाजिक मान्यता प्राप्त कर लेता है और अर्थ-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए वह प्रयोग रूढ़ हो जाता है। 'तर्कहीन प्रयोग-प्रवाह ही रूढि है।'[2] प्रसिद्धि और परम्परा के कारण ध्वनि-संकेतों के अर्थ रूढ हो जाते है। बच्चे को हम जिस नाम से चाहे, पुकारते है। नामकरण हो जाने पर वह उसी नाम से जाना जाता है। नाम उसका अभिन्न अंग हो जाता है और अनुपस्थिति मे भी उसी नाम से वह संबोधित होता है। शब्दों के अर्थ इसी प्रक्रिया से रूढ होते है।

शब्द से वस्तु प्रकट नही होती, उसका अर्थ स्फुटित होता है। सामाजिक मान्यता के कारण शब्द का अर्थ उससे सम्बद्ध हो जाता है। उसकी यादृच्छिकता समाप्त हो जाती है और वह रूढ़ हो जाता है। भाषा के रूढ़ होने से ही उसे नयी पीढी पुरानी पीढी से परम्परा या विरासत रूप में प्राप्त करती है। भाषा की रूढ़ता मे ही उसकी सामाजिक संप्रेषणीयता निहित है। 'आम' कहने से समाज के सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि एक बच्चा भी वही अर्थ ग्रहण करता है, जो इस शब्द के साथ संबद्ध है। इसी से भाषा को लोक प्रतीति के अनुकूल या समाज-सापेक्ष कहा जाता है।

---

1. भाषा और भाषिकी—देवीशंकर द्विवेदी, पृ० 30
2. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 20

5. **क्रमबद्ध व्यवस्था या संरचना**—कुछ विद्वान् व्यवस्था (Sytem) और सरचना (Structure) को पर्याय रूप मे स्वीकार करते है। भाषा मात्र ध्वनियो का सयोजन नही है, बल्कि ध्वनियो की व्यवस्थित संरचना है। यह व्यवस्था ध्वनि, शब्द और वाक्य मे दृष्टिगोचर होती है। मनमाने ढग से ध्वनियो को एकत्र करने से सार्थक शब्द नही बनते। प्रत्येक शब्द प्रकृति और प्रत्यय के मेल से बना है। वाक्यपदीय मे कहा गया है—'यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयः।'[1] जैसे चल् धातु या मूल अंश से चलना, चलेगा, चलता, चला, चलन, चाल, चालू आदि शब्द बनते है। चल् प्रकृति या प्रकृति तत्त्व है और ना, गा, ता, न आदि साधक तत्त्व हैं। इन्हे प्रत्यय कहते है। इस प्रकार अर्थहीन इकाइयो के विशेष क्रम से सार्थक इकाइयां बनती है।

भाषा की क्रमबद्धता या सरचना मे ध्वनि घटको की व्यवस्था और ध्वनि घटको के आवर्तनो की व्यवस्था होती है। डीनिन ने कहा है कि भाषा का उच्चार ध्वनियो का रेखीय तथा अविच्छिन्न प्रवाह होता है।[2] भाषा की व्यवस्था मे वाक्य और शब्द स्तर की व्याकरणिक व्यवस्था होती है। व्यवस्था रूपावली का अध्ययन करती है। यह अध्ययन रूपतालिकात्मक होता है।

इस प्रकार भाषा मे कई स्तर पर व्यवस्था होती है। जोमुहा वॉट मॉग कहते है कि अन्य अभिरचित प्राकृतिक एव मानवीय वस्तुओ की भाँति प्रत्येक भाषा मे भी व्यवस्था, अभिरचना एवं सरचना होती है।[3] ध्वनि रूप, वाक्य विन्यास के स्तर पर प्रत्येक भाषा मे परस्पर भिन्नता होती है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि प्रत्येक भाषा जटिल व्यवस्थाओं की व्यवस्था होती है। हाकिट ने भाषा की पॉच व्यवस्थाएँ स्वीकार की है।[4]

6. **समाज-सापेक्षता**—भाषा सामाजिक होती है। भाषा का अर्जन समाज से होता है और उसका विकास भी समाज के संदर्भ मे ही होता है। भाषा की अर्थवत्ता सामाजिक सदर्भ से ही है। भाषा संप्रेषण का साधन है। सप्रेषण की क्रिया समाज के भीतर ही सभव होती है। भाषा का उत्पादन, संवहन और ग्रहण सामाजिक परिवेश मे ही सभव है। निरर्थक शब्द या भाषा या एकालाप की कोई सार्थकता नहीं होती।

इस संदर्भ मे सी० क्रीपर और एच० डब्ल्यू० विडोसन के कथन निम्नांकित हैं—'भाषा को एक रूपात्मक व्यवस्था के रूप मे समझने के लिए उन नियमो को

---

1. वाक्यपदीय—2/10
2. एन इन्ट्रोडक्शन टू जेनरल लिंग्विस्टिक्स—फासिस डिनीन, पृ० 7
3. लैंग्वेज : ए मॉडर्न सिनथेसिस—जोमुहा वॉट मॉग, पृ० 105
4. ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स—हाकिट, पृ० 137

जानना जरूरी है, जिनकी सहायता से सुव्यवस्थित वाक्यों का व्युत्पादन सभव होता है, लेकिन भाषा को सामाजिक अतर्क्रिया (Interaction) के रूप में जानने और समझने के लिए उन प्रयोग रूढ़ियों को जानना जरूरी है, जो एक विशेष सामाजिक स्थिति मे प्रयुक्त होकर समुचित एवं सुगठित वाक्यो का चयन नियन्त्रित करती है।'[1]

7. **सार्थकता**—सार्थकता भाषा का आवश्यक लक्षण है। जो भी हम बोलते या सुनते है, वह सार्थक होता है। निरर्थक ध्वनियो से अर्थ-बोध नही होता। भाषा से भावाभिव्यंजन तभी संभव है, जब उनमे कोई अर्थ हो। निरर्थक ध्वनियाँ, शब्द या वाक्य से अभिव्यजना कार्य नही हो सकता, क्योकि संप्रेषण भावो का ही होता है और वे निरर्थक नही होते। पारस्परिक बोधगम्यता भाषा की आवश्यकता है और यह कार्य भाषा की सार्थक व्यजना से ही सभव होता है।

8. **भाषा पैतृक सम्पत्ति नही है**—ऐसा समझा जाता है कि पिता-माता की भाषा पुत्र को पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त होती है, किन्तु यह भ्रामक स्थापना है। यथार्थत. भाषा सीखी जाती है। वह सामाजिक सपत्ति है। इसीलिए भाषा पैतृक नही होती। शिशु अपने माता-पिता की भाषा इसलिए सीख लेता है कि उसका बचपन उन्ही के संसर्ग एव परिवेश में व्यतीत होता है। माता-पिता के भाषा-समाज मे पलने के कारण ही वह उनकी भाषा को सीख लेता है। इसलिए हमे भ्रम होता है कि पैतृक दाय के रूप मे भाषा बच्चे को प्राप्त होती है। जहाँ माता और पिता विजातीय होने से भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते है, वहाँ बच्चा दोनो की भाषा सीख लेता है। भेड़िया के संसर्ग मे रहने वाला मानव शिशु भेड़िये की तरह ध्वनि कर पाता है। इसीलिए लॉज (Lotz) ने कहा है कि 'कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा को अपनी मातृभाषा के रूप मे सीख सकता है।'[2]

9. **यत्नसाध्यता—भाषा अर्जित सम्पत्ति**—मनुष्य जन्म से ही कोई भाषा नही जानता। कालक्रम से यत्नपूर्वक वह भाषा सीखता है। भाषा की प्रकृति, ध्वन्यात्मक व्यवस्था और व्याकरणिक कोटियो को जानने के लिए उसे सतत प्रयत्न करना होता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते है कि 'भाषा आस-पास के लोगो से अर्जित की जाती है, और इसीलिए यह पैतृक न होकर अर्जित सम्पत्ति है।'[3]

शिशु माता-पिता के समाज मे रहकर उनकी भाषा अर्जित करता है। एडवर्ड सपीर ने लिखा है कि 'चलना प्रकृतिसिद्ध एवं अवयवीय कार्य है, किन्तु

---

1. पेपर्स इन अप्लायड लिंग्विस्टिक्स—सी० क्रीपर और एच० डब्ल्यू० विडोसन, पृ० 155-156
2. लिंग्विस्टिक्स : सिम्बल्स मेक मैन—लॉज (Lotz), पृ० 207
3. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 46

वाणी अप्रकृतिसिद्ध, अर्जित एवं सांस्कृतिक कार्य है।'[1] इसीलिए भाषा अर्जित सम्पत्ति कही जाती है। अनुकरण द्वारा शिशु माता-पिता की या अपने भाषा-समाज की भाषा सीखता है।

10. **परिवर्तनशीलता**—भाषाविज्ञान मे मौखिक भाषा ही अध्येय है। मौखिक भाषा मे परिवर्तन होते रहते है, क्योंकि देश-काल की स्थितियो से उसके ध्वनि और रूप मे परिवर्तन होते रहते है। शारीरिक और मानसिक परिवर्तन के कारण भी भाषा में परिवर्तन होते है।

11. **विकसनशीलता**—भाषा का स्वरूप कभी पूर्ण नही होता। उसमे नित्य परिवर्तन होते रहते है। इस कारण भाषा का स्वरूप अतिम कभी नहीं होता, परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया भाषा के संदर्भ मे सदा होती रहती है। इसलिए भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नही होता।

12. **भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती है**—भाषा पानी की धारा की तरह है। वह कठिनता से सरलता की ओर जाती है। संस्कृत की ध्वनि प्रक्रिया की दुरूहता का मार्जन आवश्यक हो जाने से वैदिक ध्वनियो से आज की ध्वनियो मे अतर आ गया है। उसकी विकास-गति कठिनता से सरलता की ओर हुई। सस्कृत का द्विवचन और नपुसक लिग हिन्दी मे आकर समाप्त हो गये।

13. **भाषा सयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है**—दुरूहता का मार्जन करने के लिए भाषा सयोग से वियोग की स्थति की ओर अग्रसर होती है। सयोग का अर्थ है विभक्ति-युक्त और वियोग का अर्थ है विभक्ति-रहित। 'रामः पठति' मे विभक्ति संयुक्त है। अत: यह सयोगात्मक भाषा है। किन्तु उसका विकसित रूप हिन्दी वियोगात्मक भाषा है। 'राम के लिए मिठाई लाओ' मे के लिए विभक्ति या परसर्ग कर्त्ता से अलग है।

14. **भाषा की भौगोलिक सीमा**—प्रत्येक भाषा की भौगोलिक सीमा होती है। एक भौगोलिक क्षेत्र मे ही भाषा पहचानी, बोली और समझी जाती है।

15. **ऐतिहासिक सीमा**—भाषा की ऐतिहासिक सीमा निर्धारित होती है। भाषा एक निश्चित कालखण्ड मे ही अपने स्वरूप को प्रकट करती है।

---

1 लैंग्वेज ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ स्पीच एडवर्ड सपीर पृ० 8

भाषा की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, यह जटिल प्रश्न है। सभवत: मनुष्य की उत्पत्ति के साथ भाषा की उत्पत्ति हुई। आदिम मनुष्य की भी कोई-न-कोई भाषा रही होगी, जिससे वह भावों और विचारो का अभिव्यंजन कर सका। अनेक विद्वानो ने भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त प्रस्तुत किये है, किन्तु समुचित और स्वीकार्य समाधान के अभाव मे भाषाविज्ञान समिति 'ला सोसिएते द लेगिस्तीक' ने 1866 ई० के परिसम्मेलन मे निर्णय लिया कि भाषोत्पत्ति सिद्धान्त भाषा-विज्ञान मे विचारणीय नही होगे।[1] उक्त समिति के भाषावैज्ञानिको ने भाषोत्पत्ति को अपरिहार्य सामाजिक शक्ति स्वीकार करते हुए भी यह माना कि भाषोत्पत्ति के सिद्धान्तो मे वैज्ञानिक सगति खोजना दुष्कर है। फिर भी अद्यावधि इन सिद्धान्तो की चर्चा होती है, क्योंकि इन सिद्धान्तो का ऐतिहासिक महत्त्व है और चर्चा-क्रम मे भाषा की किसी-न-किसी विशेषता का पता इससे चलता है।

1. दैवी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की सृष्टि के साथ ही दैवी शक्ति ने पूर्ण रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि की। जहाँ मनुष्य की बुद्धि शिथिल हो जाती है, वह दैवी शक्ति का सहारा लेती है। भाषा की उत्पत्ति के संदर्भ को भी दैवी आश्रय से अनुस्यूत किया गया और यह उपपत्ति दी गयी कि ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न करते समय उसे वाणी दी और एक सबोध्य भाषा का आविर्भाव किया। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा मानवकृत नही, ईश्वरप्रदत्त है।

यास्क के अनुसार वाणी का अवदान प्रवरो ने अवरों को दिया। ऋग्वेद मे कहा गया है कि वाग्देवी (वाणी) को देवो ने उत्पन्न किया और उसे सभी प्राणी बोलते है—

देवी वाचमजनयन्त देवा:
ताम् विश्वरूपा: पशवोवदन्ति।[2]

---

1. लैंग्वेज : इट्स नेचर, डेवेलपमेन्ट ऐण्ड ओरिजिन—आंत्तोयस्पर्सन, पृ० 96
2. ऋग्वेद, 8/100/11

मनुस्मृति के अनुसार 'स्वयंभू से पवित्र वाणी स्फुरित हुई। इस वाणी का न आदि है, न अंत'—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।[1]

पाणिनि ने 14 प्रत्याहार सूत्रों को शंकर के डमरू-निनाद से उत्पन्न मानकर भाषा की दिव्योत्पत्ति की ओर ही संकेत किया है।

नैयायिकों के विचार से सोमरस पीनेवाले ब्राह्मणों ने बलि के समय वाणी की उत्पत्ति की—'ब्राह्मणास. सोमिनो वाचमक्रत।' यह भी कहा गया है कि वशिष्ठों ने देवताओं का आह्वान करने के लिए वाणी का आविर्भाव किया। नैयायिकों के अनुसार ध्वनि को आकाश गुण कहा गया है। ध्वनि आकाशीय कम्पन का परिणाम है। उन्होंने वीचितरंग न्याय (Wave Theory of Sound) की परिकल्पना भी प्रस्तुत की है। नैयायिकों ने भाषा के ईश्वरकृत होने का खण्डन किया और भाषा के भौतिक पक्ष पर बल दिया। फिर भी नैयायिक भाषा के आध्यात्मिक पक्ष की अवहेलना नहीं कर सके। उन्होंने शब्दशक्ति को दैव संकेत और शब्द के अर्थ को ईश्वरप्रदत्त स्वीकार किया।

भारत में वैदिक भाषा को देवभाषा माना जाता है। पालि व्याकरण के रचयिता कात्यायन कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है। मनुष्य और ब्राह्मण इसी भाषा को बोलते हैं। भगवान बुद्ध भी मागधी भाषा ही बोलते थे—

सा मागधी मूलभाषा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्मानो चस्सुतालया सबुद्धा चापि भासरे।[2]

जैन लोग अर्धमागधी से संसार की सभी भाषाओं का निकास बताते हैं। ईसाई ओल्ड टेस्टामेंट की भाषा हिब्रू को ही आदि भाषा मानते हैं। बाइबिल में उल्लेख है कि बेबल की गगनचुम्बी मीनार बना रही मनुष्य जाति की शक्ति से भीत ईश्वर ने कारीगरों की भाषा गड़बड़ा दी। फलतः मीनार पूरी न हो सकी, क्योंकि भाषा का बोध-पक्ष समाप्त हो जाने से सहयोग टूट गया। बेबल शब्द हिब्रू के 'बालल' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—गड़बड़ा देना, मिश्रित कर देना, भ्रान्त कर देना।[3] अतः बेबल का अर्थ है, वह स्थान जहाँ ईश्वर ने मनुष्य की भाषा गड़बड़ा दी थी। मुसलमान अरबी से ही संसार की सभी भाषाओं की उत्पत्ति मानते हैं। जर्मन लोग जर्मन भाषा को देवभाषा मानते हैं।

मिस्र के राजा सैमेटिकस फ्रेडरिक द्वितीय (1194-1250), स्कॉटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ (1488-1513) तथा अकबर (1556-1605) ने दो बच्चों को

---

1. मनुस्मृति, 1/21
2. पालि डिक्शनरी की भूमिका—चाइल्डर, पृ० 13
3. भाषा और भाषिकी—देवीशंकर द्विवेदी, पृ० 106

जन्म के बाद मानव-समाज से अलग रखा था। बड़ा होने पर देखा गया कि वे बच्चे कोई भाषा नही बोल सकते थे।

श्लीगल मानते है कि मानव भाषा अचानक ही पूर्ण विकास के साथ उत्पन्न हो गयी। गेटे की मान्यता है कि जैसे ही ईश्वर ने मानव को बनाया, वैसे ही उसने मनुष्य मे भाषा का बीजारोपण कर दिया। जेकब ग्रिम ने भी कहा है कि भगवान ने मनुष्य को भाषा भेंट रूप मे दी है और उसके निर्माण मे मनुष्य का कोई योगदान नही है।

सीमाएँ और शक्तियाँ

दैवी सिद्धान्त विज्ञान की तर्कग्राही दृष्टि के आधार पर प्रतिपादित नही है। उसका एकमात्र आधार आस्था और आध्यात्मिक दृष्टि है। विश्वास और आस्था ही इसकी शक्ति है। यदि भाषा को ईश्वरप्रदत्त मान लिया जाय तो भाषा-सरचना मे एकरूपता होनी चाहिए, क्योकि ईश्वर की रचना मे सर्वत्र प्रकृति और प्रकार्यता की एकरूपता दिखाई पडती है। किन्तु भाषा-संघटन मे एक-रूपता का नितान्त अभाव दिखाई देता है। भाषा-सरचना मे देश-काल-भेद से स्वरूपत. तथा प्रकार्यत अन्तर दृष्टिगोचर है। यह अन्तर भाषा की अनेकरूपता और विविधता का परिचायक है। शब्दो के अर्थ मे समानता होने पर भी उनकी रूप-रचना और व्याकरणिक कोटियो मे अन्तर लक्षित होता है। हिन्दी मे कुत्ता भौंकता है; अंग्रेजी मे Bark तथा जर्मन मे Bow Vow करता है।

दूसरे यदि भाषा की उत्पत्ति को हम दैवी सिद्धान्त के अनुरूप मान ले तो ससार-भर मे केवल एक ही भाषा प्रचलित होनी चाहिए। संसार-भर के कुत्ते एक ही प्रकार से भौंकते है और बिल्लियाँ, घोडे, हाथी आदि भी एक ही प्रकार से बोलते है। उनकी बोलियो की ध्वन्यात्मक व्यजना एक जैसी होती है। किन्तु व्यावहारिक रूप मे मनुष्य-समाज अपनी अस्मिता तथा सत्ता के लिए देश और काल की सीमा मे अलग भाषा का निर्माण करता है। इसीलिए प्रत्येक देश और समाज की अपनी भाषा है। ग्रीक, लैटिन, जर्मन, अंग्रेजी, संस्कृत, हिंदी आदि अनेक भाषाएँ विश्व मे प्रचलित है और यह प्रमाणित करती है कि भाषा ईश्वरप्रदत्त नही है।

दैवी सिद्धान्त वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर अस्वीकार्य होने पर भी यह प्रकट करता है कि मनुष्य की रचना ईश्वर ने की और उसे भाषा के प्रयोग योग्य वाग्यन्त्र प्रदान किया। ध्वनियन्त्र संचालित करने की क्षमता भी दी और इतनी प्रखर बुद्धि दी कि मनुष्य अपनी भाषा का समुचित विकास कर सका। यह वाग्यन्त्र, क्षमता और बुद्धि मानवेतर प्राणियो को प्राप्त नही हो सकी।

2 संकेत सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को निर्णय सिद्धान्त, प्रतीक सिद्धान्त, स्वीकारवाद आदि नामो से भी जाना जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार भाषा साकेतिक सस्था है। सकेत का अभिप्राय है वाचिक संकेत।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य भी पशु की तरह सिर, हाथ, पैर, आँख आदि के सचालन से अपने मनोभावों को प्रकट करता था। किन्तु विचारो के आदान-प्रदान में कठिनाई होने से वह अपने विचार को अच्छी तरह व्यक्त नही कर पाता था। इसलिए अपने मनोभावो को स्पष्टता से व्यक्त करने के लिए उसने ध्वन्यात्मक भाषा का विधान किया। आगिक सकेतो की असुविधा के मार्जन हेतु उसने सामाजिक समझौते के द्वारा ध्वनि-सकेतो की समर्थ, पूर्ण और सुविधाजनक अभिव्यजना-विधि का आविर्भाव किया। वस्तुओ और क्रियाओ के लिए साकेतिक नाम, प्रतीकात्मक ध्वनि-सकेत, शब्द आदि स्थिर किये गये और परस्पर व्यवहार की भाषा का निर्माण हुआ।

रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और विभिन्न पदार्थो के लिए ध्वनि-सकेतो की चर्चा की।

महर्षि पतजलि ने पदार्थ और ध्वनि-सकेत का उल्लेख करते हुए कहा है—'प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनि: शब्द: इत्युच्यते।' वैदिक सूक्तों मे भी नामकरण का विधान उल्लिखित है। भामह ने इस सिद्धान्त को उपस्थित करते हुए कहा है—

इयन्त ईदृशावर्णा ईदृगर्थाभिधायिन:।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थ समय. कृत ।[1]

अर्थात् इतने, ऐसे वर्ण, ऐसे अर्थ को बोध कराएँ, इस प्रकार पहले (सृष्टि के आरभ मे) लोक व्यवहार के लिए सकेत किया गया। सृष्टि के आरभ मे यह निश्चय कर लिया गया कि इतने वर्ण, इस क्रम से उच्चरित होने पर अमुक अर्थ का बोध करायेंगे। क के बाद म और उसके बाद ल का प्रयोग हो तो पुष्प-विशेष (कमल) का बोध होगा। इसी तरह अनेक संकेत बना लिये गये।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इस सिद्धान्त की असंगतियो का सकेत करते हुए कहा गया है कि—

1. यदि भाषा नही थी तो उसकी आवश्यकता का अनुभव मनुष्य को कैसे हुआ ? ऐसा अनुभव बन्दर और घोड़े क्यो नही करते और महासभा करके एक भाषा बना लेते ?

---

1 काव्यालंकार भामह स० देवेन्द्रनाथ शर्मा 6/13

2. भाषा के अभाव मे मनुष्यों के बीच भाषा के संकेत स्थिर करने के लिए विचार-विनिमय कैसे हुआ ? विचार-विनिमय का साधन यदि उनके पास था तो दूसरे साधन की आवश्यकता क्या थी ?

3. भाषा-संकेत किस आधार पर निर्धारित हुए और किसने निर्धारित किये ? क्या उक्तकाल मे इस प्रकार की एकता संभव हो सकी ?

4. जो सकेत उस काल मे निर्धारित हुए उनमे कालान्तर मे परिवर्तन क्यो हुआ, क्योंकि भाषा के रूप अनेक बार परिवर्तित हो चुके है।

3. अनुरणन सिद्धान्त (डिङ्डॉङ्वाद)

इस सिद्धान्त को डॉ० भोलानाथ तिवारी धातु सिद्धान्त कहते है। इसके प्रवर्तक प्लेटो थे, किन्तु सैद्धान्तिक व्यवस्था की स्थापना जर्मन प्रोफेसर हेस (Heyse) ने की। मैक्समूलर ने इसे पल्लवित किया।

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे मैक्समूलर का कथन है कि 'एक विश्वव्यापी नियम है कि आघात होने पर प्रत्येक वस्तु से एक ध्वनि उत्पन्न होती है। हर पदार्थ की अपनी एक विशिष्ट ध्वनि होती है।' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होने कहा कि 'भाषा सहजात प्रवृत्ति का फल है। आदिम अवस्था मे मनुष्य की एक सहज प्रतिभा थी कि बाहर से पड़ने वाले प्रभाव के साथ भीतर से सहज रूप मे एक ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति होती थी। जब मनुष्य को भाषा प्राप्त हो गयी, उसकी वह सहज प्रतिभा नष्ट हो गई।'

ससार की प्रत्येक वस्तु की एक ध्वनि होती है। आघात होने पर सबकी अलग ध्वनि होती है। 'मनुष्य मे एक ऐसी सहजात शक्ति थी कि जिस किसी चीज के सम्पर्क में आता था, उसके लिए उसके मुँह से एक प्रकार की ध्वनि निकल जाती। विभिन्न वस्तुओ की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ 'धातु' थी।''[1] तात्पर्य कि वस्तुओ की ध्वनि के अनुसार मनुष्य की बोलने की प्रवृत्ति के कारण कालान्तर मे भाषा की प्राप्ति हुई।

घटा ध्वनि के टन-टन के आधार पर डिंगडाग नाम दिया गया है। इसे अनुरणन सिद्धान्त इसलिए कहा जाता है कि अनुरणन का अर्थ है गुंजार।

सीमाएँ और शक्तियाँ

यह सिद्धान्त पूर्णतः काल्पनिक है। वह वैज्ञानिक दृष्टि के बजाय रहस्यात्मक नैसर्गिक शक्ति पर निर्भर है। यह हास्यास्पद है कि मनुष्य मे कोई रहस्यात्मक

1 भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 29

शक्ति थी, जो अब नही है। यदि पदार्थो की ध्वनि से शब्दो का निर्माण होता तो उस प्रक्रिया मे आज भी शब्दो की रचना होती। मैक्समूलर ने बाद मे इस सिद्धान्त की अनुपयोगिता और सदोषता जान ली थी। इसीलिए उन्होने बाद मे इसका परित्याग कर दिया।

4. अनुकरण सिद्धान्त (बोउ वोउ सिद्धान्त)

इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति अनुकरणात्मक ध्वनि के माध्यम मे हुई। मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त का उपहास करते हुए इसे कुत्ते की बोली का सिद्धान्त (Bow Vow Theory) नाम दिया था। पैपुआ के पूर्वोक्त किनारे पर रहने वाले कुत्ते की आवाज के आधार पर इसको Bow Wow कहते हैं। इस सिद्धान्त को ओनोमेटोपोएटिक सिद्धान्त तथा इकोइक सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता हैं। हिन्दी मे इसके लिए प्रचलित शब्द अनुकरण सिद्धान्त या शब्दानुकरण मूलकतावाद है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पशु-पक्षियों की ध्वनियो के अनुकरण पर मनुष्य ने शब्दों की रचना की। बिल्ली की म्याऊँ, कुत्ते की भों-भों ध्वनि के आधार पर उसकी बोली का नामकरण हुआ। मनुष्य प्रकृति और जगत् से जुडा हुआ है। भों-भों, टर्र-टर्र, कू-कू, काँव-काँव, गर्जन, सनसनाहट, फडफड़ाहट धमधमाहट आदि शब्दो का निर्माण प्राकृतिक ध्वनियो के आधार पर हुआ है। पत्तों का मर्मर स्वर, पानी का झर-झर बहना, ठोस पदार्थो के तड़कने आदि की ध्वनि के अनुकरण पर अनेक नामो की सरचना हुई है।

यास्क ने निरुक्त में कहा है कि शब्दानुकृति का शब्द-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है—'काक इति शब्दानुकृति। तदिदंशकुनिषु बहुलम्।'[1] का-का रटने वाले को काक कहते है। कू-कू करने वाली कोयल, दर्-दर् ध्वनि करने वाले को दर्दुर, झर-झर कर बहने वाले को निर्झर कहा जाता है। ये शब्द प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण से बनाये गये है। 'इस प्रकार अनुकरण के आधार पर मूल शब्दो का पर्याप्त कोश बन गया होगा। इन्ही बीज रूप मूल शब्दो से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ है।'[2] कल-कल, छल-छल, ठक-ठक, खट-पट, तड-तड़, झन-झन आदि जैसे शब्दों की रचना भी अनुकरण से ही मानी गयी है। फट-फट ध्वनि करने से मोटर साइकिल को फटफटिया कहा जाता है।

दृश्यात्मक अनुकरण से भी शब्दो का निर्माण हुआ है। चकमक, झकझक,

1. निरुक्त—यास्क, 3/18
2. तुलनात्मक भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृ० 201

चकाचक दगदग जग जग आदि शब्द ऐसे ही बने हैं। ह्विटनी पाल हडर भाषा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इस सिद्धान्त की कई सीमाएँ हैं।

1. रेनन के अनुसार यह मानना उपहासास्पद है कि मनुष्य ने पशु-पक्षियों तथा प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण से भाषा सीखी और उसका निर्माण किया। यह मानना अनुचित है कि पशु-पक्षी में ध्वनि की क्षमता थी और मनुष्य में यह शक्ति नहीं थी। इस दृष्टि से मनुष्य पशु-पक्षी से हीन प्राणी सिद्ध होता है, जो सही नहीं है। यदि मनुष्य में ध्वनि-क्षमता नहीं थी तो उसने अनुकरण से ध्वनि उत्पन्न करना कैसे सीखा। इससे तो यह प्रकट होता है कि मनुष्य सक्षम एवं विकसित प्राणी है क्योंकि उसने पशुओं की निरर्थक ध्वनियों को सार्थक रूप प्रदान किया।

2. अनुकरणात्मक शब्दों की संख्या भी भाषा में कम है। 99 प्रतिशत शब्द किसी अन्य मूल से ही उत्पन्न हैं। साथ ही उत्तरी अमेरिका की अथबस्कन भाषा में तो ऐसे शब्दों का नितान्त अभाव है। मैक्समूलर के अनुसार 'भाषा की उत्पत्ति का अनुकरणात्मक सिद्धान्त वहीं तक ठीक है, जहाँ तक मुर्गियों की कुडक और बत्तखों की कें-कें से ही भाषा का सम्बन्ध है, लेकिन इसके आगे एक ऊँची प्राचीर है, जिसके दूसरी ओर से भाषा का प्रारंभ होता है।'

3 अनुकरणात्मक शब्द भाषा के अलंकरण के सीमित पक्ष को ही व्यंजित करते हैं।

4. यह सिद्धान्त भाषा की सीमित शब्दावली के कारण भाषा की उत्पत्ति के सीमित स्वरूप को ही व्यक्त कर पाता है।

5. अनुकरण से भाषा की उत्पत्ति मानने पर अनुकरणात्मक शब्दों का रूप एक ही होना चाहिए, किन्तु विभिन्न भाषाओं में इन शब्दों के रूप अलग-अलग हैं। जैसे—मेढ़क को संस्कृत में दर्दुर, अँगरेजी में फ्रॉग, जर्मन में फ्रोश, रूसी में ल्यागुश्का और फ्रांसीसी में ग्रेनूइ कहते हैं।

इस सिद्धान्त को अमान्य करते हुए भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अनुकरणात्मक शब्दों की संख्या के आधार पर इस सिद्धान्त को सर्वथा निस्सार नहीं माना जा सकता। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'एक ही ध्वनि के अनुकरण पर बने विभिन्न भाषाओं के शब्दों में ध्वन्यात्मक अन्तर असंभव नहीं है।'[1] अनुकरणात्मक शब्दों से नयी व्यंजनाएँ संभव हैं, जिनसे शब्दों में गत्यात्मकता और अर्थवत्ता आती है। भाषा की समृद्धि में इस सिद्धान्त की सक्रियता असंदिग्ध है।

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 31

5 आवेग सिद्धान्त (पूहपूहवाद)

इस सिद्धान्त को मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोरागव्यंजक शब्द मूलकतावाद, मनोभावाभिव्यजकतावाद, पूहपूहवाद आदि नामो से भी व्यजित करते है। इसे Interjectional Theory भी कहते हैं। मैक्समूलर ने इसे Pooh Pooh Theory उपहास मे कहा था।

इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति स्वाभाविक सहज उद्‌गारो से हुई है। हर्ष, शोक, घृणा, क्रोध, विस्मय, क्षोभ आदि की मानसिक स्थिति में हमारे मुँह से सहज ही अहा, वाह, ओह, अरे, हाय, छि, धिक्, धत्त, पूह आदि शब्द निकल पड़ते हैं। ये आवेग है। सवेदन या भाव की तीव्रता होने पर ये सहज ही ध्वनित हो जाते है। धीरे-धीरे इन्ही शब्दो से भाषा का विकास हुआ।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इस सिद्धान्त को भाषा की उत्पत्ति का कारण मानने मे कठिनाइयाँ है।

1. ऐसे शब्द भाषा मे नही के बराबर है। आवेगी ध्वनियो के अतिरिक्त भाषा के अन्य शब्दो के विकास-निकास के बारे मे यह सिद्धान्त मौन है। बेनफी का कहना है कि 'विस्मयादिबोधक ध्वनियो और शब्दो के बीच मे इतनी बड़ी खाई पडती है कि सरलतापूर्वक इन्हें भाषा का निषेध कहा जा सकता है। ये तभी निःसृत होती हैं, जब हम बोलने मे असमर्थ होते हैं।'

2. आवेगपरक होने के कारण ऐसे शब्दो का विश्लेषण सहज सभव नही है। ये सहज अभिव्यजना से अलग पडते है। अत. इन्हे समग्रत: भाषा नही कहा जा सकता।

3. विभिन्न भाषाओ के आवेगबोधक शब्दो मे एकरूपता नही है।

6. संगीत सिद्धान्त (सिंगसोंग सिद्धान्त)

इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति मानव की सगीतमूलक सहज प्रवृत्ति के फलस्वरूप हुई है। गुनगुनाना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। दुख या हर्ष की स्थिति मे हमारे मुँह से अनायास संगीत ध्वनि निकल पडती है। प्रेम की स्थिति मे भी मनुष्य के कठ से सगीत फूट पड़ता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक येस्पर्सन थे। डार्विन और स्पेन्सर ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

येस्पर्सन के अनुसार 'भाषा की उत्पत्ति मानव जाति के प्रणय-सगीतों अथवा बुलबुल के मधुर संगीत की भाँति रही होगी।' आरंभिक अर्थहीन ध्वनियो से ही संगीत की रचना हुई। इन्ही अर्थहीन ध्वनियो के संयोग से शब्दों का निर्माण हुआ।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि मनुष्य आरंभिक स्थिति में गुनगुनाया करता था। इस सिद्धान्त के अनुसार वाणी यौवनावस्था के बाद ही उद्भावना के माध्यम रूप में स्वीकृत है। अतः इस सिद्धान्त से पता नहीं चलता कि यौवनावस्था के पूर्व उसके मनोभाव किस माध्यम से व्यक्त होते थे।

7. श्रमध्वनि सिद्धान्त (यो हे हो सिद्धान्त)

इस सिद्धान्त को श्रम-परिहारमूलक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसके उद्भावक न्वायर या नुइरे (Noire) नामक विद्वान थे। श्रम ध्वनि का अर्थ है श्रम करते समय उत्पन्न होने वाली ध्वनि। कठिन परिश्रम करते समय श्वास-प्रश्वास का वेग बढ जाता है। इससे स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है और एक ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। इन ध्वनियों से श्रम का परिहार होता है। पालकी ढोने वाले कहार 'हूँ'''हूँ' ध्वनि, धोबी कपडा धोते समय 'हियो' या 'छियो' ध्वनि, क्रेन या सडक पर काम करने वाले मजदूर 'हे, हो या हूँ' ध्वनि तथा मल्लाह 'यो हे हो' ध्वनि उत्पन्न करते है। ये ध्वनियाँ कार्य से जुड़ी हैं और एक प्रकार से कार्य की बोधिका है। मेलिनोव्स्की जैसे मानव विज्ञानी ने कहा है कि मनुष्य अकेले काम करने की अपेक्षा समूह में काम करना अधिक पसन्द करता है और श्रम करते समय एक विशेष ध्वनि उत्पन्न करके अपने श्रम का परिहार करता है। इस सिद्धान्त के जन्मदाता यह मानते है कि इन्ही ध्वनियों से भाषा की उत्पत्ति हुई। ऐसे शब्द प्रारंभ में हाँफने या हल्की चिल्लाहट के रूप में रहे होंगे।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इस सिद्धान्त से यह ज्ञात होता है कि सार्थक भाषा प्राप्त होने के पूर्व की अवस्था में मनुष्य गूँगा था, जो असंभाव्य है। श्रम-ध्वनि या श्रम-परिहारमूलक ध्वनियाँ भावावेगपूर्ण ध्वनियाँ है और अभिधान या क्रियाबोध की दृष्टि से निरर्थक हैं। इन निरर्थक ध्वनियों से भाषा की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है। श्रम-ध्वनियाँ अर्थ-शून्य होती है। अर्थ-शून्य ध्वनियों से सार्थक भाषा की उत्पत्ति की कल्पना असंगत है।

यह सिद्धान्त भाषा के निर्माण में सामाजिक पक्ष को स्वीकार करता है जबकि अन्य सिद्धान्तों में वैयक्तिक प्रभाव की ही प्रधानता दीख पडती है।

8. इंगित सिद्धान्त (जेस्चर थियरी)

इंगित का अर्थ है भाव-संकेत। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति

व्यंजक इंगितों या भाव-संकेतों द्वारा हुई। ये संकेत ध्वन्यात्मक और आंगिक दोनों प्रकार के थे। अपनी प्रतिभा और शक्ति के बल पर मनुष्य आंगिक संकेतों को ध्वन्यात्मक संकेतों में परिवर्तित करने में सक्षम हुआ। इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हुई। इसमें व्यंजक इंगितों तथा भाषा ध्वनियों की अनुरूपता पर विशेष बल दिया गया है।

डॉ० राये ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे डार्विन ने भी समर्थन दिया। 1930 ई० में रिचर्ड ने इंगित सिद्धान्त (Oral Gesture Theory) को अपनी पुस्तक 'ह्यूमन स्पीच' के द्वारा प्रस्तुत किया।

इस सिद्धान्त में भी अनुकरण की भूमिका मानी गयी है। इसके अनुसार मनुष्य बाहरी तत्त्वों का अनुकरण न करके अपने अंगों, विशेषतः हाथ या अंग संकेतों का करता है। अलेक्जेंडर जो हानसन के अनुसार 'आदि मानव ने अपने शरीर में तरह-तरह के 'कर्व' देखे और उसके अनुकरण पर उसने 196 मूल भावों के द्योतक शब्दों का आरंभ में निर्माण किया।'[1]

सीमाएँ और शक्तियाँ

अपने अंगों के संचालन और ध्वन्यात्मक भाषाओं के बीच तर्कसम्मत सम्बन्ध स्थापित करना हास्यास्पद प्रयास है। यदि इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो यह असंभव प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने ही अंगों को किस प्रकार ध्वन्यात्मक संकेतों में परिवर्तित करता होगा। आज हम दूसरों के आंगिक संकेतों को ध्वनि में नहीं बदल पाते।

इतना माना जा सकता है कि आंगिक संकेतों का भाषा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग है।

9. समन्वय सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के जन्मदाता हेनरी स्वीट हैं। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के संदर्भ में कोई नयी कल्पना नहीं की। इस सिद्धान्त में पूर्व ज्ञात सभी सिद्धान्तों की उपलब्धियों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। स्वीट ने भाषा-सम्पदा को तीन भागों में बाँटा है—1. अनुकरणात्मक, 2. मनोभावाभिव्यंजक और 3 प्रतीकात्मक। प्रतीकात्मक शब्दों की उन्होंने व्यापक व्यंजना की है।

---

1 भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 34

सीमाएँ और शक्तियाँ

यह सिद्धान्त कल्पनाओं की कल्पना है। भाषा की उत्पत्ति के लिए जो भी काल्पनिक सिद्धान्त बताये गये हैं, उनके समाहार की कल्पना अग्राह्य है। इसमें भाषा की उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त एक प्रकार से पूर्व स्थापित काल्पनिक सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान करता है। अतः अत्यन्त भ्रामक है।

10. सम्पर्क सिद्धान्त (कॉन्टैक्ट सिद्धान्त)

सम्पर्क का अर्थ है मनुष्य के पारस्परिक सहयोग-सम्बन्ध की भावना। यह सिद्धान्त मनोविज्ञान पर आधारित है।

इस मत के प्रतिपादक प्रो० जी० रेवेज हैं। उन्होंने बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान तथा आदिम अविकसित मनुष्य के मनोविज्ञान के आधार पर इस सिद्धान्त को समृद्ध करने का प्रयास किया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं, 'भाषा एक साधन है, जिसके द्वारा आदेश दिये जाते हैं, इच्छाएं व्यक्त की जाती है। × × × भाषा-रूप-साधन उच्चरित ध्वन्यात्मक प्रतीकों के सहारे क्रियाशील होते हैं।'

उन्होंने अपने सिद्धान्त के निरूपण के लिए तीन स्तरों की कल्पना की है—अभाषिक चिल्लाहट, सोद्देश्य पुकार, शब्द। सम्पर्कमूलक ध्वनि का उद्देश्य अनुभूतियों का विनिमय है। उनके अनुसार भाषा की तीन क्रियाएँ हैं—आदेश, कथन और प्रश्न। क्रिया मनुष्य का आदिम तत्त्व है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को सम्पर्क करना पड़ता है। समूह में रहने की भावना भी इसी प्रवृत्ति का प्रतिफल है। आदिम मानव ने भूख-प्यास की तीव्रता, आपत्ति-विपत्ति में रक्षा-भावना और प्रेम तथा अन्य मनोभावों को व्यक्त करने के लिए किसी-न-किसी ध्वनि का आश्रय अवश्य ही लिया होगा। इस प्रकार परस्पर सहयोग से सम्पर्क का विकास हुआ। इस सम्पर्क-सहयोग से एक-दूसरे की भावनाओं और अभिव्यक्ति के साधनों का आदान-प्रदान बढ़ा। इसी सम्पर्क से भाषा की उत्पत्ति हुई।

प्रो० रेवेज के अनुसार अभाषात्मक चिल्लाहट, सोद्देश्य पुकार और शब्द भाषा के स्वरूप-विकास के चरण हैं। पशु-मनोविज्ञान और बाल-मनोविज्ञान के आधार पर अभाषात्मक चिल्लाहट को प्रमाणित किया जा सकता है। भाषा का अगला चरण सोद्देश्य पुकार है। यह अवस्था भाषा की पूर्व अवस्था है। क्रियाविहीन आदेशात्मक पुकारों की आवश्यकता कार्य में प्रवृत्त कराने की आकांक्षा से जुड़ी है। प्रारंभिक भाषा आदेशमूलक रही होगी। इसके उपरान्त अन्य शब्दों का विकास हुआ और भाषा व्यवस्थित हुई।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इस सिद्धान्त का आधार भाषात्मक इतिहास और मनोविज्ञान है। इसमे भाषा के विकास मे व्यक्तियो और जातियो की भाषात्मक क्रियाशीलता को स्वीकार किया गया है। यह सिद्धान्त मनुष्य के जन्म के साथ ही भाषा की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। आदिम भाषा पशुओ की अभाषात्मक ध्वनि के सदृश ही रही होगी। मनुष्य की सामाजिक भूमिका और सम्पर्क-सहयोग के महत्त्व को मनोवैज्ञानिक आधार पर रेखांकित करने का प्रयास इस सिद्धान्त की विशेषता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार सम्पर्क सिद्धान्त पूर्णत: तर्कसम्मत है, किन्तु इसमे मनोवैज्ञानिक ढंग से उत्पत्ति और विकास के सामान्य सिद्धान्तो का ही विवेचन है।'[1] इसके बाद भी कासिडी आदि विद्वानो ने भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को अनिर्णीत ही माना है।

11 धातु सिद्धान्त

व्युत्पत्ति विज्ञान के आधार पर भाषा की उत्पत्ति का एक सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति का कारण कुछ धातुएँ है। धातुओ से ही भाषा का स्वरूप बना और विकसित हुआ। शाकटायन ने भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी धातु सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार शब्दों की व्युत्पत्ति धातुओ से हुई।

मनुष्य अपने मनोभावो को छोटी-छोटी ध्वनियो से प्रकट करते थे। ये ध्वनियाँ चिडियों की आवाज या प्राकृतिक ध्वनियो पर आधारित थी। हृदय की गूँज के आधार पर ये ध्वनियाँ निर्मित हुई, जिन्हे धातु कहा गया। पेड़ से पत्ते के गिरने से पत् ध्वनि होती है। इस आधार पर गिरने के अर्थ मे पत् धातु का निर्माण हुआ जिससे पतन, पतित आदि शब्दो की रचना हुई।

शाकटायन के अनुसार भाषा का सम्पूर्ण ढाँचा धातु पर ही आश्रित है। व्युत्पत्ति विज्ञान के विश्लेषण से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शब्द-रूपो के मूल मे धातुएँ है। उपसर्ग और प्रत्यय के विधान से विभिन्न अर्थ के द्योतक शब्दो की व्युत्पत्ति धातुओ से ही है।

गार्ग्य आदि वैयाकरणो ने इस सिद्धान्त का विरोध किया और कहा कि उणादि वर्ग के शब्दों पर यह सिद्धान्त लागू नही होता। यास्क ने इन्हे असविज्ञात, अन्य वैयाकरणो ने अव्युत्पन्न तथा दुर्गा वैयाकरण ने प्रकल्प-क्रिया कहा है।

प्लेटो, प्रो० हेस तथा मैक्समूलर ने धातु सिद्धान्त का समर्थन किया है।

---

1 भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 36

डॉ० भोलानाथ तिवारी डिंग-डांगवाद को ही धातु सिद्धान्त मानते हैं।

सीमाएँ और शक्तियाँ

इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए गार्ग्य ने कहा है—'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानामचैके।'[1] भाषा मनुष्य के प्रौढ़ मस्तिष्क की उद्भावना है। दूसरे, सभी भाषाओं में धातुएँ नहीं पाई जातीं। इससे भाषा के कुछ शब्दों पर ही प्रकाश पड़ता है। सर्वांशतः यह मत समीचीन नहीं है।

12. टा-टा सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जाने-अनजाने उच्चारण अवयवों की गति का अनुकरण करता था, जिसमें कुछ ध्वनियों का उच्चारण हो जाया करता था। इन्हीं ध्वनियों से शब्दों और अततः भाषा की उत्पत्ति हुई। यह सिद्धान्त इंगित सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

सीमाएँ और शक्तियाँ

निरर्थक ध्वनियों से सार्थक भाषा की उत्पत्ति मानना अनुचित है। इंगित सिद्धान्त की आपत्तियाँ इस पर भी लागू होती है।

कुछ विद्वान् आगमन पद्धति या परोक्ष मार्ग से भाषा की उत्पत्ति को सिद्ध करना चाहते है। इसे तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है—

1. बच्चों की भावाभिव्यक्ति
2. आदिम जातियों की भाषा
3. भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज

1. बच्चों की भाषा—बच्चा 9-10 महीने तक मात्र ध्वनियों से अपने मनोभाव का सकेत देता है। बाद में वह अपने परिवेश और माता-पिता की भाषा को अनुकरण से सीखता है। इस प्रारंभिक ध्वनि अवस्था से भाषा सीखने तक की स्थिति के आधार पर कुछ लोग भाषा की उत्पत्ति का विवेचन करते हैं।

किन्तु वेन्द्रिये और रॉबिन्स इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि बच्चे के परिवेश में एक भाषा होती है, जिसे वह सीखता है। आदिम अवस्था में जब कोई भाषा नहीं थी, उसके सामने भाषा सीखने का नहीं, प्रत्युत् भाषा-निर्माण का प्रश्न था। इससे आदिम मनुष्य तथा बच्चे की भाषिक स्थिति की समरूपता नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः बच्चे की भाषा के आधार पर भाषा की उत्पत्ति का सिद्धात

1. निरुक्त 1/12

अनुपयुक्त है ।

2. आदिम जातियों की भाषा—इस सिद्धान्त को आदिम जातियो की भाषिक अवस्था और विकसित भाषा की प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से समझा जा सकता है । आदिम जातियो की भाषा-प्रवृत्तियाँ भाषा के प्रारंभिक स्वरूप को प्रकट करती हैं । इससे प्रकट होता है कि देश-काल की परिवर्तनशीलता के कारण ही भाषा का विकास संभव हुआ है ।

इस सिद्धान्त की अनुपयुक्तता सिद्ध करते हुए वान्द्रियेज कहते है कि 'आदिम जातियो की बोलियो से हमे भाषा और विचार के परस्पर सम्बन्ध का समीचीन ज्ञान प्राप्त हो सकता है, पर भाषा के आदिम रूप का नही ।'[1] इसमे आदिम भाषा के अध्ययन से भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर प्रकाश नही पड़ता ।

3. भाषा-सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज—भाषा की ऐतिहासिक व्याख्या से भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश पड सकता है । भाषा के प्राचीनतम रूप और आधुनिक विकसित स्वरूप के विश्लेषणात्मक ऐतिहासिक अध्ययन से भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश पडने की सभावना है । किन्तु लुप्त विकास शृंखला के अभाव मे यह कार्य नही हो रहा है । भाषा और बोलियाँ इतने सोपान पार कर चुकी हैं कि उनके आदिम स्वरूप और उत्पत्ति की सही जानकारी सुलभ नही है ।

निष्कर्ष

भाषाविज्ञान के पडित भाषा की उत्पत्ति-विषयक समीचीन सिद्धान्त का प्रतिपादन करने मे अक्षम रहे है । वान्द्रियेज ने ठीक ही कहा है कि 'भाषा के उद्गम की समस्या भाषावैज्ञानिको की शक्ति के बाहर है ।'[2]

सम्पर्क सिद्धान्त से भाषोत्पत्ति की समस्या पर इतना प्रकाश तो पड़ता ही है कि भाषा के साथ मनुष्य का सहजात सम्बन्ध है । भाषा की उत्पत्ति मानव की उत्पत्ति से जुड़ी हुई है । भाषा का विकास क्रमशः देशकाल की आवश्यकताओ के अनुरूप होता रहा है ।

डॉ० रामविलास शर्मा ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है—

मनुष्य ने अपने सूक्ष्म चिन्तन की विशेषता के कारण भाषा की रचना नही की । उसके जीवन-यापन की आवश्यकताओं ने उसे ध्वनि-संकेतो का उपयोग करने के लिए विवश किया । अपने शारीरिक गठन के कारण वह अन्य पशुओं की अपेक्षा ध्वनि-संकेतो से काम ले सका ।'[3]

---

1. भाषा-इतिहास की भाषावैज्ञानिक भूमिका—जे० वान्द्रियेज, पृ० 7
2. वही, पृ० 8
3. भाषा और   डा० रामविलास शर्मा पृ० 75

भाषा : प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

प्रत्येक भाषा की एक प्रकृति होती है। प्रकृति के आधार पर प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं। प्रवृत्ति का विशेष रूप विशिष्टताओ के रूप मे रेखांकित किया जाता है। इस प्रकार भाषा की कुछ प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ उभरती हैं। प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अध्ययन रचनात्मक गठन और स्वभाव के आधार पर किया जाता है।

रचनात्मक गठन

प्रत्येक भाषा की एक संरचना होती है। सरचना से उसका स्वरूप उभरता है। संरचना और स्वरूप के आधार पर ध्वनिगत और व्याकरणिक कोटियों की व्यवस्था का अध्ययन भाषा की प्रवृत्तियो और विशेषताओ के लिए आवश्यक है।

1. **नैसर्गिक क्रिया**—भाषा मनुष्य का नैसर्गिक आचरण है। वाग्यन्त्र ईश्वर-प्रदत्त है। वाक्क्षमता मनुष्य को बाल्यकाल से ही प्राप्त है। बोलना उसकी नैसर्गिक क्रिया है। खाना, पीना, देखना, सुनना जैसी सहज और प्राकृतिक क्रियाओ की तरह बोलना भी मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकता है। भाषा ही अभिव्यक्ति का माध्यम है।

2 **उच्चारणीयता**—भाषा उच्चारणीय होती है। कंठ, मूर्धा, तालु, जीभ, ओठ, दन्त आदि उच्चारण-अवयवो से ही ध्वनि उत्पन्न होती है। भाषा के रूप को व्यस्थित करने लिए उच्चारण-अवयवो को प्रयासपूर्वक सचालित करना होता है। इसलिए भाषा सायास उच्चार की विशिष्टता से संयुक्त है। उच्चार भाषा की प्रमुख प्रवृत्ति है।

3. **क्रमबद्धता**—ध्वनियो का क्रम अलग होता है। ध्वनियो को क्रमबद्ध रूप मे सघटित करने से शब्द बनते है। शब्दो मे अर्थ निहित होता है। 'बालक' शब्द मे ब्+आ+ल्+अ+क्+अ ध्वनियों को क्रमबद्ध रूप मे सघटित किया गया है। इससे एक अर्थ स्फुटित होता है। क्रमबद्धता भग होने पर अर्थ प्रकट नहीं होता। अतः क्रमबद्ध ध्वनि-समूह से ही अर्थ प्रकट होता है। भाषा के विभिन्न अगो—ध्वनि, शब्द, वाक्य, अर्थ—को भी क्रमबद्ध व्यवस्था दी जाती है, जिससे भावाभिव्यजन होता है।

4. **यादृच्छिकता**—क्रमबद्ध ध्वनि-समूह मे अर्थ का प्रस्फुटन यादृच्छिकता से

ही होता है। ध्वनि-समूह या पद को हम जिस नाम से पुकारते हैं वह अर्थ प्रतीकात्मक होता है। यह प्रतीकात्मक अर्थ अपनी इच्छा से ही पद मे सम्बद्ध होता है। शब्द स्वय पदार्थ नही है । वस्तु और वस्तु के नाम मे प्राकृतिक सम्बन्ध नही है। यह सम्बन्ध स्वेच्छा मे ही मान्य है। जोमुआ ने ठीक ही कहा है कि नाम लोगो की परस्पर सहमति और परम्परा से ही स्वीकृत अर्थ मे चलता है।

5 **परम्परा** —भाषा मे नियोजित अर्थ की एक परम्परा होती है। यह परम्परा सास्कृतिक होती है। यादृच्छिकता मे ग्राह्य अर्थ परम्परा से प्रचलित हैं। इस परम्परा से वे रूढ हो जाते हैं। परम्परा के फलस्वरूप ही रूढ अर्थ एक पीढ़ी से दूसरी पीढी तक प्रचलित होकर लोकसिद्ध हो जाते है। भाषा परम्परा मे ही रहती है।

स्वभावगत प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

1. **अर्जनीयता**—भाषा समाज से अर्जित की जाती है। इस अर्जन के लिए मनुष्य को प्रयास करना पड़ता है। बच्चा जिस समाज मे रहता है उस समाज की भाषा को वह प्रयास से सीखता है या अर्जित करता है। साहचर्य, व्यवहार और अनुकरण आदि से बच्चा भाषा सीख लेता है। बाबा, काका, मामा आदि सिखाने के लिए बच्चे मे अनुकरण वृत्ति विकसित की जाती है। वह अनुकरण का प्रयास करता है। प्रयास के विना तो विद्या विपतुल्य हो जाती है—'अनभ्यासे विप विद्या।' पाणिनि ने लोक-व्यवहार से भाषा के अर्जन के सम्बन्ध मे कहा है—'प्रधान प्रत्ययार्थं वचनम् अर्थस्यान्य प्रमाणत्वात् है।'[1] महर्षि पतंजलि ने लोक-व्यवहार की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है—'लोकेतोऽर्थ प्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।' आचार्य जगदीश ने शब्दार्थ-ज्ञान के लिए आठ साधनो का उल्लेख किया है—व्याकरण, उपमान, कोशग्रन्थ, आप्तवाक्य, लोक-व्यवहार, प्रकरण, विवरण, ज्ञानपद—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्ध पदस्यवृद्धाः।[2]

2. **समाज-सापेक्षता**—भाषा समाज के संदर्भ में ही रचित तथा व्यवहृत होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के साथ उसका सम्पर्क और व्यवहार होता है। भाषा-प्रयोग एक सामाजिक व्यवहार है। समाज के साथ ही भाषा का भी विकास होता है। भाषा की प्रकृति और सरचना भी सामाजिक संदर्भ से

1. अष्टाध्यायी—1/2/56
2 शब्दशक्ति प्रकाशिका, श्लोक 20

होती है। परवर्ती समाज अपने पूर्ववर्ती समाज से भाषा ग्रहण करता है। भाषा न केवल एक समाज, बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को निबधित करती है—'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम् ।'[1] वाक्यपदीय मे भर्तृहरि ने कहा है—'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी ।'[2]

3. **परिवर्तनशीलता**—कबीर के शब्दो मे 'भाषा बहुता नीर' है। भाषा की परिवर्तनशीलता समाज-सापेक्ष है। समाज के परिवर्तन के साथ ही भाषा मे भी परिवर्तन होते हैं। आखेट युग के बाद समाज क्रमशः बदलता रहा और आज हम औद्योगिक युग मे है। उसी प्रकार भाषा भी बदल गई। चन्दबरदाई की भाषा और इस दशक की भाषा मे अन्तर है। यह परिवर्तनशीलता का ही प्रमाण है। भारतेन्दु और नयी कविता की भाषा मे कई स्तरों पर परिवर्तन लक्षित है।

भाषा का विकास ही उसकी गति है। परिवर्तन से ही उसकी जीवन्तता सिद्ध होती है। भाषा प्रयोग-सापेक्ष होती है। उसकी ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ में परिवर्तन होते रहते है। वैदिक ध्वनियों का परिवर्तित रूप प्रयोग में है। पुराने शब्द मर जाते है और नये शब्द तथा उनके अर्थ विकसित होते है। संस्कृत के तीन लिंग, तीन वचन हिन्दी मे आकर दो ही शेष रहे। ड़ तथा ढ़ नयी ध्वनियों का विकास हुआ। अन्य भाषाओं के सम्पर्क से भी भाषा में परिवर्तन आते हैं।

ताड्य ब्राह्मण मे कहा गया है कि जिस प्रकार नदी की धारा निरतर बहती रहती है, उसी प्रकार भाषा भी नित नूतन सरस होती हुई सदा अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित रहती है—'सा (वाक्) ऊर्ध्वोदातनोद् यथाऽपां धारा सततैवम् ।[3]

4. **सर्वव्यापकता**—भाषा सर्वव्यापक होती है। जीवन के प्रत्येक स्तर पर भाषा का प्रयोग सुखद होता है। व्यक्ति और समाज के स्तर पर भाषा ही चिंतन और अभिव्यजन का साधन है। भर्तृहरि ने भाषा की सर्वव्यापकता का उद्घोष करते हुए कहा है—

इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्द व्यपाश्रया ।

भर्तृहरि भाषा मे सम्पूर्ण ज्ञान को व्याप्त मानकर उसकी सर्वव्यापकता प्रतिपादित करते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते ।[4]

---

1. ऋग्वेद, 10/125/3
2. वाक्यपदीय, 1/119
3. ताण्ड्यब्राह्मण, 20/14/2
4. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 1/124

अर्थात् समस्त लौकिक कर्त्तव्यबोध भाषा पर आश्रित है तथा लोक मे कोई ऐसी धारणा नही है जो भाषा के बिना संभव हो। सम्पूर्ण ज्ञान भाषा से अनुविद्ध प्रतीत होता है।

5. **सर्वशक्तिसम्पन्नता**—भाषा सर्वशक्तिसम्पन्न है। ज्ञानविज्ञान का कोई ऐसा अश नही है जो भाषा मे समाहित न हो। भाषा की क्षमता की सीमा नहीं है। मूर्त-अमूर्त, ज्ञात-अज्ञात, सत्-असत् सबको अभिव्यजित करने की शक्ति भाषा मे वर्तमान है—

अत्यन्तमतथा भूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार निरूपणा।[1]

अभाववाली वस्तुओ का बोध भी भाषा के द्वारा होता है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।'[2]

वाणी को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नाम से अभिहित किया गया है। उसमे सृजन, सभरण और विनाश की क्षमता है—'अह रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे इन्तवा।'[3] 'वाग्वै प्रजापति.।'[4]

यजुर्वेद मे वाक्तत्त्व को विश्वकर्मा नाम दिया गया है। उसमे सब काम करने की क्षमता है—'वाग्वै विराट्।' 'वाग्वै विश्वकर्मापि।'

6 **सृजनशीलता**—नयी पीढी पुरानी पीढ़ी से भाषा अर्जित करती है। अन्य भाषाओं के सम्पर्क से भी नयी पीढी अपनी भाषा मे कुछ नवीन तत्त्वो का समावेश करती है। ज्ञान के नये क्षितिज खुलने से शिक्षा, तकनीक और आविष्कारो के कारण भी भाषा मे नवीन तत्त्व जुड जाते है। यही भाषा की सृजनशीलता है। इसी सृजनशीलता के कारण नयी पीढी की भाषा पुरानी पीढी की भाषा से अलग होती है। नयी पीढ़ी की कार्यक्षमता, मानसिकता, कार्यक्षेत्र, कार्यपद्धति, क्रियान्वयन की प्रवृत्ति पुरानी पीढ़ी से भिन्न होती है। इसी नवीनता के कारण नयी पीढ़ी की भाषा नवीन रूप मे प्रकट होती है। ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ की सरचना भी भिन्न होती है। सरचनात्मक भिन्नता ही भाषा की सृजनशीलता है। वैदिक भाषा से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रश तथा अपभ्रश से हिन्दी की स्वरूप-भिन्नता भाषा की सृजनात्मक शक्ति को व्यक्त करती है। वैदिक काल की ध्वनियो से हिन्दी की ध्वनियाँ भिन्न हैं। शब्द रूप मे भी यही भिन्नता प्रकट होती है। वाक्य और अर्थ के स्तर भी आज भिन्न हैं। यह भिन्नता सृजनशीलता के फल-

1. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 1/131
2. योगदर्शन, 1/9
3. ऋग्वेद, 10/125/6
4 सतपथ ब्राह्मण 5/1/5-6

स्वरूप ही दृष्टिगत होती है। भाषा सृजनशील होने के कारण ही विकसित होती है और पुरानी पीढ़ी की भाषा से भिन्न दिखाई पड़ती है।

7. **भाषा में स्थिरता तथा विशिष्टता रहती है**—भाषा की एक प्रवृत्ति या विशेषता उसकी परिवर्तनशीलता है। परिवर्तनशीलता और स्थिरता में सहज विरोध लक्षित होता है। किंतु परिवर्तनशीलता के पूर्व की अवस्था ही स्थिरता है। स्थिरता के बाद ही परिवर्तन होता है।

एक निश्चित कालावधि में भाषा का स्वरूप निश्चित होता है, जो अन्य कालावधि के स्वरूप से भिन्न दिखाई पड़ता है। यही भाषा की स्थिरता है। आर्य भाषा एक विशेष काल-खड मे वैदिक भाषा, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिंदी के रूप मे पहचानी जाती है। इस कालावधि मे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी का स्वरूप और सरचना निश्चित एवं स्थिर है। रूप और सरचनागत निश्चितता ही स्थिरता है। इस निश्चितता और स्थिरता के कारण एक कालावधि की भाषा की अलग सज्ञा, अलग अस्तित्व प्रतिभासित होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्थिरता से भाषा का प्रवाह, जीवन्तता, परिवर्तनशीलता या विकास अवरुद्ध होता है।

सरचना और विन्यासगत भिन्नता ही भाषा की विशिष्टता है। इसी विशिष्टता के कारण एक काल की भाषा दूसरे काल की भाषा तथा दूसरी भाषा से भिन्न रूप मे पहचानी जाती है। वैदिक भाषा और सस्कृत की ष, ऋ, क्ष ध्वनियाँ हिन्दी में नही है। ण का प्रयोग असम से ब्रज प्रदेश तक नही मिलता। हरियाणवी, बागरू और पंजाबी मे ण का प्रयोग बहुलता से होता है। रूपतन्त्र, ध्वनितन्त्र और वाक्यतन्त्र की यह भिन्नता ही भाषा का वैशिष्ट्य है जो उसकी अलग पहचान बनाती है। विशिष्टता से ही स्थिरता आती है। स्थिरता भाषा के निश्चित रूप का द्योतक है।

8. **भाषा सयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है**—मूल रूप मे सभी भाषाएँ सयोगावस्था मे थी। सयोगावस्था का अर्थ है प्रकृति और प्रत्यय का समन्वित रहना। अर्थात् मूलत: भाषाएँ प्रकृति और प्रत्यय के समन्वित रूप में ही थी। प्रयोजन, देश, काल आदि के प्रभाव से भाषाओं की संश्लिष्टता समाप्त हो गई। संश्लिष्टता समास-प्रधानता ही है। अतः बाद में भाषाएँ वियोगावस्था, विश्लिष्टता की ओर गतिशील हुई। उनका प्रकृति-प्रत्यय का समन्वय, समास-प्रधानता समाप्त हो गई। भाषावैज्ञानिक मानते है कि संश्लिष्ट भाषाओं से ही विश्लिष्ट भाषाएँ निकली हैं। सस्कृत आधुनिक आर्यभाषाओं की जननी है। हिंदी बँगला आदि भाषाएँ सस्कृत से ही निकली है। हिंदी, बँगला आदि विश्लिष्ट भाषाएँ है और सस्कृत संश्लिष्ट है।

सस्कृत से एक उदाहरण लें। 'रामेण कार्यम् कृतम्' में 'रामेण' पद संश्लिष्ट

है। प्रकृति और प्रत्यय समन्वित है। हिन्दी में 'राम ने कार्य किया' कहेंगे। 'राम ने' पद मे प्रकृति और प्रत्यय वियुक्त है। विभक्ति प्रत्यय प्रकृति (पद) से अलग है। हिन्दी विश्लिष्ट भाषा है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हिन्दी भाषा की विश्लिष्टता दर्शाते हुए कहते है कि 'ये', 'के', 'ने' आदि विभक्तियाँ नही, परसर्ग है, क्योंकि किन्ही शब्दों के घिसे हुए रूप है—मूलत. विभक्ति नही।'[1] विभक्तियो के स्वतन्त्र होने का उल्लेख करते हुए बुगमन कहते हैं, 'विभिन्न भाषाओं मे विशेषण शब्द (पोस्ट पोजीशन आदि) पूर्व विरचित कारको से बहुधा ऐसे सम्बद्ध हो गये थे कि वे कारक चिह्नो में विलीन हो गये थे।'[2] डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार 'वैदिक भाषा से लेकर आधुनिक आर्य भाषाओं तक का विकास यह तथ्य उजागर करता है कि सर्वनाम-सयोजक पद्धति निरन्तर क्षीण होती गई। इस समय हिन्दी तथा अन्य आर्य भाषाएँ कारक रचना मे सर्वनाम-संयोजन से मुक्त हो चुकी है, किन्तु क्रियापद-रचना मे उस पद्धति के अवशेष काफी हैं।'[3] डॉ० शर्मा की स्थापना को उदाहरण से समझा जा सकता है। 'सीता ने रोटी खाई' वाक्य मे 'सीता ने' विश्लिष्ट रूप है। 'खाई' क्रिया मे खा+ई संश्लिष्ट रूप वर्तमान है। प्रकृति और प्रत्यय सयोग क्रिया में लक्षित है। लोकभाषाओ में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित है। भोजपुरी के 'खइले' अवधी के 'दीन्हेसि' आदि क्रियाओं मे प्रकृति-प्रत्यय का समास वर्तमान है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी परम्परा के अनुसार यह मानते हैं कि 'नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है।'[4] यदि यह सही है तो सस्कृत सश्लिष्ट और हिन्दी विश्लिष्ट भाषा है। सस्कृत और हिन्दी मे माता-पुत्री का सम्बन्ध है। यह उचित प्रतीत नही होता कि माता सयोगावस्था मे हो और पुत्री वियोगावस्था मे। वास्तव में सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काल मे साहित्यिक भाषा के साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलन में थी। लोकभाषाएँ विश्लिष्ट अवस्था मे थी। वैदिक भाषा मे कई प्रत्यय विश्लिष्ट रूप मे प्रयोग में आये है। इससे प्रकट होता है कि विश्लिष्ट लोकभाषाओं के प्रभाव से ही वैदिक भाषा मे विश्लेष के संकेत मिलते है। बाद मे विश्लिष्ट रूपो का सस्कार किया गया और वे संश्लिष्ट हो गये।

डॉ० रामविलास शर्मा के मत से 'सस्कृत के भीतर संश्लिष्ट और विश्लिष्ट

---

1. हिन्दी शब्दानुशासन—किशोरीदास वाजपेयी, पृ० 171
2. एकापरेटिव ग्रामर ऑफ द इन्डोजर्मनिक लैंग्वेजेज—ब्रुगमन, पृ० 62
3. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 116
4. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 48

रूप रचना की दोनों पद्धतियाँ काम करती हैं।'[1] हिन्दी मे भी कारक रचना सर्वनाम संयोजन से मुक्त है, किन्तु क्रिया पद्धति मे प्रकृति-प्रत्यय का समास लक्षित है।

9. भाषा के पर्याय शब्द लोक भाषा के प्रतीक हैं—प्रत्येक भाषा मे पर्याय शब्द होते हैं और उनका प्रयोग होता रहता है। पर्याय शब्दो मे ग्रेडेशन ऑफ मीनिंग (अर्थ श्रेणियाँ) उपलब्ध होता है। पर्याय शब्द अर्थ की दृष्टि से अंशतः सम्बद्ध होते हैं। अर्थ के अंश की समानता के कारण वे पर्याय है। जॉनसन का कहना है कि शब्द कभी-कभी पर्यायवाची होते हैं (Words are Seldom Synonyms)। जैसे 'दृश्' साहित्यिक सस्कृत का है तो 'पश्य' लौकिक सस्कृत का। दोनों प्रचलित है। शत के लिए 'सौ' शब्द पश्चिमी हिन्दी और 'सै' पूर्वी हिन्दी मे प्रचलित है। मानक हिन्दी ने 'सौ' को ग्रहण किया, किन्तु सैकड़ा मे सै को भी पचाया। कान्हा, कन्हैया लोकभाषा के ही शब्द है। भाषा के पर्याय शब्दो के आधार पर कहा जा सकता है कि भाषा ने लोकभाषा के सर्वाधिक शब्दो को पचाया है।

10. भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती है—मनुष्य का स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयास से अधिक से अधिक लाभ लेना चाहता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप भाषा के कठिन स्वरूप को सरल और व्यवहार-योग्य बनाने की प्रक्रिया चलती है। यह बात भाषा के इतिहास से प्रमाणित है कि सस्कृत के शब्द-युग्मो को अपभ्रंश काल मे समीकृत किया गया और हिन्दी मे उस रूप को सरल बना दिया गया। जैसे, पुत्र, पुत्त, पूत, समुद्र, समुन्दर, शाप, श्राप, स्थाली, थाली, श्मशान, मसान, आदि।

11. अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है—मनुष्य प्रत्येक क्रिया-व्यापार मे निरन्तर परिष्कार करता चलता है। इस परिष्कार की प्रक्रिया का एक स्वरूप विकास भी है। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था उतनी विकसित नही होती। इससे यह तात्पर्य नही लेना चाहिए कि वैदिक भाषा या सस्कृत अप्रौढ़ थी और हिन्दी प्रौढ है। परिवर्तनशीलता और सृजनशीलता के क्रम मे एक विशेष कालखण्ड मे विकसित भाषा की प्रथम अवस्था उतनी विकसित नही होती। जैसे प्राकृत का प्रारम्भिक स्वरूप या अपभ्रश का आदि रूप, या हिन्दी के विकास का प्रथम चरण उतना विकसित और प्रौढ़ नही था। प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी के विकास के साथ ही उनमे गठनात्मक चुस्ती और व्यजनात्मक विस्तार आया है। भारतेन्दु-युगीन भाषा का ध्वन्यात्मक और रूपात्मक गठन तथा वाक्य-विन्यास शिथिल था। उसमें अर्थ-विस्तार भी उतना नही आ सका था। किन्तु छायावाद युग की भाषा

1. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 116

इस दृष्टि से प्रौढ है।

12. **भाषा उच्चरित रूप में परिवर्तित होती है**—भाषा के उच्चरित और लिखित दोनों रूपों में परिवर्तन होता है। उसके उच्चरित रूप में परिवर्तन पहले होता है और लिखित रूप में बाद में। अँगरेजी में Daughter, Laughter, Subtle आदि के उच्चरित रूप पहले लिखित रूप के समान ही थे। आज उनका उच्चारण बदल गया है, फिर भी लिखित रूप ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

भाषा के विविध रूप

भाषा पारस्परिक संबोध और सामाजिक व्यवहार का माध्यम है। व्यक्ति और समाज की आवश्यकताएँ अनन्त होती है। समाज की जटिलता और बहुविध संरचना से भाषा के अनेक स्वरूप विकसित हुए है। विविध सामाजिक मूल्यो के फलस्वरूप विविध भाषा रूप उत्पन्न हुए है। समाज के जितने वर्ग है, उनका भाषा-वर्ग भी भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक भाषा-वर्ग की अपनी पहचान है।

फ्रांसीसी भाषाविज्ञानी द' सेस्युरे ने भाषा के तीन पक्ष माने है—व्यक्तिगत, सामाजिक और सामान्य या सर्वव्यापक। वैयक्तिक पक्ष को उन्होने पेरोल (Parole) कहा है। पेरोल अँगरेजी के स्पीच का समानार्थी है। हिन्दी मे उसे वाणी कहते है। वाणी का ग्रहणात्मक पक्ष बोध है और प्रदानात्मक पक्ष अभिव्यक्ति है। वाणी की ग्राहकता और सम्प्रदान के कारण भाषा समाज-सापेक्ष बनती है। भाषा का वैयक्तिक पक्ष भाषा का ध्वनन पक्ष है। ध्वनन होते ही भाषा का वैयक्तिक पक्ष समाप्त हो जाता है और समाज सामने आ जाता है। भाषा के समाज-सापेक्ष होते ही वाचन-श्रवण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

भाषा की सार्थकता समाज-सापेक्ष होने मे है। वक्ता का मतव्य प्रकट होते ही भाषा का वैयक्तिक पक्ष समाप्त हो जाता है और वह समाजीकृत हो जाती है। भाषा के सामाजिक स्वरूप को उन्होने 'लाँग' (Langue) कहा है। अँगरेजी मे इसे 'टंग' कहा जाता है। सामाजिक विचार-विनिमय के साधन रूप में भाषा का प्रयोग होता है। हिन्दी, बँगला, मराठी, रूसी, फ्रांसीसी आदि भाषाएँ वाणी के समाजीकृत रूप है।

सेस्युरे ने भाषा के जिस रूप को सामान्य या सर्वव्यापक कहा है, वह विश्व-भाषा है। ऐस्पेरेन्तो जैसी सायास रची भाषा इसके अन्तर्गत आती है। इसके लिए उन्होने लागाज (Langage) शब्द का प्रयोग किया है। यह भाषा मात्र यूटोपिया है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार भाषा-स्वरूप के निर्धारक चार आधार हैं—इतिहास, भूगोल, प्रयोग और निर्माता। इन आधारों पर ही भाषा विभिन्न स्वरूप ग्रहण करती है।

प्राचीन काल मे वैदिक संस्कृत प्रचलित थी। उसका विकास पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशी भाषाओ और हिन्दी के रूप मे हुआ। इस स्वरूप-भेद को ऐतिहासिक

भाषा रूप कह सकते हैं। **भौगोलिक** आधार पर भी भाषा के भिन्न स्वरूप होते हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं का पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी और मध्यवर्ती विभाजन भौगोलिक आधार पर ही हुआ है। क्षेत्रीय बोलियों, पजाबी, मराठी, गुजराती आदि भी भौगोलिक आधार पर ही भाषास्वरूप मे परिगणित है।

तत्वतः **प्रयोग** के अन्तर्गत प्रयोग-क्षेत्र, साधुता और प्रचलन के उप आधार पर जातीय भाषा, राजभाषा, अपभाषा, साधु भाषा, असाधु भाषा, साहित्य भाषा, परिनिष्ठित भाषा, प्रचलित भाषा, व्यावसायिक भाषा आदि स्वरूप उभरते हैं। **निर्माता** द्वारा रची भाषा कृत्रिम भाषा भी हो सकती है। हाँ, जिस भाषा का निर्माता समाज होता है, उसे भाषा कहते है। उसका जनाधार तथा सप्रेषण क्षेत्र व्यापक होता है।

एक भाषा का जन-समुदाय अपनी भाषा के विविध रूपो के माध्यम से एक भाषिक इकाई का निर्माण करता है। जिस क्षेत्र में भाषा के विभिन्न भाषिक रूप प्रयोग मे आते है, उसे भाषा-क्षेत्र कहते है। प्रत्येक भाषा मे बोलीगत और शैलीगत प्रभेद होते है। प्रत्येक भाषा-क्षेत्र मे तीन भाषिक स्तर दिखाई पडते है—1. व्यक्ति बोली, 2. बोली, 3. भाषा। व्यक्ति बोलियों के समूह को बोली और बोलियो के समूह को भाषा कहते हैं। जिस भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है, उसके निम्न स्तर होते है—व्यक्ति बोली, उपबोली, बोली, उपभाषा, कवि भाषा और भाषा।

भाषा के प्रमुख रूप या भेद निम्नाकित हैं—

1. मूल भाषा

भाषा का यह भेद इतिहास पर आधारित है। प्रत्येक आधुनिक भाषा की कोई-न-कोई मूल भाषा होती है। ऐतिहासिक, भौगोलिक, सास्कृतिक तथा सामाजिक आदि कारणो से मूल भाषा मे परिवर्तन होने लगता है और उससे भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ विकसित होती हैं। आधुनिक आर्य भाषाओ की मूल भाषा वैदिक संस्कृत है। उससे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देसी बोलियों तथा उपबोलियों का विकास हुआ है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

2. परिनिष्ठित भाषा या मानक भाषा

सास्कृतिक तथा अन्य कारणो से जब किसी एक क्षेत्र के भाषारूप प्रधान होकर विस्तृत रूप मे प्रचलित हो जाते है और उस भाषा को सास्कृतिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है तो उसके परिनिष्ठित या मानक रूप विकसित होने लगते हैं। इस प्रकार मानक भाषा-रूप शिक्षा, शासन और साहित्य-रचना के लिए प्रयोग मे आने लगता है। वह भाषा वृहत्तर समाज की आदर्श भाषा हो जाती है। 'परि-

निष्ठित भाषा किसी भाषा की उस विभाषा (Dialect) को कहा जाता है, जिसे साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अन्य विभाषाओं की तुलना में वरेण्यता प्राप्त हो जाती है तथा जिसे अन्य विभाषा-भाषी सामाजिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त भाषा स्वीकार कर लेते है।'[1] डॉ० श्यामसुन्दर दास उसे 'टकसाली' भाषा कहते हैं। टकसाली भाषा को परिभाषित करते हुए वे कहते है—'कई विभाषाओं मे व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट-परिगृहीत विभाषा ही भाषा (टकसाली भाषा) कहलाती है।'[2]

परिनिष्ठित भाषा का एक व्याकरण होता है और उसका व्यवहार शिक्षित जन राजकाज, शिक्षा, संस्कृति आदि के क्षेत्र में करते हैं। इस भाषा के मौखिक और लिखित दो रूप होते हैं। अपने मौखिक और लिखित दोनों रूपों में वह पार्श्ववर्ती विभाषाओं और बोलियों को प्रभावित करती है। परिनिष्ठित भाषा सांस्कृतिक एकता को सबल बनाती है।

अँगरेजी, हिन्दी, फ्रेंच, रूसी आदि परिनिष्ठित भाषाएँ हैं।

3. विभाषा (बोली)

विभाषा को अँगरेजी मे Dialect कहते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने विभाषा को परिभाषित करते हुए कहा है, 'एक प्रान्त अथवा उपप्रांत की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा विभाषा कहलाती है।'[3] मेरियो पेई के शब्दों मे 'विभाषा किसी भाषा-विशेष की एक शाखा अथवा उसका एक वरिष्ठ रूप है जिसका प्रयोग एक निश्चित भू-भाग मे होता है। उच्चारण, व्याकरण, शब्दावली आदि की दृष्टि से यह भाषा परिनिष्ठित भाषा से भिन्न होती है।× ×भाषा की अपेक्षा इसका क्षेत्र पर्याप्त सीमित होता है।'[4]

ध्यातव्य है कि विभाषा का ही एक विशेषीकृत रूप परिनिष्ठित भाषा का रूप ग्रहण करता है। हिन्दी क्षेत्र की ब्रजभाषा, राजस्थानी, अवधी आदि भाषाएँ विभाषाएँ हैं। प्रत्येक विभाषा का अपना अलग गठन एवं अस्तित्व होता है। फिर भी विभाषाओं मे परस्पर बोधगम्यता होती है। क्षेत्रीय प्रभाव के कारण भाषा मे प्रयोग होने से ही विभाषा का गठन होता है। यह संभव नहीं है कि एक विस्तृत क्षेत्र मे भाषागत प्रयोग-भेद न हो। इसलिए विभाषा मे भी भाषा का रूप-भेद

---

1. ग्लोसरी ऑफ लिंग्विस्टिक टर्मिनोलॉजी—मेरियो पेई, पृ० 258
2. भाषाविज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० 23
3. वही
4. ग्लोसरी ऑफ लिंग्विस्टिक टर्मिनोलॉजी—मेरियो पेई, पृ० 67-68

होता है । स्थान-भेद से ही क्रिया के स्वरूप में भी भेद आ जाता है । जैसे भोजपुरी मे 'हम जातबानी' कहेंगे तो ब्रजभाषा में 'जात हों' कहते है ।

4 उपभाषा

किसी विभाषा में बोलियों की संख्या अधिक हो और उसका क्षेत्र व्यापक हो तो विभिन्न बोलियो के वर्ग बन जाते हैं । उन्हे उपभाषा कहा जाता है ।

5. बोली

क्षेत्र की दृष्टि से भाषा की अपेक्षा बोली का क्षेत्र छोटा किन्तु उपबोली की तुलना में विस्तृत होता है । एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती है । बोली को ही विभाषा या उपभाषा भी कहा जाता है ।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार 'बोली से हमारा अभिप्राय उस स्थानीय या घरू बोली से है, जो तनिक भी साहित्यिक नही होती और बोलने वाले के मुख मे ही रहती है ।'[1] मेरियो पेई कहते हैं कि 'एक विशेष क्षेत्र के निम्नवर्गीय व्यक्तियो की अलिखित लोकप्रिय वाणी बोली है ।'[2] राबर्ट हाल बोली को भाषा का ही एक विभाग मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिष्ठाप्राप्त साहित्यिक भाषा के रूप को भी बोली कहते है । वह अशिक्षित, अश्लील और गँवारू भाषा नही है ।[3]

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'बोली किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते है, जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से, उस भाषा के परिनिष्ठित या अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नही कि अन्य रूपो के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र मे कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरो आदि मे कोई बहुत स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण भिन्नता नही होती ।'[4]

6. उपबोली (स्थानीय बोली)

उपबोली को अँगरेजी मे (Sub Dialect) कहते है ।

बोली से छोटा क्षेत्र उपबोली का होता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि एका-

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० 22
2. ग्लोसरी ऑफ लिंग्विस्टिक टर्मिनोलॉजी—मेरियो पेई, पृ० 196
3. इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स—रॉबर्ट हाल, पृ० 20
4. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 61

धिक समान रूप वाली व्यक्ति-बोलियों का समूह उपबोली है। राबर्ट हाल के अनुसार 'बोली के एक छोटे क्षेत्र मे प्रचलित भाषा-रूप को उपबोली कहते हैं।'[1] डॉ० भोलानाथ तिवारी के मत मे 'किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी व्यक्ति-बोलियो का सामूहिक रूप, जिनमे आपस मे कोई अन्तर न हो, स्थानीय बोली या उपबोली कहलाता है।'[2]

उपबोली में सम्पर्क की सघनता, बोधगम्यता होती है। उसका विचार-विनिमय का क्षेत्र सीमित होता है। किसी बोली-क्षेत्र के एक वर्ग-विशेष की शब्दावली, उच्चारण तथा भाषिक विन्यास भिन्न होने के कारण उपबोली की रचना होती है। उपबोली का अपना स्थानीय रग होता है। उच्चारण तथा व्याकरणिक गठन की दृष्टि मे बोली और उपबोली मे अन्तर कम होता है। फिर भी स्थानीय रग, उच्चारण आदि के कारण यह पता लगाना कठिन नही होता कि उपबोली का वक्ता किस स्थान का है। पेई ने अशिक्षित और निम्न वर्ग के लोगो से ही उपबोली का सम्बन्ध बताकर बोली और उपबोली के अन्तर को प्रकट किया है।

उपबोली को बोली की उपभाषा भी कहा जा सकता है। भोजपुरी भाषा बोली है। उसके क्षेत्रीय रूप एकाधिक है। छपरा के लोगो की भोजपुरी भोजपुर क्षेत्र की बोली से उच्चारणादि के स्तर पर भिन्न पड़ जाती है। भोजपुरी की एक उपबोली मधेसी है।

मार्टिनेट ने उपबोली को पेटवा, जनपदीय बोली अथवा स्थान-विशेष की बोली के नाम से पुकारना अधिक सगत माना है।[3]

7. व्यक्ति-बोली (ईडियोलेक्ट)

एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्ति-बोली कहा जाता है। आश्चर्य हो सकता है कि एक व्यक्ति की भाषा क्या होगी। वास्तव मे प्रत्येक व्यक्ति के निजी अनुभव और व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी अभिव्यक्ति पर होता है। इस व्यक्तिगत प्रभाव के कारण एक भाषा क्षेत्र मे जितने व्यक्ति रहेगे, उतनी ही व्यक्ति-बोलियाँ होंगी। यह उक्ति प्रचलित है कि 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, शुण्डे-शुण्डे सरस्वती।' यही कारण है कि हिन्दी के अनन्य साहित्यकार जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द की भाषा में अन्तर है, जिससे उनकी अलग पहचान बनती है। यह अन्तर उनके

---

1 इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स—राबर्ट हाल, पृ० 20
2. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 60
3. डाइलेक्ट—रोमान्स फिलोलॉजी—मार्टिनेट, पृ० 1

व्यक्तित्व के कारण है ।

ध्वनि के स्तर से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति जिस तरह बोलता है, उस तरह दूसरा व्यक्ति नही बोलता । उनके उच्चारण मे एकरूपता नही होती । यह भी है कि एक ध्वनि को कोई भी व्यक्ति दुबारा उच्चरित नही कर सकता । दूसरी बार उसी ध्वनि का उच्चारण करने पर कुछ-न-कुछ अन्तर आ ही जायेगा । राबर्ट ए० हाल के अनुसार 'प्रत्येक व्यक्ति का भाषा-स्वभाव दूसरे के भाषा-स्वभाव से भिन्न होता है ।'[1] इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की बोली दूसरे से भिन्न होती है । भिन्नता का कारण भाषा-सस्कार, स्वभाव तथा उच्चरित वाक्यो की भिन्नता है । किन्तु यह भिन्नता अत्यन्त सूक्ष्म होती हे । यदि उच्चारण या व्यक्ति की बोली में अन्तर आ जाय तो सामाजिक व्यवहार समाप्त हो जाएगा और भाषा की प्रेषणीयता समाप्त हो जाएगी । किन्तु ऐसा होता नही है । इस कारण व्यक्ति-बोली या दुबारा उच्चारण मे अन्तर होने के बावजूद उसमे पृथकता का विधान नही होता ।

स्वभाव के फलस्वरूप अभिव्यक्ति मे हुए अन्तर तथा शैलीगत विभेद के आधार पर व्यक्ति-बोली की धारणा प्रकाश मे आई है । व्यक्ति-बोली को सेस्युरे Parole कहते है । इसे वे सदेश-प्रेपणार्थ एक व्यक्ति के भाषिक प्रयोग के रूप में मानते है । मेरियो पेई के अनुसार 'व्यक्ति-बोली व्यक्ति की आदत और शब्दो के चयन सम्बन्धी वैशिष्ट्य के साथ भाषा का वैयक्तिक प्रयोग है ।'

व्यक्ति के उच्चारण, भाषिक विन्यास, स्वभाव आदि के आधार पर व्यक्ति-बोली की कल्पना की गयी है ।

8. अपभाषा

अपभाषा को 'स्लैंग' कहते है । अनार्ष, व्याकरण-विरुद्ध अश्लील प्रयोगो को अपभाषा कहते हैं । डॉ० भोलानाथ तिवारी परिनिष्ठित भाषा की तुलना मे विकृत या अपभ्रष्ट भाषा को अपभाषा मानते है । इतनी बात तो है कि अपभाषा का प्रयोग शिष्ट जन-समुदाय मे नही होता । इसमे स्वीकृत आदर्शो की अवहेलना होती है । अपभाषा के शब्दो का प्रयोग विधि-रहित या अर्थापकर्षक होता है । कुछ लोग लाक्षणिक प्रयोगो को भी इसी के अन्तर्गत रखते हैं । अपभाषा के प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे वक्ता के मानस का जीवन्त स्वरूप प्रस्तुत होता है ।

पतजलि ने ब्राह्मणों और विद्वानों के लिए म्लेच्छ भाषा और अपभाषा का

---

1 इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स—राबर्ट ए० हाल पृ० 19

प्रयोग वर्जित करते हुए कहा है—'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै ।'

व्याकरणिक नियमो की उपेक्षा से अपभाषा का निर्माण होता है। जैसे, 'मैंने तेरे को बोल दिया न?' 'टईल' आदि शब्द किसी व्याकरणिक नियम से सिद्ध नहीं हैं।

अभद्र भाषा-प्रयोग में भी अपभाषा प्रचलित होती है—'ओ बे कुत्ते की दुम' 'भोसड़ा' 'बाप का घर समझ लिया है' आदि।

लोकोक्तियो और अपरिष्कृत वाक्रूपो मे भी अपभाषा प्रयोग होते है, जैसे भूसी निकाल दूँगा, जहन्नुम रसीद करा दूँगा, धसा दिया, बाप न मारी मेढ़की बेटा तीरन्दाज, बाप के नाम साग-पात पूत के नाम परोरा (परवल)।

अपभाषा का प्रयोग अभद्र और अशिक्षित व्यक्तियो द्वारा किया जाता है। समवयस्को मे भी अपभाषा चलती है। ऐसे भाषा-प्रयोग से प्रयोक्ता की चरित्रगत और सांस्कृतिक स्तरीयता का पता चलता है। विनोद, उच्छृखलता आदि की स्थिति भी अपभाषा-प्रयोग की प्रेरणा देती है।

हाल ने अपभाषा के लिए टैबू (Taboo) शब्द का प्रयोग किया है।[1]

9. विशिष्ट भाषा

भाषा समाज-सापेक्ष होती है। समाज मे विभिन्न व्यवसायो से जुड़े लोग होते है। अपने व्यवसाय की शब्दावली अनायास ही उनकी भाषा मे आ जाती है। भाषा की सरचना तो उसकी प्रकृति के अनुरूप होती है, किन्तु व्यवसाय की विशेषताओं को ध्वनित करने वाली शब्दावली उसमे जुड जाती है। गाँव के पंडित की भाषा पंडिताऊ होती है, काजी की भाषा उर्दू मिश्रित। पढे-लिखे लोगों की भाषा मे अनायास ही अँगरेजी शब्दो का प्रयोग हो जाता है। इसी प्रकार, बढ़ई, लुहार, धोबी, दर्जी, वकील, डाक्टर की भाषा मे व्यावसायिक शब्दावली का प्रयोग होता है। कबीर की भाषा मे जुलाहे की भाषा स्पष्ट हो जाती है—'झीनी-झीनी बीनी चदरिया।' कचहरी की भाषा अलग ही होती है। किसान और प्राध्यापक की भाषा का अन्तर भी इसी रूप मे व्याख्येय है।

जाति, शिक्षा, व्यवसाय, आयु, लिंग आदि के आधार पर भी भाषा की भिन्नता का विवेचन किया जा सकता है।

जातिगत आधार पर भी भाषारूप की भिन्नता पहचानी जा सकती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय की भाषा चमारो की भाषा से भिन्न होती है।

महादेव एल० आप्टे ने प्रतिपादित किया है कि 'मराठी मे मराठी ब्राह्मणो की मराठी एव गैर ब्राह्मणो की मराठी मे अन्तर है, किन्तु नगरो में रहने वाले शिक्षित

1. इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स—राबर्ट हाल, पृ० 10

गैर ब्राह्मण भी मानक मराठी का प्रयोग करते हैं।'[1]

प्रबोधचन्द्र बेचरदास पंडित ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'प्राय. शिक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण होती है। शिक्षित व्यक्ति के भाषिक रूप अशिक्षित व्यक्ति के भाषिक रूपों से भिन्न होते है।'[2] गाँव के किसान की भोजपुरी भाषा और शहर मे रहने वाले शिक्षित व्यक्ति की भोजपुरी मे अन्तर होता है। शिक्षित व्यक्ति संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव तथा अँगरेजी शब्दों का प्रयोग अधिक करते है।

10. कूट भाषा

भाषा का एक रूप गोपनीयता अथवा मनोरंजन के लिए भी प्रयोग मे आता है। जरायम पेशा वाले, तस्कर-व्यापारी, क्रांतिकारी आदि गुप्त भाषा का प्रयोग करते है। गुप्त भाषा मे स्वीकृत अर्थ से भिन्न अर्थ मे शब्दो का प्रयोग किया जाता है। बैरगिया नाला पर रहने वाले तीन चोरो की कथा प्रसिद्ध है। वे आदमी नजर आने पर नारायण कहते थे। दामोदर, वासुदेव के अर्थ क्रमश. पैसे वाला है और बाँस मारो आदि होते थे। क्रांतिकारियो मे 'कमल' शब्द का निश्चित अर्थ होता था। गुप्त भाषा सांकेतिक होती थी और उसके अर्थ निश्चित होते थे, जो प्रचलित अर्थ से भिन्न होते थे।

सेना मे भी गोपनीयता के लिए कूट भाषा का प्रयोग होता है।

11 कृत्रिम भाषा

भाषा का कृत्रिम रूप उसके सहज रूप के विरोध मे है। चिन्तन-मनन के बाद गढकर बनाई गयी भाषा कृत्रिम भाषा होती हैं। एस्पेरान्तो, एस्पेरान्तिदो, इडो भाषाएँ कृत्रिम भाषाएँ हैं। जामेन हाफ ने 1887 ई० मे एस्पेरान्तो भाषा का प्रचलन किया था। सेस्यूर महादेव ने एस्पेरान्तो मे कुछ सुधार करके एस्पेरान्तियो की रचना की। भारत मे सत्यभक्त जी ने इसी प्रकार की कृत्रिम भाषा की रचना की है।

कृत्रिम भाषा भावात्मक प्रक्रिया को उत्पन्न करने में अक्षम होती है।

12. मिश्रित भाषा

जहाँ अनेक भाषा-भाषी व्यापारिक या किसी अन्य उद्देश्य से एकत्र होते हैं,

---

1. इंडियन लिंग्विस्टिक्स—महादेव एल० आप्टे, पृ० 5-25
2. वही—24—प्रबोधचन्द्र बेचरदास पंडित, पृ० 70-80

वहाँ एक मिश्रित भाषा बन जाती है। इस भाषा में विविध भाषाओं की शब्दा-वली का मेल हो जाता है। बन्दरगाहों या अंतरराष्ट्रीय नगरों और मंडियों में इस प्रकार की भाषा विकसित हो जाती है। इसका उदाहरण भूमध्य सागर के बन्दर-गाहों में बोली जाने वाली सबीर भाषा है, जिसमें फ्रांसीसी, स्पेनी, इतालवी, ग्रीक, अरबी आदि का मिश्रण है। पिजिन और क्रिओल मिश्रित भाषा के दो विशिष्ट रूप होते हैं।

13. राष्ट्रभाषा

वह भाषा जो प्रयोग के आधिक्य के कारण देश के अधिकांश भागों में बोली जाती है, राष्ट्रभाषा कहलाती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'वही राष्ट्रभाषा कहला सकती है, जिसको सब जनता समझती हो और जिसका अस्तित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो।'[1] काका कालेलकर कहते हैं कि 'राष्ट्रभाषा को हम और भी कई नाम देंगे। उसको सबकी बोली कहेंगे, कौमी जबान कहेंगे, हृदय की भाषा कहेंगे, स्नेहभाषा या ऐक्य भाषा कहेंगे और सबसे बढ़कर स्वराज्य भाषा कहेंगे।'[2] डॉ० हरदेव बाहरी के शब्दों में 'जो भाषा थोड़ी-बहुत सारे राष्ट्र में बोली और समझी जाती है, वह अपने इसी गुण से राष्ट्रभाषा होती है।'[3]

राष्ट्रभाषा राष्ट्र की प्रतिनिधि भाषा होती है। वह अधिकांशतः सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता के द्वारा बोली और समझी जाती है। राष्ट्रभाषा के साथ हमारा भावात्मक सम्बन्ध होता है। वह राष्ट्र की भावात्मक एकता का माध्यम होती है। राष्ट्रगौरव और सांस्कृतिक चेतना का स्वरूप राष्ट्रभाषा में ही झलकता है। वह प्रादेशिक इकाइयों के बीच अभिव्यक्ति, सम्पर्क और संवाद का माध्यम होती है। राष्ट्रभाषा में राष्ट्र का विश्वास ध्वनित होता है।

भारत की राष्ट्रभाषा खड़ी बोली हिन्दी है। वह लोक समुदाय के व्यवहार की भाषा है तथा वैज्ञानिक पद्धति से देवनागरी लिपि में लिखी जाती है।

मेरियो पेई राष्ट्रभाषा को राजभाषा के समकक्ष स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि राष्ट्रभाषा का प्रयोग सरकारी दस्तावेजों में होता है। सामान्यतः यह भाषा साहित्यिक भाषा से मेल खाती है।[4]

---

1. राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० 54
2. राष्ट्रभारती—काका कालेलकर, पृ० 9
3. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप— डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 224
4. ग्लोसरी ऑफ लिंग्विस्टिक टर्मिनोलॉजी —मेरियो पेई, पृ० 177

14.

जैसाकि कहा गया है मेरियो पेई राष्ट्रभाषा और राजभाषा मे कोई अन्तर नही मानते। राजभाषा राजकाज में प्रयुक्त होने वाली भाषा है। केन्द्रीय और राज्य सरकारो द्वारा राजकाज के लिए इस भाषा का प्रयोग किया जाता है। यह राष्ट्र की विविध इकाइयों के बीच सम्पर्क भाषा का कार्य भी करती है। केन्द्र द्वारा स्वीकृत राजभाषा और सम्पर्क भाषा हिन्दी है। हिन्दी को सविधान से यह पद प्राप्त है।

भाषा और बोली

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भाषा और बोली मे कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नही होता। भाषिक संरचना और व्याकरणिक गठन की दृष्टि से दोनो समान हैं। भाषा, वास्तव मे, बोली का ही विकसित रूप हुआ करती है। भाषा का प्रयोग-क्षेत्र व्यापक है, जबकि बोली का प्रयोग एक सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत होता है। एक व्यापक भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं। अलग-अलग जातियो द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों में कुछ विभेदक स्वरूप के साथ भाषा का प्रयोग होता है। स्थान और समाज की भेदकता से भाषा के इसी रूप को बोली कहा जाता है। इसलिए भाषा और बोली के बीच विभाजक रेखा खीचना कठिन है। भाषा और शास्त्रीय विवेचन के लिए दो अलग नाम है।

एडवर्ड सपीर यह मानते हैं कि 'भाषविद् के लिए बोली और भाषा में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है।'[1]

एल० एच० ग्रे के अनुसार 'बोलियों या भाषाओं में विभाजक रेखा खींचना असभव है। अपने-अपने सीमान्तों पर ये एक-दूसरे से अदृष्ट रूप मे घुली-मिली रहती है।'[2]

मेरियो पेई ने भाषा और बोली का विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'भाषा और बोली में कोई तात्त्विक अन्तर नही है। भाषा अपने मूल रूप मे एक बोली ही होती है। किसी विशेष कारण से जब बोली प्रमुखता प्राप्त कर लेती है, तब वही भाषा बन जाती है। वास्तव मे इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है। यहाँ तक कि एक भाषाविद् भी इस प्रश्न का उत्तर देने से कतराता है।'[3]

इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा और बोली में कोई तात्त्विक अन्तर नही होता। भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है और बोली का सीमित। एक भाषा में कई बोलियाँ होती हैं। इन बोलियो मे क्षेत्रीय अन्तर होने पर भी बोधगम्यता वर्तमान रहती है। विभिन्न भाषाओ मे यह बोधगम्यता नही होती।

फिर भी भाषा और बोली के निम्नाकित अन्तर रेखांकित किए जा सकते हैं—

---

1. सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ एडवर्ड सपीर, पृ० 83
2. फाउन्डेशन ऑफ लैंग्वेज—एल० एच० ग्रे, पृ० 26
3. दी स्टोरी ऑफ लैंग्वेज—मेरियो पेई, पृ० 26

1. **समान तत्त्व**—भाषा और बोली के भाषातत्त्व समान होते हैं। ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य तथा अर्थ की समानता के बावजूद भाषा और बोली मे इसी स्तर पर कुछ असमानता भी होती है। यही भाषा और बोली की भेदकता है। इसके बावजूद बोली के भाषातत्त्व भाषा मे भी प्रयोग मे आते है तथा भाषा के तत्त्व बोली मे ग्रहण किए जाते है। 'बोलियो से पृथक् भाषा कोई चीज नही है। बोलियो से इतर जिस भाषिक रूप को सामान्य व्यक्ति भाषा के नाम से अभिहित करते है, वह भाषा नही, अपितु उस भाषा-क्षेत्र की किसी क्षेत्रीय बोली के आधार पर विकसित परिनिष्ठित भाषा होती है।'[1]

2. **सम्पर्क की मात्रा**—भाषा का सम्पर्क-क्षेत्र व्यापक होता है। इस विस्तृत क्षेत्र के लोग भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय करते है। बोली का सम्पर्क क्षेत्र सीमित होता है। सम्पर्क-क्षेत्र का आधार भाषा और बोली के स्वरूप को निर्धारित करता है। बोली की व्यापकता सीमित क्षेत्र तक होती है, जबकि भाषा की व्यापकता विस्तृत होती है। हिन्दी भाषा का सम्पर्क-क्षेत्र सम्पूर्ण भारत ही है, जबकि ब्रजभाषा, अवधी या भोजपुरी का सम्पर्क-क्षेत्र सीमित है।

3. **विस्तार-क्षेत्र**—बोली और भाषा का महत्त्वपूर्ण भेदक तत्त्व प्रयोग-क्षेत्र है। भाषा व्यापक स्तर पर अभिव्यजन का आधार होती है, जबकि बोली का व्यापक क्षेत्र मे प्रयोग नही होता। 'प्रकृति और प्रकार्यता की दृष्टि से एक होते हुए भी क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से दोनो भिन्न है।'[2] हिन्दी क्षेत्र उनके भाषा-समुदाय का क्षेत्र है। ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियाँ है, जिनका विस्तार सीमित है।

4. **विचार-विनिमय की सघनता**—क्षेत्र सीमित होने के कारण बोली मे विचार-विनिमय की सघनता मिलती है, जबकि भाषा का क्षेत्र विस्तृत होने से वह सघनता लक्षित नही होती।

5. **साहित्य-निर्माण**—भाषा मे विपुल साहित्य-रचना होती हैं। बोलियो मे आचलिक साहित्य का ही निर्माण होता है। गुणवत्ता और सख्या की दृष्टि से भाषा का साहित्य बोली की अपेक्षा न्यून होता है।

6. **व्याकरणिक दृष्टि**—भाषा व्याकरणिक नियमो से परिचालित होती है। व्याकरणिक सस्कार और प्रयोग-बहुलता के कारण भाषा परिनिष्ठित होती है। जबकि बोली में व्याकरणिक नियमों का पालन कठोरता से नही होता। उसका रूप भी उतना परिनिष्ठित नही होता।

---

1. भाषा एवं भाषाविज्ञान—डॉ० महावीर सरन जैन, पृ० 58
2. नवीन भाषाविज्ञान—डॉ० तिलकसिंह, पृ० 49

बोली से भाषा बनने के कारण

भाषा और बोली मे तात्त्विक अन्तर नही होता। प्रयोग-क्षेत्र की सीमा की भेदकता के आधार पर ही उनका अन्तर समझा जा सकता है। जब बोली का प्रयोग-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उसमे अन्य संस्कार आ जाते है तो बोली भी भाषा बन जाती है। यातायात की सुविधा, सचार-संवहन तथा विस्तृत क्षेत्र और विशाल जन-सम्पर्क के परिणामस्वरूप बोली में परिवर्तन आने लगते है। भाषा-निर्माण की प्रक्रिया का विकास होने लगता है। क्षेत्रीय सीमा सक्रमित होने लगती है। व्यापारिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक तथा शैक्षिक विकास के फलस्वरूप बोलियाँ भाषा का रूप ग्रहण कर लेती हैं। हिन्दी, अँगरेजी आदि भाषाएँ भी बोलियाँ थी, किन्तु उपर्युक्त कारणो से ये भाषा के रूप मे परिवर्तित हो गयी।

अन्य भाषाओं के सम्पर्क मे आने पर अन्य सहयोगी भाषाओं के शब्द-भण्डार और व्याकरणिक स्वरूप को आत्मसात् करने की क्षमता का विकास जब बोली मे हो जाता है तो उसका सम्पर्क-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और वह परिनिष्ठित रूप ग्रहण करने लगती है। बोली के भाषा-रूप मे परिवर्तित होने के निम्न कारण हैं—

1. **राजनीतिक संरक्षण**—राजनीतिक सरक्षण बोली को भाषा-रूप मे परिवर्तित करने का प्रमुख कारण होता है। क्षेत्रीय बोली राजनीतिक सरक्षण से अपने क्षेत्र का विस्तार करती है और जनसाधारण के प्रयोग मे आकर भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। खड़ी बोली प्रारंभ मे क्षेत्रीय बोली थी, किन्तु राजनीतिक आश्रय ग्रहण कर वह आज राजभाषा और राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गई है।

2 **धार्मिक प्रचार का माध्यम**—धार्मिक प्रचार-प्रसार का माध्यम बन जाने पर बोली भाषा का रूप ले लेती है। बोली का क्षेत्रीय स्वरूप धार्मिक प्रचार से विस्तृत हो जाता है और वह विशाल जन-समूह के विचार-विनिमय का साधना हो जाती है। कृष्ण के चरित की व्यजना करने वाली ब्रजबोली मध्यकाल मे ब्रजभाषा हो गई। रामकथा का गान करने के कारण अवधी भाषा रूप मे ग्राह्य हो गई। पोपवाद का आश्रय पाकर रोम की बोली का क्षेत्र विकसित हो गया और यह भाषा बन गई।

3. **साहित्य-रचना**—साहित्य का निर्माण हो जाने से बोली का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, क्योंकि साहित्य बडे समुदाय द्वारा जाना-समझा जाता है। ऐसी स्थिति मे बोली का प्रयोग व्यापक भाषा-क्षेत्र मे होने लगता है। ब्रजबोली सूरदास और अन्य अष्टछाप कवियों की काव्य-रचना के कारण भाषा के रूप मे प्रचलित हुई। तुलसी, जायसी आदि की साहित्य-रचना ने अवधी को भाषा का गौरव दिया।

विद्यापति की पदावली का संस्पर्श पाकर मैथिली को भाषा की मर्यादा प्राप्त हुई है। कबीर ने भोजपुरी को भाषा बना दिया। साहित्य-रचना से बोली उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण होकर भाषा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

4. **सामाजिक स्तरीकरण**—भाषा समाज से सबद्ध है। समाज जब बोली को शिक्षा, साहित्य तथा धार्मिक विचार-विनिमय के साधन रूप मे स्वीकार कर लेता है तो उसमें व्याकरणिक गठन आ जाता है और उसका स्तर उच्च हो जाता है। खड़ी बोली शिक्षा, सस्कृति आदि के प्रचार-प्रसार का साधन बनकर स्तरीय हुई और राष्ट्रभाषा बन गई। पहले बोली का ही समाज मे प्रयोग होता है, बा॰ मे स्तरीयता का विकास होने पर वह भाषा-रूप मे ग्राह्य होती है।

5. **व्यापारिक कारण**—व्यापारिक विचार-विनिमय के साधन रूप मे प्रयुक्त बोली भी क्षेत्र-विस्तार के कारण भाषा-रूप मे बदल जाती है। व्यापारिक सम्बन्धो के कारण ही इग्लैण्ड की बोली अँगरेजी देश, विदेश और विश्व-भाषा रूप मे ग्राह्य हुई है। व्यापारिक सम्बन्धो के प्रभाव से बोली का प्रयोग व्यापक क्षेत्र मे होने लगता है।

भाषा-परिवर्तन के कारण

भाषा सदा-सर्वदा परिवर्तनशील है। भाषा के दोनों रूपों—लिखित और मौखिक—मे परिवर्तन की प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। एक कालावधि मे भाषा-रूपों मे एकरूपता होती है। एकरूपता से अभिव्यंजना में गतिरोध उत्पन्न होता है और भाषा की संप्रेषण-क्षमता क्षीण हो जाती है। अभिव्यजना के गतिरोध को तोड़ने तथा संप्रेषण की क्षमता की अभिवृद्धि के लिए भाषा मे निरंतर परिवर्तन होते रहते है। परिवर्तन की प्रक्रिया विकासमूलक होती है, ह्रासमूलक नही। इसलिए भाषा का परिवर्तन भाषा का विकास या विस्तार है। वैदिक सस्कृत से संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक आर्य भाषाओ का स्वरूप न केवल भाषा के परिवर्तन, वरन् उसके विकास का सूचक है। भाषागत परिवर्तन एक दिन मे नही होता। प्रतिपल परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। देश-काल-भेद से भाषा-परिवर्तन के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि कारण हो सकते हैं।

भाषा मे परिवर्तन कहने से तात्पर्य ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ मे परिवर्तन है। इस क्रम मे कुछ ध्वनियो का लोप और कुछ का आगम होता है। शब्द के स्वरूप बदलते है और उनकी अर्थक्षमता को नया बोध मिलता है। नयी वाक्य-संरचना से संप्रेषण को अधिक मुखरता दी जाती है।

भाषा-परिवर्तन अनवरत प्रक्रिया है। अतः अति प्राचीनकाल से ही भाषा के स्वरूप-विकास पर आचार्यों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि, कैयट, वामन, भट्टोजि दीक्षित, नागेश भट्ट आदि आचार्यों ने अपने विचारों से भाषा-परिवर्तन को रेखांकित किया है। पाश्चात्य विचारकों मे डैनिश विद्वान् जे० एच० ब्रेड्स डॉर्फ का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने पहली बार सन् 1821 ई० मे ध्वनि-परिवर्तन के कारणों का उल्लेख किया। उन्होंने अपनी लघु पुस्तिका 'ऑम आर्साजिर्नेतिल स्पोर्जेनैस फोरान्द्रिनजेर' मे भाषा-परिवर्तन के सात कारण बताये है—1. सुनने में त्रुटि अथवा समझने मे त्रुटि (Mishearing or misunderstanding), 2. पुनर्स्मरण मे त्रुटि Mis-recollection), 3. आवयविक अपूर्णता (Imperfection of Organs), 4. आलस्य (Indolence), 5. सादृश्य की प्रवृत्ति (Tendency towards analogy), 6 विशिष्ट होने की आकांक्षा (Desire to be distinct), 7. नये विचार अभिव्यक्त करने की इच्छा (Desire to express new ideas)।[1]

---

1. लैंग्वेज : इट्स नेचर, डेवेलॉपमेंट एण्ड ओरिजिन—ऑटोजेस्परसन, पृ० 70

स्तुतेवाँ, येस्परसन, होनिग्सवाल्ड आदि विद्वानों ने भी भाषा-परिवर्तन के कारणो पर विचार किया है।

भाषा के परिवर्तन के कुछ कारण तो भाषा मे ही विद्यमान होते है। भाषा के मूल से सबद्ध होने के कारण इन्हे **मौलिक कारण** कहा जाता है। भाषा की आतरिक प्रकृति से सबधित होने के कारण इन्हे **अभ्यंतर कारण** भी कहते है। वक्ता का शारीरिक वैशिष्ट्य, अनुकरण की प्रवृत्ति, उच्चारण प्रक्रिया, अर्थबोध, मानसिक स्तर आदि का सम्बन्ध भाषा की आतरिक प्रकृति से है। अभ्यंतर कारण के अंतर्गत इन पर विचार किया जाता है।

भाषा परिवेश-सापेक्ष होती है। सामाजिक परिवेश तथा अन्य परिस्थितियाँ भी भाषा-परिवर्तन का कारण होती हैं। इन्हे **बाहरी या बाह्य कारण** कहा जाता है। भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व्यापारिक, धार्मिक आदि परिस्थितियो को भाषा-परिवर्तन का बाह्य कारण माना जाता है।

अभ्यंतर कारण

अभ्यंतर कारणो का सम्बन्ध भाषा की प्रकृति और वक्ता की मानसिकता से होता है। भाषा की प्रकृति और वक्ता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप भाषा मे निहित परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारभ होती है। अभिव्यक्ति की सरलता तथा सप्रेषण की सुविधा के लिए भाषा की प्रकृति और वक्ता की प्रकृति के फलस्वरूप भाषा के स्वरूप मे परिवर्तन होता है। अभ्यंतर कारण निम्नाकित है—

1 **प्रयत्न-लाघव**—प्रयत्न-लाघव का शाब्दिक अर्थ है प्रयत्न की लघुता, प्रयत्न की संक्षिप्तता, प्रयास की सरलता। अर्थात् शब्दो का इस प्रकार उच्चार किया जाय कि कम-से-कम प्रयत्न मे अपेक्षित अर्थ की प्राप्ति हो जाय। मनुष्य कम-से-कम प्रयत्न से अधिकाधिक लाभ लेना चाहता है। शार्टकट से वह गन्तव्य तक जल्दी पहुँच जाना चाहता है। शार्टकट की प्रवृत्ति भाषा मे भी दृष्टिगत होती है। सांख्य तत्त्व कौमुदी मे इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ कोविद्वान् यत्नमाचरेत्।

प्रयत्न-लाघव मे वक्ता उच्चारण करते समय शब्द के स्वरूप को उच्चारण-सुकर बना लेता है। इसीलिए यह उच्चारण-सौकर्य भी है। सुकरता से सरलता आती है।

भाषा का विश्लिष्ट हो जाना प्रयत्न-लाघव का ही परिणाम है। इससे प्रकट होता है कि वैदिक काल में भी लघु प्रयत्न से भाषा को अधिक सप्रेष्य, संबोध्य और सार्थक बनाने की प्रवृत्ति और परम्परा रही है। डॉ० भोलानाथ तिवारी की

मान्यता है कि 90 प्रतिशित शब्दों के परिवर्तन का दायित्व प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति को है।

प्रयत्न-लाघव के अंतर्गत तत्सम शब्दों की संयुक्तता समाप्त कर उसे सरल बना दिया जाता है। प्राइस्ट्समैन को पैटमैन, स्टेशन को टेसन, गोविन्द को गोबिन, आलक्तक को आलता, उपाध्याय को ओझा, चतुर्वेदी को चौबे, शुक्ल दिवस को सुदी, द्विवेदी को दुबे, न्यूज पेपर को पेपर, टेलीफोन को फोन, पोस्टकार्ड को कार्ड कहना प्रयत्न-लाघव का ही परिणाम है।

'बीबीजी' के बदले 'बीजी', मास्टर साहब के बदले 'मास्साब', मार डाला के स्थान पर 'माड्डाला', पंडितजी के बदले 'पंडीजी' प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से ही कहा जाता है। डी० एम०, एम० ए०, बी० ए०, यू० एन० ओ, भेल, बिस्को मान यू० के० जैसे संक्षिप्त उच्चार प्रयत्न की लघुता के उदाहरण हैं।

जाओ, बैठो, आओ, गया, देख लूँगा, बहादुर है आदि व्याकरणिक कथन आंशिक होने पर भी सहज ही अनुमेय हो जाते है, क्योंकि प्रसंग के कारण छोड़े अंश का पता चल जाता है।

डॉ० रामविलास शर्मा प्रयत्न-लाघव को 'मानसिक आलस्य' कहते हैं। इसी को प्रकारान्तर से व्यक्त करते हुए आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा कहते हैं, 'प्रयत्न-लाघव आलस्य की सम्मानित संज्ञा है। आलस्य के बदले प्रयत्न-लाघव से गंभीरता टपकती है।'[1] लेकिन यह संज्ञा उचित नहीं लगती। लघु प्रयत्न में अभीष्ट अर्थ के ध्वन की प्रवृत्ति आलस्य का परिणाम नहीं है।

2 मुख-सुख—प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि कम-से-कम कष्ट से अपनी बात कह दे। कम कष्ट होने से सुख मिलता है। यह सुख कभी लाघव से मिलता है और कभी दीर्घीकरण से। मुख-मुख उच्चारण की सुविधा है। यह सुविधा या सुख संक्षेपीकरण से भी सुलभ है और विस्तार से भी। अतः मुख-सुख और प्रयत्न-लाघव एक नहीं है।

ह्विटने प्रयत्न-लाघव और मुख-सुख को एक बताते हुए कहते हैं—To make things easy to our organs of speech, to economise time and effort in the work of expression.[2]

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार 'प्रयत्न-लाघव को मुख-सुख भी कहते हैं।'[3] डॉ० भोलानाथ तिवारी भी मानते हैं कि प्रयत्न-लाघव को मुख-सुख भी कहते

---

1. भाषाविज्ञान की भूमिका—आ० देवेन्द्र नाथ शर्मा, पृ० 87
2. लैंग्वेज : इट्स नेचर, डेवेलॉपमेन्ट ऐण्ड ओरीजिन—ऑटो यस्पर्सन, पृ० 261
3. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 99

हैं।[1] यह मान्यता समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रयत्न-लाघव में श्रम बचाने का प्रयास होता है। इस कारण भाषिक रूपो को लघु रूप, संक्षिप्त रूप देने की प्रवृत्ति ही प्रयत्न-लाघव के मूल मे है। जबकि मुख-सुख मे मौखिक उच्चारण के फलस्वरूप सुख पाने की प्रवृत्ति प्रधान होती है। यह सुख शब्दो को संक्षिप्त रूप देकर भी मिलता है और उन्हे विस्तृत रूप देकर भी। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने प्रयत्न-लाघव के उदाहरण-रूप मे 'कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किसन' स्काउट का इस्काउट उल्लेख किया है। कृष्ण या स्काउट से जिन रूपो का निर्देश किया गया है, वे लघु रूप नही है। इनमे संक्षिप्तता नहीं है। प्रयत्न-लाघव मे संक्षिप्तता अनिवार्य है, जबकि लाघव और रूप-विस्तार या दीर्घीकरण दोनों से उच्चारगत सुख-सुख मिलता है। अतः मुख-सुख और प्रयत्न-लाघव को एक मानना उचित नही है।

आगम, लोप, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, विकार, स्वर भक्ति आदि प्रक्रियाएँ मुख-सुख के अतर्गत आती हैं।

क. आगम—संयुक्ताक्षरो के उच्चारण मे सुविधा के लिए स्वरों की सहायता ली जाती है। इस क्रम मे शब्द मे नयी ध्वनि का **आगम** होता है। आदि, मध्य और अत्य आगम के स्थान है।

आदि—स्टेशन>इस्टेशन, स्थिर>अस्थिर, स्तुति>अस्तुति, स्थायी> अस्थायी।

मध्य—मर्म>मरम, धर्म>धरम, कर्म>करम, पूर्व>पूरब, कृपा> किरिपा।

अंत—वधू>वधूटी।

ख. लोप—स्थाली>थाली, शूर्प>सूप, अनाज>नाज, भाण्डागार> भाण्डार, एकादश>ग्यारह, शहतूत>तूत, शिला>सिल, ज्येष्ठ>जेठ, श्रेष्ठ> सेठ स्थल>थल, दुग्ध>दूध, श्मशान>मसान, स्टेशन>टेसन।

ग विकार—एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि में बदल जाना विकार है। कृष्ण> कान्हा, कान्ह शाक>साग, स्तन>थन, हस्त>हाथ, मेघ>मेह।

घ विपर्यय—वर्णो का क्रम उच्चारण मे उलट जाना विपर्यय है। वागिन्द्रियो की अक्षमता, बोलने में तेजी आदि से वर्णों का क्रम उलट जाता है। अमरूद> अरमूद, आदमी>आमदी, बूड़ना>डूबना, पिशाच>पिचास, वस्तु>बतुस, पहुँचना>चहुँपना, ह्रद>दह, अम्लिका>इमली, वाराणसी>बनारस।

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 50

ङ समीकरण—दो ध्वनियों का निकट रहने से सम हो जाना समीकरण है। पुत्र >पुत्त, जगत्नाथ >जगन्नाथ, पत्र >पत्ता, चक्र >चक्का, शर्करा >शक्कर, कलक्टर >कलट्टर, नील >लील, रात-दिन >राद्दिन, भात-दाल >भाद्दाल।

च. विषमीकरण—दो समान ध्वनियों मे से एक का रूप-परिवर्तन विषमीकरण है। कंकण >कंगन, प्रकट >प्रगट, मुकुट >मउर, काक >काग।

छ. स्वर भक्ति—संयुक्त वर्णो के उच्चारण की असुविधा को मुख-सुख के लिए दूर करने के क्रम में स्वर ले आना स्वर भक्ति है। व्रत >बरत, मूर्ति > मूरत, स्मरण >सुमिरन, प्राण >परान, कर्म >करम, राजेन्द्र >राजिन्दर।

इनके अतिरिक्त घोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, आदि के द्वारा भी शब्दों का रूप परिवर्तित हो जाता है।

3. अनुकरण की अपूर्णता—मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है। अनुकरण से वह समाज से बहुत कुछ सीखता है। भाषा के विकास में अनुकरण की प्रवृत्ति का बहुत बड़ा योगदान है। कभी-कभी सुनने मे त्रुटि होने से सही अनुकरण के स्थान पर अपूर्ण उच्चारण का अनुकरण हो जाता है। अनुकरण की अपूर्णतावक्ता और श्रोता दोनों के दोष से हो सकती है। वक्ता की अपूर्णता का निर्देश करते हुए अग्निपुराण में कहा गया है—

न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः।
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति।

अर्थात् विकृत मुखवाले, लम्बे ओठवाले, अज्ञानी, नाक से बोलने वाले, भावावेश मे गद्गद ध्वनि वाले या रुद्ध कंठ और बद्ध जिह्वा वाले आदर्श उच्चारण नहीं कर पाते।

स्पष्ट है कि वक्ता के उच्चारण अवयवों के दोष के कारण वाग्यंत्र से स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता। अतः श्रोता अपूर्ण अनुकरण करने के लिए लाचार है। आचार्य पाणिनि ने उच्चारणकर्त्ता के 6 गुण बताये हैं—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यलय समर्थंमूच षडेते पाठका गुणाः।

(माधुर्य, स्पष्ट अक्षर-उच्चारण, पदों का पृथक् प्रयोग, सस्वरता, धैर्यपूर्ण उच्चारण और लयात्मकता पाठक के 6 गुण होते हैं।)

सुनने मे असावधानी से भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। यह भाषा का ग्रहण पक्ष है। सुनने में दोष रहने से भाषा का सदोष होना स्वाभाविक है। यह पक्ष ग्राहक की मानसिकता से सम्बद्ध है।

अज्ञान से भी उच्चारण करने मे मनुष्य असमर्थ होता है। इससे दोषपूर्ण उच्चारण प्रचलित हो जाता है। भर्तृहरि कहते हैं कि शिक्षा के अभाव में ही अपभ्रंश शब्दों का प्रचलन हुआ—'एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।'

जैसे क्षत्रिय > छत्री, हू कम्स देअर > हुकुमसदर, मास्टर > माइटर, प्लाटून > पलटन, लार्ड > लाट, रिपोर्ट > रपट, गार्ड > गारद, गाड, गाट, सिगनल > सिगल, लाइब्रेरी > रायबरेली, डिक्शनरी > ढकनेसरी, ऊँ नमः सिद्धम् > ओनामासीधम।

4. **भावातिरेक**—प्रेम, क्रोध, शोक या हर्ष में भाव का आधिक्य (अतिरेक) हो जाता है। इससे शब्द-रूप परिवर्तित हो जाते हैं। बेटा > बेटवा, राजा > रजवा, लघु > लहुरा, देवर > देवरवा, बेटी > बिटिया, बहिन > बहिनिया, बच्चा > बचवा, बाबू > बबुआ।

5 **मानसिक स्तर**—एक ही भाषा-क्षेत्र होने के बावजूद कभी-कभी वक्ता और श्रोता का मानसिक स्तर समान नहीं होता। वक्ता के वाग्यन्त्र और श्रोता के श्रवणेन्द्रिय में भी अन्तर होता है। इसलिए अभिव्यंजना के स्तर और ग्राहकता के स्तर में अन्तर होना स्वाभाविक है। इसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। परिणामतः ध्वनि और अर्थ-परिवर्तन से भाषा का रूप बदल जाता है।

6. **सजगता**—मनुष्य अपनी संस्कृति के प्रति सजग होता है। इस सजगता का प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। ग्राहक समाज सांस्कृतिक शब्दावली में भाषागत भाव को अभिव्यक्त करता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी इसे 'जानबूझ कर परिवर्तन' कहते हैं। उनके अनुसार प्रबुद्ध वक्ता जान-बूझकर भाषा में परिवर्तन कर देते हैं। प्रमाद ने अलेक्जेन्डर को अलक्षेम कर दिया है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप साइकार्नो > सुकर्ण, ट्रेजेडी > त्रासदी, नाइट्रोजन > नेत्रजन, आक्सीजन > ओसजन, कौमेडी > कामदी, टेकनीक > तकनीक, एकेडमी > अकादमी, मैक्समूलर < मोक्षमूलर जैसे प्रयोग होते हैं।

7. **सदृशता**—सादृश्य का अर्थ है समानता। बहुत-से शब्द सादृश्य के आधार पर विकसित हो जाते हैं। मेरियो पेई के अनुसार सादृश्य अननुमानित प्रवृत्ति है, जिसके प्रभाव से शब्द का विकास स्वाभाविक क्रम को छोड़कर किसी दूसरे शब्द के आकर्षण के कारण अपनी विकास-दिशा बदल देता है।[1] तुझ के सादृश्य पर मुझ, द्वादश के सादृश्य पर एकादश, पैंतालीस के आधार पर सैंतालीस, 'वुड' के सादृश्य पर 'कुड' आदि शब्द निर्मित हुए हैं।

8. **बलाघात**—भाषा-विकास में उसके आंतरिक तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शब्द में जिस ध्वनि पर अधिक बल दिया जाता है, वह अपने पार्श्ववर्ती ध्वनि को प्रभावित करता है। पार्श्ववर्ती ध्वनि कमजोर हो जाती है। चाहिए में 'हि' पर बल देने के कारण चाहिएं प्रयोग होता है। 'थाही' के बदले 'थैएथा' 'है ही' के बदले 'हइये है' 'जायेंगे ही' के बदले 'जइबे करेंगे' आदि प्रयोग बलाघात के उदाहरण हैं। पका और पक्का का विकास पक्व से है। पक्वता की सुदृढ़ता

---

1 ग्लॉसरी आफ लिंग्विस्टिक टर्मिनोलॉजी—मेरियो पेई, पृ० 14-15

या कठोरता का बोध पका से नही पक्का से होता है 'क' पर बल देकर उसे ससीकृत किया गया। पकी सडक मे वह कठोरता नही है जो पक्की सडक मे है। पक्का चोर कहने मे चोर की श्रेष्ठता झलकती है। पक्का बदमाश को भी ऐसा ही समझिये। मगर पक्की रोटी नही चलेगी। पक्वता मे भी कोमलता चाहिए। पकी रोटी ग्राह्य है। 'द्वे' मे बलाघात का चमत्कार देखिए। 'द' पर बल दिया तो हिंदी का 'दो' और 'व' पर बल दिया तो गुजराती का 'बे' हो गया। ग्रीक 'बी' (Bi) अँगरेजी मे 'बाइ' उच्चरित है। आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा कहते है• कि 'द्वि' का अपराश 'बि' ही अँगरेजी का बाई हो गया है—बाइगैमी, बाइसायकिल, बाइफोकल, बाइपैड आदि।

9 **अधिक प्रयोग से घिस जाना**—अधिक प्रयोग से बर्तन घिस जाते है। भाषा भी घिसती है। उसका घिसा रूप परिवर्तित रूप होता है। यह भाषा का स्वाभाविक विकास है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ, द्विवचन, नपुमक लिंग आदि प्रयोग मे घिम गईं और समाप्त हो गईं।

10 **जातीय मनोवृत्ति**—जातीय मनोवृत्ति से भी भाषागत परिवर्तन होते है। प्रत्येक जाति की एक मनोवृत्ति होती है। इस मनोवृत्ति का रूप भाषा मे भी लक्षित होना है। जर्मन परुष होते हैं, उनकी भाषा कठोर है, परुष है। फ्रांसीसी कोमल है, उनकी भाषा फ्रासीसी मधुर है, कोमल है। 'संस्कृत मे गमनार्थक धातुओ का बाहुल्य है।'[1] अतः संस्कृत गमनशील है। रूसियो मे पूर्ण और अपूर्ण दो ही काल हैं। अत. उनमे कार्य को सम्पूर्णता देने की मनोवृत्ति है, चाहे वह वर्तमान मे हो या भविष्यत् मे। जाये की परुषता उनकी भाषा मे भी ध्वनित है। बनिये की भाषा मे शिथिलता उसकी मनोवृत्ति के कारण आ जाती है। जब कभी एक भाषा को दो जातियो मे प्रचलित किया जाता है तो उसके स्वरूप मे परिवर्तन आ जाता है। अँगरेजो की हिन्दी और भारतीयो की अँगरेजी के उच्चारण इसके उदाहरण है।

11. **लिपि की अपूर्णता**—लिप्यंतरण के कारण उच्चारण मे अन्तर आ जाता है। गुप्त अँगरेजी में गुप्ता और 'मिश्र' 'मिश्रा' हो जाते है। राम का उच्चारण रामा और कृष्ण का कृष्णा होता है।

बाह्य कारण

बाहर से भाषा को प्रभावित करने वाले कारण बाह्य कारण है। परिस्थितियो और परिवेश के आधार पर निम्नाकित बाह्य कारण उल्लेखनीय हैं—

---

1. भाषाविज्ञान की भूमिका—आ० देवेन्द्र नाथ शर्मा, पृ० 95

1. भौगोलिक
2. ऐतिहासिक
3. सांस्कृतिक
4. साहित्यिक
5. मनोवैज्ञानिक
6 वैयक्तिक

1. **भौगोलिक**—डॉ० भोलानाथ तिवारी इसे भौतिक वातावरण कहते है। भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव भाषा पर अधिक होता है। हेइरिख मेयरे, बेन्फी तथा कॉलित्स के अनुसार भौगोलिक कारण भाषा-परिवर्तन के प्रमुख कारण हैं। गर्मी या सर्दी का जीविका, रहन-सहन, स्वभाव और आचरण पर प्रभाव पड़ता है। इस कारण जलवायु से भाषा प्रभावित होती है। पहाड़ी या जंगली लोगो को अपनी जीविकादि के लिए श्रम एव सघर्ष करना पड़ता है, जबकि मैदानी क्षेत्र के उपजाऊ होने से कम सघर्ष एव श्रम मे ही जीविका चलती है। अतः मैदानी क्षेत्र के लोग कोमल प्रकृति के होते है। इसलिए पहाडी क्षेत्र की भाषा परुष और मैदानी क्षेत्र की भाषा मृदु होती है। यस्पर्सन ने भौगोलिक कारणो को भाषा-परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण नही माना है। किन्तु ऐसा नही कहा जा सकता कि भौगोलिक कारणो का भाषा-विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रकृति (भौगोलिक परिस्थितियो) का भाषा पर प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव अवश्य पडता है। भौगोलिकता का प्रश्न अस्तित्व के साथ जुड़ा है। पहाड़ी क्षेत्र मे प्रचलित उच्च जर्मन और मैदानी क्षेत्र की निम्न जर्मन भाषाओं मे भिन्नता है। जर्मन और अँगरेजी भाषाओ मे भी भौगोलिक कारण से ही अन्तर दिखाई पड़ता है। जर्मन का बुख (Buch) अँगरेजी मे बुक उच्चरित है, जर्मन नोर्द (Nord) अँगरेजी मे नॉर्थ हो जाता है।

भौगोलिक कारण को पंतजलि ने भी स्वीकार करते हुए कहा है—'सर्वे देशान्तरे।' अर्थात् देश-भेद से भाषा-भेद। भौगोलिक कारणो से वैदिक सस्कृत और अवेस्ता की ध्वनियो में भेद हो जाता है—

सस्कृत	अवेस्ता
सप्त	हप्त
असि	अहि
भ्राता	ब्रात
मधु	मदु

आज आवागमन के साधनों के विकास से भौगोलिक व्यवधान खडित हो गये हैं। विभिन्न भाषा-भाषियो के एक साथ मिलने से भाषा-रूप में आशातीत परिवर्तन हुए हैं। अतः वर्तमान सदर्भ में भौगोलिक कारण भाषा-परिवर्तन मे उतने

प्रभावी नही रह गये हैं

2 **ऐतिहासिक**—ऐतिहासिक कारण को राजनीतिक कारण भी कहा जाता है। राजनीतिक परिवर्तन तथा ऐतिहासिक उथल-पुथल से जातियों और संस्कृतियो का मिलन कालान्तर मे होता रहा है। ध्वनियो, शब्दों और वाक्य-विन्यास को राजनीतिक परिस्थितियो ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। अँगरेज, मुसलमान, फ्रांसीसी, शक, हूण आदि जातियाँ भारत मे आई और उन्होने आर्य भाषा को प्रभावित किया। अनेकानेक विदेशी शब्द आज हिन्दी भाषा मे प्रचलित है। अरबी के हुनर, किताब, ताबीज, तुर्की के कैंची, कुली, चाकू, बहादुर, सौगौत, फारसी के हुजूर, ईमान, इनाम, फुर्सत, पुर्तगाली के पराल, बाल्टी, आलमारी, जगला, कमीज आदि शब्द हिन्दी भाषा मे घुल-मिल गये हैं। अँगरेजी के शब्द तो आज हिन्दी के अपने शब्द हो गये है। इस प्रकार विदेशी आक्रमण, राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप भाषा की ध्वनि, शब्द और वाक्य-विन्यास मे बहुत अधिक परिवर्तन हुए है।

3 **सांस्कृतिक**—देश की सस्कृति भाषा को अनिवार्य रूप से प्रभावित करती है। बाहरी सस्कृतियो का प्रभाव भी भाषा पर पडता है। अँगरेजी सभ्यता और सस्कृति के प्रभाव से बंगाल मे ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के प्रभाव से हिन्दी मे तत्सम शब्दो के प्रयोग अधिक हुए हैं। स्वाधीनता संग्राम ने भी हमारी भाषा और संस्कृति को प्रभावित किया है। शुद्धि, सत्याग्रह, आन्दोलन, नारी-स्वातंत्र्य, अछूतोद्धार, असहयोग जैसे शब्दो का प्रचलन स्वाधीनता आदोलन के फलस्वरूप हुआ।

भारतवर्ष मे आस्ट्रिक, द्रविड, भवन, अँगरेज, शक, हूण आदि जातियो की सस्कृति आई। भारतीय सस्कृति ने उनके तत्त्वो को अपनाया। इन सस्कृतियो का प्रभाव हमारी भाषा पर भी स्पष्ट ही लक्षित है। आस्ट्रिक सस्कृति के प्रभाव से हिन्दी मे मातंग, लवग, अगना, कदली, जिम् (जीमना), ताम्बूल, मरिच, सर्षप आदि शब्दो का प्रवेश हुआ है। द्रविड़ संस्कृति ने अगरु, अनल, अर्क (धतूरा), कटु, कुटिल, कुण्डल, कोण, चतुर, दण्ड, पिण्ड, मीन, मलय आदि शब्द दिये है। इस्लाम और आग्ल सस्कृतियो के प्रभाव से अनेकानेक अरबी-फारसी तथा अँगरेजी के शब्द हमारी भाषा मे आ गये हैं। ग्रीको के होड़ा, दाम, सुरग आदि शब्द हिन्दी मे प्रचलित हैं।

4. **साहित्यिक**—साहित्य-रचना का प्रभाव भी भाषा पर होता है। राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति साहित्य ने हमारी भाषा को प्रभावित किया है। रीतिकाल की लक्षणबद्धता और शृंगारिक मृदुता तथा द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता का प्रभाव हिन्दी भाषा पर अनिवार्य रूप से पड़ा है। छायावाद की व्यजकता, प्रगतिवादी साहित्य की सपाट बयानी और नयी कविता के नवीन के प्रति आग्रह से हिन्दी भाषा

के शब्द-भण्डार को अभिनव अर्थवत्ता प्राप्त हुई है।

5. **वैज्ञानिक**—वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास से भाषा मे वृद्धि हुई है। वैज्ञानिक शब्दावली का विकास विज्ञान की ही देन है। विज्ञान ने मनुष्य के दृष्टि-कोण और भाषा को अद्भुत ढग से प्रभावित एव परिवर्तित किया है। रूपात्मक और वस्तुपरक भाषिक स्वरूपो को निर्मित करने का श्रेय विज्ञान को ही है। सुर-क्रम, गहन सरचना, सरचना, बलाघात आदि शब्द हिन्दी के विकास के प्रमाण हैं।

6. **वैयक्तिक**—कुछ व्यक्ति अपने कार्य, भाषा, चरित्र से पूरे देश को प्रभा-वित करते हैं। हरिजन, स्वदेशी, ग्रामोद्योग, असहयोग, आन्दोलन, खादी आदि शब्द माहात्मा गाधी के प्रभाव से भाषा मे समाविष्ट हो गये हैं। आश्रम को गाधी जी ने नयी अर्थवत्ता दी। 'जयहिन्द' सुभाष चन्द्र बोस और पंचशील जैसे शब्द हिन्दी मे नेहरू जी के प्रभाव से आये। बीस सूत्री कार्यक्रम इदिरा गाधी की देन है।

भाषाओं का वर्गीकरण एवं समीक्षा

संसार में अनेक भाषाएँ और बोलियाँ हैं। 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी' लोकोक्ति से स्पष्ट है कि संसार के सम्पूर्ण विस्तार में अनेक भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार संसार में 2796 भाषाएँ बोली जाती है। डॉ० हरदेव बाहरी के अनुसार छोटी-छोटी बोलियों को छोड़कर संसार की भाषाओं की संख्या 2746 है।[1] अन्य भाषाविद् विश्व में लगभग 3000 भाषाएँ प्रयुक्त मानते है।[2] फिर भी ऐसे अनेक समाज है, जो आदिम परिस्थितियों में रहकर अपनी भाषा अपने कंठ में ही सुरक्षित रखे हुए है। भाषाशास्त्रियों ने उनकी भाषा का अध्ययन नहीं किया है। हमारे देश की ही अनेक भाषाओं का अध्ययन अब तक नहीं हो पाया है। खानाबदोश, घुमन्तू और यायावर जातियों की भाषा का अध्ययन अभी शेष है। अत: संसार-भर की भाषाओं की गणना अनुमानाश्रित है। किन्तु यह तो निर्विवाद है कि जितना समाज-भेद है, उतना ही भाषा-भेद भी है।

वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा के लिए आवश्यक होता है। किन्तु वर्गीकरण तभी संभव हो सकता है, जब सभी भाषाओं का सम्यक् अध्ययन हो जाय। संसार की सभी भाषाओं का अध्ययन संभव नहीं होने से अब तक किया गया वर्गीकरण स्थूल ही कहा जायेगा। विस्तृत अध्ययन के बाद प्रस्तुत वर्गीकरण में भी परिवर्तन की अपेक्षा हो सकती है।

विश्व की भाषाओं को निम्नांकित आधार पर वर्गीकृत किया गया है—

1. **भौगोलिक आधार पर**—मैदानी भाषा, पहाड़ी भाषा, पठारी भाषा, वन्य भाषा आदि।

2. **महाद्वीप के आधार पर**—अमेरिकी, अफ्रीकी, एशियाई आदि भाषाएँ।

3. **देश के आधार पर**—चीनी भाषा, भारतीय भाषा, रूसी भाषा, जापानी भाषा आदि।

4. **धर्म के आधार पर**—मुसलमानी भाषा, ईसाई भाषा, हिन्दू भाषा आदि।

---

1. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 1

2 नवीन भाषाविज्ञान—डॉ० तिलकसिंह, पृ० 57

5. **जातीय आधार**—बघेली, मारवाड़ी, बुन्देलखण्डी, जाटू आदि।

6. **ऐतिहासिक आधार**—प्राचीन आर्य भाषाएँ, मध्यकालीन भाषाएँ, आधुनिक भाषाएँ आदि।

7. **व्यावसायिक आधार**—मछेरों की भाषा, ठठेरों की भाषा, खटिकों की भाषा, वकीलों की भाषा, कार्यालय की भाषा, श्रमिकों की भाषा आदि।

8 **प्रभाव के आधार पर**—संस्कृत-प्रभावित भाषा, फारसी-प्रभावित भाषा, अँगरेजी-प्रभावित भाषा आदि।

9. **आकृतिमूलक आधार**—रूप-रचना के आधार पर योगात्मक-अयोगात्मक भाषाएँ।

10. **पारिवारिक आधार**—भारोपीय परिवार, एकाक्षर परिवार, द्रविड परिवार आदि।

वर्गीकरण की समीक्षा

1. भाषा का वर्गीकरण देश या महादेश के आधार पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक देश या महादेश में कई भाषाएँ प्रचलित होती हैं। एशिया महादेश में कई भाषाएँ हैं जो रूपाकार में अलग-अलग हैं। चीनी और बर्मी भाषा में कोई साम्य नहीं है। इसी प्रकार भारत में आर्य भाषा और द्रविड़ भाषाएँ प्रचलित हैं, जो अलग परिवार की हैं। अत. भाषा का वर्गीकरण देश या महादेश के आधार पर करना समीचीन नहीं है। भाषाशास्त्रीय या भाषावैज्ञानिक अध्ययन में इससे कोई लाभ न होगा।

2. भौगोलिक और ऐतिहासिक आधार पर भी भाषा का वर्गीकरण उचित नहीं है, क्योंकि एक भौगोलिक वर्गीकृत क्षेत्र में भी कई भाषाएँ बोली जाती हैं। मैदानी इलाके में पंजाबी, अवधी, ब्रज भाषा, बंगला, बिहारी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। वन्य जातियों की भाषा में मुंडारी, संथाली आदि भाषा-विभेद हैं। ऐतिहासिक या काल के आधार पर वर्गीकृत भाषाएँ एक ही भाषा के विकसित रूपों को ही प्रकट करती हैं। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक आर्यभाषाएँ वैदिक भाषा के विकास का बोध कराती हैं। प्राचीन आर्य भाषा में वैदिक भाषा और संस्कृत है तो मध्यकालीन आर्य भाषा में पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का समावेश है। आधुनिक आर्य भाषा में देसी भाषाओं का समूह वर्तमान है। ये भाषा के विकास-चरण हैं। अलग भाषाएँ नहीं हैं। अनेक कारणों से इनके नाम अलग हैं, किन्तु प्रकृति या प्रवृत्ति की दृष्टि से ये मूलभाषा से जुड़ी हैं।

3. जातिगत और धार्मिक आधार पर भी भाषा का विभाजन ठीक नहीं है, क्योंकि एक भाषा-क्षेत्र में अनेक जातियाँ और अनेक धर्मावलम्बी निवास करते हैं और एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं।

4 प्रभाव और व्यवसाय भाषा की वर्तमान रूप-सरचना को किसी-न किसी प्रकार प्रभावित करते हैं। अत इन्हे वर्गीकरण का आधार नही बनाया जा सकता। प्रचलित भाषा इससे कमोबेश जुडी होती है।

5. आकृतिमूलक वर्गीकरण देश-निरपेक्ष होता है। अतः जिस प्रकृति-विशेष को भाषिक सरचना का आधार बनाया जाता है, वह विशेष प्रकृति अन्य भाषाओ मे भी न्यूनाधिक पाई जाती है। अतः यह वर्गीकरण भी बहुत विश्वसनीय नही ठहरता।

6. पारिवारिक वर्गीकरण का आधार एक प्रकार से भौगोलिक पृष्ठभूमि है। एक भूखण्ड मे बोली जाने वाली भाषा मे ध्वनि, रूप, अर्थ और वाक्य-सरचना मे समानता होती है। इससे पता चलता है कि इन भाषाओ का मूल स्रोत एक ही है। मूल स्रोत का स्रोत खोजने पर यह सामने आता है कि इन भाषाओ का मूल भी एक ही है। एक मूल स्रोत से निकली इन भाषाओ को एक परिवार की भाषा मानते है। इस वर्गीकरण का भौगोलिक आधार तो है ही, इतिहास का प्रकाश भी इसे मिलता है, जिससे भाषा-विकास प्रकट हो जाता है। इससे विकसित भाषा के गुणो का तुलनात्मक साम्य-वैषम्य समझने का आधार भी मिल जाता है। अतः वर्तमान सदर्भ में भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण समीचीन है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण रूपाकार पर आधारित है। इसलिए इसे **रूपात्मक** वर्गीकरण भी कहते है। **रूप या पद-रचना** से सम्बन्धित होने से इसे **रचनात्मक** या **सरचनात्मक** भी कहते है। आकृति का बाह्याकार रूपात्मक या पदात्मक होने से इसे **पदात्मक** वर्गीकरण भी कहा जाता है। पदान्वय से वाक्य-रचना होती है। वाक्य-रचना पर आधारित होने से इसे **वाक्यात्मक** भी कहते है। पद और वाक्य की भाषिक सरचना व्याकरणिक पद्धति से होने के कारण इसे **व्याकरणिक** वर्गीकरण भी कहा जाता है। भाषा के वाक्यगत या पदात्मक सम्बन्धो के विश्लेषण पर आश्रित होने से इसे **सम्बन्ध तत्त्व प्रकाशक** वर्गीकरण भी कहते है। इसे अँगरेजी मे **मॉरफोलॉजिकल** (पदात्मक), **टाइपोकल** (रूपात्मक), **सिन्टैक्टोकल** (वाक्यात्मक), **स्ट्रक्चरल** (सरचनात्मक), **ग्रामेटिकल** (व्याकरणिक), टाइपोलॉजिकल आदि नाम दिए गए है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के विविध नामो से प्रकट हो जाता है कि रूप, पद, वाक्य, रचना, व्याकरण आदि की दृष्टि से जिन भाषाओ की सरचना एक ढग की है, उन भाषाओ को आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत विश्लेषित करते है। इसके बावजूद रूपाकार या सरचना की इसमे प्रमुखता है। रूपाकार की सरचना की दृष्टि से आकृतिमूलक भाषाओ को दो वर्गो मे विभाजित किया गया है—

1. अयोगात्मक, 2. योगात्मक

1. अयोगात्मक

अयोगात्मक भाषाओ को आइसोलेटिंग, इनऑरगेनिक, पोजीशनल कहा जाता है। अयोगात्मक नाम से ही प्रकट है कि इसमे प्रकृति-प्रत्यय का योग नही होता। इस वर्ग की भाषा मे प्रत्येक शब्द स्वतत्र रीति से प्रयोग मे आता है। शब्द के रूप मे भी कोई परिवर्तन नही होता। शब्दो की पदगत स्थिति और प्रयोग से ही उनके स्वरूप या सम्बन्ध का पता चलता है। 'एक शब्द वाक्य मे स्थान-भेद से सज्ञा भी हो सकता है, सर्वनाम भी, क्रिया भी, विशेषण भी, त्रियाविशेषण भी।'[1] इसलिए अयोगात्मक भाषाओ मे शब्दो का व्याकरणिक विभाजन सभव नही होता। सम्बन्ध तत्त्व के निर्देश के लिए शब्दो के क्रम अथवा स्वर-भेद की योजना इसकी प्रमुख विशेषता होती है। चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम आदि देशो की भाषाएँ इसके अन्तर्गत आती है।

अयोगात्मक भाषाओ की सरचना अत्यन्त सरल होती है। शब्द मे केवल प्रकृति भाग होने से उनमे परिवर्तन नही होता। 'प्रत्येक शब्द वाक्य मे, प्रत्येक अवस्था में अव्ययो की तरह एक ही रूप मे रहता है।'[2] इसका तात्पर्य हुआ कि प्रकृति ही भिन्न-भिन्न स्थानो पर प्रयोग मे आकर विभिन्न सबध और अर्थ का बोध कराती है। उदाहरणार्थ चीनी भाषा मे कर्ता सदा वाक्य के प्रारभ मे आता है। अधिकरण, करण, सम्प्रदान आदि का भाव-विशेष स्वतत्र शब्दो की सहायता से या वाक्य मे शब्द के स्थान-विशेष से प्रतीत होता है।

चीनी भाषा मे तो (Tao) शब्द के पहुँचना, ढांपना, झडा, धान्य, रास्ता आदि अनेक अर्थ होते है। इसी प्रकार लू (lu) शब्द के गाड़ी, जवाहिर, ओस, त्याग करना, रास्ता आदि अर्थ है। एक ही अक्षर 'ब' के सुर की विभिन्नता से कई अर्थ हो सकते है। 'ब ब ब ब' के उच्चारण मे सुर-भेद होने से इसका अर्थ होगा—'तीन महिलाओ ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे।'

कुछ और उदाहरण ले—

स्थान-भेद—1. ता लेन—बडा आदमी। लेन ता—आदमी बडा है।

2. न्गो त नि—मै मारता हूँ तुमको।
नी त न्गो—तुम मारते हो मुझ को।

3. हुआ पओ मीन—राजा प्रजा की रक्षा करता है।
मीन पओ हुआ—प्रजा राजा की रक्षा करता है।

---

1. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 301
2 तुलनात्मक ——— अथवा - ˜ - - डॉ० मंगलदेव शास्त्री पृ० 69

सुर-भेद—मु-माता, मु-जंगल

काल—त लइ—वह आता है।

त लइ लिआव—वह आया।

आकृतिमूलक वर्गीकरण की निम्न विशेषताएं है—

1. पद के क्रम-भेद से शब्द का अर्थ-भेद होता है।
2. अयोगात्मक भाषा का व्याकरण नहीं होता। स्थान-भेद से व्याकरणिक भेद होते हैं।
3. सुर-भेद से अर्थ-भेद होता है।
4. निपात भी अर्थ-निर्धारण मे सहायक होता है। सम्बन्धकसूचक अव्यय निपात कहे जाते हैं।

अयोगात्मक भाषा मे प्रत्यय का योग नही होता। इसलिए इसे निरवयव भी कहा जाता है। प्रत्यय के लिए उसका बोध वाले शब्दो का सयोग करके तथा वाक्य मे शब्दो का स्थान बदल कर अर्थ-बोध कराया जाता है।

हिन्दी और अँगरेजी भाषाओं मे भी अयोगात्मक भाषा के कुल लक्षण दृष्टिगत होते है। स्थान-परिवर्तन की दृष्टि से विचार करें। Mohan beats Sohan वाक्य मे मोहन कर्ता है और सोहन कर्म है। स्थान परिवर्तित कर दे तो इस वाक्य का रूप होगा—Sohan beats Mohan इसमे सोहन कर्ता है और मोहन कर्म। स्थान बदल देने से सम्बन्ध तत्त्व बदल गया। मोहन पहले वाक्य मे कर्ता था, किन्तु स्थान बदल जाने से वह दूसरे वाक्य मे कर्म हो गया। इसी प्रकार पहले वाक्य का सोहन दूसरे वाक्य मे कर्ता से कर्म हो गया। स्थान बदल जाने से सम्बन्ध बदल गया। मोहन और सोहन मे ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है जो सम्बन्ध का भेदक हो और उनके सम्बन्ध को सुरक्षित रखे। हिन्दी मे 'राम श्याम कहता है' मे तथा 'श्याम राम कहता है' मे भी यही स्थिति है। किन्तु ऐसे प्रयोग अपवाद रूप मे है। इस आधार यह नही कहा जा सकता कि हिन्दी अयोगात्मक भाषा है। इस सदर्भ मे डॉ० भगीरथ मिश्र का कथन द्रष्टव्य है—'जहाँ तक हिन्दी भाषा का प्रश्न है उसमें योगात्मक और अयोगात्मक दोनों के ही लक्षण प्राप्त होते है। स्थान के कारण अर्थ का निर्धारण, परसर्गो या सहायक क्रिया के अलग रहने की विशेषताओं के कारण हिन्दी मे यदि एक ओर अयोग के लक्षण मिलते है तो दूसरी ओर सस्कृत के प्रभाव के कारण उसमे योग के लक्षणो की भी न्यूनता नहीं है। वैसे विद्वानो ने आकृति की दृष्टि से हिन्दी को वियोगात्मक बहिर्मुखी श्लिष्ट योगात्मक भाषा माना है।'[1]

---

1. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 305

2. योगात्मक भाषाएँ

योगात्मक भाषा मे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का संयोग होने से योगात्मक भाषा कहा जाता है। इसमे शब्दो की सत्ता स्वतन्त्र नही होती। शब्दो की प्रकृति से प्रत्यय इस प्रकार संश्लिष्ट, चिपके हुए होते है कि उन्हें अलग करने पर सम्बन्ध तत्त्व समाप्त हो जाता है। अयोगात्मक भाषा मे केवल प्रकृति होती है। योगात्मक भाषा मे प्रकृति और प्रत्यय के सयोग से पद निष्पन्न होते है।

प्रत्येक शब्द प्रकृति और प्रत्यय के मेल से बना है। शब्दो के मौलिक या सार्थक अश को प्रकृति कहते है। प्रकृति अश सार्थक होने से अर्थ का आधार है। उसे शब्द का अर्थ तत्त्व कहते हैं। प्रत्यय प्रकृति के व्यापार को स्पष्ट करने वाला अश है। महाभाष्य मे प्रत्यय को परिभाषित करते हुए कहा कहा गया है—'प्रत्यय इत्यन्वर्य सज्ञा। य स्वमर्थम् प्रत्याययति स प्रत्यय ।' प्रत्यय से अर्थ का प्रत्यायन होता है। शब्द मे निहित अर्थ प्रत्यय के सम्बन्ध से ही प्रकाशित होता है। प्रत्ययहीन होने से शब्द शब्द कहे जाते है और प्रत्यय-युक्त होने पर पद। बिना पद के वाक्य बन ही नही सकता। व्याकरण के अनुसार 'अपदं न प्रयुजीत।' अर्थात् जो पद नही है उसका प्रयोग नही करना चाहिए। कारण कि ऐसे वक्तव्य से अर्थ स्पष्ट नही होता। प्रत्यय के न रहने से उसमे सम्बन्ध तत्त्व का अभाव है। इसलिए अर्थ स्पष्ट नही होता।

एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करे। 'विद्याददाति विनयम्' वाक्य मे विद्या कर्ता है और 'विनयम्' कर्म। ददाति मे ददा (देना = अर्थ तत्त्व) + ति (सम्बन्ध तत्त्व) है। विनयम् मे विनय (अर्थ तत्त्व) और अम् (सम्बन्ध तत्त्व) है। इस वाक्य मे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग है। इस योग के कारण संस्कृत योगात्मक भाषा है। ससार की अधिसंख्य भाषाएँ योगात्मक है।

किसी भी वाक्य का अर्थ सम्बन्ध तत्त्व और अर्थ तत्त्व के कारण ही बोधगम्य होता है। 'कृष्ण ने कंस को मारा' मे कृष्ण, कंस और मारना अर्थ तत्त्व है। ने, को और मारा का 'आ' ये सम्बन्ध तत्त्व है। सम्बन्ध तत्त्वो के कारण ही अर्थ के तीनो तत्त्वो का सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि योगात्मक भाषाओ मे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग होता है। अतः योग की प्रकृति के आधार पर योगात्मक भाषाओ को तीन भागो मे बाँटा जाता है—

1. **श्लिष्ट योगात्मक** (Inflecting)
2. **अश्लिष्ट योगात्मक** (Simple Agglutinative)
3. **प्रश्लिष्ट योगात्मक** (Incorporating)

1 श्लिष्ट योगात्मक

ऐसी योगात्मक भाषाएँ जिनके अर्थ तत्त्व मे सम्बन्ध तत्त्व के जोड़ने के कारण अर्थ तत्त्व वाले अश मे विकार उत्पन्न हो जाता है, श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ कही जाती है। अर्थ तत्त्व वाले अश मे रूपात्मक विकार आ जाने के बाद भी सम्बन्ध तत्त्व का अस्तित्व आभासित होता रहता है। श्लिष्ट का अर्थ है, चिपका हुआ। श्लिष्ट योगात्मक भाषाओ मे सम्बन्ध तत्त्व के चिपके रहने से अर्थ तत्त्व विकृत हो जाता है, फिर भी सम्बन्ध तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता का आभास होता रहता है।

ग्रीक, लैटिन, सस्कृत, अरबी, फारसी आदि भाषाएँ इसी वर्ग मे आती है। ये भाषाएँ ससार मे सबसे अधिक उन्नत है। सामी, हामी और भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत है।

सस्कृत मे देह, देव, वेद, पुराण, भूल, नीति शब्दो के अर्थ तत्त्व में सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) जोडने मे दैहिक, दैविक, वैदिक, पौराणिक, भौतिक, नैतिक आदि विशेषण बनते है। मूल प्रातिपदिको मे प्रत्यय के सयोग से विकृति आती है। दे, दे, वे, पु, भू, नी मे 'इक' प्रत्यय के सयोग से विकार आ गया है और इनका रूप दै, दै, वै, पौ, भौ, नै हो गया है। फिर भी सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) का स्वरूप झलकता रहता है।

अरबी भाषा में क्-त्-ब का अर्थ है लिखना। इसमे किताब (पुस्तक), कुतुब (अनेक पुस्तके), कुतुबा (लेख), कातिब (लेखक), मकतब (पाठशाला), मकातिब (अनेक पाठशाला), मकतूब (लिखित), मकतूबात (मकतूब का बहुवचन) रूप बनते है। ये परिवर्तन सम्बन्ध तत्त्व के योग के कारण हुए है। इनके अर्थ तत्त्व मे रूप-विकार आने पर भी सम्बन्ध तत्त्व स्पष्ट रूप मे आभासित होता रहता है।

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के भी दो उपवर्ग होते हैं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी।

अंतर्मुखी श्लिष्ट—इस वर्ग की भाषाओ मे प्रत्यय (सम्बन्ध तत्त्व) अर्थ तत्त्व (मूल अश) मे घुलमिल जाते हैं। सम्बन्ध तत्त्व अधिकतर स्वर होता है जो व्यजन के साथ घुलमिल जाता है। सेमेटिक और हेमेटिक कुल की भाषाएँ इसी वर्ग मे आती हैं। अरबी भाषा भी अन्तर्मुखी श्लिष्ट भाषा है। अरबी भाषा मे धातु प्राय: तीन व्यजकों की होती है। क्-त्-ल् धातु का अर्थ होता है मारना। इसमे सम्बन्ध तत्त्व के योग से कतल (खून), कातिल (मारने वाला), किल्ल (शत्रु), यकतुलु (वह मारता है) आदि रूप बनते हैं। क्-त्-ल् तीनो व्यंजन हैं। इनके बीच मे स्वरो के आ जाने से अर्थ मे परिवर्तन हो गया है।

अन्तर्मुखी श्लिष्ट के भी दो भेद होते हैं—संयोगात्मक और वियोगात्मक।

सयोगात्मक—सेमेटिक परिवार की अरबी आदि भाषाओ का प्राचीन रूप

सयोगात्मक था अर्थ तत्व मे सम्बन्ध तत्त्व एकदम घुल मिले रहते थे

वियोगात्मक—इसकी शब्द-रचना-प्रक्रिया तो सयोगात्मक की ही भाँति थी, किन्तु वाक्य-रचना मे वियोगात्मकता आ गयी। हिब्रू भाषा मे यह बात विशेष दिखाई पड़ती है।

बहिर्मुखी श्लिष्ट—बहिर्मुखी श्लिष्ट भाषाओ मे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व इस प्रकार मिलते है कि सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) अर्थ तत्त्व (प्रकृति) के बाद आते हैं। भारोपीय भाषाएँ इसी वर्ग मे है।

इसके भी दो भेद है—**सयोगात्मक** और वियोगात्मक।

सयोगात्मक—भारोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन, सस्कृत, अवेस्ता आदि पुरानी भाषाएँ संयोगात्मक थी। इनमें परसर्ग तथा सहायक क्रिया नहीं थी। शब्द के साथ ही सम्बन्ध तत्त्व लगा रहता था। जैसे सस्कृत मे 'रामः पठति' वाक्य मे सम्बन्ध तत्त्व प्रकृति तत्त्व मे सयुक्त है। लिथुआनियन भाषा आज भी संयोगात्मक स्वरूप बनाए हुए है।

वियोगात्मक—भारोपीय परिवार की आधुनिक भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं। इनकी प्राचीन मूल भाषाओ की सश्लिष्ट विभक्तियाँ घिसकर लुप्त हो गई है। अत कारकीय विभक्तियो के लिए परसर्ग के रूप मे अलग से शब्द जोडने की आवश्यकता आधुनिक भाषाओ मे होती है। क्रिया के प्रत्यय लुप्त हो जाने से सहायक क्रियाओ की आवश्यकता भी इनमे होती है। सस्कृत के 'रामः पठति' वाक्य मे रामः मे कारकीय विभक्ति सश्लिष्ट है। पठति में भी प्रत्यय सटा हुआ है। किन्तु 'राम पढ़ता है' वाक्य मे राम मे शून्य विभक्ति है और पढ़ता क्रिया मे 'है' सहायक क्रिया की आवश्यकता अर्थबोध के लिए आवश्यक है।

अँगरेजी, हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भाषाएँ वियोगात्मक भाषाएँ है।

2 अश्लिष्ट योगात्मक

अश्लिष्ट का अर्थ है न+चिपका हुआ। अर्थात् जिस भाषा मे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व इस प्रकार संयुक्त हों कि उनका रूप स्पष्ट रूप से पहचाना जा सके। इस भाषा मे प्रकृति और प्रत्यय की पहचान भाषा की आकृति मे स्पष्टः लक्षित होती है। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी के अनुसार इसमे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व 'तिल-तण्डुलवत्' स्पष्ट रूप से दीखते हैं।

हिन्दी इस वर्ग की भाषा नही है, पर समझने के लिए कुछ उदाहरण देखिए—

अंधत्व=अन्ध+त्व

पढ़ेगा = पढ़ + ए + गा

जाएगा + जा + ए + गा

चंचलता = चंचल + ता

मैंने = मैं + ने

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं को 5 भागों में विभाजित किया जाता है।

(क) **पूर्व प्रत्यय प्रधान**—इसमें वाक्य में शब्द सर्वथा अलग-अलग रहते हैं। इनमें प्रत्येक स्थान पर उपसर्ग का प्रयोग होता है। अर्थात् इसमें सम्बन्ध तत्त्व शब्द के पूर्व (प्रारंभ) में ही लगता है। अफ्रीका की बांटू भाषा इस वर्ग की है।

ज़ुलू भाषा का उदाहरण लें—

उमु—एकवचन का चिह्न

अब—बहुवचन का चिह्न

न्तु—आदमी

न्ग—से

इनके मिलने से निम्न शब्द बन सकते हैं—

उमुन्तु—एक आदमी

अबन्तु—कई आदमी

न्ग उमुन्तु—आदमी से

काफिर भाषा का एक उदाहरण लें—

कु—के लिए, को

ति—हम

नि—उन

अतः 'कुति' का अर्थ होगा—हमको या हमारे लिए

कुनि = उनको या उनके लिए

पूर्व योग के उदाहरण संस्कृत में भी मिलते हैं—

गच्छति = जाता है, अवगच्छति = जानता है।

उपर्युक्त उदाहरण में योग शब्द के प्रारंभ में ही है।

(ख) **मध्य प्रत्यय योग**—ऐसी भाषाओं की शब्द-रचना में प्रत्यय मध्य में जोड़े जाते हैं। अफ्रीका, मेडागास्कर तथा हिन्द महासागर के द्वीपों की भाषाएँ इस वर्ग में आती हैं। मुंडा परिवार की संथाली भाषा में मध्य प्रत्यय योग होता है—

दल—मारना प-बहुवचन का चिह्न

दपल = एक दूसरे को मारना।

माँझि—मुखिया

मपाँझि = मुखियागण

यहाँ 'इल' और मौंजि के मध्य मे बहुवचन प्रत्यय का योग हुआ है।

(ग) **अन्त प्रत्यय योग**—ऐसी भाषाओ मे प्रत्यय अन्त मे जुड़ता है। तुर्की और द्रविड़ परिवार की भाषाओ मे अन्त प्रत्यय योग के उदाहरण मिलते है। तुर्की का उदाहरण लें—

एक—घर

एकलेर—कई घर

एकलेर इम—मेरे घर

कन्नड का उदाहरण देखें—

कर्ता—सेवक—रू

कर्म—सेवक रन्नु

करण—सेवक रिन्द

(घ) **पूर्वान्त प्रत्यय योग**—इसमे प्रत्यय (सम्बन्ध तत्त्व) का योग शब्द के आगे और पीछे या पहले (पूर्व) और अन्त मे लगाया जाता है। न्यूगिनी की मफोर भाषा मे ऐसे उदाहरण मिलते है—

म्नफ = सुनना	ज = मै	सि = वे
उ = तू	इ = वह	

ज—म्नफ—उ = मै तेरी बात सुनता हूँ।

सि—म्नफ—इ = वे उसकी बात सुनते है।

यहाँ 'म्नफ' के पूर्व मे ज और अन्त मे उ का योग पूर्वान्त योग है।

(ङ) **आंशिक योगात्मक**—डॉ० भोलानाथ तिवारी ऐसी भाषाओ को योगात्मक और अयोगात्मक वर्ग के बीच की भाषा बताते है।

3 प्रश्लिष्ट योगात्मक

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग इतना मिला-जुला होता है कि उन्हे न तो अलग-अलग पहचाना ही जा सकता है और न उन्हें अलग ही किया जा सकता है। जैसे सस्कृत मे 'शिशु' से 'शैशव', ऋजु से 'आर्जव', मुनि से 'मौन' और ऋतु से 'आर्तव' बनाया जाता है। इसमें सम्बन्ध तत्त्व और अर्थ तत्त्व को न तो पहचाना जाता है और न अलग ही किया जा सकता है।

इसके दो भेद किए जा सकते हैं—पूर्ण प्रश्लिष्ट और अपूर्ण प्रश्लिष्ट

(क) **पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक**—इसमें अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग इतना पूर्ण होता है कि पूरा वाक्य लगभग एक ही शब्द बन जाता है। दक्षिणी अफ्रीका की चेरिकी भाषा मे ऐसे उदाहरण मिलते है—

नाधोलिनिन = हमारे पास नाव लाओ।

ग्रीन लैण्ड की भाषा का उदाहरण—

अउलिसरि अर्तोरसुअर्पोक = वह मच्छली मारने के लिए जल्दी आता है।

और सस्कृत मे भी ऐसे उदाहरण मिलते है—

जिगमिषति = वह जाना चाहता है।

पिपठिषामि = मैं पढ़ना चाहता हूँ।

(ख) **अपूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक**—ऐसी भाषाओं में सर्वनाम और क्रिया इस प्रकार मिल जाते हैं कि क्रिया सर्वनाम का पूरक हो जाती है और उसका अस्तित्व नगण्य हो जाता है—

दकार किओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।

नकारसु = तू मुझे ले जाता है।

इकारत = मैं तुझे ले जाता हूँ।

मुल्तानी या हरियानी तथा गुजराती में भी ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं—

मुल्तानी—म खाँ = मैंने कहा।

हरियानी—उन्नेका = उसने कहा।

गुजराती—मकुजे = मैंने वह कहा।

अँगरेजी, फ्रेंच, बँगला और भोजपुरी भाषाओं के मौखिक रूप मे भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

समीक्षा

डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने आकृति की दृष्टि से भाषाओ को तीन वर्गों मे बाँटा है—1. योगात्मक, 2. अयोगात्मक, 3. विभक्तियुक्त। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'तीसरे भेद 'श्लिष्ट' के अन्तर्गत 'विभक्तियुक्त' वर्ग को रखा जा सकता है'[1] डॉ० श्यामसुन्दर दास आदि कुछ विद्वान आकृतिमूलक भाषा को चार भागों मे विभाजित करते है—1. व्यास-प्रधान, 2. समास-प्रधान, 3. प्रत्यय-प्रधान और 4. विभक्ति-प्रधान। व्यास-प्रधान वर्ग अयोगात्मक मे अन्तर्भुक्त हो जाता है और शेष तीन योगात्मक के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से आकृतिमूलक भाषा के दो ही भेद समीचीन प्रतीत होते है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण की कोई तात्त्विक या व्यावहारिक मान्यता एव उपयोगिता नही है। इसलिए इस वर्गीकरण पर अब कोई ध्यान नही देता। जहाँ तक भाषा की आकृति की जानकारी का प्रश्न है, प्रत्येक भाषा में आकृतिगत विशेषताएँ होती है। वर्गों मे विभाजित करने से आकृति की सही जानकारी नहीं मिल पाती। इसलिए आकृतिमूलक वर्गीकरण विद्वानो द्वारा ग्राह्य नही है।

---

1 भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 84

पारिवारिक वर्गीकरण

संसार की सभी भाषाओं की संख्या लगभग 3000 मानी गई है। प्रश्न उठता है कि इन भाषाओं का परस्पर कोई सम्बन्ध है या ये एक-दूसरे से विच्छिन्न हैं। ऐतिहासिक, स्थानिक और भाषिक समानता या समीपता के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण **पारिवारिक वर्गीकरण** कहलाता है। ऐतिहासिक, स्थानिक या भाषिक समानता के आधार पर यह प्रकट होता है कि एक वर्ग की भाषा की उत्पत्ति एक मूल भाषा से हुई है।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'रचनातत्त्व और अर्थतत्त्व के सम्मिलित आधार पर किया गया वर्गीकरण **पारिवारिक वर्गीकरण** कहलाता है।'[1]

डॉ० मंगलदेव शास्त्री कहते हैं कि 'पारिवारिक वर्गीकरण में भाषाओं की आकृति या सामान्य रचना की समान-रूपता पर ही दृष्टि नहीं रहती, अपितु यह भी देखा जाता है कि उन भाषाओं की उत्पत्ति या विकास कुछ समान मूल-शब्दों से हुआ है।'[2]

दो या दो से अधिक भाषाओं में मूल शब्दों की समानता, संरचना और संरचक तत्त्वों की एकरूपता के आधार पर भाषावैज्ञानिक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये भाषाएँ एक ही मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। एक मूल से उत्पन्न भाषाओं को एक परिवार की भाषा कहते हैं।

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण करना सरल काम नहीं है। तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन से ही पारिवारिक वर्गीकरण किया जा सकता है। भाषा-परिवारों की मूल भाषा के सम्बन्ध में प्रामाणिक साक्ष्य न मिलने, अपर्याप्त प्रमाण ही सुलभ होने तथा सम्पूर्ण भाषाओं का अध्ययन न हो सकने से पारिवारिक वर्गीकरण के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना समीचीन नहीं है। भारोपीय और सेमेटिक भाषा परिवारों की समानता की गहराई से पड़ताल की गई है। इन भाषा परिवारों की भाषाओं में आकृति और मूल शब्दों की समानता पर्याप्त रूप से मिलती है। अन्य भाषा परिवार की भाषाओं की मूल भाषा तथा उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का सम्यक् अध्ययन नहीं हुआ है।

भाषाओं की पारिवारिक समानता का निर्धारण दो आधार पर किया है—(1) **भाषिक समानता**, (2) **स्थानिक समीपता**।

भाषिक समानता

भाषिक समानता का विश्लेषण 5 आधारों पर किया जाता है—(1) ध्वनि

1. भाषाविज्ञान—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृ० 233
2. भाषाविज्ञान की भूमिका—आ० देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ० 109

की समानता, (2) शब्द की समानता, (3) रूप-रचना की समानता, (4) वाक्य-रचना की समानता और (5) अर्थ की समानता।

1. **ध्वनि-साम्य**—एक परिवार की भाषाओं में ध्वनि-साम्य की अपेक्षा होती है। किन्तु काल एवं देश के विस्तार के कारण एक भाषा परिवार में ध्वनि-साम्य होना अनिवार्य नहीं है। उच्चारण-दोष के कारण ध्वनियों का रूप विकृत हो जाता है। ध्वनि-लोप, ध्वनि-परिवर्तन, और अन्य भाषा ध्वनियों के प्रभाव के कारण ध्वनि-साम्य की संभावना अति क्षीण हो जाती है।

उदाहरणस्वरूप वैदिक संस्कृत की 'ऌ' ध्वनि का हिन्दी में लोप हो गया है। मूल भारतीय भाषा की कई ध्वनियाँ यूरोपीय भाषाओं में नहीं हैं।

इसी प्रकार क़, ज़, ख़, फ़ आदि ध्वनियाँ फारसी और अँगरेजी के प्रभाव से आर्य भाषा में आ गई हैं।

ध्वनि की असमानताओं का वास्तविक कारण ज्ञात हो जाय तो पारिवारिक समानता निर्धारित की जा सकती है। फिर भी ध्वनि की समानता का आधार इतना कमजोर है कि उसके आधार पर पारिवारिक एकता को नहीं दर्शाया जा सकता। अतः यह परिवार-निर्धारण का क्षीण आधार प्रतीत होता है।

2. **शब्द-साम्य**—शब्दों के साम्य का निर्धारण समान मूल शब्दों के आधार पर भी होता है। शब्द मूल में अर्थ का सामंजस्य भी होगा। समरूपीय शब्दों के आधार पर भाषा की समानता का निश्चय नहीं किया जा सकता। आम, काम, काज आदि शब्द-युग्मों की आकृति के आधार पर शब्द-साम्य का निश्चय करना उचित नहीं है, क्योंकि आकृति-साम्य होने पर भी इनमें अर्थगत साम्य नहीं है।

रूसी Chai और तुर्की Chay में समानता दिखाई पड़ती है, पर ये एक परिवार की नहीं हैं। भोजपुरी नियरे और अंगरेजी Near की उच्चारणगत समानता के आधार पर उनकी एक मूल की भाषा कहना उचित नहीं है। अर्थ में भी एकता होने से मूल की भाषा मानने का आधार विचारणीय होता है। यथा—

संस्कृत	फ़ारसी	अँगरेजी	जर्मन
पितृ	पिदर	फादर	फ़ातेर
मातृ	मादर	मदर	मुत्तेर
भ्रातृ	बिरादर	ब्रदर	ब्रुदेरे
दुहिता	दुख्तर	डाटर	—

स्थानिक अन्तराल होने पर भी इन भाषाओं के आधारभूत शब्दों में आकृति और अर्थ का साम्य निश्चित रूप से विचार्य है। इनके रूपगत और अर्थगत साम्य को देखकर यह कहा जा सकता है कि इन शब्दों का मूल संभवतः एक ही भाषा है। अतः ये एक परिवार की भाषाएँ हैं। कुछ लोग आधारभूत शब्दों के आधार पर शब्द-साम्य की परीक्षा उचित समझते हैं। आधारभूत शब्दों में पारि-

वारिक सम्बन्ध, पशु-पक्षी, शारीरिक अंग, जीव-जन्तु, वाणिज्य-व्यापार सम्बन्धी शब्दावली आती है।

3. **अर्थ-साम्य**—अर्थ-परिवर्तन के कारण अर्थ में स्थिरता नही रहती। भाषा रूपगत और अर्थगत दृष्टि से निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। जैसे संस्कृत मे 'मृग' शब्द पशु-मात्र के लिए चलता था, बाद में पशु-विशेष के लिए प्रचलित हुआ। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'फारसी मे उसका ध्वनि-परिवर्तन भी हुआ और अर्थ-परिवर्तन भी, 'मृग' से 'मुर्ग' बना, जो एक पक्षी विशेष के लिए प्रयुक्त है।'[1] इस प्रकार अर्थ भी स्थिर रहने वाला नहीं है। यह वह भी पारिवारिक साम्य का पुष्ट आधार सिद्ध नही होता।

4. **रूप-रचना-साम्य**—रूप-रचना मे क्रिया रूप और सर्वनाम रूप का सर्वाधिक महत्त्व है। उपसर्ग और प्रत्यय भी इस दृष्टि से विचारणीय हैं। लेकिन भिन्न परिवार की भाषाओ मे भी प्रत्ययगत साम्य दृष्टिगत होता है।

जैसे 'तर' प्रत्यय के योग से संस्कृत मे उच्चतर, फारसी में बेहतर, अँगरेजी मे बेटर, और जर्मन में besser प्रचलित है। किन्तु इस समानता के आधार पर भी इन्हें एक मूल की भाषा नही कह सकते। ये एक परिवार की नही है। यह समानता प्रभाव के कारण है। इसलिए इन्हें पारिवारिक एकता का आधार मानना उचित नही होगा।

5. **वाक्य-रचना-साम्य**— दूसरी भाषाओं के प्रभाव के कारण भी वाक्य-रचना मे साम्य हो जाता है। किन्तु मूलभूत साम्य किसी-न-किसी रूप मे सुरक्षित रहता है। इसलिए यह भाषा-साम्य का आधार माना जा सकता है।

वास्तव मे पारिवारिक साम्य का आधार कोई एक समानता नही हो सकती। इनके सम्मिलित एकत्व के आधार पर ही पारिवारिक साम्य निश्चित हो सकता है।

स्थानिक समीपता

एक परिवारिकी भाषाओ मे स्थानिक समीपता के कारण भी साम्य होता है। वैसे इसके अपवाद भी हैं। कई भाषा परिवारो मे स्थानिक समीपता होती है। जैसे भारोपीय परिवार की ताजिक और यूराल-अल्टाइक की उजबेक मे तथा बँगला तथा चीनी परिवार की बर्मी भाषाओ में साम्य है।

रूप-रचना की समानता को एक सीमा तक विश्वसनीय माना जाता है। आधारभूत शब्दावली पर भी ध्यानपूर्वक विचार-विनिमय करना उचित होगा।

---

1 भाषाविज्ञान की भूमिका—आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ० 111

ध्वनि-विज्ञान

भाषा-ध्वनि : परिभाषा

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणो के साक्ष्य से 'श्रूयमाण वर्ण' को ध्वनि सज्ञा दी है—'तेचश्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।' स्पष्टतः 'श्रूयमाण वर्ण' ही ध्वनि है। ध्वनि के लिखित-व्यक्त रूप को **'वर्ण'** कहा जाता है। वर्णों के संघटन से पद बनते हैं—'वर्ण सघातजं पद।' (वाक्यपदीय टीका)। तात्पर्य यह कि मनुष्य के मुख-विवर से उच्चरित सार्थक स्वन ही ध्वनि है। भाषा-ध्वनि का लेखिम होना और अन्य ध्वनियों के साथ मिलकर शब्द या पद संघटन करने मे सक्षम होना आवश्यक है। 'भाषा-ध्वनि वास्तव मे वह लघुतम ध्वनि है जो मनुष्य के मुख से प्रयत्नपूर्वक उच्चरित हुई हो, जिस पर उसका पूर्ण नियत्रण हो और जो अन्य ध्वनि या ध्वनियो के साथ मिलकर अन्य अर्थ प्रकट करने मे भी समर्थ हो।'[1] डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'भाषा-ध्वनि भाषा मे प्रयुक्त ध्वनि की वह लघुतम इकाई है, जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से अलग व्यक्तित्व हो।'[2] वान्द्रियैज के मत से 'वायु की विशिष्ट कम्पनात्मक गति द्वारा उपलब्ध श्रोत्रेन्द्रिय के अनुभव को ध्वनि कहते हैं।'[3]

डॉ० डैनियल जोन्स तथा डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने भाषा-ध्वनि को सध्वनि कहा है। अर्थात् भाषा-ध्वनि का व्यक्तित्व निश्चित और अपरिवर्तनीय होता है। केनियन आदि विद्वानों ने इसे ध्वनिग्राम (Phoneme) का पर्यायवाची बताया है। आर्मफील्ड ने इसका संध्वनि(Allophone)और ध्वनिग्राम दोनो अर्थों मे प्रयोग किया है।

ध्वनि का विस्तार-क्षेत्र व्यापक है। भाषाविज्ञान मे सभी ध्वनियों का अध्ययन नहीं होता। सार्थक उच्चरित ध्वनियो को ही भाषा मे स्वीकार किया जाता है। अन्य ध्वनियो से पृथक् करने के लिए भाषा मे ग्राह्य ध्वनि को भाषा-ध्वनि कहा जाता है। किसी भी भाषा मे किसी ध्वनि के विभिन्न रूप ही संध्वनि

---

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार 'जलज', पृ० 42
2. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 253
3 भाषा—जे० वान्द्रियैज पृ० 23

(allophone) कहलाते हैं और उनका सामूहिक रूप से सबको ढँक लेने वाला एक नाम ध्वनिग्राम (Phoneme) कहलाता है।[1]

आर० जैक्बसन और एम० हाल ध्वनिग्राम को उसकी सध्वनियों के साथ एक विशिष्ट उपकरण के रूप में स्वीकार करते हैं।

ब्लूमफील्ड के अनुसार 'भाषा में पाए जाने वाले ध्वनिग्राम ध्वनियाँ नहीं होती, वरन् ध्वनिगत वैशिष्ट्यों के समूह स्वरूप होते हैं, तथा वे विभेदक ध्वनि वैशिष्ट्यों की लघुतम इकाई है (The Phoneme of a language are not sound, but merely sound features, lumped together A minimum unit of distinctive sound features.)[2]

ग्लीसन कहते हैं कि 'ध्वनिग्राम ध्वनियों के वर्ग को कहते हैं। वर्गगत ध्वनियों में ध्वन्यात्मक साम्य होता है तथा भाषा-विशेष में इसकी वितरणगत विशिष्ट अभिरचना होती है।'[3]

भाषावैज्ञानिकों की मान्यता है कि एक ध्वनि का बार-बार उच्चारण करने पर ध्वन्यात्मक दृष्टि से हर उच्चार में अन्तर आ जाता है। स्वनिक स्तर पर कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को उसी प्रकार दुबारा उच्चरित नहीं कर सकता। 'क' ध्वनि का दस बार उच्चारण करे तो क ध्वनि के दस स्वन होंगे। 'स्वनिक स्तर पर प्रत्येक ध्वनि का प्रत्येक उच्चारण एक अलग स्वन होता है।'[4] 'कपड़े में एक चमक है' वाक्य में 'क' के तीन उच्चारण हैं। किन्तु क के पहले उच्चारण से बाकी दोनों उच्चारण भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार 'क' की तीन सध्वनियाँ हैं और इन संध्वनियों का सामूहिक नाम ध्वनिग्राम है। बहुत-सी सध्वनियों को समाहित करने से इसे ध्वनिग्राम कहते हैं। ब्लॉक और ट्रेगर के अनुसार 'ध्वनिग्राम ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान ध्वनियों का वर्ग है।...व्यक्तिगत ध्वनियाँ, जिनसे ध्वनिग्राम की रचना होती है, इसकी सध्वनियाँ कही जाती हैं (A Phoneme is a class of Phonetically similar sounds...The Individual sounds which compose a phoneme are all its allphones.)।

भाषा में विशेष प्रयोग संध्वनियों का ही होता है। अतः वास्तविक अस्तित्व सध्वनियों का ही है। उनके समूह का ध्वनिग्राम नाम पूर्णतः काल्पनिक है। इसमें भाषा-प्रयोग नहीं होता। संध्वनियों का प्रयोग परस्पर 'परिपूरक वितरण' में होता है। एक सध्वनि से दूसरी सध्वनि में भेदकता होती है।

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 255
2. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड
3. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स, पृ० 261
4. भाषा एवं भाषाविज्ञान—डॉ० महावीर सरन जैन पृ० 57

ध्वनि-विज्ञान

ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत विश्लेषण-योग्य भाषाध्वनियों की उत्पत्ति, विकास, प्रकार आदि का विश्लेषण किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान को फोनेटिक्स (Phonetics) कहते हैं। ध्वनि-विज्ञान से ही ध्वनियो का विश्लेषण, वर्णन और वर्गीकरण किया जाता है। फोनेटिक्स का ही समानार्थी फोनोलॉजी भी है। ग्रीक शब्द फोन (Phone) का अर्थ है ध्वनि। टिक्स और लॉजी विज्ञान के वाचक शब्द है।

ध्वनि-विज्ञान को तीन शाखाओ मे विभाजित किया जाता है—

1. उच्चारण मूलक ध्वनि-विज्ञान (Articulatory Phonetics)
2. भौतिक ध्वनि-विज्ञान (Acoustic Phonetics)
3. श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान (Auditory Phonetics)

ध्वनिग्राम ध्वनि-विज्ञान से सम्बद्ध होने पर भी स्वतंत्र रूप से विचारणीय है।

उच्चारणमूलक ध्वनि-विज्ञान

भाषा-ध्वनि शारीरिक क्रिया से उत्पन्न ध्वनि होती है। अतः शरीर के उन अवयवो, जिनसे ध्वनि निकलती है, का अध्ययन अपेक्षित है। इसमे उच्चारक अवयवो, उच्चारण स्थान, प्रयत्न आदि का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। ध्वनि की प्रकृति को समझने के लिए उच्चारण के अवयवो तथा उनकी क्रियाओ का अध्ययन आवश्यक है।

उच्चारण अवयव

ध्वनि-यंत्र—उच्चारण अवयवो को ध्वनि-यन्त्र या वाग्यंत्र भी कहते है। श्वास वायु के अन्तःप्रवेश और बहिर्गमन की प्रक्रिया मे ही श्रौत-वाक् ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः सम्पूर्ण श्वास-मार्ग उच्चारण अवयव में सम्मिलित है। श्वास वायु फेफड़े से बाहर निकलते समय अनेक बिन्दुओं पर उच्चारण अवयवों से प्रभावित होती है। फेफड़े के नीचे उर प्राचीर (डाइफ्राग्म) शरीर से सम्बद्ध है। उर प्राचीर से लेकर ओठों तक स्थित श्वास-मार्ग के अवरोध बिन्दु उच्चारण अवयव कहलाते है।

प्राचीन भारत मे उच्चारण अवयव सम्बन्धी प्रथम स्थान नाभि का था। आज फेफडों को प्रथम उच्चारण अवयव माना जाता है।

1. **उर प्राचीर** (Diaphragm)—उर प्राचीर फेफड़ों के नीचे उच्चारण अवयव का प्रथम मूल बिन्दु है। फेफड़े के प्रसार और सकोच को यह नियंत्रित करता है और हृत्कम्पन भी उत्पन्न करता है। फेफड़े से निकलने वाली वायु उर

प्राचीर के कारण ही कम या अधिक मात्रा में निकलती है। उर प्राचीर के दबाव के कारण ही ध्वनियों के कम या अधिक निकलने से अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियो का निर्माण होता है।

2. **श्वास-नलिका**—फेफडे से छोटी-छोटी चैनल से जुड़ी हुई श्वास-नलिका है। यह भोजन-नलिका के आगे स्थित है। श्वास-नलिका गले तक आती है। खाद्य या पेय पदार्थ को गले से होकर श्वास नलिका मे जाने से रोकने का काम अभिकाकल का है। भोजन गले तक पहुँचते ही अभिकाकल श्वास-नलिका को झुककर बन्द कर देता है। इससे खाद्य या पेय पदार्थ श्वास-नलिका में न जाकर भोजन-नलिका मे चला जाता है।

3. **स्वर-यंत्र** (Larynx)—अभिकाकल के कुछ नीचे श्वास-नलिका के ऊपरी भाग मे स्वर-यंत्र स्थित होता है। ध्वनि उत्पन्न करने का यह प्रधान अवयव है। इसे टेंटुआ भी कहते हैं। इस स्थान पर श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है। मनुष्य के गले में बाहर की ओर निकला हुआ कठोर भाग जो दिखाई पड़ता है उसे स्वर-यंत्र या टेंटुआ कहते है।

स्वर-यंत्र मे ओष्ठाकार दो लचीली झिल्लियाँ या परदे होते हैं। इन्हे **स्वर-तंत्रियाँ** (Vocal Chord) कहते है। पुरुषो मे स्वरतन्त्रियो की लम्बाई 3/4 इंच और स्त्रियो मे 1/2 इंच होती है। इन्हे निकट या दूर ले आया जा सकता है।

स्वरतन्त्रियाँ जब परस्पर निकट होती है तो श्वसन प्रक्रिया मे अघोष ध्वनि उच्चरित होती है। जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर अधिक निकट होती है तो घोष ध्वनि का उच्चारण होता है। जब स्वरतन्त्रियो का तीन-चौथाई भाग बन्द रहता है तो फुसफुसाहट के रूप में ध्वनि निकलती है।

4. **काकल** (Glottis)—श्वास-प्रश्वास क्रिया जिस छिद्र से होती है, उसे काकल, श्वास-द्वार या कंठ-द्वार कहते है।

5. **अभिकाकल** (Epiglottis)—स्वर-यंत्र के ठीक ऊपर जीभ जैसी आकृति वाले अवयव को अभिकाकल कहते है। यह श्वास-नलिका की रक्षा करता है।

6. **ग्रसनिका या गलबिल** (Pharynx)—स्वर-यंत्र के मुखावरण के पश्चात् मुख-विवर और नासिका-विवर के पूर्व और कंठ छिद्र के ऊपर ग्रसनिका या गलबिल का भाग होता है। गले की पिछली दीवार ग्रसनिका की दीवार है। ग्रसनिका का उपयोग भारतीय ध्वनियों के उच्चारण मे नही होता था। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि गलबिल के विभिन्न आकार ग्रहण करने से स्वरो के उच्चारण तथा उनके तान मे अन्तर आता है। अरबी भाषा मे ध्वनियो के उच्चारण मे गलबिल का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

7. **अलिजिह्वा**—जिस स्थान से मुख-विवर और नासिका-विवर के मार्ग प्रारंभ होते हैं, उस स्थान पर ऊपर की ओर एक मासपिंड छोटी-सी जिह्वा के

समान लटका होता है, उसे अलिजिह्वा या कौआ कहते हैं। इसे कोमल तालु का उभरा हुआ, गतिशील अंग भी कहा जा सकता है। अलिजिह्वा जब तनकर नालिका मार्ग को बन्द कर देती है तो निरनुनासिक ध्वनियो का उच्चारण होता है।

जब अलिजिह्वा इस अवस्था मे होती है कि हवा मुख और नासिका दोनो विवरो से निकलती है तो अनुनासिक ध्वनियों का उच्चार होता है। इसके शिथिल रहने पर हूँ या हँ की ध्वनि निकलती है। इसे उपजिह्वा भी कहते है।

8. **मुख-विवर**—अलिजिह्वा से ओठ तक के मार्ग को मुख-विवर कहा जाता है। ध्वनियो के उत्दान मे इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। निरनुनासिक ध्वनियो का उच्चारण इसी मार्ग से होता है।

9. **कंठ**—स्वरयत्र के ऊपर मुख-विवर के एकदम पीछे कठ स्थित है। ध्वनि का उच्चारण यही से आरंभ होता है। स्वरों के उच्चारण-भेद तथा सुर-तान पर इसका प्रभाव होता है। इससे इसकी आकृति मे अन्तर आ जाता है।

10. **नासिका-विवर**—उपजिह्वा के ऊपर नाक की ओर जाने वाले मार्ग को नासिका-विवर कहते है। यह मार्ग बाहर दो भागो मे विभक्त होकर दो नथुनो (नासापुटो)के रूप मे दिखाई देता है। अनुनासिक ध्वनियो का उच्चारण नासिका-विवर से नि सृत श्वास वायु से होता है। नासिक्य ध्वनियों को Nasal sounds कहा जाता है।

11. **भोजन-नलिका**—इस विवर के द्वारा भोजन आमाशय मे जाता है। ध्वनि के उच्चारण मे इसका कोई योगदान नही है।

12. **तालु** (Palate)—मुख-विवर मे उपजिह्वा से मसूड़ों तक जो गोलाकार (मेहराबदार) क्षेत्र है, उसे तालु कहते है। ऊपर की ओर स्थित ये सारे उच्चारण अवयव निष्क्रिय होते हैं, किन्तु कोमल तालु उसका अपवाद है। तालु प्रदेश को चार भागो मे बाँटा गया है—1. कोमल तालु, 2. मूर्धा, 3. कठोर तालु, 4. वर्त्स।

13. **कोमल तालु**(Soft Palate)—मूर्धा के भीतर और अलिजिह्वा से ऊपर का तालु प्रदेश कोमल तालु है। कोमल तालु गतिशील अश है। वह अलिजिह्वा के साथ ऊपर-नीचे होता रहता है। सोते समय कोमल तालु पर नियत्रण नही रह जाता। अत. सोते समय वह फड़कता है और खर्राटे की आवाज होती है। कोमल तालु मास का बना होता है। कोमल तालव्य ध्वनियों के उच्चारण मे कोमल तालु जिह्वा के स्पर्श के लिए नीचे झुक जाता है। कोमल तालु और जिह्वा के स्पर्श से विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित होती है।

14. **मूर्धा** (Cerebrum)—तालु के मध्य भाग का चिकना और सबसे ऊँचा भाग मूर्धा कहलाता है। मूर्धन्य ध्वनियों का उच्चारण इसके स्पर्श से होता है।

15 **कठोर तालु** (Hard Palate)—मूर्धा के आगे चिकना और खुरदुरा ढलान कठोर तालु है। यह वर्तुल और अस्थिमय है।

16. **वर्त्स** (Aleveolar region or Teeth ridge)—इसे दन्त कूट भी कहते है। दंत पंक्ति से ऊपर उठा हुआ खुरदुरा हिस्सा वर्त्स कहलाता है। यह उभरा हुआ विषम भाग होता है।

17. **जिह्वा** (Tongue)—ध्वनियों के उच्चारण का महत्त्वपूर्ण अग जिह्वा है। यह ध्वनि उच्चारक अग है। इस गतिशील उच्चारण अवयव के पर्याय ही भाषा के पर्याय हैं। फारसी मे जबान का अर्थ जिह्वा और भाषा दोनो है। फ्रासीसी मे जिह्वा का पर्याय Langue तथा लैटिन मे Lingua है। Lingua से ही Language और Linguistics शब्दो की रचना हुई है।

जिह्वा ओष्ठ से लेकर मूर्धा के अतिम अश तक का स्पर्श करती है और विभिन्न ध्वनियो का निर्माण करती है। यह लुठित (Rolled) अवस्था मे भी हो सकती है। अपने दोनो पार्श्व उठाकर भी यह श्वास को निकालकर ध्वनि उत्पन्न कर सकती है। जिह्वा को जिह्वा मूल, जिह्वा पश्च, जिह्वा मध्य, जिह्वा अग्र और जिह्वा नोक आदि भागो मे बाँटा जा सकता है।

18. **दन्त**—मुख-विवर मे ऊपर और नीचे की ओर दाँतो की पक्ति होती है। दाँत भी ध्वनि-उच्चारण मे सहायक है। ऊपर के दाँतो का ध्वनि-उत्पत्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। दाँत जिह्वा की नोक या नीचे के ओठ के साथ मिल कर ध्वनियों की उत्पत्ति करते हैं। ध्वनिशास्त्र मे दाँत से तात्पर्य दन्तपक्ति से है। दाँत के नीचे के भाग को दन्त-मूल और आगे के भाग को दन्त-अग्र कहा जाता है।

19. **ओष्ठ**—मुख-विवर के दोनो आच्छादनो को ओष्ठ कहा जाता है। उच्चारण अवयव मे सबसे अधिक स्पष्ट अवयव ओठ ही है। नीचे का ओठ उच्चारक होता है और ऊपर का उच्चारण-स्थान। दत्य और दंत्योष्ठ ध्वनियो के उच्चारण मे जीभ के साथ ओठ और दंत्योष्ठ का स्पर्श होता है। स्वरो के विवृत, सवृत, वर्तुल आदि रूपो के उच्चारण मे ओठ का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

ध्वनि की उत्पत्ति

श्वास-प्रक्रिया के अन्तर्गत नासिका या मुख-विवर मार्ग से हवा फेफड़ो मे पहुँचती है और इन्ही मार्गो से बाहर निकलकर ध्वनि की उत्पत्ति करती है। ध्वनि-विज्ञान का प्राचीन नाम शिक्षाशास्त्र है। पाणिनि ने शिक्षाशास्त्र मे ध्वनि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे लिखा है—

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।

मारुतस्तूरसि चरन मन्द्रं जनयति स्वरम
सोदीर्णो मूर्ध यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत.।
वर्णान् जनयते तेषां विभाग. पंचधा स्मृत. ।[1]

अर्थात् सबसे पहले आत्मा के साथ बुद्धि का सम्पर्क होता है और अपने अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति की इच्छा से मन को प्रेरित करता है। मन शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है। उससे वायु मे प्रेरणा उत्पन्न होती है। प्रेरित वायु हृदय-स्थल मे गतिशील होकर मन्द्रध्वनि उत्पन्न करती है और मूर्धा में अवरुद्ध होकर मुख मे पहुँचती है और पंचधा विभक्त होकर ध्वनियो को उत्पन्न करती है।

वाक्यपदीय मे भर्तृहरि ने भी ध्वनि-उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मेवागात्मनिस्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते।
मः मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागत.।
वायुमविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते।
अन.करण तत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते।
विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपै. पृथग्विधै.।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते।[2]

अर्थात् यह शब्द ही आन्तर ज्ञाता है। जो सूक्ष्म शब्द शक्ति रूप मे स्थित है, वह अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए स्थूल शब्द रूप मे भासित होता है। अंत.-करण ही अर्थ बताने की इच्छा होने पर मन बन जाता है और वह जठराग्नि से सयुक्त होकर पाक प्राप्त करता है तथा प्राणवायु मे धक्का लगाकर बाद मे वृत्ति और मन के सहित प्राण ऊपर की ओर चलता है। तब अन्तःकरण तत्त्व रूपी मन का आश्रय प्राणवायु मनोधर्म समाविष्ट होकर तेज की सहायता से बाहर शब्द के रूप मे भासित होता है। दाह के वशीभूत होकर प्राण वृत्ति विशिष्ट मन रूपी अन्त.करण से युक्त होकर वर्ण रूपी ग्रंथि का विभाग करके अनेक प्रकार से सुनाई पड़ने वाली ध्वनियो से शब्दो को अभिव्यक्त कर पुनः उन्ही वर्णो मे लीन होता है।

इसे सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—

तस्य प्राणे च वा शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेद प्रपद्यते।

---

1. पाणिनीय शिक्षा, 6-9
2. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 112-115

अर्थात् प्राण मे और बुद्धि मे रहने वाली, अर्थ बताने वाली शब्द की एक शक्ति है, जो उसमें व्यवस्थित रूप से रहती है। वही कठ, तालु आदि स्थानो से अकारादि रूप मे व्यक्त होती हुई क, ख आदि रूपो मे परिणत होती है।

इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि प्राण और बुद्धि मे स्थित शक्ति ही कठ आदि स्थानों से व्यवस्थित होकर विभिन्न ध्वनियो की उत्पत्ति करती है। पाणिनि और भर्तृहरि के अनुसार आत्मा (चेतन तत्त्व) और बुद्धि (ज्ञानतत्त्व) के संयोग से मन (प्रेरणा तत्त्व) के द्वारा निःसृत वायु ही शरीर के विभिन्न अवयवो के अवरोध से ध्वनि उत्पन्न करती है। मन मे भाव और विचार के उत्पन्न होने पर तथा उसे प्रकट करने की इच्छा होने पर ही ध्वनि की उत्पत्ति होती है। प्राणवायु का संचालन मन से होता है। प्राणवायु के सहयोग से वाग्यत्र के नियमित सचालन द्वारा ध्वनि उत्पन्न की जाती है।

ध्वनि-उत्पत्ति व्यापार में विचार या भाव (प्रत्यय) और ध्वनि का संश्लिष्ट सम्बन्ध है। परिवेश के फलस्वरूप भावों और विचारो के उत्तेजन से ही ध्वनि निसृत होती है। भावों के उत्तेजन से ऊर्जा उत्पन्न होती है। आतरिक उर्जा वाग्यंत्र के सम्पर्क मे आकर ध्वनि और शब्द रूप मे प्रस्फुटित होती है और श्रवण का विषय बनती है।

ध्वनियों के वर्गीकरण के आधार

ध्वनियो का वर्गीकरण तीन आधार पर किया जाता है—1. स्थान 2. करण, 3. प्रयत्न।

1. **स्थान**—ध्वनियो का स्थानगत वर्गीकरण स्थान के आधार पर होता है। उच्चारक वाग्यंत्र जिन स्थानो का स्पर्श करते हैं, उन्हे स्थान कहा जाता है। काकल से लेकर ओठ तक को उच्चारण-स्थान कहा जाता है। ये वाग्यत्र के स्थिर अवयव है। कठ, तालु, मूर्धा, दंत और ओठ से वाग्यत्र का स्पर्श होने से ऐसी ध्वनियो को कठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दत्य, ओष्ठ्य ध्वनि कहते हैं।

2. **करण**—उच्चारक अवयवो को करण कहते हैं। जीभ और नीचे का ओठ दो करण हैं। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा कोमल तालु को स्थान और करण दोनो के अतर्गत मानते हैं। करण गतिशील अवयव हैं।

3. **प्रयत्न**—ध्वनियों के उच्चारण के लिए किया गया यत्न प्रयत्न है। इसके दो भेद हैं—आभ्यतर और बाह्य। स्पृष्ट, इषत् स्पृष्ट, विवृत और संवृत आभ्यंतर प्रयत्न है। विवार, सवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित बाह्य प्रयत्न हैं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी ध्वनियो के वर्गीकरण के तीन आधार मानते हैं—1. ध्वनि की उत्पत्ति, 2. उसका गमन, 3. श्रवण।[1]

1 —डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 257

ध्वनियों का वर्गीकरण

वायु-प्रवाह की अबाधता के आधार पर ध्वनियो के दो भेद किये जाते है—स्वर और व्यंजन। यह वर्गीकरण अत्यन्त प्राचीन और प्रचलित वर्गीकरण है।

स्वर

'स्वर' शब्द 'स्वृ' धातु से निष्पन्न होता है। 'स्वृ' का अर्थ है ध्वनि करना। स्वर शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे ध्वनि के अर्थ मे किया गया है। 'सुर' या 'बलाघात' के अर्थ मे स्वर का प्रयोग ब्राह्मण ग्रंथो मे किया गया है। ध्वनि के एक भेद या Vowel के रूप में इसका प्रथम प्रयोग ऐतरेय आरण्यक में मिलता है, जहाँ स्वर को घोष कहा गया है—'यो घोषः स आत्मा।'

पतजलि के महाभाष्य मे स्वर को परिभाषित करते हुए कहा गया है—'स्वय राजन्तेति स्वराः।' पतजलि के साक्ष्य को स्वीकार करते हुए अन्यत्र कहा गया है—'यः स्वयं राजते तंतु स्वरमाह पतजलिः।'

स्वर को अँगरेजी Vowel कहते हैं। इसकी परिभाषा अनेक विदेशी विद्वानो ने की है।

ब्लूमफील्ड के अनुसार Vowels are modifications of the voiced sound that involve on closure, friction or contact of the tongue with lips.

हॉकिट के मत से 'A vocoid (vowel) is a sound in which resonances or colourings of one sort or another seem to be of primary importance[1]

डेनियल जोन्स के अनुसार 'A vowel (in normal speech) is defined as a voiced sound informing which the air issues in a continuous stream through the Pharynx and mouth, there being no obstruction and no narrowing such as would cause audible friction.[2]

ग्लीसन बताते हैं कि Median oral resonants are frequently referred to, loosely, as vowels.[3]

भारतीय विद्वानो ने भी स्वर की परिभाषा इस प्रकार दी है:

डॉ० उदयनारायण तिवारी के मत से 'वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण मे

---

1. ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स—सी० एफ० हॉकिट, पृ० 27
2. आउट लाइन ऑफ इंग्लिश फोनेटिक्स—डैनियल जोन्स, पृ० 23
3. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन, पृ० 253

निर्गत श्वास में कहीं अवरुद्धता न हो स्वर कहलाती है ।'[1]

डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार 'स्वर वह सघोष ध्वनि है, जिसके उच्चारण में श्वास-नलिका से आती हुई श्वास धारा-प्रवाह से अबाध गति से मुख से निकलती जाती है और मुख-विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि किंचिन्मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो ।'[2]

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा कहते है कि 'स्वर उसे कहते हैं, जिसका उच्चारण स्वयं हो ।' उनकी दूसरी परिभाषा के अनुसार 'स्वर वे ध्वनियाँ हैं, जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास मे कही कोई अवरोध नहीं होता ।'[3]

डॉ० भोलानाथ तिवारी प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों—स्वीट, पालपासी, डेनियल जोन्स आदि के अनुसार स्वर की परिभाषा इस प्रकार देते है—

'स्वर वह घोष (कभी-कभी अघोष भी) ध्वनि है जिसके उच्चारण मे हवा अबाध गति से मुख-विवर से निकल जाती है ।'[4]

एक अन्य परिभाषा के अनुसार 'जिस भाषा ध्वनि को श्रोता दूर तक और देर तक सुन सके, उसे स्वर कहते है ।'[5]

स्वर ध्वनि की विशेषताएँ

1. स्वर ध्वनियाँ सघोष ध्वनियाँ है (इसके अपवाद भी है)। इनके उच्चारण मे एक प्रकार की गूँज बनी रहती है ।

2. स्वर ध्वनियो के उच्चारण मे निःश्वास स्वरतंत्री से निकल कर ओठ तक अबाध गति से निकल जाती है ।

3 स्वर के उच्चारण मे बाधा न होने से ये स्पर्शी नही होते ।

4. सामान्यतः स्वरो के उच्चारण मे निरंतरता होती है । इसीलिए ये देर तक और दूर तक सुने जाते हैं ।

5. सामान्यतः सभी स्वर एक आक्षरिक होते है । किन्तु सयुक्त स्वर (Diphthong) मे एक स्वर आक्षरिक होता है और एक अनाक्षरिक ।

6. स्वर ध्वनियाँ व्यंजन ध्वनियों की अपेक्षा अधिक मुखर होती हैं । प्रवाही व्यजनो मे भी यही मुखरता होती है ।

7. स्वरो का उच्चारण अकेले भी सरलता से किया जा सकता है ।

---

1. भाषाशास्त्र की रूपरेखा—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 88
2. सामान्य भाषाविज्ञान—डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० 69
3. भाषाविज्ञान की भूमिका—आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 206
4. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 259
5 भाषाविज्ञान—डॉ० सीताराम झा 'श्याम' पृ० 120

8 स्वर का उच्चारण किसी स्थान विशेष से नहीं होता

स्वरों के वर्गीकरण और आधार

स्वरों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधार पर किया जा सकता है—

1. **जिह्वा की ऊँचाई**— स्वरों के उच्चारण में साँस अबाध गति से बाहर निकल जाती है, किन्तु जिह्वा की ऊँचाई के कारण हवा निकलने का मार्ग न्यूनाधिक सकीर्ण हो जाता है। इस आधार पर स्वर के 4 भेद किये जाते हैं—**विवृत, अर्ध विवृत, अर्ध संवृत, सवृत।**

विवृत—विवृत का अर्थ है खुला हुआ। जब जीभ का विशिष्ट भाग कम उठा हो तो मुख खुला हुआ या विवृत होगा। इसे निम्न भी कहा जाता है। जैसे—आ।

अर्ध विवृत—जब जिह्वा की ऊँचाई कम होती है, तब अर्ध विवृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इसमें जीभ और मुख-विवर के ऊपरी भाग की दूरी विवृत की अपेक्षा कम होती है। जैसे ऍ, औ।

सवृत—जब मुख-विवर के ऊपरी भाग और जीभ के बीच की दूरी कम-से-कम होती है अर्थात् जिह्वा की ऊँचाई अधिक से अधिक हो तब संवृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हे। जैसे, इ, ई, उ, ऊ।

अर्ध संवृत—जब मुख-विवर के ऊपरी भाग और जिह्वा के बीच की दूरी कम हो जाती है तो अर्ध सवृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे, ए, ओ।

2. **जिह्वा का उठा हुआ भाग**—जीभ उच्चारण मे करण का कार्य करती है। जीभ का अग्र, मध्य और पश्च भाग उठकर वायु निर्गम मार्ग को सकीर्ण कर देते हैं।

अग्र स्वर—जब जीभ का अग्रभाग उठकर निर्गम मार्ग को संकीर्ण करता है तो अग्र स्वर उच्चरित होते हैं। जैसे इ, ई, ए, ऍ।

मध्य स्वर—जिनके उच्चारण मे जीभ का मध्य भाग उठा होता है, उन्हे मध्य स्वर कहते है। जैसे अ, अॅ।

पश्च स्वर—जिनके उच्चारण मे जिह्वा का पश्च भाग उठकर निर्गम मार्ग सकीर्ण कर देता है, उन्हे पश्च स्वर कहते हैं। जैसे उ, ऊ, ओ, ओॅ, ऑ।

3. **ओठों के रूपाकार के आधार पर**—स्वरों के उच्चारण मे मुँह के भीतर वायु का नियमन जीभ करती है और बाहर ओठ। ओठों के रूपाकार दो प्रकार के होते हैं—वर्तुल और अवर्तुल।

वर्तुल—पश्च स्वरो के उच्चारण मे ओठ आगे को निकलकर गोल हो जाते है। उ, ऊ, ओ आदि वर्तुल है।

अवर्तुल—अग्र स्वरो के उच्चारण में ओठ सहज स्थिति मे रहते हैं। इ, ई,

ए, ऍ आदि अवर्तुल हैं ।

वर्तुल-अवर्तुल—आ ध्वनि वर्तुल-अवर्तुल होती है ।

4 **नासिका मार्ग की विवृति**—स्वर ध्वनियाँ निरनुनासिक होती है । जब मुख द्वार और नासिका द्वार दोनो से श्वास की क्रिया होती है तो अनुनासिक ध्वनियाँ उत्पन्न होती है । इसके दो प्रकार हैं—पूर्ण और रंजित ।

पूर्ण—जब श्वसन क्रिया मौखिक कम और अनुनासिक अधिक होती है तो स्वर पूर्ण अनुनासिक होता है । ठाँव, गाँव मे अनुनासिकता पूर्ण है ।

रंजित—जब श्वसन क्रिया मौखिक अधिक और नासिक्य कम हो तो अनुनासिकता रंजित होती है । राम, नाम आदि में आ मे रंजित अनुनासिकता है ।

5. **मात्रा**—स्वरों के उच्चारण मे कुछ समय लगता है । इस तरह समय (काल) की मात्रा के आधार पर स्वर के ह्रस्व और दीर्घ दो भेद होते है। ह्रस्व स्वरो के उच्चारण में कुछ समय लगता है। दीर्घ स्वरो के उच्चारण मे इससे अधिक समय लगता है । ऊ, इ, उ ह्रस्व स्वर है और आ, ई, ऊ दीर्घ स्वर हैं । र् आ म् अ (राम) मे आप्लुत स्वर है । कुछ लोगों के अनुसार ॐ प्लुत स्वर है ।

6. **रचना के आधार पर**—रचनात्मक गठन के आधार पर स्वर के दो वर्ग किये गये हैं ।

मूल स्वर—रचना के स्तर पर एकल स्वर मूल स्वर कहे जाते है । अ आ, इ ई, उ ऊ ।

सयुक्त स्वर—जिन स्वरो की रचना दो स्वरो के संयोग से हुई हो उन्हे संयुक्त स्वर कहते हैं । उच्चारण स्तर पर एक स्वर का उच्चारण क्षिप्रता से होता है । अ+इ=ए, अ+ए=ऐ, अ+उ=ओ, अ+ओ=औ ।

7. **स्वरतंत्री के आधार पर**—स्वतन्त्री के आधार पर स्वर ध्वनियो के तीन वर्ग होते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ।

उदात्त—नीचे से ऊपर उठने वाले अर्थात् आरोही स्वर को उदात्त कहते है।

अनुदात्त—ऊपर से नीचे आने वाले अवरोही स्वर को अनुदात्त स्वर कहते हैं ।

स्वरित—उदात्त और अनुदात्त के बीच उच्चरित होने वाले स्वरो को स्वरित कहते हैं ।

स्वरतन्त्रियों के आधार पर घोष और अघोष ध्वनि भी उच्चरित होती हैं ।

मान स्वर

ससार की विभिन्न भाषाओ की स्वर ध्वनियों की उच्चारण प्रक्रिया को सुनिश्चित करने वाले मानदण्ड को **मान स्वर** (Cardinal Vowels) कहते हैं । स्पष्टतः ये स्वर किसी भाषा विशेष के नहीं होते ये विभिन्न भाषाओं में पाये

जाने वाले मानक या आदर्श स्वर हैं। कुछ ऐसी स्वर-ध्वनियाँ हैं जो प्राय: सभी भाषाओं में पायी जाती हैं। उनका उच्चारण करना कठिन होता है। विदेशी भाषाओं को सीखते समय ऐसी कठिनाई का अनुभव होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए लदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डेनियल जोन्स ने विभिन्न भाषाओं के स्वरों के ज्ञान के लिए मानस्वर का अन्वेषण किया। उन्होंने आठ स्वरों को जिह्वा के चतुष्कोणीय आकार के रूप में प्रस्तुत किया जो भाषाविज्ञान में स्वर त्रिकोण (vowel Triangle) के नाम से विख्यात है। इसके दो आधार हैं—एक जिह्वा की अग्रता, मध्यता और पश्चता के आधार पर और दूसरा मुख-द्वार के संवृत और विवृत होने के आधार पर।

मानस्वरों की संख्या आठ है—ई, ए, ऍ, अऽ, आ, ऑ, ओ, ऍ।

हिन्दी ध्वनियों में मानस्वर
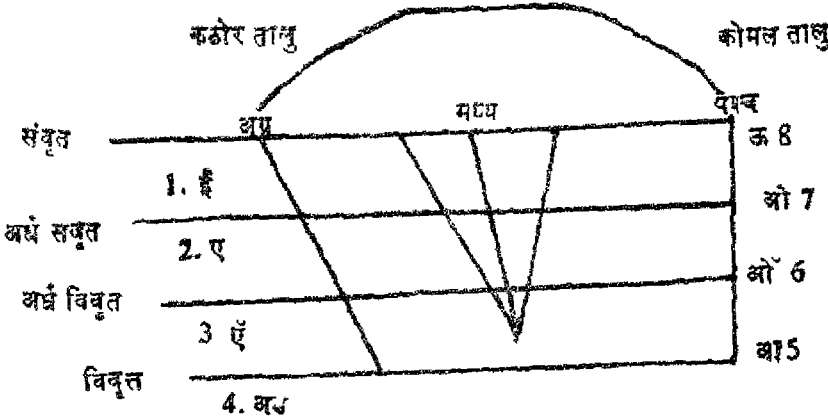
मानस्वरों का विवरण

1. ई (i) संवृत, अग्र, अवर्तुल
2. ए (e)—अर्धसंवृत, अग्र, अवृतमुखी
3. ऍ (E)—अर्धविवृत, अग्र, अवृतमुखी
4. अऽ (a)—विवृत, अग्र, अवृतमुखी
5. आ (a)—विवृत, पश्च, स्वल्पवृतमुखी
6. ऑ (ɔ)—अर्धविवृत, पश्च, स्वल्पवृतमुखी
7. ओ (o)—अर्धसंवृत, पश्च, वृतमुखी
8. ऊ (u)—संवृत, पश्च, वृतमुखी।

चतुष्कोण के आधार पर अग्रस्वर अवृतमुखी और पश्च स्वर वृतमुखी होते हैं।

गौण मानस्वर (Secondary Cardinal Vowels)

मानस्वरों की जितनी संख्या निर्धारित की गयी है, गौण मानस्वरों की संख्या भी उतनी ही हो सकती है। सम्प्रति उनकी संख्या सात निर्धारित की गयी है। वे इस प्रकार हैं—

ई, ए, एँ, आ, अ, ओ, ऊ

गौण मानस्वरों का विवरण
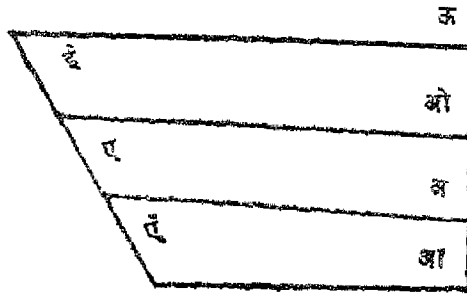
गौण मानस्वर में ई के उच्चारण में अन्य बातें मानस्वर की तरह ही होती हैं, केवल ओठ वृतमुखी होते हैं।

ए के उच्चारण में ओठ ओ के उच्चारण की तरह वृतमुखी होते हैं।

एँ के उच्चारण में ओठ आँ की तरह वृतमुखी होते हैं।

पश्च गौण मानस्वरों के उच्चारण में ओठ का अन्तर हो जाता है। इनमें ओठ अग्र की भाँति होते हैं।

गौण मानस्वर की ध्वनियों का प्रयोग फ्रांसीसी, जर्मन भाषाओं में होता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार मराठी तथा अंग्रेजी के कुछ क्षेत्रीय रूपों में भी गौण मानस्वर के प्रयोग होते हैं।

मानस्वर और गौण मानस्वर की पद्धति का प्रचलन यूरोप में होता है। स्वरों का स्थान निश्चित करना समीचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में स्वर उच्चारण के भिन्न स्थान भी हो सकते हैं। इसमें जीभ के अग्र, मध्य, पश्च और ओठ के गोलित या अगोलित होने के आधार पर किया जाता है।

इन स्वरों का प्रकृति-प्रवृत्ति का वर्णन मौलिक स्वरों की भाँति ही होता है।

संयुक्त स्वर (Diphthong)

संयुक्त स्वर दो स्वरों के संयोग से संघटित होता है। यह श्रुति या 'बल ध्वनि' है इसे मिश्र स्वर या सन्ध्यक्षर भी कहते हैं ब्लॉक ऐण्डट्रागर के अनुसार ए

आक्षरिक और एक अनाक्षरिक स्वर के योग मे सयुक्त स्वर निर्मित होते हैं। अनाक्षरिक स्वरो को व्यंजनात्मक स्वर भी कहा जाता है ।

सयुक्त स्वर के उच्चारण मे वक्ता एक स्वर का उच्चारण करता हुआ दूसरे स्वर के उच्चारण की ओर प्रवृत्त होता है। इससे दोनो स्वरो का संयुक्त उच्चारण होता है । सयुक्त स्वर में दोनों स्वरों का पूर्ण उच्चारण नही हो पाता। संयुक्त स्वर का प्रथम स्वर शीघ्रता से उच्चरित होता है और दूसरा पहले की अपेक्षा देर तक उच्चरित होता है। इसीलिए इन्हें श्रुति कहते है, जो चल ध्वनि है। मूलस्वर अचल ध्वनि होते है ।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'संयुक्त स्वर दो स्वरों का ऐसा मिश्र रूप है जिसमे दोनों अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खोकर एकाकार हो जाते हैं और एक झटके मे उच्चरित होते हैं।'[1] दोनो स्वर मिलकर एक हो जाते हैं, जिन्हे अक्षर भी कहते हैं।

बलाघात के आधार पर सयुक्त स्वर के तीन विभाग किये जाते हैं—
1. स्तरीय, 2. अवरोही, 3. आरोही।

स्तरीय—वे संयुक्त स्वर स्तरीय कहे जाते हैं, जिनमें बलाघात दोनो स्वरों पर समान रूप मे होता है। किन्तु उच्चारण में दोनों के उच्चारण मे बलाघात का थोड़ा-बहुत अन्तर आ ही जाता है।

अवरोही—अवरोही वे संयुक्त स्वर है, जिनमें बलाघात की शक्ति आरभिक स्वर पर होती है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते बलाघात अवरोहोन्मुख हो जाता है, अंग्रेजी के ay (Play, clay), ou (doubt), ai (night, sight), aw आदि संयुक्त ध्वनियों मे बलाघात प्रथम स्वर ध्वनि पर होता है।

आरोही—वे सयुक्त स्वर आरोही कहलाते हैं, जिनमें बलाघात द्वितीय (अन्तिम) स्वर पर होता है।

संयुक्त स्वर की निम्न विशेषताएँ हैं—

1. सयुक्त स्वर का गौण स्वर व्यंजनात्मक स्वर होता है।
2. संयुक्त स्वर विलंबित या द्रुत श्रुति के आधार पर ह्रस्व या दीर्घ होते हैं।
3. संस्युत स्वर का आदि अन्त से अधिक मुखर होता है या अन्त आदि से। प्रबलता, बलाघात या पारस्परिक मुखरता मुखरता के मुख्य आधार हैं।
4. सयुक्त स्वर के अन्त मे मध्य स्वर आता है तो वह अन्तःकेन्द्रिक कहलाता है। जब आदि में मध्य स्वर आता है तो उसे बाह्य केन्द्रिक कहते हैं।

हिन्दी मे संयुक्त स्वर अब व्यवहार मे नहीं आते। वैसे ऐ, औ हिन्दी के सयुक्त स्वर हैं। सयुक्त स्वरों का स्थान अब स्वर संयोगो ने ले लिया है। स्वर-

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी- पृ० 270

संयोगों की संख्या हिन्दी में अनुमानतः 55 है।

संयुक्त स्वर और स्वर-संयोगों में अन्तर है। संयुक्त स्वर में जिन इकाइयों का संयोग होता है वे अपनी मौलिक विशेषताओं को विसर्जित कर एक स्वतन्त्र विशिष्टता विकसित करती है और उस विशिष्टता को बनाये रखती है।

स्वर-संयोग में दो या दो से अधिक स्वर एक क्रम से आते है। वे स्वर अपनी इकाई, अस्तित्व और विशिष्टता सुरक्षित रखते है। संघटना के कारण उनकी प्रकृति में अन्तर आ सकता है।

व्यंजन

व्यंजन शब्द की व्युत्पत्ति 'अंज्' धातु से है। 'अंज्' का अर्थ है 'करना'। व्यंजन का शाब्दिक अर्थ है 'जो प्रकट हो'। व्यंजन शब्द का प्रयोग ऐतरेय आरण्यक से पहले नहीं मिलता। पतंजलि ने व्यंजन को परिभाषित करते हुए कहा है—'अन्वग् भवति व्यंजनमिति।' व्यंजन को विश्लेषित करते हुए उन्होंने कहा है—'व्यंजनानि पुनर्नट भार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रंगगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तवेत्याहुः। एवं व्यंजनान्यपि यस्य यस्या कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।'[1]

स्वर-व्यंजन की परिभाषा अन्यत्र भी इसी आलोक में दी गयी है—'यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतंजलिः। उपरिस्थायिना तेन व्यय व्यंजन मुच्यते।'

समझा जाता है कि व्यंजन स्वर की सहायता से उच्चरित होते है किन्तु पतंजलि के कथन से यह बात स्पष्ट नहीं होती। उन्होंने कहा है—'न पुनरन्तरेणाच व्यंजनस्योच्चारण मपि भवति।' ग्रीक वैयाकरण थ्रेक्स ने भी स्वर-व्यंजन की इसी रूप में व्याख्या की है।

अँगरेजी में व्यंजन को Consonant कहते हैं, जो लैटिन शब्द Consonantem से विकसित है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'दूसरे के साथ ध्वनित या उच्चरित होने वाला।' कुछ पाश्चात्य विद्वान् स्वर और व्यंजन नाम को अनुचित मानकर उनका दूसरा नामकरण करते है। उच्चारण और श्रवण के प्रभाव को ध्यान में रखकर पाइक ने स्वर ध्वनियों को वकॉइड (Vocoid) और व्यंजन ध्वनियों को कान्ट्वाइड (Contoid) नाम दिया है। हॉकिट भी पाइक से सहमत हैं। हेफनर स्वर ध्वनियों को आक्षरिक (Syllabic) और व्यंजन को अनाक्षरिक (Non syllabic) कहते हैं। किन्तु 'सिलबिक स्वर का समानार्थी न होता हुआ भी उसके निकट है और नानसिलबिक व्यंजन का पर्यायवाची न होता हुआ भी उससे बहुत दूर नहीं है।'[2] स्वर-व्यंजन के नये नामों की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, वे स्वर-व्यंजन की

---

1 महाभाष्य 6/1/2

2. डा० भोलानाथ तिवारी पृ० 260

परिभाषाओं के समान ही है। इससे यह प्रकट होता है कि स्वर-व्यंजन की प्रचलित परिभाषाएँ भाषाशास्त्र की दृष्टि में सर्वशुद्ध नहीं है, किन्तु जो परिभाषाएँ दी गयी है वे अंशतः सत्य अवश्य हैं। व्यंजन की प्रचलित परिभाषाएँ निम्नांकित हैं—

ब्लॉख ऐण्ड ट्रेगर के अनुसार 'व्यंजन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में फेफड़ों से आनेवाली वायु स्वरतंत्री या मुखमार्ग में कहीं पूर्णतया रोकी जाती है या अत्यन्त संकुचित मार्ग से निकलती है या मुख-विवर की स्वर सीमा से हटते हुए जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है या स्वरतंत्री के ऊपर वाले किसी वाग् अवयव में कम्पन पैदा करती है।'[1]

ब्रोशनन और मामबर्ग (Brosnahn and Malmberg) कहते हैं कि 'व्यंजन की विशेषता का निर्धारण तथाकथित संवृत उच्चारण से होता है। संवृत उच्चारण से अभिप्राय यह है कि ग्रसनी (Pharynx) और मुख में से जाते हुए अविश्वासद्वारीय वायु मार्ग में पूर्ण अथवा आंशिक अथवा आंतरायिक (Intermittant) अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इस अवरोध के परिणामस्वरूप वायु-प्रवाह या तो अवरुद्ध या बाधित हो जाता है या श्रवणीय घर्षण को प्रोत्साहित करता है।'[2]

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने व्यंजन की निम्न परिभाषा दी है—

व्यंजक वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से नहीं निकलने पाती। × × × इस प्रकार वायुमार्ग में पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित होता है।'[3]

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'व्यंजन वे ध्वनियाँ है, जिनके उच्चारण करते समय नि:श्वास में कहीं-न-कहीं अवरोध होता है।'[4]

एक अन्य परिभाषा में कहा गया है कि 'जिस भाषा ध्वनि को श्रोता बहुत कम दूर से और बहुत कम देर तक सुन सके उसे व्यंजन कहते हैं।'

इन परिभाषाओं के आधार पर स्वर और व्यंजन का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

1. स्वर का उच्चारण सरलता से अकेले भी किया जा सकता है, किन्तु श्, ज् स् को छोड़ व्यंजन ध्वनियों के अकेले उच्चारण में सावधानी की आवश्यकता होती है। फिर भी स्वतंत्र व्यंजनों के उच्चारण में स्वर ध्वनि का स्पर्श हो जाता है।

---

1. आउटलाइन्स ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस—ब्लॉख ऐण्ड ट्रेगर, पृ० 18
2. इन्ट्रोडक्शन टू फोनेटिक्स—ब्रोशनन ऐण्ड मामबर्ग, पृ० 83
3. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 259
4. भाषाविज्ञान की भूमिका आ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 206

2. स्वर का उच्चारण देर तक और दूर तक होता है, जबकि व्यजनो का उच्चारण देर तक नही हो सकता ।
3 स्वरों के उच्चारण में हवा बिना अवरोध के बाहर निकल जाती है, किन्तु व्यंजनो के उच्चारण मे स्पर्श के कारण पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित होता है ।
4. सभी स्वर आक्षरिक होते है, जबकि व्यजन अनाक्षरिक होते है ।
5 स्वर अधिक मुखर होते है, किन्तु व्यजन कम मुखर होते हैं ।
6. व्यजनो का उच्चारण स्थान विशेष से होता है, जबकि स्वरों का उच्चारण किसी खास स्थान से नही होता । इसीलिए स्वर अस्थान उच्चरित और व्यजन स्थान उच्चरित होते हैं । इन भेदकों के आधार पर स्वर और व्यजन को अलग-अलग वर्ग मे रखा जाता है ।

व्यंजनों का वर्गीकरण

स्थान के आधार पर

1. **स्वरयंत्रमुखी**—स्वरयत्न से उच्चरित ध्वनियों को स्वरयंत्रमुखी ध्वनि कहते है । हिन्दी की 'ह' ध्वनि स्वरयंत्रमुखी ध्वनि है । अरबी का 'हमजा' भी स्वरयंत्रमुखी ध्वनि है ।

2. **काकल्य**—स्वरयंत्रियो के सर्वथा बन्द होने पर काकल्य-स्पर्श से ध्वनि सुनाई पडती है । ouch का उच्चारण काकल्य स्पर्श से होता है ।

3. **उपालिजिह्वीय**—जो ध्वनियाँ स्वरयत्र और उपालिजिह्व के बीच उपालिजिह्व या गलबिसल मे उत्पन्न होती हे, उपालिजिह्वीय हैं । इस विधि से अरबी की 'हे' और ऐन ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं ।

4. **कोमल तालु या कंठ्य**—इन ध्वनियों का उच्चारण जिह्वा मूल या कोमल तालु को छूता है । इन्हें कठ्य भी कहा जाता है । पाणिनी के अनुसार 'अकुहविसर्जनीयाना कण्ठः ।' अर्थात् अ, क वर्ग, ह और विसर्ग का उच्चारण कठ से होता है ।

5. **मूर्धन्य**—मूर्धन्य ध्वनियो के उच्चारण में जीभ का अगला भाग मूर्धा का स्पर्श करता है—'मूर्धन्यः प्रतिवेष्टिाग्रम्' । 'जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्टितम् मूर्धनि टवर्गे ।, ऋ, टवर्ग, र और ष का उच्चारण मूर्धा से होता है (ऋटुरषाणं मूर्धा) ।

6. **तालव्य या कठोर तालव्य**—इन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वाग्र कठोर तालु के दोनों छोरो का स्पर्श करती है । ई, चवर्ग, य और तालव्य श का उच्चारण तालु से होता है—'इचुयशाना तालु ।'

7. **वर्त्स्य**—इनके उच्चारण मे जिह्वा नोक वर्त्य का स्पर्श करती है । हिन्दी की न्, न्ह और मराठी तथा खड़ी बोली की ल, स्, ज, ध्वनि का उच्चारण वर्त्स्य होता है ।

8. **दन्त्य**—जिह्वानोक और दंत की सहायता से उच्चरित ध्वनियाँ दन्त्य है। लृ, तवर्ग, ल, स का उच्चारण दन्त्य होता है—लृ 'तुलसाना दन्ताः।'

9 **ओष्ठ्य**—जिनका उच्चारण दोनों ओठों की सहायता से हो वे ओष्ठ्य ध्वनियाँ है। उ, पवर्ग और उपध्मानीय ध्वनियों का उच्चारण ओष्ठ्य है—उपूप-ध्मानीयानामोष्ठौ।'

10. **दन्तोष्ठ्य**—दाँत और ओठ की सहायता से उच्चरित ध्वनियाँ दन्तोष्ठ्य हैं। व और फ़ ध्वनियाँ दंतोष्ठ्य हैं—'वकारस्य दंतोष्ठ्म।'

प्रयत्न के आधार पर व्यंजन-वर्गीकरण

ध्वनियो के उच्चारण के लिए हवा को रोकने या विकृत करने की क्रिया को **'प्रयत्न'** कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर प्रयत्न को 'करण' या प्रदान कहते हैं। आजकल जीभादि को ही करण मानते हैं। आस्य का अर्थ मुख है। मुख के भीतर ध्वनि उच्चारण के लिए किये गये प्रयत्न को 'आस्य प्रयत्न' भी कहा जाता है—'आस्ये भवमास्य प्रकृष्टोयत्नः प्रयत्नः।' पतजलि के अनुसार 'ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलात्' अर्थात् ओठ से काकल तक अभ्यन्तर प्रयत्न का क्षेत्र है। पाणिनि के अनुसार 'स्पृष्टेषत्स्पृष्टेपद्विवृत विवृत-सवृतभेदात्' अर्थात् स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट, ईषत् विवृत, विवृत और सवृत अभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद हैं। स्पर्शी व्यंजनों का उच्चार स्पृष्ट है (स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शा-नाम्)। ईषत् स्पृष्ट अन्तस्थ (ईषत्स्पृष्टन्त स्थानाम्), ईषत् विवृत ऊष्म (ईष विवृतमूष्माणाम्), विवृत स्वर (विवृत स्वराणाम्) और सवृत ह्रस्व (ह्रस्वस्या वर्णस्य प्रयोगे संवृतं) वर्ण होते हैं।

अभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों को निम्न वर्गो मे विभाजित किया जाता है—स्पर्श, सघर्षी, स्पर्श संघर्षी, नासिक्य, पार्श्विक, लुंठित, कम्पन जात् और उत्क्षिप्त। डॉ० भोलानाथ तिवारी इस विभाजन मे अर्धस्वर को भी सम्मि-लित करते हैं।

क. **स्पर्श**—इसे 'स्फोट' भी कहा जाता है। स्पर्शी व्यजनो के उच्चारण मे उच्चारक अवयव और उच्चारण स्थान का पूर्ण स्पर्श होता है। स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण के तीन चरण हैं—नि'श्वास का आगमन, उसका अवरोध और उन्मोचन या स्फोट। स्फोटित उच्चारण मे तीनो चरणों का संयोग होता है। इस सयोग से उत्पन्न स्फोट के साथ ही ध्वनि सुनाई पडती है।

व्यंजन ध्वनियो का स्फोटित और अस्फोटित दो प्रकार से उच्चारण होता है। क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ हिन्दी मे स्पर्श ध्वनियाँ हैं। संस्कृत मे क से म तक की ध्वनियाँ स्पर्श हैं—'कादयो मावसानाः स्पर्शाः।'

ख. **संघर्षी**—संघर्षी व्यजनो के उच्चारण मे हवा को घर्षण करके निकलना

पडता है। इसी से इसे सप्रवाह, अव्याहत अथवा अनवरुद्ध भी कहते है। इसके उच्चारण मे शीत्कार या ऊष्म ध्वनि होती है। स, श्, ष् ध्वनियाँ सघर्षी होती हैं। 'श्' को उत्थितापार्श्व और 'स्' को सम्पार्श्व सघर्षी कहते हैं।

ग. स्पर्श-संघर्षी—जिन ध्वनियो के उच्चारण मे स्पर्श के साथ घर्षण होता है, उन्हे स्पर्श सघर्षी कहते है। हिन्दी मे च, छ, ज, झ ध्वनियाँ स्पर्श-सघर्षी है।

घ. नासिक्य—नासिक्य ध्वनियो के उच्चारण मे मुख विवर अवरुद्ध हो जाता है और कोमलतालु (कठस्थान) इतना सकुचित हो जाता है कि निःश्वास नासिका विवर से होकर निकलती है। ङ्, ञ्, ण्, न् और म् ध्वनियाँ नासिक्य होती हैं। सस्कृत व्याकरण मे नासिक्य ध्वनियो की गणना स्पर्श ध्वनियो मे की जाती है— 'कादयो भवसानाः स्पर्शाः।'

ङ. पार्श्ववर्ती—ये ध्वनियाँ सप्रवाह है। इन्हे पार्श्व या विभक्त व्यजन भी कहते हैं। इन ध्वनियो के उच्चारण मे मुख विवर के मध्य वायु अवरुद्ध होकर एक या दोनो पार्श्वों के बीच से निकलती है। हिन्दी की ल् ध्वनि पार्श्ववर्ती है।

च लुठित—जिन ध्वनियो के उच्चारण मे जीभ की नोक बेलन की तरह लपेट खाकर या लुठित होकर तालुप्रदेश को छूती है। इसके उच्चारण काल मे जिह्वा में कम्पन होता है। हिन्दी की 'र्' ध्वनि लुठित है। डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना और डॉ० भोलानाथ तिवारी 'र' को लुठित ध्वनि मानते है, जबकि डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ० कादरी इसे उत्क्षिप्त ध्वनि कहते है।

छ कम्पनजात्—कम्पनयुक्त ध्वनियो के उच्चारण मे जीभ की नोक तालु के अत्यन्त निकट जाती है और हवा के प्रवाह से इसमे कम्पन होता है। 'र' का उच्चारण कई भाषाओ मे कम्पनयुक्त होता है।

ज. उत्क्षिप्त—जीभ की नोक को उलट कर तथा तालु को झटके से मारकर उसे सीधा कर लेने से उत्क्षिप्त ध्वनियाँ होती हैं। हिन्दी की ड़, ढ़ ध्वनियाँ उत्क्षिप्त हैं।

अर्धस्वर—अर्धस्वर स्वर और व्यंजन के बीच की ध्वनि है। य, व अर्धस्वर ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण मे उच्चारण अवयव पहले इ या उ का उच्चारण करते है और तब व्यजन का उच्चारण करते है। इनके उच्चारण में हवा का प्रवाह तो चलता रहता है, पर सघर्ष नहीं होता।

बाह्य प्रयत्न के आधार पर व्यंजन-वर्गीकरण सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार 'बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा-विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणमहाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति' अर्थात् विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्प प्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ये ग्यारह भेद बाह्य प्रयत्न है। इनमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का सम्बन्ध सुर से है। हवा के कम-अधिक

निकलने से अल्पप्राण और महाप्राण व्यजनों का उच्चारण होता है। शेष 6 का उच्चारण स्वर तन्त्रियो से होता है। इनमे श्वास और अघोष तथा नाद और घोष एक ही माने जाते है। इस प्रकार व्यजनो को तीन कोटियो मे रखा जाता है—1. स्वर तन्त्रियो के आधार पर, 2. प्राणत्व के आधार पर, 3. सुर के आधार पर।

स्वरतन्त्रियों के आधार

विवार—जब स्वरतन्त्रियाँ पूर्णतः खुली रहती हैं तब विवार प्रयत्न होता है। यह प्रयत्न विवृत स्वरो के उच्चारण के समय भी होता है। हिन्दी 'आ' के उच्चारण मे विवार प्रयत्न होता है। विवार का अर्थ है स्वरतन्त्रियो का एक-दूसरे से अलग रहना।

संवार—संवार का अर्थ है निकट रहना। जब स्वरतन्त्रियाँ निकट रहने से लगभग बन्द रहती है तब सवार प्रयत्न होता है। इ, ई, उ, ऊ के उच्चारण मे सवार प्रयत्न होता है।

घोष—घोष ध्वनियाँ वे है, जिनके उच्चारण मे स्वरतन्त्रियो के निकट आ जाने से श्वास वायु निकलते समय कम्पन होता है। हिन्दी के कवर्ग आदि, पाँचो वर्ग की अन्तिम तीन ध्वनियाँ तथा य, र, ल, व, ज, ग, ह, ड, ढ आदि घोष ध्वनियाँ है। अँगरेजी की d, g, x, z ध्वनियाँ घोष ध्वनियाँ है।

अघोष—जब स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे से दूर होती है तो हवा स्वरतन्त्रियो को कपित किये बिना मुख विवर मे अवरुद्ध होकर निकल जाती है। इस तरह जिनके उच्चारण मे कपन नही होता उन्हे अघोष ध्वनि कहते है। हिन्दी के कवर्ग आदि पाँचो वर्ग की प्रथम दो ध्वनियाँ अघोष ध्वनियाँ है। अँगरेजी मे अघोष ध्वनियो की बहुलता है।

प्राणत्व के आधार पर

प्राण का अर्थ है वायु, श्वास, हवा की शक्ति। इस आधार पर कुछ व्यजन अल्पप्राण होते हैं और कुछ महाप्राण।

अल्पप्राण—जिन ध्वनियों के उच्चारण मे वायु की मात्रा अल्प हो या श्वास-बल अल्प हो, उन्हे अल्पप्राण कहते है। 'ह' ध्वनि शुद्ध प्राण के अधिक समीप होती है। अतः जिन व्यजनो के उच्चारण में 'ह' का सयोग नही होता, उन्हे अल्प-प्राण कहते है। हिन्दी के पाँचो वर्गो की पहली, तीसरी और पाँचवी ध्वनि अल्प-प्राण है—'वर्गाणा प्रथमतृतीयपञ्चमायणश्चाल्पप्राणाः।' य, र, ल, ड़ ध्वनियाँ भी अल्प प्राण होती हैं।

महाप्राण—जिन ध्वनियो के उच्चारण मे श्वास-बल अधिक लगता हो और

हवा का आधिक्य हो उन्हे महाप्राण कहते हैं। इन व्यंजनों का उच्चारण 'ह' ध्वनि सहित होता है। कवर्ग आदि पाँचों वर्गों का दूसरा तथा चौथा वर्ण महाप्राण होता है—'वर्गाणा द्वितीय चतुर्थौ शलश्च महाप्राणः।' इनके अतिरिक्त हिन्दी मे म्ह, ल्ह, र्ह, न्ह, ढ नयी विकसित ध्वनियाँ भी महाप्राण ध्वनियाँ है। इस प्रकार जिन ध्वनियो के उच्चारण मे रोमन की H और उर्दू की 'हे' ध्वनि का सयोग हो वे महाप्राण ध्वनियाँ है, शेष अल्पप्राण।

'ह' के संयोग से महाप्राण ध्वनियो के उच्चारण से यह नही समझना चाहिए कि महाप्राण ध्वनियाँ स्पर्श संघर्षी है। 'ह' संघर्षी ध्वनि है, जबकि 'क' स्पर्शी। इसलिए क्+ह् के सयोग से निर्मित 'ख' ध्वनि स्पर्श सघर्षी नही है, बल्कि शुद्ध स्पर्श ध्वनि है। अतः 'ख' को 'क' का महाप्राण रूप मानना ही उचित है।[1]

सुरगत प्रयत्न

सुरो का सम्बन्ध संघटना मे पाये जाने वाले स्वरो के साथ होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित।

उदात्त—जब उच्चारण मे स्वर आरोही हो तब प्रयत्न को उदात्त कहते है—'उच्चैरुदात्तः।' और भी कहा है—'आयामेनोर्ध्व गमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यन्ते स उदात्त संज्ञो भवति।' उदात्त का चिह्न ऊर्ध्वगामी ↑ होता है।

अनुदात्त—जब स्वर अवरोही होता है तब प्रयत्न को अनुदात्त कहा जाता है—'नीचैरनुदात्तः।' अन्यत्र कहा गया है ↓ 'नीचैर्मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणा यः स्वरो निष्पद्यन्ते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति।' अनुदात्त का चिह्न निम्नगामी—↓ होता है।

स्वरित—जब सुर सम पर होता है, अर्थात् न आरोही और न अवरोही, तब प्रयत्न को स्वरित कहते हैं—'समाहारः स्वरितः।'

उच्चारण शक्ति के आधार पर

उच्चारण शक्ति के आधार पर व्यजनों के सशक्त, अशक्त और मध्यम, तीन भेद किये जाते हैं। जिन ध्वनियो के उच्चारण मे मासपेशियाँ दृढ हो, उन्हे सशक्त कहते हैं। जैसे स, ट। अशक्त मे मासपेशियो मे शिथिलता होती है। जैसे र, ल। कुछ ध्वनियों की स्थिति इनके मध्य की होती है। जैसे च, श।

ह्रस्व और दीर्घ व्यंजन

ह्रस्व व्यजन मे एक ही व्यंजन होता है, जैसे क, च, प आदि दो व्यजनों के

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 324

संयोग को दीर्घ व्यंजन या व्यंजन द्वित्व कहा जाता है जैसे क्क, च्च, प्प आदि।

असंयुक्त व्यंजन अकेले होते हैं, उनमें अन्य व्यंजन संयुक्त नहीं होता। जैसे, क, ग, ब आदि। एक से अधिक व्यंजनों के संयोग को संयुक्त व्यंजन कहते हैं। जैसे म्भ, ब्ज, ल्य, प्र आदि।

जब एक से अधिक व्यंजनों का संयोग होता है तो ऐसे व्यंजन संयुक्त व्यंजन कहलाते है। किन्तु जब संयोग एक ही व्यंजन का हो तो उसे द्वित्व व्यंजन या दीर्घ व्यंजन कहा जाता है। जैसे छक्का, धक्का, कच्चा आदि। इसे प्रलम्बित व्यंजन कहना अधिक समीचीन है, क्योंकि एक ही व्यंजन का संयोग होने से उसका उच्चारण लम्बा हो जाता है। 'पक्का' में क का प्रलंबित उच्चारण ही होता है। यह प्रलम्बित उच्चारण अल्पप्राण व्यंजनों का ही होता है। महाप्राण व्यंजनों का दीर्घ या प्रलम्बित उच्चारण नहीं होता। जहाँ महाप्राण व्यंजनों का दीर्घ या प्रलम्ब उच्चारण होता है, वहाँ पहला अल्पप्राण हो जाता है, क्योंकि महाप्राण का प्रलम्बित या दीर्घ उच्चारण संभव ही नहीं है। जैसे मछ्छर नहीं, मच्छर उच्चारण होगा। घघ्घर नहीं घग्घर, झझ्झर नहीं झज्झर। इन उदाहरणों में अशक्त (प्रथम) महाप्राण अल्पप्राण की तरह उच्चरित होता है।

असामान्य व्यंजन

ऊपर जिन व्यंजनों का विश्लेषण किया गया वे बहि.स्फोटात्मक व्यंजन हैं। इनके उच्चारण में फेफड़ों से आने वाली हवा का उपयोग किया जाता है। इनके विपरीत कुछ ऐसे व्यंजन होते है, जिनका उच्चारण बाहर से आने वाली हवा पर निर्भर करता है। ऐसे व्यंजनों को अन्तः स्फोटात्मक व्यंजन कहा जाता है।

अभिनिधान (Imperfect Articulation)—अपूर्ण उच्चारण की औद्भूति को अभिनिधान कहा जाता है। औद्भूति के लिए आस्थापित, भक्ष्य अथवा मुक्त शब्द का प्रयोग मिलता है। इनका अक्षर सिद्धान्त और व्यंजन के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

अभिनिधान ध्वन्यात्मक औद्भूति है। शब्दगत या पदगत ध्वनियों का उच्चारण करते समय कहीं-न-कहीं ध्वनियों के उच्चारण में अपूर्णता रह जाती है। जब दो सवर्गीय या विषम वर्गीय व्यंजन एक साथ आते हैं तो मध्य ध्वनियों में से प्रथम या अन्त्य ध्वनियों का उच्चारण अपूर्ण होता है। यह अपूर्णता आभासित होती है। प्रतिशाख्य में लिखा है कि जब कोई स्फोट या अर्धस्वर (र को छोड़कर) दूसरे स्फोट के सामने या अन्त में आता है तब सामने वाली ध्वनि 'पीड़ित', 'सन्नतर' और 'हीन श्वासनाद' हो जाती है। विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार पहला स्फोट अभिनिधान के प्रभाव से ग्रस्त हो जाता है। दूसरे वर्ग के अनुसार जहाँ व्यंजनों का द्वित्व होने पर ही यह प्रभाव दिखाई पड़ता है। एक वर्ग

वियुक्त विभक्तियो मे ही अभिनिधान मानता है। चरक, कलम आदि का उच्चारण म।नक रूप में नही होता।

अन्तःस्फोटात्मक एक स्पर्श व्यंजन (Implosive)—यह बहि स्फोटात्मक ध्वनि से भिन्न प्रकार की ध्वनि होती है। ये स्पर्श व्यजन होते हैं। इन व्यजनो के उच्चारण मे मुंह के किसी भाग मे स्पर्श या अवरोध के साथ ही स्वरयंत्र काफी नीचे कर दिया जाता है। परिणामतः स्वरयत्र और स्पर्श स्थान के विस्तार के कारण हवा हल्की हो जाती है। इस स्थान पर बाहर की हवा भीतर आती है और ध्वनि उच्चरित करती है। वेस्टरमैन के मत से इसके तुरन्त बाद सामान्य ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस प्रकार की ध्वनियाँ दत्य, तालव्य, कोमल तालव्य और द्वयोष्ठ्य होती हैं। भारत की सिंधी (ज, ब) तथा राजस्थानी बोलियो मे ऐसी ध्वनियाँ मिलती है। अफ्रीकी और अमरीकी भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। अन्त.स्फोटात्मक ध्वनियाँ सामान्यतः हल्की होती है।

उद्गार व्यजन (Ejective या Glotalized Shop)—उद्गार व्यजनो को निक्षेपित या अलिजिह्वीय व्यजन भी कहते हैं। निक्षेपण या उद्गार बहिः-स्फोटात्मक अथवा स्पर्श-संघर्षी ध्वनियो के उच्चारण में पाया जाता है। इसके उच्चारण के समय मुंह की मासपेशियों मे सकोच होने मे सकुचित रहती है और उन्मोचन होते ही जोर मे बाहर निकलती है। इसमें मुंह मे स्पर्श के साथ स्वरयत्र स्वरतंत्रियो के समीप आने से बन्द हो जाता है। स्पर्श के अतिरिक्त सघर्षी, पार्श्विक तथा अर्धस्वर का उच्चारण भी इस प्रकार स्वरतत्र बन्द करके हो सकता है। ये ध्वनियाँ अफ्रीकी भाषाओं मे पाई जाती है।

क्लिक (Click)—इनमे जीभ को नीचा करके तथा मुखद्वार को बन्द करके उच्चारण किया जाता है। क्लिक ध्वनियो का निर्माण जीभ और तालु के बीच मे निर्वातता उत्पन्न करके होता है। इसकी दो विशेषताएं हे—(1) मुँह में दो स्थानो पर स्पर्श का अवरोध, (2) हवा का बाहर से भीतर जाना। क्लिक ध्वनियो के छ. भेद होते हैं। वेन्द्रिये के अनुसार 'प' का विकास 'क्लिक' के कारण है। फ्रासीसी मे सन्देह या आश्चर्य प्रकट करने के लिए 'त' का प्रयोग होता है। हिन्दी मे च्-च् या टिक्-टिक् क्लिक ध्वनियाँ है। क्लिक ध्वनियो के घोष-अघोष, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक-निरनुनासिक दोनो रूप हो सकते हैं।

अन्तस्थ—स्वर और व्यजन के बीच की ध्वनियाँ अन्तस्थ कहलाती है। इनका उच्चारण पहले स्वर की तरह प्रारम्भ होकर व्यंजन की तरह समाप्त होता है। य और व ध्वनियाँ अन्तस्थ ध्वनियाँ हैं। इन्हे अर्धस्वर भी कहा जाता है। य का उच्चारण इ से तथा व का उच्चारण उ से प्रारम्भ होता है। इनके उच्चारण मे स्पर्श और सघर्ष का अनुभव नहीं होता। स्वनग्रामिक स्तर पर ये ध्वनियाँ कभी आक्षरिक होती हैं, कभी अनाक्षरिक। इसीलिए य और व को अन्तस्थ कहा

जाता है ।

ध्वनि गुण (Sound Quality)

सामान्यतः भाषा का आधार ध्वनि है। ध्वनि में स्वर और व्यजनो का संयोग होता है। किन्तु लिपियाँ आज भी अपूर्ण है। इसलिए उनके द्वारा यथावत् मंतव्य अकित करना संभव नही हो पाता। मन्तव्य के लिखित रूप मे स्वर और व्यजन का ही रूप प्रकट होता है, किन्तु इनके साथ अखण्डात्मक रूपग्रामिक ध्वनियाँ भी सयुक्त है, जिनको पद या रूप से अलग नही किया जा सकता। ये स्वर-व्यजन सापेक्ष है। अर्थ को नियन्त्रित करने या स्पष्ट करने के लिए अखण्डात्मक ध्वनियो का प्रयोग आवश्यक है। इन्हें Supra Segmental Feature कहा जाता है। मात्रा, बलाघात, सुर आदि के द्वारा ही पद या रूप का अर्थ प्रस्फुटित होता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी सुर और बलाघात को आघात कहते है। सुर, बलाघात और मात्रा को ही ध्वनि गुण कहा जाता है।

मात्रा (Quantity, Length, Mora या Chrone)—मात्रा स्वर-व्यजन ध्वनि के उच्चारण की अवधि है। किसी ध्वनि के उच्चारण में समय की एक खास मात्रा लगती है। ध्वनि उच्चारण मे जो समय या काल लगता है उसे उच्चारण का 'मात्रा-काल' कहते है। किसी ध्वनि के उच्चारण मे कम समय लगता है, उसे ह्रस्व कहते है। किसी के उच्चारण में पहले की अपेक्षा अधिक समय लगता है, उसे दीर्घ कहते है। किसी के उच्चारण मे बहुत अधिक समय लगता है, उसे प्लुत कहा जाता है।

मोटे रूप मे मात्रा के पाँच भेद किये जाते है—1. ह्रस्वार्ध, 2. ह्रस्व, 3. ईषत् दीर्घ, 4. दीर्घ 5. प्लुत। भारतीय प्रतिशाख्य, शिक्षा तथा व्याकरण शास्त्र मे ध्वनि का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत मात्रा के मानक विभाजन भारतीय वैयाकरणो की देन है। सामान्यत. यह समझा जाता है कि ह्रस्व एकमात्रिक, दीर्घ द्विमात्रिक और प्लुत त्रिमात्रिक होते है। वाजसनेयी प्रतिशाख्य में व्यजन की मात्रा स्वर से आधी मानी गयी है (व्यजनमर्द्ध मात्रा)। किन्तु ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के उच्चारण 1, 2 और 3 गुना अधिक मात्रा नही लगती। यह सापेक्षिक मात्रा-बोध के लिए ही ऐसा कहा जाता है। ऐसा माना गया है कि ह्रस्व और दीर्घ में मात्रा का अनुपात 1 और 1.4 का होता है। प्लुत का मात्रा-अनुपात विस्तृत होता है। वह 1 से 10 के अनुपात तक जा सकती है। इसलिए इन्हें लघु, प्रलम्बित और परिवर्धित मात्रा-रूप ही मानना उचित होगा। नारद शिक्षा, ऋक् प्रतिशाख्य तथा अन्य व्याकरण शास्त्रो मे ह्रस्व की मात्रा आँख की झपक, नीलकंठ की एक बोली, बिजली की एक चमक के बराबर मानी गयी है। दीर्घ कौवे की एक बोली और प्लुत मोर की एक बोली के बराबर मानी गयी है। 'ओ३म' प्लुत है ओ के बाद तीन लिखकर ह्रस्व की अपेक्षा तीन गुनी मात्रा का बोध

कराया जाता है। संबोधन या पुकारने मे प्लुत की मात्रा 10 या उससे भी अधिक तक जाती है। भोजपुरी मे पुकारते समय 'रमवा रे' या 'भइया हो' मे 'रे' और 'हो' की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है।

ऐसा माना जाता है कि स्वराश्रित होने से व्यजन की मात्रा नही होती। किन्तु यह समीचीन नही है। स्वर, अर्धस्वर, व्यंजन सबकी मात्रा होती है। स्वर की मात्रा ह्रस्व और दीर्घ में विभाजित है। व्यजन स्पर्शी होते हैं। अत: अवरोध के कारण इनमे दीर्घ मात्रा नही आ पाती। किन्तु श, स और ज ऐसे व्यंजन है, जिनका उच्चारण देर तक किया जा सकता है। अन्य व्यजनों मे दीर्घता द्वित्व से आती है। 'बच्चा' में दो च नही हैं। वास्तव मे 'च' का दीर्घ रूप 'च्च' है। दो व्यजनों का सयुक्त रूप मात्रा की दीर्घता के कारण प्रलम्बित हो जाता है।

सामान्यत: स्वरो के उच्चारण मे अधिक समय लगता है। उसके ह्रस्व और दीर्घ रूप मात्रा के महत्व के अनुक्रम से होते हैं। अर्ध स्वरो के उच्चारण में उससे कम समय लगता है, जबकि व्यंजनों में उससे भी कम समय लगता है। व्यजनो मे अनुनासिकों के उच्चारण मे सबसे अधिक समय लगता है। लुंठित, पार्श्विक, ऊष्म संघर्षी मे अनुनासिक की अपेक्षा अनुपातत कम समय लगता है। स्पर्शी व्यजनो मे सबसे कम समय लगता है। स्पर्शी व्यंजनो में दत्य मे कम, तालव्य मे उससे अधिक और ओष्ठ्य में उससे अधिक समय लगता है। घोष मे कम और अघोष मे उससे ज्यादा समय लगता है। व्यजनो की मात्रा ह्रस्वार्द्ध ही मानी जाती है।

आदि मे आने वाले स्वर की अपेक्षा मध्य मे आने वाली ध्वनि की मात्रा कम होती है। 'अचल' मे अ की मात्रा 'च' के 'अ' की मात्रा से अधिक होती है। बलाघातयुक्त स्वर बलाघातहीन स्वर की अपेक्षा अधिक मात्रा वाला होता है। 'बिचारा' में 'चा' का 'आ' 'रा' के 'आ' की अपेक्षा अधिक मात्रा वाला है। शब्द के अन्त में आने वाला स्वर अन्यत्र आने वाले स्वर की अपेक्षा कम मात्रा वाला होता है। इसी प्रकार आदि में आने लाले अर्धस्वर अन्त मे आने वाले अर्धस्वर की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं।

आघात (Accent)

आघात शब्द का प्रयोग ऐक्सेन्ट (Accent) के प्रतिशब्द के रूप मे हिन्दी मे प्रचलित है। कुछ विद्वान् आघात और बलाघात को एक ही मानते हैं। किन्तु बलाघात (Stress) बल सापेक्ष होता है, जबकि आघात (Accent) हिन्दी में एक शिथिल प्रयोग के रूप में प्रचलित है। बलाघात और आघात के लिए अँगरेजी मे प्रचलित Stress और Accent शब्द यह घोषित करते हैं कि ये दोनो दो हैं।

पामर आदि विद्वानों ने आघात को व्यापक एवं विस्तृत अर्थ दिया है और

उसके अन्तर्गत ध्वनि विषयक सभी प्रक्रियाओं—मात्रा, सुर-लहर(Intonation) बलाघात (Stress), ध्वनि प्रकृति आदि को वे स्वीकार करते हैं।

प्रेटर, पेई, गेजर, ग्लीसन आदि एक्सेन्ट और स्ट्रेट को एक ही मानते हैं। किन्तु हॉकेट दोनों को समानार्थी नहीं मानते। ब्लूमफील्ड और ब्लाख ऐण्ड ट्रेगर एक्सेन्ट के अन्तर्गत स्ट्रेस, टोन और पीच को भी समाहित कर लेते है। ब्राशनाहन और बर्टिल मामबर्ग के अनुसार 'अब एक्सेन्ट के प्रयोग को सामान्यतया सभी ध्वनि गुणों और विशेष रूप से स्ट्रेस के पर्यायवाची रूप मे छोड़ दिया गया है। एक्सेन्ट का प्रयोग अब प्राय: नही होता।'[1]

संसार की कुछ भाषाएँ आघात युक्त और कुछ आघात मुक्त हैं। आघात के सहारे ही वक्ता के निवास का पता चलता जाता है। शॉ के 'पिग्मेलियन' मे यह द्रष्टव्य है। आघात के कारण ही ध्वनिलोप और ध्वनि-आगम की क्रिया होती है। इसके कारण ही कुछ ध्वनियाँ घोष-अघोष, अल्पप्राण-महाप्राण होती हैं। ध्वनियो का स्वतंत्र वितरण आघात के आधार पर ही जाना जाता है। वास्तव में आघात शब्द सघनता (Intensity) और सुर (Pitch) के समवेत अभियान के लिए प्रयोग में आता है।

आघात के दो भेद किये गये है—1. बलाघात (Stress Accent) और 2. स्वराघात या सुराघात या तारत्व (Pitch Accent)।

बलाघात

बलाघात स्वनिक सघनता (Phonetic Intensity) है। जो वाक्य हम बोलते हैं, उसके सभी खण्डो पर बराबर बल नही देते। कभी एक शब्द पर अधिक बल देते है तो कभी दूसरे पर। शब्द भी जब एकाधिक अक्षरो का होता है तो उसके सभी अक्षरो पर बराबर बल नही दिया जाता। इस प्रकार जिस शब्द या अक्षर पर बल दिया जाता है, उसका उच्चार सघन हो जाता है। इसी सघनता, जोर, बल या आघात को बलाघात कहते हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी बलाघात की परिभाषा देते हुए कहते है—'बलाघात उच्चारण-शक्ति की वह मात्रा है, जिससे किसी भाषिक इकाई (ध्वनि, अक्षर, शब्द, वाक्यांश, वाक्य) का उच्चारण किया जाता है, तथा जो उच्चारण के लिए भीतर से आती हुई हवा की तीव्रता एव उच्चारण मे सम्बद्ध मासपेशियो की दृढ़ता पर निर्भर करती है।'[2] इससे स्पष्ट होता है कि कोई भी ध्वनि पूर्णत: बलाघात रहित नही होती। इतना ही नही, डॉ० तिवारी के अनुसार वाक्य और वाक्यांस पर भी बलाघात रहता है।

---

1. इन्ट्रोडक्शन टू फोनेटिक्स—ब्राशनाहन ऐण्ड मॉमबर्ग, पृ० 147
2 भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 335

किन्तु व्यावहारिक रूप में अक्षर और शब्दो पर ही बलाघात दिखाई पड़ता है। तुलनात्मक दृष्टि से वे ध्वनि, अक्षर, शब्द, वाक्यांश और वाक्य पर भी बलाघात मानते हैं।

डॉ० तिलक सिंह के अनुसार 'स्वनिक सघनता' (Phonetic Intensity) प्रकार्यात्मक इकाई (Functional Unit) बनकर बलाघात कहलाता है।'[1] इस प्रकार स्वनिक स्तर पर प्रयोग मे आने वाली सघनता ही स्वनिक स्तर पर बलाघात कहलाती हैं।

डॉ० हरीश के मत मे 'जो शक्ति-परिमाण अक्षरो अथवा शब्दो के बोलने मे लगता है, उसे बलाघात कहते है।'[2]

डेनियल जोन्स के अनुसार 'जिस शक्तिक मात्रा से किसी ध्वनि अथवा अक्षर का उच्चारण किया जाता है, उसे बलाघात कहते हैं।'[3]

इससे जाहिर होता है कि अधिकांश भाषावैज्ञानिक यह मानते है कि बलाघात ध्वनि अक्षरो के उच्चारण के लिए प्रयुक्त शक्ति या बल है। किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, डॉ० तिवारी के अनुसार पदबन्ध और वाक्य के स्तर पर भी बलाघात होता है। इसका आधार यह बताया जाता है कि बलाघात सापेक्षिक होता है और भाषा के प्रत्येक स्तर पर उसका प्रयोग होता है। इसे कुछ विद्वान् उचित नहीं समझते। अँगरेजी भाषा मे बलाघात ध्वनि ग्रामिक होता है, जबकि वह मात्र ध्वन्यात्मक होता है।

भाषाशास्त्रियों के अनुसार बलाघात के दो भेद होते है—शब्द बलाघात, और वाक्य बलाघात। किन्तु डॉ० तिवारी ध्वनि, अक्षर, शब्द, वाक्यांश और वाक्य बलाघात मानते हैं। डॉ० हरीश बलाघात दो स्तर पर मानते है—स्वनिक स्तर और स्वनिम स्तर। ग्लीसन ने अँगरेजी मे 4 प्रकार के बलाघात का उल्लेख किया है—1. प्रधान (Primary) 2. गौण (Secondary) 3. दुर्बल (Weak) 4 क्षेत्रीय (Territory)

1. **ध्वनि बलाघात**—इसमे एक ध्वनि (स्वर या व्यंजन) पर बलाघात होता है। जिस अक्षर पर बलाघात होता है उसे शिखर और शेष को गह्वर कहते है। जैसे गज् शब्द में ग्+अ+ज्+अचार ध्वनियाँ हैं। इनमें 'अ' पर बलाघात होने से 'अ' शिखर और शेष गह्वर हैं।

2. **अक्षर बलाघात**—स्वतंत्र शब्द मे या वाक्य के शब्द मे कुछ अक्षर अपेक्षाकृत अधिक बल के साथ उच्चरित होते हैं, जबकि अन्य कम शक्ति के साथ।

---

1. नवीन भाषाविज्ञान—डॉ० तिलक सिंह, पृ० 126
2. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश, पृ० 155
3 ऐन आउट लाइन ऑफ इगलिश फोनेटिक्स—डनियल जोन्स पृ० 245

स्मरणीय है कि बलाघात प्रत्येक अक्षर पर होता है, किन्तु कुछ पर कुछ अधिक होता है। इसलिए कोई भी अक्षर बलाघात सहित नहीं होता। सभी अक्षर सघनता या उच्चार की शक्ति के आधार पर अधिक बलाघात-युक्त और न्यून बलाघात-युक्त होते हैं। ग्लीसन ने ठीक ही कहा है कि आक्षरिक बलाघात प्राथमिक, गौण, दुर्बल या क्षेत्रीय होता है। बलाघात-रहित कोई भी अक्षर उच्चरित नहीं होता। अँगरेजी ने बलाघात हीन (Unstressed) और द्विबलाघात युक्त (Double Stress) अक्षरों (Syllables) की कल्पना की जाती है। स्पष्टत. हिन्दी और अँगरेजी बलाघात प्रधान भाषाएँ है।

विद्वानों ने अक्षर बलाघात को ही शब्द बलाघात कहा है अर्थात् शब्द के अवयव—अक्षर—पर बलाघात। बलाघात का ज्ञान और प्रयोग शुद्ध और सही उच्चारण के लिए आवश्यक है। बलाघात का सही प्रयोग न होने से ही भारतीय अँगरेजी का अस्वाभाविक उच्चारण करते है।

3. **शब्द बलाघात**—जब वाक्यान्तर्गत किसी शब्द पर बलाघात देते है तो वाक्य के अर्थ में थोड़ा परिवर्तन आ जाता है। 'राम आज रोटी खायेगा' वाक्य मे सभी शब्दों पर समान बलाघात हो तो सामान्य अर्थ प्रकट होगा, किन्तु किसी एक शब्द पर बलाघात की मात्रा बढ़ा देने पर अर्थ मे थोड़ा परिवर्तन हो जायेगा। 'आज' पर बल दिया जाय तो अर्थ होगा कि और दिन भात खाता था या खायेगा, किन्तु आज वह रोटी ही खायेगा। इसे ही शब्द बलाघात कहते हैं।

स्वतन्त्र शब्द मे ही ध्वनियों या अक्षरों पर बलाघात दिया जाता है, किन्तु उससे अर्थ-परिवर्तन नही होता। जैसे जाँघ का जाँग, शाक का साग, हाथी का हाती, हाथ का हात। हिन्दी मे तालव्यीकरण, मूर्धन्यीकरण, महाप्राणीकरण आदि बलाघात के ही परिणाम है। स्वतन्त्र शब्द बलाघात मूलतः आक्षरिक होता है। यह अर्थभेदक नही है। अँगरेजी में दोनों प्रकार के बलाघात पाये जाते हैं।

वाक्यान्तर्गत शब्द बलाघात का सम्बन्ध अर्थ से है। बलाघात परिवर्तित होते ही अर्थ बदल जाता है। शब्द बलाघात संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, प्रधान क्रिया और क्रिया विशेषण पर ही होता है।

4. **वाक्य बलाघात**—अन्य वाक्यों की तुलना से एक खास वाक्य को सापेक्षिक उच्च स्वरता (Relative Loudness) प्रदान करने के कारण इसे वाक्य बलाघात कहते है। प्रयोजनवश जैसे आज्ञा, प्रश्न, आदेश, आश्चर्य आदि व्यक्त करने के लिए एक विशेष वाक्य के शब्द या शब्द-समूह पर विशेष बल दिया जाता है। वैसे अन्य वाक्यों, शब्दों या शब्द-समूहों मे बलाघात सर्वत्र रहता है। केवल उनमे न्यूनता-अधिकता हो जाती है। बल की अधिकता के कारण वाक्य, शब्द या शब्द-समूह का अर्थ प्रमुख होता है। जब अर्थ मे मौलिक परिवर्तन आ जाये तब वह रूप विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र मे आ जाता है।

-युक्त वाक्य छोटा होता है बड़ा होने पर समस्त प्रमुख

शब्दो तक ही सीमित होता है। शेष पर बलाघात दुर्बल हो जाता है।

बलाघात उच्चस्वरित होता है, इसलिए उसमे अन्य की अपेक्षा अधिक शक्ति का प्रयोग होता है। इस क्रिया मे फेफड़ो पर अधिक दबाव पडता है।

बलाघात से उच्चारण अवयवो मे अधिक कसाव आ जाता है।

बलाघात के समय बाह्य अंगो मे प्रतिक्रिया होती है। भौह सिकुडना, ललाट पर बल पड़ना, हाथ हिलाना आदि सामान्य अग सकेत बलाघात के साथ ही दृष्टिगत होते है।

अधिक बलाघात-युक्त अक्षर अन्य से अधिक प्रमुख और मुखर हो जाते है। इससे अन्य पार्श्ववर्ती ध्वनियाँ दुर्बल और कभी-कभी लुप्त भी हो जाती है। जैसे अन्नाद्य >अन्नाज >अनाज >नाज, अश्ववार >अस्सवार >असवार, आश्चर्य >आश्चरज >अचरज, राम + मोहन = रम्मोहन, आकाश >अकास, शाबाश की ध्वनि शब्बास सुनाई पड़ती है।

तान, सुर या सुरस्वन (Tone)

बलाघात के समान सुर भी मनोवैज्ञानिक होता है। घोष ध्वनियो के उचारण मे स्वरतन्त्रियो मे कम्पन होता है। यह कम्पन ही सुराघात है। यह कम्पन कभी उच्च और कभी निम्न होता है। स्वरतन्त्रियो के कम्पन की वृत्ति (Frequency of Vibration) पर सुर की उच्चता और निम्नता निर्भर होती है। अघोष ध्वनियो के उच्चारण मे कम्पन होता ही नही। इसलिए घोष ध्वनियो के उच्चारण मे ही सुराघात होता है।

सुराघात ध्वन्यात्मक होते हुए भी अर्थ-भेदक होता है। पीटर लेडफोग्ड के अनुसार Pitch variations that affect the meaning of a word are called tones. पाइक ने भी स्वीकार किया है कि तान के आधार पर भी शब्दो के अर्थ बदल जाते हैं तथा शब्दो के प्रत्येक अक्षर पर सापेक्षिक स्वराघात(Pitch) रहता है।

स्वराघात एक ऐसी ध्वनिमूलक सृष्टि है जो ध्वनि-तरंगो की बार-बार आवृत्ति से उत्पन्न होती है। स्वरतन्त्रियो की क्षिप्रता उसकी उत्पत्ति का आधार है। कंपनावृत्ति के आरोह-अवरोह से सुराघात होता है। जब कंपनावृत्ति त्वरित होती है तब सुर उच्चाभिमुख होता है और जब उसमें शिथिलता होती है तो वह निम्नाभिमुख होता है। सुर का आरोह-अवरोह स्वतन्त्रियो की गति और हवा की शक्ति पर निर्भर करता है।

सुर या तान तारत्व का सम्बन्ध संगीत से मूलतः होता है। वैदिक भाषा स्वराघात-प्रधान भाषा थी। इसलिए वैदिक मन्त्रो का सही उच्चारण स्वराघात के नियमों के अंतर्गत होता था। स्वराघात के नियमों का पालन न करने से मंत्रो का अर्थ बदल जाया करता था। वैदिक उक्ति 'इन्द्रोशत्रुर्वर्धस्व' के सदर्भ मे प्रसिद्ध है

कि दैत्यो ने इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की वृद्धि के लिए ऐसा कहा था। इसके लिए उन्हे इन्द्र पर स्वराघात देना चाहिये था—'इन्द्रो शत्रुर्वर्धस्व', जिसका अर्थ है इन्द्र का जो शत्रु है अर्थात् वृत्रासुर, उसकी वृद्धि हो। किन्तु उन्होने शत्रु पर स्वराघात दिया— इन्द्रशत्रु.वर्धस्व', जिसका अर्थ इन्द्र है जो शत्रु उसकी वृद्धि हो। स्वराघात की अशुद्धि से अर्थ विपरीत अर्थ मे परिवर्तित हो गया। इससे स्पष्ट है कि स्वराघात अर्थ-भेदक होता है।

भाषा मे सुर की स्थिति सापेक्षिक और मनोवैज्ञानिक होती है। सुर का आरोह-अवरोह भाषा और व्यक्ति दोनो पर निर्भर होता है। वक्ता की भावात्मक दशा का बोध जैसे प्रसन्नता, क्रोध, निराशा आदि का बोध स्वराघात से हो जाता है। इतनी बात तय है कि स्वराघात मे संगीत की गेयता किसी-न-किसी मात्रा मे अवश्य रहती है। हिन्दी के पद्य साहित्य मे जो गेयता है वह उच्चारण स्तर पर स्वराघात ही है। जगली जातियो की भाषा मे संगीतात्मकता या स्वराघात की मात्रा अधिक होती है।

संस्कृत मे सुर के तीन भेद किये गये है—1.उदात्त, 2. अनुदात्त, 3 स्वरित। वैसे सुर अनेक हो सकते हैं। तैत्तिरीय प्रतिशाख्य मे इनके अतिरिक्त प्रचय प्रत्यय जोडकर इनकी सख्या चार बना दी गयी। नारद शिक्षा में इनकी सख्या पाँच हो गयी—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय और विघात। पतजलि ने इसके सात भेद किये हैं। तैत्तिरीय प्रतिशाख्य मे स्वरित के नौ भेदो का उल्लेख मिलता है।

सामान्यतया सुर के तीन भेद किये जाते है—उच्च (High), सम (Normal), निम्न (Low)। कैंटनी भाषा मे छः सुर है। चीनी भाषा मे चार सुर होते है—'उच्च सम, उच्च आरोही, निम्न आरोही और निम्न अवरोही।

सामान्य रूप मे सुर आरोह-अवरोह के अनुपात से विभक्त होता है। इसके उपरान्त अन्त्य सुर (Final Pitch), विस्मयबोधक सुर, विराममूलक, सुर नाम और तीन भेद बताये गये है। अन्त्य सुर के सामान्य कथन मूलक, विधि-निषेध मूलक और प्रश्न-पूरक प्रश्न मूलक तीन भेद किये जाते हैं।

उदात्त—उदात्त का शब्दार्थ होता है उठा हुआ। अष्टाध्यायी मे कहा गया है —'उच्चैरुदात्त:' अर्थात् उदात्त उच्च होता है। उच्च की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने कहा है—'आयामोदारुण्यं अणुता खस्य इति उच्चैः कराणि शब्दस्य' अर्थात् अयाम या अगसकोच, दारुण्य अथवा रूखापन, अणुता या स्वयंत्र की संवृत्तता के कारण शब्द उच्च या उदात्त होता है।

अनुदात्त—अनुदात्त निम्न या नीचा स्वर वाला होता है। अष्टाध्यायी के अनुसार 'नीचैरनुदात्त.' अर्थात् अनुदात्त निम्न सुर वाला होता है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—'यदातु मन्दः प्रयत्नो भवति।' अर्थात् जब प्रयत्न मन्द हो तो स्निग्ध ध्वनि निकलती है। यह स्निग्धता ही अनदात्त है। जो सुर अनुदात्त

से भी निम्न हो उसे अनुदात्ततर कहते हैं। पाणिनि ने इसे सन्नतर(उदात्तस्वरित परस्य सन्नतर) कहा है।

स्वरित—स्वरित का अर्थ होता है उच्चरित या ध्वनित। अष्टाध्यायी मे 'समाहार: स्वरित:' कहा गया है। उदात्त और अनुदात्त का मेल ही समाहार है, जो स्वरित की विशिष्टता है। मैकडॉनेल के अनुसार स्वरित उदात्त का अधोगामी सुर है। प्रातिशाख्य मे स्वरित के नौ भेद बताये गये है।

ऊपर की व्याख्या से यह प्रकट होता है कि उच्च, सम और निम्न भेदो को उदात्त, स्वरित और अनुदात्त मे गतार्थ किया जा सकता है। प्राय: सुर और तान को विद्वानो ने समानार्थी माना है। तान के भी उच्च, मध्य और निम्न भेद किये जाते है, जो उदात्त स्वरित तथा अनुदात्त मे ही अन्तर्भुक्त हो जाते है।

अनुतान/सुरलहर (Intonation)

सुर का सम्बन्ध स्वरतंत्रियों की कम्पनावृत्ति से है। प्रत्येक ध्वनि पर कम्पन की आवृत्ति समान नही होती। अर्थात् सुरो के उतार-चढाव की एक लहर बन जाती है। सुरो के इसी उतार-चढाव या आरोह-अवरोह के क्रम को सुरलहर या अनुतान कहते है। कम्पन घोष ध्वनियों मे होता है। अघोष ध्वनियों का उच्चार घोष ध्वनियो के कपन के साथ मिलकर उच्चारण का अनुतान उत्पन्न करता है। इस प्रकार स्वरतत्री के कपन से उत्पन्न सुर के उतार-चढ़ाव के क्रम को अनुतान, सुरलहर या सुरक्रम कहा जाता है। अनुतान शृ खलाबद्ध भाषा मे ही सभव है।

कुछ विद्वान् यह मानते है कि उच्चारण स्तर पर तारत्व ही प्रकार्य स्तर पर अनुतान कहा जाता है। अनुतान का प्रयोग वाक्य स्तर पर होता है। अनुतान के कारण वाक्य रचना मे विच्छेदन और विखण्डन होता है और वाक्य खण्डों मे विभक्त हो जाता है। विखण्डन से वाक्य के अर्थ मे परिवर्तन आ जाता है। किन्तु इस परिवर्तन के बावजूद अर्थ की सम्बद्धता भी बनी रहती है। तान भाषाओ मे अनुतान से शब्द का अर्थ बदल जाता है, किन्तु अतान भाषाओ मे आश्चर्य, प्रश्न, आज्ञा, अनिच्छा के भाव ही अनुतान से अभिव्यक्त होते हैं, जो सामान्य अर्थ के अतिरिक्त आरोपित रहता है। यह प्रयोजन-भेद से होता है। अतान भाषाओ मे प्रसंग-भेद से प्रसगार्थ की प्रधानता हो जाती है। इससे व्याकरणिक और कोशीय अर्थ मे अन्तर नही आता, किन्तु ध्वन्यार्थ में अन्तर आ जाता है। जैसे अच्छा। मेरे साथ चाय पियो—अच्छा। यहाँ सामान्य अर्थ हुआ 'हाँ'। किन्तु जब कहा जाय 'अच्छा !!' तो आश्चर्य होगा। जब 'अच्छा' कहा जाय तो प्रश्न के साथ ही अनिच्छा का नही प्रकट हो जाता है।

लिखित और उच्चरित भाषा को प्रकार्य स्तर पर भिन्न अर्थ अनुतान के द्वारा ही प्राप्त होता है। वाक्य, शब्द, वाक्यांश आदि अलग-अलग अनुतान

संरचना से अलग-अलग अर्थ देने लगते है। प्रस्तावानुसार स्वीकृति, विस्मय, कुतूहल, प्रश्न निषेध आदि विभिन्न अर्थों का बोध अनुतान के द्वारा ही होता है। अनुतान का सम्बन्ध मात्रा, बलाघात और संगम से भी है।

संगम/संहिता/विराम/विवृत्ति (Juncture)

उच्चारों में कोई अंतर उपस्थित किये बिना शब्द के उच्चार खण्डों पर विराम या विच्छेद देने से खण्डो मे अलग-अलग अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जो शब्द के मूल अर्थ से भिन्न होता है। इस क्रिया मे प्रयोग किये गये विराम या विच्छेद को संगम विराम, संहिता, विवृत्ति योजक मौन या धन संगम कहते है। संगम शब्दो के बीच आता है। वाक्य या वाक्यांश के बीच विराम या विवृत्ति का प्रयोग होने पर भी शब्द के अन्तर्गत ही विराम देकर अर्थ मे अन्तर उपस्थित किया जाना है। विवृत्ति का अर्थ है खुलाव या खुलासा। यह दो अक्षरों या वाक्यों के मध्य का खुलाव या मौन है। इस प्रकार भाषा के बीच किसी भी प्रकार के मौन या टूट को संगम कहा गया है।

संगम या विराम कई प्रकार के होते है, यथा आंतरिक विराम, सीमांतिक विराम, रूपिमिक विराम, आक्षरिक विराम, व्याकरणिक विराम आदि।

संस्कृत मे एक ही सामासिक शब्द विग्रह भेद से भिन्नार्थी हो जाता है, जैसे दशानन—दश आननानि यस्य स. (बहुव्रीहि), दश आननानि (कर्मधारय), दश आननानाम समाहारः (द्विगु)।

हिन्दी मे विराम या मौन के अनेक उदाहरण मिलते है। मंजुलता के ध्वन्यात्मक दो प्रकार के उच्चार हो सकते हैं—मंजु+लता और मंजुल+ता। एक मे मंजु के बाद और दूसरे मे मंजुल के बाद विवृति, विराम या मौन है।

हिन्दी मे शब्द और वाक्य दोनो स्तरो पर संक्रमण या विवृति का प्रयोग मिलता है।

शब्द स्तर पर

1. नफीस—न फीस, 2. खाली—खा ली, 3. पीली—पी ली, 4 होली—हो ली, 5. नदी—न दी, 6. सोना—सो ना। 7. नाइट्रेट—नाइट रेट।

वाक्य स्तर पर

1. हसीना आई—हँसी ना आई, 2. बन्दर खा गया—बन्द रखा गया। 3. यहाँ पर देशी खाँड बिकती है—यहाँ परदेसी साँड़ बिकती है।

भाषा में विराम या विवृति की सत्ता ध्वनिग्रामिक होती है। यह प्रवृत्ति गौण रूप से भाषिक अर्थ-वहन का माध्यम है।

विराम अर्धविराम कौमा आदि भी विवृति का काम करते है' जैसे He will

act, roughly in the same manner में जब कौमा roughly के बाद लगायेंगे तो He will act roughly, in the same manner । पहले में मोटे तौर पर वह इसी प्रकार करेगा अर्थ होगा, जबकि इसमे अर्थ होगा, कि वह roughly काम करेगा और इसी तरह करेगा । दिया, तले रख दो—दिया तले रख दो में भी इसी प्रकार अर्थ बदल जाता है । इसका कारण का है कौमा का विराम ।

अक्षर (Syllable)

मुखरता के आधार पर अक्षर को हम अ+क्षर तथा अक्ष+र के रूप मे उच्चरित कर सकते हैं । अ का अर्थ है नही, और क्षर का अर्थ है क्षरण । अर्थात् जिसका क्षरण नही होता, वह अक्षर है । पतजलि ने महाभाष्य में लिखा है—'अक्षर नक्षर विद्यात् । क्षयिने न क्षरतीति वाक्षरम् ।' इन दोनों से यही अर्थ निकलता है कि अक्षर का क्षरण नही होता । ब्रह्म का भी क्षरण नहीं होता । इसीलिए वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म को अक्षर ब्रह्म कहा गया है । इस तरह यह विदित होता है कि अक्षर ब्रह्म की तरह अविनाशी होते हैं ।

अक्ष+र से यह ध्वनित होता है कि अक्षर अक्ष वाला होता है । अर्थात् शीर्ष या धुरीवाला । इसी अर्थ मे वह अँगरेजी के सिलेबल शब्द का पर्यायवाची है । आधुनिक भाषाविज्ञान मे सिलेबल ही प्रचलित है । इसी अर्थ मे अक्षर शब्द का प्रयोग किया जाता है । 'अक्षर एक ध्वनि अथवा एकाधिक ध्वनियों की वह इकाई है, जिसका उच्चारण एक झटके के साथ होता है तथा जिसमें एक स्वर अवश्य होता है । उसके पहले या बाद में एक या अधिक व्यंजन आ भी सकते है, नही भी ।'[1]

कालक्रम से अक्षर के अर्थ बदलते रहे हैं । अक्षर वाक् के अर्थ में भी प्रचलित रहा है । वास्तव मे शब्द के विधायक तत्त्व को अक्षर कहा गया है । ऋक्, अथर्व प्रतिशाख्यो तथा शिक्षाग्रन्थों में अक्षर का सिलेबल के अर्थ मे प्रयोग मिलता है । हिन्दी भाषा आक्षरिक है । क, ख, च, छ आदि हिन्दी के अक्षर है । क्, ख्, व्यंजन वर्ण या ध्वनियाँ हैं । इस प्रकार व्यंजनों मे स्वर (अ) के संयोग से अक्षर की रचना हुई है ।

ब्लूमफील्ड के अनुसार अक्षर (Syllable) मे एक मुखरता शिखर का होना होना अनिवार्य है । स्टेटसन के मत से अक्षर एक गतिक इकाई है । हैफ्नर भी अक्षर को एक गतिमात्र मानते है । इस प्रकार अक्षर 'ध्वनि या ध्वनि संयोगमूलक इकाई है । उसका उच्चारण बिना किसी व्यवधान के एक झटके मे होता है ।'[2] इन परिभाषाओं के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अक्षर शब्द की वह मुखर इकाई है, जिसका उच्चारण एक झटके मे होता है ।' जैसे, जा । यह एक

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 383
2 भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश पृ० 160

अक्षर है व्यंजन की अपेक्षा स्वर मुखर होते हैं अत अक्षर म एक स्वर का होना नितान्त आवश्यक है

मुखरता उच्चारण की प्रभावशाली विशिष्टता है, E जो उच्चारण-मार्ग की विवृत्ति पर आधारित होती है। इसी खुलाव के कारण अक्षरो का मुखर उच्चारण होता है। जैसा कहा गया है स्वर अधिक मुखर होते है और व्यजन कम। सरचनागत मुख ध्वनियाँ ही अक्षर होती हैं। स्वर ध्वनियाँ सामान्यतः आक्षरिक है। घोष व्यंजन ध्वनियो को भी स्वर के संयोग से मुखरता प्राप्त होती है।

शब्द को मुखरता शीर्ष के आधार पर विभाजित किया जाता है। इसे अक्षर काट कहते है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार अक्षर मे स्वर शीर्ष (Peak) या केन्द्रक/नाभि (Nucleus) होता है तथा पहले के व्यजनो को पूर्वगह्वर (On Set) और बाद के व्यजनो को पर गह्वर (Coda) कहते हैं। गह्वर अनाक्षरिक होते हैं। नाभि या शिखर को आक्षरिक माना जाता है।

अक्षर के दो भेद किये गये है—मुक्ताक्षर (Open Syllable) और बद्धाक्षर (Closed Syllable)।

जिसके अन्त में स्वर हो वह मुक्ताक्षर कहा जाता है, जैसे आ, जा, पीले, काला, गला, हम, तुम आदि।

जिसके अन्त मे व्यजन हो उन्हे बद्धाक्षर कहते हैं, जैसे हम्, वाक्, प्राक्, विद्वान्, सम्यक् आदि।

मात्रा के आधार पर अक्षरो के दो भेद होते हैं—ह्रस्व और दीर्घ।

अक्षरो मे ह्रस्वता-दीर्घता का निर्णय प्रकृति तथा स्थिति के आधार पर किया जाता है।

छन्दशास्त्र मे वार्णिक छन्दो की कल्पना अक्षर पर ही आधारित है। अनाक्षरिक ध्वनियाँ भाषा की ध्वनिमूलक इकाइयाँ नही होती। अक्षर ही ध्वनि की इकाई होते है, क्योंकि उनका उच्चार सहज सम्भव है।

हिन्दी मे कोई शब्द स्वरहीन नही होता। वर्णो मे भी स्वर का संयोग रहता ही है। क, ख आदि अक्षर है। क् ख् व्यजनों का उच्चारण या प्रयोग हिन्दी मे नही होता।

ध्वनि-परिवर्तन

भाषा परिवर्तनशील होती है। ध्वनि, रूप, अर्थ, वाक्य—सभी स्तरो पर उस मे परिवर्तन होते रहते हैं। बाह्य वातावरण, मन-मस्तिष्क, चिन्तन एवं भावधारा आदि मे परिवर्तन होने पर भाषा के भौतिक और मानसिक पक्ष बदल जाते है। ध्वनि के उच्चार का एक परिवेश निर्धारित है। उसका प्रयोग एक निश्चित परिवेश मे ही होता है। एक पीढ़ी की उच्चार-प्रक्रिया दूसरी पीढी को रिक्थ-रूप मे मिलती है। परिवेश की सीमा-सुविधाओ के प्रभाव से उच्चार की प्रक्रिया

मे परिवर्तन होने रहते है। जैसे अन्नाद्य>अन्नाज>अनाज>नाज। अनेक कारणों से ध्वनि के स्वरूप मे परिवर्तन होते है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

ध्वनि उच्चार के अधीन होती है और उच्चार वक्ता के वश मे होता है। वक्ता का अपना परिवेश होता है। परिवेश मे सदा परिवर्तन होता रहता है। परिवेश के बदलते ही ध्वनि के उच्चार मे भी परिवर्तन आ जाता है। इस तरह ध्वनि परिवेश से प्रभावित और परिवर्तित होती रहती है। परिवेश के कारण ध्वनि मे जो परिवर्तन आते हैं, वे परिवर्तन के **आंतरिक कारण** हैं। आतरिक कारण स्वतः घटित होते हैं और ध्वनि के रूप बदलते रहते है। ये कारण स्वयं भू (Unconditional, Spontaneous, Incontact) कारण कहे जाते है।

उच्चार वक्ता के अधीन है। अत: जिन कारणों का सम्बन्ध वक्ता से होता है, उन्हे **बाह्य कारण** कहते है। परिवेश से भिन्न कारण होने से इन्हे परोद्भूत (Conditional, Contact) कारण कहा जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन के आतरिक कारण ध्वनि के परिवेश अथवा सरचनात्मक इकाई मे ही विद्यमान होते है। ये परिवर्तन प्रकृति और प्रवृत्तिगत होते है। बाह्य कारण वक्ता के आश्रित होते है। बोलने वालो की सुविधा-साधन आदि से इनका सम्बन्ध रहता है। प्रत्यक्षत: दोनो कारण अलग प्रतीत होते है, किन्तु वे असम्बन्धित नही है। आतरिक कारण भी वक्ता से तथा बाह्य कारण भी परिवेश से प्रभावित होते रहते हैं।

ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते हुए रावर्ट हाल ने बताया है कि भाषा स्वभाव (Speech habits) के कारण ध्वनि मे परिवर्तन होते हैं। मानव के व्यवहार में परिवर्तन होने से भाषा का स्वभाव बदल जाता है। इससे उच्चारण की प्रकृति और प्रक्रिया प्रभावित होती है।

ध्वनि-परिवर्तन एकाधिक कारणो से होता है। अतः किसी एक कारण की ओर सकेत करना संभव नही होता। 'कारणो की जटिलता और उनकी परस्पर सहयोगी, असहयोगी या विरोधी भूमिका के कारण किसी ध्वनि-परिवर्तन की भावी दिशा के सम्बन्ध मे भी कोई भाषाशास्त्री अनधिकारपूर्वक भी कुछ नही कह सकता। वास्तव में वह केवल घटित परिवर्तनो पर ही विचार करता है, भावी परिवर्तनो पर नही। × × ऐतिहासिक भाषाविज्ञान भी- जो स्वभावतः भाषागत परिवर्तनो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता है, भावी परिवर्तनो के सम्बन्ध में मौन रहता है।'[1] वस्तुत: एक पद मे ध्वनि-परिवर्तन देखकर उस ध्वनि से युक्त समान परिवेश से अन्य पद मे भी हम परिवर्तन की कल्पना कर लेते है। 'कभी-कभी

1 ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज पृ० 82 83

एसा भी हुआ है कि ....निकों ने अनुपलब्ध शब्द का अनुमानसिद्ध रूप बना लिया और बाद में प्राप्त किसी ग्रन्थ द्वारा उस रूप का समर्थन हो गया।'[1]

कुछ विद्वान् वाग्यंत्र की विभिन्नता और श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता को भी ध्वनि परिवर्तन के कारण मानते हैं। इस प्रकार की विभिन्नता व्यक्तिगत स्तर पर ही दीख पड़ती है। सम्पूर्ण जाति या समाज के वाग्यंत्रों और श्रवणेन्द्रियों को सदोष मनाना समीचीन नहीं होगा। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इन कारणों का अस्वीकृत कारणों के अन्तर्गत उल्लेख किया है। यदि ये कारण अस्वीकृत हैं तो इनके उल्लेख की कोई सार्थकता नहीं दिखाई पड़ती।

ध्वनि-परिवर्तन के आंतरिक कारण

ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को वर्गीकृत करने का कोई निश्चित आधार उपलब्ध नहीं है। आधुनिक भाषाशास्त्र के जन्मदाता फर्डिनान्ड-द-सोस्युर ने ध्वनि-परवर्तन के स्वरूप की व्याख्या करते हुए बताया कि 'आतरिक कारणों से होनेवाले परिवर्तन स्वयंभू (Spontaneous) होते हैं और एक से अधिक ध्वनिग्रामों की उपस्थिति के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन सयोगात्मक परिवर्तन कहे जाते हैं।[2] इस प्रकार परिवर्तन के आंतरिक और सयोगात्मक नामक दो भेद सोस्युर ने किये हैं। चूँकि आंतरिक कारण को उन्होंने परिवेशगत बताया, सयोगात्मक कारण को बाह्य मानकर विचार करने की परम्परा चल पड़ी। आतरिक कारणों के कई विभेद किये जाते हैं।

1. **ध्वनि का परिवेश**—कुछ लोग यह मानते हैं कि ध्वनि-परिवर्तन का आन्तरिक कारण केवल एक ही है—ध्वनि का परिवेश। वास्तव में संसार की अधिकांश भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन का कारण ध्वनि-परिवेश ही है। 'ध्वनि का नियत परिवेश ही ध्वनि का परिवर्तन घटित करता है।'[3] जैसे 'गृह' शब्द में ह के समाहार से ग का महाप्राणीकरण होकर 'घ' हो गया। इस प्रकार गृह का घर रूप निष्पन्न हुआ है। घोषीकरण की प्रवृत्ति के कारण काक का काग, शाक का साग, पाक का पाग और प्रकट का प्रगट हो जाता है। ये परिवर्तन ध्वनि के परिवेश के कारण ही घटित होते हैं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी आंतरिक कारणों के अन्तर्गत 'ध्वनियों की अपनी प्रकृति' और 'स्थिति के कारण ध्वनियों की अपनी शक्ति' नाम से दो आंतरिक कारणों का उल्लेख करते हैं। इन दोनों को ध्वनि के परिवेश के अन्तर्गत ही रखना

---

1 भाषा—वान्द्रियैज, 53

2 कोर्स इन जेनरल लिंग्विस्टिक्स—द सोस्युर, पृ० 143

3. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 83

उचित होगा, क्योंकि ये ध्वनि की प्रकृति और शक्ति है। ये ध्वनि की प्रकृतिगत और प्रवृत्तिगत विशेषताएँ है। ध्वनि के परिवेश का तात्पर्य ध्वनि की संरचना से है। इसका सम्बन्ध ध्वनि की संरचनागत इकाई से है। जब किसी पद के अन्तर्गत ध्वनि मे परिवर्तन होता है तो यह परिवर्तन विशिष्ट ध्वनि युक्त सभी उच्चारणो और पदो को प्रभावित करता है। इस प्रकार ध्वनि की प्रकृति और उसकी शक्ति ध्वनि की संरचनात्मक विशेषता है। इसे ध्वनि के परिवेश मे ही रखना उचित होगा। इन कारणो के अन्तर्गत डॉ० तिवारी ने कहा है कि सबल-निर्बल ध्वनियो मे निर्बल का ही लोप होता है, जैसे अग्नि का आग। यहाँ न का लोप है। इसी प्रकार संयुक्त व्यंजनों मे पहले का लोप हो जाता है, क्योंकि वह निर्बल होता है, जैसे सप्त का सात। निर्बल होने से 'प' का लोप हो गया। सबलता निर्बलता ध्वनि की शक्ति है, प्रकृति है। अतः वह परिवेश के अन्तर्गत ही ग्राह्य है। ध्वनि का लोप परिवेशगत परिवर्तन के अन्तर्गत ही विचारणीय है।

2 **शब्दों की असाधारण लम्बाई**—कुछ शब्द बहुत लम्बे होते हैं। लम्बे शब्दो को बोलने मे असुविधा होती है। इसीलिए उनमे परिवर्तन अधिक होते है। जैसे युनाइटेड नेशन्स ऑरगेनाइजेशन का यू० एन० ओ०, राष्ट्रीय सुरक्षा कानून का रासुका, शुक्ल दिवस का 'सुदी', बहुलकृष्ण दिवस का 'बदी', उपाध्याय का ओझा आदि। अर्थात् शब्दो की असाधारण लम्बाई के कारण उच्चारण मे असुविधा होती है। हम बोलने मे शीघ्रता चाहते हैं। अतः उसके रूप मे परिवर्तन आ जाता है। उच्चार मे शीघ्रता से ध्वनि मे तीव्र परिवर्तन होते है। किन्तु यह परिवर्तन बोलने में शीघ्रता के कारण नहीं है। 'परिवर्तन का कारण बोलने की शीघ्रता मे नही ध्वनि के परिवेश में निहित है।'[1]

बलाघात, शब्दो की असाधारण लम्बाई, बोलने मे शीघ्रता और प्रयत्न-लाघव को भी भाषाशास्त्री परिवेश के कारण होने वाला परिवर्तन ही मानते हैं। 'बलाघात और शब्दो की असाधारण लम्बाई ध्वनि की अनेक परिवेशगत विशेषताओं में से दो विशेषताएँ हैं। ध्वनि का परिवेश अगी है, और ये उसके अग।'[2] प्रयत्न-लाघव बोलने में शीघ्रता का ही परिणाम है। ऐसे शब्द, जिनकी लम्बाई असाधारण है के उच्चारण मे अधिक प्रयत्न लगता है। उसे बोलने मे शीघ्रता के लिए छोटा रूप दिया जाता है, क्योंकि इसमे लघु प्रयत्न की ही अपेक्षा है।

ध्वनि के परिवेश के कारण हुआ परिवर्तन आगम, लोप, विकार, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण आदि के रूपो मे दिखाई पडता है। जैसे आगम—स्मरण—सुमिरन, लोप—स्थाली—थाली, विकार—आभीर—अहीर, विपर्यय—

1 ऐतिहासिक भाषाविज्ञान— जयकुमार जलज, पृ० 84

2. वही

वाराणसी—बनारस, समीकरण—चक्र—चक्का, विषमीकरण—काक—काग।

बाह्य कारण

ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारण ध्वनि की संरचना के बाहर के होते हैं। इसका सम्बन्ध ध्वनि की संरचनात्मक इकाई को उच्चरित करने वाले व्यक्तियों से होता है। सोस्युर ने जिसे संयोगात्मक परिवर्तन कहा है उसे ही अन्य भाषाशास्त्री बाह्य कारण बताते हैं।

1 **मुखसुख, उच्चारण-सुविधा या प्रयत्न-लाघव**(Economy of Effort)—डॉ० भोलानाथ तिवारी प्रयत्न-लाघव को ध्वनि-परिवर्तन का प्रमुख कारण मानते हैं। हम कम से कम प्रयत्न से अपना भाव प्रकट करना चाहते है। मुख-सुख के लिए कुछ ध्वनियों का उच्चारण छोड दिया जाता है। Talk, Walk, Daughter, Know, Knife आदि मे कुछ ध्वनियो का उच्चारण छोड़ दिया जाता है। कही एक ध्वनि मुख-सुख के लिए हटा दी जाती है तो कही एक ध्वनि जोड दी जाती है, जैसे स्टेशन—इस्टेशन। डॉ० तिवारी के अनुसार प्रयत्न-लाघव से शब्दों को काट-छाँटकर इतना छोटा बना लिया जाता है कि उन्हे पहचानना कठिन हो जाता है।[1] अत. मुख-सुख और प्रयत्न-लाघव को एक ही कारण मानना उचित नही जान पडता।

मुख-सुख के लिए उच्चारण की सुविधा आवश्यक होती है। सुविधा से सुख होता है। व्यंजन-गुच्छो का उच्चारण सुखकर नहीं होता। इसलिए लोप, आगम आदि की क्रिया से उसे उच्चारण के लिए सुखकर बना लेते है। Knight, Knowledge, Psychology स्नेह-नेह, स्तन-थन, स्थान-थान आदि लोप क्रिया से उच्चारण-सुकर बनाये गये है। इसी प्रकार मुख-सुख के लिए स्टेशन का इस्टेशन, स्त्री का इस्त्री स्थायी का अस्थायी उच्चारण किया जाता है। यहाँ आगम होता है। सबका उद्देश्य है मुख-सुख या उच्चारण की सुविधा।

2. **प्रयत्न-लाघव**—उच्चारण प्रयत्न की क्षिप्रता को प्रयत्न-लाघव कहते हैं। ऐसे शब्द जिनके उच्चारण मे अधिक प्रयत्न लगता है, उन्हें परिवर्तित कर लघु प्रयत्न से उच्चरित होने लायक बना लिया जाता है। अधिक प्रयत्न या तो शब्दो की असाधारण लम्बाई के कारण लगता है या ऐसी ध्वनि रचना के कारण जिनके उच्चारण मे जीभ को द्रविड प्राणायाम करना पड़े। इसलिए शब्द को छोटा स्वरूप दिया जाता है कि प्रयत्न कम लगे। इस क्रम मे शब्द को उच्चारण के अनुकूल ध्वन्यात्मक रूप दे दिया जाता है। कम समय मे सरलता से उच्चारण करने के लिए वक्ता कुछ ध्वनियो का लोप कर देता है। इस क्रम मे आगम, लोप, घोषीकरण, महाप्राणीकरण आदि के द्वारा ध्वनियों मे परिवर्तन हो जाता है।

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 357

प्रयत्न-लाघव वक्ता के उच्चारण-अभ्यास और शब्द की आंतरिक रचना पर आश्रित है। उपाध्याय का झा और गोबरधन का गोधन, कलेक्टर का कलट्टर आदि रूप प्रयत्न-लाघव के परिणाम हैं । इन शब्दो को मूल शब्द की अपेक्षा लघु प्रयत्न लगने योग्य बना लिया गया है।

भिन्न-भिन्न उच्चारण-अभ्यास मे शब्द को भिन्न रूप प्राप्त होते है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने भारतीय भाषाविज्ञान मे लिखा है—'कहा' ब्रज मे क्या के अर्थ मे बोला जाता है, जिसका 'ह' पूरब की ओर चलते-चलते घिस जाता है ''''बगाल मे 'आमार' हो गया है हमारा 'हमार' ।[1]

डॉ० रामविलास शर्मा प्रयत्न-लाघव की आलोचना करते हुए कहते हैं कि "बगाल मे धीरेन्द्र का धीरेन हो जाता है तो पजाब मे धीरेन्दर भी सुनाई देगा। '''यदि प्रयत्न लाघव का ही सवाल होता तो पंजाब और बगाल दोनो जगह धीरेन ही सुनाई देता ।"[2] वास्तव मे उच्चारण-अभ्यास के कारण प्रयत्न-लाघव घटित होता है। दोनो के उच्चारण-संस्कार भिन्न है । इतना तो स्पष्ट है कि सभी लोगो का उद्देश्य सक्षिप्त कथन होता है। हमारे यहाँ सूत्रो और मत्रो की परम्परा और उनके संस्कार आज भी जीवित हैं। ये प्रयत्न लाघव-संक्षिप्तीकरण के परिणाम है ।

3. बोलने में शीघ्रता—बोलने मे शीघ्रता की प्रवृत्ति प्रयत्न-लाघव का ही रूप है। पंडितजी का पडीजी, मास्टर साहब का 'माट साहब' या 'मास्साब', सरदार जी का दार जी, मार डाला का माड्डाला आदि रूप बोलने मे शीघ्रता के ही उदाहरण है । अँगरेजी मे वोन्ट, डोन्ट, शांट, 'कुन्ट' आदि प्रयोग इसके अतर्गत ही होते हैं। हिन्दी और सस्कृत मे होने वाले संधि-सयोग भी इसी के कारण घटित होते हैं।

'देखी मैंने आज जरा' का उच्चारण 'आज्जरा' होता है। इसे लोग बोलने मे शीघ्रता का परिणाम मानते हैं। इसे कुछ विद्वान ध्वनि के परिवेशगत परिवर्तन के अतर्गत मानते हैं। जब ही, तब ही, अब ही, कब ही की परिणति जभी, तभी, अभी, कभी आदि मे हो जाती है। वास्तव मे 'ह' का महाप्राणत्व 'ब' के साथ मिलकर 'भ' हो जाता है।

4. अनुकरण की अपूर्णता—भाषा अनुकरण साध्य होती है। एक पीढ़ी की भाषा को परम्परा से दूसरी पीढ़ी रिक्थ रूप मे ग्रहण करती है। किन्तु एक पीढी के उच्चार से दूसरी पीढ़ी के उच्चार मे भिन्नता होती है उच्चार की प्रक्रिया मे अतर इसलिए होता है, क्योंकि वाग्यंत्रों और श्रवणेन्द्रियों की क्षमता एक-सी नही

---

1. भारतीय भाषाविज्ञान—किशोरीदास वाजपेयी, पृ० 94
2. भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 472

होती। प्रत्येक मनुष्य की क्षमता और ग्रहणशीलता अलग-अलग होती है। इसलिए हमारा अनुकरण हमेशा पूर्ण नहीं रहता। पूर्वाभ्यास या संस्कार के कारण ध्वनि का पूर्णतः अनुकरण संभव नहीं हो पाता। अपूर्ण अनुकरण के कारण ध्वनि में परिवर्तन आ जाता है। अतः वाग्यंत्र की सदोषता, उच्चारण की शीघ्रता तथा उच्चारण की कठिनता के कारण अपूर्ण अनुकरण के फलस्वरूप परिवर्तित ध्वनि सुनाई पड़ती है। जैसे सिगनल का सिंगल, ऊँ नमः सिद्धम् का ओनामासीधम, चार्जशीट का चारसीट, हू कम्स देअर का हुकुम सदर, इतिकाल का अंतकाल। अज्ञान और अनुकरण की अपूर्णता का घना सम्बन्ध है, क्योंकि अनुकरण की अपूर्णता अज्ञान के फलस्वरूप ही होती है। ग्रहणमूलक दोष के कारण ही प्रदान के स्तर पर उच्चारण सदोष हो जाता है, ग्रहण सदोष तो प्रदान भी सदोष।

5. **भावावेग या भावातिरेक**—सम्बन्धों की सघनता से भावातिरेक या भाव में आवेग आ जाता है। प्रेमाधिक्य, घृणा या क्रोध आदि में हमारे संवेग आन्दोलित हो जाते है। फलतः भाषा स्तर पर भी इसका प्रभाव होता है और ध्वनि में परिवर्तन आ जाता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग सम्बन्धित व्यक्तियों के सीमित परिवेश में ही होता है। ऐसे भाषागत परिवर्तन वैयक्तिक स्तर पर ही प्रयोग में आते हैं। उनके सार्वजनिक प्रयोग से बचने की चेष्टा की जाती है। भावातिरेकी शब्द रूप के प्रयोग की अनिवार्यता भी नहीं है। उनका प्रयोग नहीं भी हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा-परिवर्तन में भावातिरेक की भूमिका वैयक्तिक स्तर तक ही सीमित है। बाबू का बबुआ, दुलारी का दुल्लो या दुल्ली, सुलोचना का सुल्लो या सिल्लो, अजय का अज्जू, संजय का संजू, दीदी का दिदिया, चाचा का चच्चा या चच्चू, बेटी का बिटिया या बिट्टो, जीजी का जिज्जी रूप भावावेग के कारण आने वाले परिवर्तन के स्वरूप हैं।

6. **सादृश्य** (Analog)—वान्द्रियैज के अनुसार 'सादृश्य उस पद्धति का नाम है जिसे ज्ञात रूप के आधार पर मस्तिष्क एक नया रूप, एक नया पद अथवा भावाभिव्यक्ति के लिए एक नयी शैली गढ लेता है।'[1] स्पष्ट है कि पहले से वर्तमान एक उच्चार के विलोम या क्रम में दूसरा उच्चार बना लिया जाता है। पहले उच्चार के आधार पर ही दूसरे उच्चार का रूप बदलता है। राबर्ट हाल सादृश्य को आंतरिक उधार लेना (internal borrowing) कहा है। ग्लीसन मानते है कि सादृश्य के कारण ध्वनि-परिवर्तन नियमित रूप से नहीं होता। इससे अनियमितताएँ भी उत्पन्न होती है, किन्तु नियमितताएँ भी इन्हीं की सृष्टि है।[2] पेई कहते है कि 'पहले से विद्यमान पद्धतियों या प्रतिमानों के आधार पर परि-

1. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 187
2. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—एच० ए० ग्लीसन, पृ० 290

वर्तित या निर्मित करने की प्रवृत्ति सादृश्य है।'[1]

वास्तव में सादृश्य कोई कारण नहीं है, वह परिवर्तन की प्रक्रिया है। भाषा के ऐतिहासिक विकास में सादृश्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई पड़ती है। जब एक भाषा की ध्वनि व्यवस्था का एक भाग उसी ध्वनि व्यवस्था के दूसरे भाग में स्थानान्तरित होता है, तब वह ध्वनि-सादृश्य की कोटि में आता है।

तू का विकारी रूप तुझ बनता है। मैं से मझ नहीं मुझ हो गया। तुझ के आधार पर, मैं के आधार पर, तै के प्रयोग होते हैं। मैंने प्रयोग तो सर्वप्रचलित है, किन्तु तैंने प्रयोग ब्रजभाषा में चलता है।

इसी सादृश्य के कारण द्वादश के सादृश्य पर एकादश, और पंचत्रिंशत् से पैंतीस और पैंतीस के सादृश्य पर सैंतीस, पैंतालीस के सादृश्य पर सैंतालीस, स्वर्ग के सादृश्य पर नरक का नर्क, देहाती के आधार पर शहरी का शहराती, गर्मी के सादृश्य पर ठंड का ठंढी, सुख के सादृश्य पर दु.ख का दुख, दु.ख (दुक्ख) के समानाधार से दुक्ख आदि उच्चारण और प्रयोग प्रचलित हो गये हैं। कबीर ने निर्गुण के आधार पर सर्गुण और पिंगला के आधार पर इडा का इंगला प्रयोग किए हैं।

सादृश्य कार्य है, कारण नहीं। इसका आधार उच्चारण की सुगमता ही है।

7 भ्रामक व्युत्पत्ति—भ्रामक व्युत्पत्ति का आधार अज्ञान या अशिक्षा है। किसी अपरिचित शब्द के स्थान पर परिचित शब्द का उच्चारण भ्रामक व्युत्पत्ति है, जिसके कारण ध्वनि-परिवर्तन होता है। पूर्वज्ञात शब्द के आधार पर जब किसी अपरिचित शब्द को विधिवत् और नियमित बनाया जाता है तो भ्रामक व्युत्पत्ति होती है। जैसे अरबी इतिकाल के स्थान पर अंतकाल, लायब्रेरी का रायबरेली, गार्डेन का गर्दनी (गर्दनी बाग), आर्ट कॉलेज का आठ कॉलेज, क्वार्टर गार्ड का कोतल गारद, मैक्समूलर का मोक्षमूलर, अलेक्जेन्डर का अलक्षेन्द्र आदि प्रयोग भ्रामक व्युत्पत्ति के उदाहरण हैं।

8. बलाघात—बलाघात ध्वनि-परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारण होता है। बलाघात के कारण ध्वनियाँ घोष-अघोष, समीकृत-विषमीकृत, सम्प्रसारित-सकुचित, अल्पप्राण-महाप्राण हो जाती हैं। जिस ध्वनि पर बलाघात होता है, उसके उच्चारण में श्वास अधिक व्यय होने से आसपास की ध्वनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं और भाषा-प्रवाह में उनका लोप हो जाता है। जैसे अभ्यतर के भ्य पर बलाघात होने से अ का लोप हो गया और भीतर बन गया। अलाव से लाउ या लौ, अस्ति से है, तत्स्थाने से तहाँ, अनाज से नाज, उपाध्याय से ओझा आदि बलाघात के कारण ही बने हैं। स्तन से थन, स्कन्ध से कन्ध, स्थाली से थाली भी बलाघात

1. डिक्शनरी ऑफ लिंग्विस्टिक्स—मेरियोपेई एव फ्रैंक गायबर, पृ० 12

के प्रभाव के उदाहरण है। डाइरेक्टर का डिरेक्टर तथा फाइनेन्स का फिनान्स भी बलाघात के कारण ही उच्चरित होता है।

9. अज्ञान—अज्ञान का सम्बन्ध अनुकरण की अपूर्णता से है। हम विदेशी या कठिन शब्दों का ज्ञान न होने से अशुद्ध उच्चारण करने लगते हैं। इस प्रकार ध्वनियों मे परिवर्तन हो जाता है। अपरिचित, और विदेशी शब्दों के उच्चारण मे ही अज्ञान के कारण उच्चारण की अपूर्णता आ जाती है और अपूर्ण उच्चारण ध्वनि-परिवर्तन के रूप मे दिखाई पड़ता है। अज्ञान और अपूर्ण उच्चारण वक्ता की असमर्थता है। असमर्थता के कारण ग्रहण और प्रदान दोनों में दोष आ जाता है और इसमे ध्वनि का विकास या परिवर्तन सभव होता है। जैसे ऑर्डरली का अरदली, ओवरसियर का ओसियर, कम्पाउडर का कम्पोटर, एक्सप्रेस का इसप्रेस, कानून का कनूल, इस्पेक्टर का तिस्पीटर आदि अज्ञान के कारण होने वाले ध्वनि-परिवर्तन है। अशिक्षित लोगो द्वारा शब्दो का सही उच्चारण न होने से ध्वनि मे परिवर्तन आ जाता है। ऐसे शब्द लोकभाषा में अधिक प्रचलित होते हैं।

10. लेखन में अनुकरण की अपूर्णता का प्रभाव—अनुकरण में अपूर्णता होने से शब्दो की ध्वनि मे परिवर्तन आ जाता है। उसके उच्चारण के कारण हम लिपि मे भी उसका अपूर्ण अनुकरण करते है। उच्चारण की अपूर्णता लेखन मे भी आ जाती है। जैसे अँगरेजी मे गुप्त को Gupta लिखते है। 'a' को हमने 'आ' समझ लिया क्योकि a से अ और आ दोनो का बोध होता है। इसीलिए गुप्त का उच्चारण या लेखन गुप्ता करने लगे। इसी आधार पर मिश्र को मिश्रा, शुक्ल को शुक्ला अशोक का अशोका, बुद्ध का बुद्धा उच्चारण और लेखन होने लगता है। सिंह को अँगरेजी मे Sinha लिखते है जिसे सिन्हा पढ़ा गया। सिंह सिन्हा या सिनहा हो गया। अँगरेजी मे त, द, ट, ड के लिए केवल T और D का प्रयोग होता है। अतः तोताराम टोटाराम हो जाय तो आश्चर्य नहीं। मध्य युग में 'ख' से र व का भ्रम हो जाने से ख के लिए 'ष' का व्यवहार होने लगा था। उसके अवशेष अब भी मिलते हैं। लषन का लखन, षडानन का खड़ानन, षड्यंत्र का खडयन्त्र भी इसी अज्ञान के परिणाम है।

11. उधार लेना (Borrowing)—एक भाषा पूर्ववर्ती भाषा से ध्वनियों का आयात करती है। समकालीन, प्राक्कालीन तथा विदेशी भाषाओं से ध्वनियाँ ग्रहण की जाती है। यह भाषा-सम्पर्क का परिणाम है। आयातित ध्वनि अपनी भाषा में न होने पर उससे मिलती-जुलती निकटतम ध्वनि मे उसका परिवर्तन हो जाता है। अँगरेजी ध्वनियाँ हिन्दी मे मूर्धन्य या पूर्वतालव्य हो जाती है। जैसे रिपोर्ट का रपट, ऑगस्ट का अगस्त, डेसम्बर का दिसम्बर। अरबी क़ ख़ को भी हिन्दी ने क, ख मे परिवर्तित कर दिया है। डॉक्टर और कॉलेज में ॅ अब हिन्दी ध्वनि व्यवस्था मे चल रहे हैं। हिन्दी की ध्वनियाँ स्पर्श या स्पर्श-संघर्षी हैं, जबकि

आयातित ध्वनियाँ संघर्षी हैं।

12. **भौगोलिक प्रभाव**—भौगोलिक आधार पर ध्वनियों के परिवर्तन को पतंजलि ने स्वीकार किया है। आज के वैज्ञानिक युग में जब आवागमन के साधन विकसित एवं सुलभ हैं, भौगोलिक भूखण्डों के पारस्परिक सम्पर्क की संभावनाएँ अधिक हैं। फिर भी एक खास भूखण्ड या भौगोलिक खण्ड के उच्चारण-अभ्यास और उनकी विशेषताएँ एक संस्कार का रूप ले लेती है। किसी दूसरे भौगोलिक खण्ड में भी ऐसे भाषिक संस्कार उदित हो जाते है। इन दोनों का सम्पर्क होने पर ध्वन्यात्मक परिवर्तन होते है।

भौगोलिक कारण ध्वनियों की विवृति-संवृति का निर्धारण करते है। सास्युर ने ध्वनियों की विवृति-संवृति के निर्धारण में भौगोलिक कारणों की भूमिका को अस्वीकार किया है।[1] ये स्पर्सन भी सर्दी-गर्मी के कारण फेफड़े के जोर से ध्वनियों के प्रभावित होने की मान्यता को लचर मानते है।[2] डॉ० भोलानाथ तिवारी भी भौगोलिक प्रभाव को ध्वनि-परिवर्तन का कारण नहीं स्वीकार करते।

13. **ऐतिहासिक परिस्थितियाँ**—इतिहास की घटनाओं—भौतिक और आध्यात्मिक—का ध्वनि-परिवर्तन में योगदान भाषाविद् स्वीकार करते है। भौतिक घटनाओं और आध्यात्मिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान से भाषा के स्वरूप में परिवर्तन आता है। कहा जाता है कि ट वर्ग ध्वनियाँ द्रविड़ों के सम्पर्क से आई है। बनारस से वाराणसी और भेलसा से विदिशा का ध्वनि-परिवर्तन सांस्कृतिक परिस्थिति के कारण है, जो ऐतिहासिक हैं। द्रविड़ों, अँगरेजों, मुसलमानों के सम्पर्क से भी हमारी भाषा में ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुए है। ये ऐतिहासिक घटनाओं से संबद्ध हैं। जैसे बॅम्बार्डमेंट से बम्बारी, डॉक्टर से डाक्टर आदि।

14. **समाज-भेद**—ध्वनि का एक अन्य प्रभावी कारण समाज-भेद है। ध्वनि के अधिकांश परिवर्तन समाज-भेद के परिणाम है। समाज-भेद ध्वनि में भेद उत्पन्न करता है। वास्तव में उच्चारण-भेद ऐतिहासिक स्तर पर अलग-अलग समाज का सूचक है। एक ही ध्वनि समाज-भेद से अलग प्रकार से उच्चरित होती है। यमुना, कण, गण आदि का उच्चारण लोकभाषाओं में जमुना कन, गन होता है। इंगलैण्ड में I shall, I will चलता है, जब कि अमरीकी भाषा में I shall और I will का अंतर समाप्त हो गया है। ऋषि और ऋतु का समाज-भेद से रिषि और रितु उच्चारण होता है।

14. **भाषा-सम्पर्क**—भाषा-सम्पर्क भी ध्वनि-परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है। व्यापारिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक कारणों से जब दो भाषा-भाषी एक

1. कोर्स इन जेनरल लिंग्विस्टिक्स—सोस्युर, पृ० 148
2. लैंग्वेज : इट्स नेचर, डेवेलॉपमेंट एण्ड ओरिजिन, पृ० 257

हो भाषा क्षेत्र में स्थापित हो जाते हैं या सम्पर्क में आ जाते हैं तो उनमें ध्वनि विनिमय होने लगता है। इस विनिमय के फलस्वरूप ध्वनि में परिवर्तन होते हैं। ऋ और लृ ध्वनियाँ, ट वर्ग की ध्वनियाँ भाषा-सम्पर्क से ही आर्य भाषा में आई हैं। ळ ध्वनि वैदिक भाषा में प्रचलित थी। संस्कृत में लुप्त हो गयी। किन्तु हरियानवी और कौरवी में आज भी ळ ध्वनि प्रयोग में है। ळ के निकट की ड़ ध्वनि हिन्दी में प्रचलित है। वैदिक भाषा में 6 अतस्थ थे, संस्कृत में चार और हिन्दी में दो रह गये— य और व। अँगरेजी में क का उच्चारण c, ch, k से होता है। Th से थ तथा द दोनों का उच्चार होता है।

स्पष्ट है कि भाषा-सम्पर्क से भाषिक ध्वनि-परिवर्तन के बहुआयामी स्वरूप दिखाई देते हैं।

अति सजगता, स्वच्छन्दता से भी ध्वनि-परिवर्तन होते है। कुछ ध्वनि-परिवर्तन के कारण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। ये अकारण ही घटित हो जाते हैं। ऐसे कारणों को स्वयंभू कारण कहा जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन के स्वरूप या दिशाएँ

सोस्युर के अनुसार 'ध्वनि-परिवर्तन के कारणों की खोज करना भाषा-विज्ञान की सबसे कठिन समस्या है।'[1] मुख्य बात यह है कि ध्वनि-परिवर्तन के जो कारण बताये गये हैं उनमें से कोई एक कारण परिवर्तन के लिए उत्तरदायी नहीं होता, वरन् एकाधिक कारणों से परिवर्तन की प्रक्रिया पूरी होती है।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख करते हुए निरुक्ताकार यास्क ने आदि शेष,आदि लोप, अन्तलोप, उपधा-परिवर्तन, वर्ण लोप, द्विवर्ण लोप, आदि—विपर्यय, अंतविपर्यय, आद्यन्त विपर्यय, अंतिम वर्ण-परिवर्तन, वर्णोपजन (वर्ण का आगम) आदि का उल्लेख किया है।[2]

वामन जयादित्य के अनुसार 1. वर्णागम, 2. वर्ण विपर्यय, 3. वर्ण विकार, 4. वर्णनाश, 5. धातु का अर्थान्तिर से योग ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ हैं।

पतंजलि ने महाभाष्य में 1. वर्ण व्यत्यय, 2. वर्णनाश, 3. वर्णोपजन (वर्णागम), 4. वर्णविकार को ध्वनि-परिवर्तन के मार्ग निर्देशित किये है।

स्पष्ट है कि ध्वनि-परिवर्तन के फलस्वरूप नई ध्वनियों का आगम, विद्यमान किसी ध्वनि का लोप, ध्वनि विकार, ध्वनि विपर्यय आदि घटित होता है। इसके फलस्वरूप एकाधिक ध्वन्यात्मक विशेषताएँ प्रकट होकर पद के रूप में परिवर्तन उपस्थित कर देती है।

---

1. कोर्स इन जेनरल लिंग्विस्टिक्स—सोस्युर, पृ० 146
2. निरुक्त, अध्याय 2

1. स्वर भक्ति (Anaptyxis)

भाष्यकार उवट ने स्वर-भक्ति को स्वर का प्रकार कहा है—'स्वर भक्तिः स्वर प्रकार इत्यर्थः।' भक्ति शब्द भज् धातु से व्युत्पन्न है। भक्ति का अर्थ है 'विभक्त करना', विभाजन करना। जहाँ व्यंजन-गुच्छ या संयुक्त व्यंजन होता है, वहाँ उच्चारण में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। इस व्यवधान को दूर करने के लिए संयुक्त व्यंजनों के बीच में ह्रस्व स्वर का आगम होता है। इससे संयुक्त व्यंजन का प्रभाव विभक्त हो जाता है। इसे ही स्वर भक्ति कहा गया है। स्वर भक्ति दो प्रकार की होती है—1. ह्रस्व स्वर भक्ति, 2. दीर्घ स्वरभक्ति।

डॉ० पिशले के अनुसार अर्धमागधी तथा अपभ्रंश में 'अ' का प्रयोग स्वर-भक्ति रूप में आता है। उ और इ का स्वर भक्ति में विशेष रूप से प्रयोग मिलता है। आर्य>अरिय, पद्म>पदुम, पउम, प्राण>पराण।

2 आगम

आगम का अभिप्राय है किसी नयी ध्वनि का आगम। उच्चारण की सुकरता के लिए शब्द में अविद्यमान किसी ध्वनि का आगम किया जाता है। इसके कई रूप होते हैं—1. आदि स्वरागम, 2. मध्य स्वरागम, 3. अंत्य स्वरागम।

(क) आदि स्वरागम—आदि स्वरागम को पुरोहिति, पूर्वहिति या Prothesis भी कहते हैं। उच्चारण-सौकर्य के लिए आदि में स्वर का आगम ही आदि स्वरागम है। पालि, प्राकृत और आधुनिक आर्य भाषाओं में इसके उदाहरण सुलभ हैं। ध्यातव्य है कि आदि स्वरागम सदा ह्रस्व होता है। जैसे, स्तुति>अस्तुति, स्थिति>इस्थिति, स्कूल>इस्कूल, स्टेशन>इस्टेशन, स्थायी>अस्थायी, स्तबल>अस्तबल, प्लेटो>प्लातोन>अफलातून।

(ख) मध्य स्वरागम—संयुक्त व्यंजन को विभक्त कर सुविधापूर्वक उच्चारण के लिए जब शब्द के मध्य में स्वर का आगम होता है तो उसे मध्य स्वरागम कहते हैं। जैसे, लग्न>लगन, मग्न>मगन, धर्म>धरम, कर्म>करम, जन्म>जनम पर्व>परब, सूर्य>सूरज, भक्त>भगत आदि।

(ग) अन्त्य स्वरागम—जहाँ शब्द के अन्त में स्वर का आगम होता है, वहाँ अंत्य स्वरागम मानते हैं। जैसे दवा>दवाई, प्रिय>पिया, पत्र>पतई, पुरवा>पुरवाई, खंभ>खभा, agon>agony।

स्वर की तरह ही उच्चारण की सुविधा के लिए शब्द के आदि, मध्य और अंत में व्यंजन ध्वनियों का भी आगमन होता है। व्यंजन के आगम को **व्यंजनागम** कहते हैं।

(अ) आदि व्यंजनागम—आदि व्यंजनागम के उदाहरण अत्यल्प हैं। जैसे ओष्ठ>ओठ>होठ, उल्लास>हुलास, औरंगाबाद>नौरंगाबाद, अस्थि>हड्डी।

भाषाशास्त्री यह बताने में अक्षम है कि अ के स्थान पर 'ह' का आदि आगम कैसे हो जाता है।

(आ) **मध्य व्यंजनागम**—मध्य व्यंजनागम में शब्द के बीच में नया व्यंजन आ जाता है। जैसे वानर या बनार>बन्दर, सुनरी>सुन्दरी, सुनर>सुन्दर, शाप>श्राप या सराप, समुद्र>समुन्दर, जेल>जेहल, सिख>सिक्ख, हमेशा> हरमेशा, डजन>दरजन, समन>सम्मन, लाश—लहास, टालटूल>टालमटोल आदि।

(इ) **अन्त्य व्यंजनागम**—शब्द के अन्त में व्यंजन का आ जाना अन्त्य व्यंजनागम है। जैसे जम्बु>जामुन, राधा>राधिका, परवा>परवाह, दरिया>दरियाव, भ्रू>भौंह, उमरा (अमीर का व. व)>उमराव, रंग>रंगत आदि।

(ई) अक्षरागम

आदि अक्षरागम—गुजा>घुंघुची।

मध्य अक्षरागम—खल>खरल, आलस>आलकस, डेढ़>डेवढ़ा

अन्त्य अक्षरागम—बधु>वधूटी, आँक>आँकडा, आँख>आँखडी, संदेस >सदेसड़ा।

3 लोप

उच्चारण की सुविधा, मुख-सुख, बोलने में शीघ्रता अथवा स्वराघात आदि के प्रभाव से शब्द की कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। इनके तीन प्रकार होते हैं—1. स्वर लोप, 2. व्यंजन लोप, 3. अक्षर लोप।

1. स्वर लोप

(अ) **आदि स्वर लोप**—शब्द के आदि में ही स्वर का लुप्त हो जाना। जैसे उपायन>बायन, अभ्यतर>भीतर, अरघट्ट>रघट्ट<रहट, अधेला>धेला, अहाता>हाता, अनाज>नाज, अमीर>मीर, अफसाना>फसाना, अगर>गर, उदधिसु>दधिसुत।

(आ) **मध्य स्वर लोप**—इनमे मध्य मे स्वर का लोप हो जाता है। जैसे हरिद्रा>हरद, शाबाश>साबस, Do not>don't।

(इ) **अन्त्य स्वर लोप**—जिसके अन्त में स्वर का लोप हो। जैसे गंगा>गंग, जाति>जात, शिला>सिल, परीक्षा>परख, रीति>रीत, बाहु>बाँह, इक्षु> ईख, बिल्व>बेल, लघु>हल आदि।

2. व्यंजन लोप

शब्द के आदि, मध्य और अन्त मे व्यजनो का लोप मुख-सुख, स्वराघात आदि के लिए होता है।

(क) आदि व्यंजन लोप—जहाँ शब्द के आदि मे व्यंजन विलुप्त हो जाए। जैसे स्फोटक>फोडा, बीवीजी>बीजी, स्नेह>नेह, स्थल>थल, स्थान>थान, श्मशान>मसान, स्थिर>थिर, स्तन>थन, स्थाली>थाली, स्फूर्ति>फुर्ती, स्कन्ध>कंध, Knife>nife, Knight>night आदि।

(ख) मध्य व्यजन लोप—शब्द के मध्य मे आने वाले व्यंजन का लुप्त हो जाना मध्य व्यंजन लोप कहलाता है। जैसे नाक कटा—नकटा, कायस्थ>कायथ, भूमिहार>भुइहार, डाकिन>डाइन, गर्भिणी>गाभिन, सदेश>सनेस, दुगुना>दूना, फाल्गुन>फागुन, उपवास>उपास, कार्तिक>कातिक, सूची>सुई, Tack टाक, walk वाक, Night नाइट, Right राइट, daughter डाटर।

(ग) अन्त्य व्यजन लोप—इसमे शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है। यथा, आम्र>आम, असह्य>असह, धान्य>धान, सत्य>सत्, अग्नि>आग, दुहिता>धिया, Bomb>बम आदि।

3. अक्षर लोप

आदि अक्षर लोप—त्रिशूल>शूल, अम्मा>माँ, आदित्यवार>इतवार, उपाध्याय>झा, शहतूत>तूत, सरदारजी>दारजी, University>Varsity, नेकटाई>टाई, बाइसायकिल>सायकिल आदि।

मध्य अक्षर लोप—अग्रहायण>अगहन, पर्यंक ग्रथि>पलत्थी, भाण्डागार>भडार, वरुजीवी>बरई, राजकुल्य>राउल>राउर, दस्तखत>दसखत आदि।

अन्त्य अक्षर लोप—पार्श्व>पास, जीव>जी, निम्बुक>नीबू, कर्तरिका>कटारी, विज्ञप्तिका>विनती, माता>माँ, दीपवर्तिका>दीवट, भ्रातृजाया>भावज, कुंजिका>कुजी, मौक्तिक>मोती, नीलमणि>नीलम, सपादिक>सवा, उष्ट्र>ऊँट आदि।

समाक्षर लोप—(Haplology) की स्थापना ब्लूमफील्ड ने की है, जिसके अनुसार एक ध्वनि या अक्षर साथ-साथ दो बार आये तो एक का लोप हो जाता है। खरीददार>खरीदार, नाककटा>नकटा, स्वर्गगंगा>स्वर्गङ्गा।

अ+आ=आ, इ+ई=ई, उ+ऊ=ऊ मूलतः समाक्षर लोप के उदाहरण हैं। प्रत्ययो और उपसर्गों के विकास मे इन सभी लोपो का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

4. विपर्यय

विपर्यय का अर्थ है उलटना। कभी-कभी किसी शब्द के स्वर, व्यंजन या अक्षर

का क्रम उच्चारण मे उलट जाता है । इसे विपर्यय कहते है । गलत अनुकरण और बोलने म क्षिप्रता के कारण विपर्यय की क्रिया होती है । अर्थात् उच्चारण क्रम मे उपर्युक्त कारणो से एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के स्थान पर तथा दूसरी ध्वनि पहली के स्थान पर आ जाती हे । पास की ध्वनियाँ जब एक दूसरे का स्थान लेती है तो उसे पार्श्ववर्ती विपर्यय कहते हैं और दूर की ध्वनियों मे विपर्यय हो तो उसे दूर-वर्ती विपर्यय कहते है । यथा, पहुँचना का चहुँपना, अमरूद का अरमूद, मतलब का मतवल आदि ।

विपर्यय के विविध भेद हैं—स्वर विपर्यय, व्यंजन विपर्यय, एकांगी विपर्यय, आद्य शब्दाश विपर्यय ।

(क) **स्वर विपर्यय**—(1) **पार्श्ववर्ती** : जानवर>जनावर, जाँघ>जघा, कुछ>कछु, ससुराल>सुसराल, खुजली>खजुली आदि ।

(2) **दूरवर्ती**—पागल>गपला, अम्लिका>इमली, बिंदु>बूँद, जलरत्न>जरतैल, अनुमान>उनमान ।

(ख) **व्यजन विपर्यय—पार्श्ववर्ती** : चिह्न>चिन्ह, ब्राह्मण>ब्राम्हण, ब्रह्म>ब्रम्ह, डेस्क>डेक्स, तमगा>तगमा, कीचड़>चीकड आदि ।

(2)**दूरवर्ती**—वाराणसी>बनारस, अमरूद>अरमूद, महाराष्ट्र>मराठा।

अक्षर विपर्यय—मतलब>मतबल, नुकसान>नुस्कान, डूबना>बूड़ना, पिशाच>पिचाश, पहुँचना>चहुँपना, आदि ।

(ग) **एकांगी विपर्यय**—वान्द्रिये के अनुसार जब कोई ध्वनिग्राम अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर चला जाता है और उसका स्थान रिक्त रहता है, क्योंकि दूसरा ध्वनिग्राम उस स्थान पर नही आता तो उसे एकागी विपर्यय कहा जाता है । यथा, बिन्दु>बूँद (द का लोप तथा उ का ऊ के रूप में स्थान-परिवर्तन), Debri>Drebi, Fresta>Festra, उल्का>लूका ।

(घ)**आद्य शब्दांश विपर्यय**—इसके दो शब्दो के आदि अश परिवर्तित हो जाते है । इसे ध्वनि सम्मिश्रण अथवा लाभान्वित विपर्यय भी कहते हैं । यथा, चावल दाल>चाल दावल>चौका-चूल्हा>चूला-चौका, समय बताने मे पौने नौ का नौने पौ आदि ।

5. समीकरण

समीकरण मे दो ध्वनियाँ समीप रहने से सम हो जाती हैं । अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर उसे अपना रूप दे देती है । जैसे चक्र का चक्का; यहाँ क ध्वनि र् को प्रभावित या समीकृत कर क् बना लिया गया है । समीकरण बालने की सुविधा की दृष्टि से होता है । इसे सावर्ण्य, सारूप्य, अनुरूपता या समीभवन भी कहा जाता है । इसके दो भेद हैं—1. स्वर समीकरण, 2. व्यंजन

समीकरण। इनके पुरोगामी और पश्चगामी दो-दो और भेद होते है। इन्हे भी दूरवर्ती और पार्श्ववर्ती दो वर्गो मे बाँटा जाता है।

(क) **स्वर समीकरण**—जब समीकरण दो स्वरो मे हो तो उसे स्वर समीकरण कहते हैं। जब पहली ध्वनि दूसरी को प्रभावित करती है तो उसे पुरोगामी और जब दूसरी ध्वनि पहली को प्रभावित करती है तो पश्चगामी समीकरण कहते है। जब ध्वनियाँ पास-पास रहती है तो पार्श्ववर्ती और जब दूर-दूर रहती है तो दूरवर्ती कही जाती हैं।

पार्श्ववर्ती पुरोगामी स्वर समीकरण—आइए>आइइ, अउर>अऊर।

दूरवर्ती पुरोगामी स्वर समीकरण—खुरपी>खुरुपी, सूरज>सुरुज, जुल्म>जुलुम।

पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण—कब अइलाह्>कब अइलह।

दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण—अँगुली>उँगली, आदमी>अदमी, इक्षु>उक्खु, असूया>उसूया।

(ख) **व्यंजन समीकरण**—जब समीकरण दो व्यंजनो मे हो तो व्यंजन समीकरण कहलाता है। इसके भी पुरोगामी, पश्चगामी और पार्श्ववर्ती, दूरवर्ती भेद होते हैं।

पार्श्ववर्ती पुरोगामी व्यंजन समीकरण—बग्घी>बग्गी, निद्रा>नींद, चक्र>चक्क, पत्र>पत्ता, पथ्य>पथ, पुत्र>पूत, रात्रि>रात।

दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण—कचपच>कचकच, खटपट>खटखट, प्रजावती>प्रजपती>प्रजापति।

पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण—दूर्वा>दूब, वार्ता>बात, शर्करा>शक्कर, ऊर्ण>ऊन, दुग्ध>दूध, वल्कल>बाकल, मुद्ग>मूँग, आधसेर>आस्सेर, रात-दिन>राद्दिन, भातदाल>भाद्दाल।

दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण—खरकट>करकट, लकडबग्घा>बकडलग्गा।

6. विषमीकरण

समीकरण का उलटा विषमीकरण है। जब दो निकटस्थ समान ध्वनियो मे से एक बदल जाय तो उसे विषमीकरण कहते है। इसके भी स्वर और व्यंजन तथा पुरोगामी-पश्चगामी भेद होते हैं।

(अ) स्वर विषमीकरण—(1) **पुरोगामी समीकरण** : पुरुष>पुरिस (प्राकृत), तिलक>टिकली।

(2) **पश्चगामी विषमीकरण**—मुकुट>मउर, बकुल>बउर, नूपुर>नेउर।

(आ) व्यंजन विषमीकरण—1. **पुरोगामी व्यंजन विषमीकरण**. काक>काग, कंकण>कगन, लांगूली>लंगूर, लाला>लार।

2 **पश्चगामी विषमीकरण**—नवनीत>लयनू, दरिद्र>दलिद्दर. शाबाश>

चावल (भोजपुरी) लागल नागल

7. विकार

जब उच्चारण की सुविधा के लिए एक ध्वनि दूसरी ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है तो वह विकार कहलाती है। जैसे कृष्ण>कान्ह, मेघ>मेह, स्तन>थन, हस्त>हाथ, शाक>साग, सम्बन्धित>समधी, गर्भिणी>गाभिन, क्षीर>खीर, सौभाग्य>सुहाग, मुख>मुँह।

विकार के कारण शब्दों के रूप मे तो परिवर्तन होता ही है, उनके अर्थ मे भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे समधी वर-वधू के पिता को कहते हैं। क्षीर (दूध) और खीर (दूध चावल से बनी), गर्भिणी (स्त्री) और गाभिन (पशु), स्तन (स्त्री) और थन (पशु) आदि मे रूप-परिवर्तन के साथ ही अर्थ-परिवर्तन भी हो गया है।

8. मात्रा-भेद

स्वराघात के प्रभाव से कभी-कभी ह्रस्व ध्वनि दीर्घ और दीर्घ ध्वनि ह्रस्व हो जाती है। इसे मात्रा-भेद कहते है। इसके कई भेद होते है।

1. **ह्रस्व से दीर्घ**—अक्षत>आखत, विह्न>चीन्हा, अकुश>आँकुश, मिल>मील, स्कन्ध>कधा, हरिण>हिरना, जिह्वा>जीभ, अद्य>आज, काग>कागा, लज्जा>लाज, कटक>काँटा, प्रिय>पीव।

2 **दीर्घ से ह्रस्व**—आलाप>अलाप, आम्ररस>अमरस, नारगी>नव-रगी, आभीर>अहीर, वानर>बन्दर, बादाम>बदाम, आश्चर्य>अचरज, पाताल>पताल आदि।

9. घोषीकरण

उच्चारण की सुविधा के लिए अघोष ध्वनियों को सघोष कर देना घोषीकरण है। यथा, शकुन>सगुन, मकर>मगर, कंकण>कगन, एकादश>एगा-रह, सकल>सगल>सगरो, बापू>बाबू, प्रकट>प्रगट, कीट>कीड़ा, शाक>साग, शती>सदी आदि।

10 अघोषीकरण

मुख-सुख के लिए जब घोष ध्वनियो का अघोष उच्चारण किया जाता है तो अघोषीकरण होता है। जैसे, मदद>मदत, अदद>अदत, मेघ>मेख, खूब-सूरत>खपसूरत, डंडा>डटा आदि।

11. महाप्राणीकरण

इसमे अल्पप्राण ध्वनियो को महाप्राण ध्वनि के रूप मे परिवर्तित कर दिया

जाता है। जैसे, पृष्ठ>पीठ, वेष>भेस, गृह>घर, परशु>फरसा, हस्त>हाथ ग्रहण>घिरना, वृश्चिक>बिच्छू, वाष्प>भाप, ताक>ताख आदि।

12 अल्पप्राणीकरण

महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण हो जाना अल्पप्राणीकरण है जैसे सिन्धु> हिन्दु, भगिनी>बहिन।

13. आनुनासिकता

कभी-कभी आलस्यवश हम ध्वनियों के उच्चारण को अनुनासिक कर देने के लिए विवश होते हैं। आनुनासिकता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह द्रविड प्रभाव है। ब्लाक और टर्नर के अनुसार स्वर की मात्रा में परिवर्तन के कारण आनुनासिकता आ जाती है। ग्रियर्सन इसे आधुनिक काल की प्रवृत्ति कहते हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की प्रवृत्ति के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी इसे मुख-सुख का परिणाम कहते हैं। आनुनासिकता अकारण भी होती है, क्योंकि शब्द में आनुनासिकता न होने पर भी उसे अनुनासिक रूप में उच्चरित किया जाता है। जिन शब्दों में आनुनासिकता होती है, उनमें सकारण आनुनासिकता आ जाती है। अकारण आनुनासिकता—अश्रु>आँसू, सर्प>साँप, उष्ट्र>ऊँट, वक्र>बाँका, कूप>कुआँ, भ्रू>भौं, बाहु>बाँह, अक्षि>आँख, उच्च>ऊँचा, श्वास>साँस, वेत्र>बेंत, सत्य> साँच आदि।

सकारण आनुनासिकता—चञ्चु>चोंच, भङ्ग>भाँग, कम्पन>काँपना, चन्द्र>चाँद, आमलक>आँवला, बिन्दु>बूँद आदि।

14. ऊष्मीकरण

जब अनूष्म ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती हैं तो उसे ऊष्मीकरण कहा जाता है। केन्तुम वर्ग की क ध्वनि शतम वर्ग में स हो जाती है। केन्तुम्>शतम् या सतम्।

15. संधि

तेजी में बोलने, प्रयत्नलाघव आदि के कारण कभी-कभी स्वर या व्यंजनों में संधि हो जाती है। इससे ध्वनि में परिवर्तन होता है। यह समीकरण से भिन्न रूप है। जैसे, मयूर>मउर>मोर, वचन>बइन>बैन, नयन>नइन>नैन, अवध>अउध>औध, नवमी>नउमी>नौमी, सपत्नी>सवत>सउत> सौत, शत>शउ>सब>सउ>सौ, भ्रमर>भँवर>भँउर>भौंर।

कभी-कभी संधि में एक ध्वनि लुप्त भी हो जाती है। जैसे, उस + ही = उसी, इस + ही इसी, यह ही = यही, यहाँ + ही = यहीं, कहाँ + ही = कहीं, वहाँ + ही = वहीं, जहाँ + ही = जहीं, वह + ही = वही आदि।

कुछ लोग मार डाला>माड्डाला, भात दाल>भाद्दाल, मास्टर साहब>माट साहब, आध सेर>आस्सेर आदि को भी संधि मानते हैं, किन्तु डॉ० भोलानाथ तिवारी इसे समीकरण कहते हैं।

16. भ्रामक व्युत्पत्ति

ठीक से न सुनने के कारण अथवा अज्ञानवश कुछ ध्वनियों को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप बना लिया जाता है। इसे भ्रामक व्युत्पत्ति कहते है। जैसे इन्तकाल>अंतकाल, गार्ड>गारद, लार्ड>लाट, लाइब्रेरी>रायबरेली।

इन परिवर्तनो के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक परिवर्तनों का उल्लेख भी आवश्यक है। ये परिवर्तन उपर्युक्त रूपों मे समाहित किए जा सकते है, किन्तु ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से उनका कथन अपेक्षित है।

1. **अभिश्रुति** (Umlaut या Vowel Mutation)— अभिश्रुति का अर्थ है शब्द के किसी आंतरिक स्वर मे बाद के अक्षर में आने वाले किसी अन्य स्वर (अन्य गुण वाला) के कारण होने वाला परिवर्तन। इसमे पूर्ववर्ती अक्षर का स्वर या तो परिवर्तित करने वाले परवर्ती अक्षर के स्वर के अनुरूप हो जाता है या परिवर्तित करने वाले परवर्ती स्वर का लोप हो जाता है। ब्लूमफील्ड इसे पश्चगामी स्वर समीकरण मानते है, किन्तु अभिश्रुति और पश्चगामी समीकरण मे अन्तर है। ग्रिम ने जर्मन भाषा में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया और Umlaut नाम दिया था। डॉ० चटर्जी के अनुसार बँगला मे भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जैसे—करिया (Karia), कयरिया (Kairia), कउरे (K're), कोरे (Kore)। हिन्दी मे इसके उदाहरण विरल है, जैसे अँगुली>उँगली। बँगला—हारिया>हेरे (खोकर)।

2. **अपश्रुति** (Ablout)—किसी रूप या पद मे स्वर-परिवर्तन या मात्रा भेद के कारण भिन्न व्याकरणिक अर्थ का जुड़ना या उसी पद्धति पर नये शब्द की रचना अपश्रुति है। तात्पर्य कि अपश्रुति के कारण शब्द मे अर्थगत परिवर्तन होता है। यह रूपात्मक ध्वनि विज्ञान के अतर्गत ही विचार्य है। मात्रामूलक अपश्रुति मे एक ध्वनि समान प्रकृतिवाली दूसरी ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है। गुणमूलक अपश्रुति मे स्वर ध्वनि मे गुणमूलक परिवर्तन होता है।

मात्रामूलक अपश्रुति—

जित>जीत, सुत>सूत, मिल>मेल आदि

गुणमूलक अपश्रुति—

भरद्वाज—भारद्वाज, वसुदेव—वासुदेव।

किताब — कातिब — कुतुब।
Rise — Rose — Risen.

3 **अपिनिहिति** (Epenthesis)—शब्द में पहले से विद्यमान किसी स्वर के अनुरूप अन्य स्वर के मध्यागम (शब्द के मध्य में आगमन) को अपिनिहिति कहते है। यह स्वर भक्ति या विप्रकर्ष के अन्तर्गत समाहित हो सकता है, फिर भी दोनो मे अतर है। अपिनिहिति मे इ या उ का मध्यागम होता है। जैसे, बेल> बेइल, रक्त>रकत, भक्त>भगत, पूर्व>पूरब आदि।

4 **पुरोहिति पूर्वहिति या** (Protnesis)—शब्द मे विद्यमान किसी स्वर के अनुरूप शब्द के आदि मे स्वर का आगमन पुरोहिति है। यह आगम शब्द का कृत्रिम अग होता है। आगम प्राय. इ या उ का ही होता है। जैसे—स्तुति> अस्तुति, स्थिति>इस्थिति, स्टेशन>इस्टेशन, स्कूल>इस्कूल आदि।

ध्वनि-नियम

किसी काल मे किसी भाषा की ध्वनियों मे होने वाले अपेक्षाकृत व्यापक परिवर्तन की क्रमबद्ध-नियमित क्रिया को ध्वनि-नियम कहते है। ग्रीम तथा ग्रासमैन के कुछ नियमो की स्थापना के आधार पर यह धारणा बनी कि ध्वनि के नियम भी भौतिकी की तरह ही सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। किन्तु भाषा एक गत्यात्मक विज्ञान है। नित्य परिवर्तनशील मनुष्य के विचारो, भावो, सम्पर्कों आदि पर आधारित भाषा और भाषा-विज्ञान के नियमो में अटलता नही रह सकती। ये नियम अतीत के ध्वन्यात्मक परिवर्तनो की समरूपता का ही सकेत कर सकते हैं। वर्तमान और भविष्य में भी इन नियमों के अनुसार भाषा के रूप-परिवर्तन की प्रक्रिया का निर्धारण सभव नही है। इसीलिए ब्लूमफील्ड परिवर्तनो के निर्देशक ध्वनि-नियमो की ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का सूचक मात्र कहते है।[1] अत भौतिकी के नियमो की तरह भाषा-विज्ञान के नियम सदा-सर्वदा घटित नही होते। सोस्युर ने ध्वनि-परिवर्तन के नियमो को सूचित करने मे वर्तमान काल के प्रयोग से बचने का निर्देश दिया है।[2]

वास्तव मे ध्वनि-नियमो के अनुसार परिवर्तन के रूप एक कालखण्ड मे अवश्य मिलते हैं, फिर भी भाषा के अनेक अपवाद भी पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि न केवल ध्वनि-परिवर्तन, बल्कि भाषा-परिवर्तन भी अपवाद-सापेक्ष हैं। ये अपवाद निम्नाकित है ·

1 **सादृश्य** (Analogy)—एक ध्वनि के अनुकरण मे ध्वनियो की प्रकृति

---

1. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड, पृ० 354
2 कोर्स इन जेनरल लिंग्विस्टिक्स—सोस्युर, पृ० 146

बदल जाती है और ध्वनि-नियम गौण हो जाते हैं। पाणिनि ने विकल्प को बली कहा है, जिसके अनुसार प्रयोगगत अनुकरण ही बलशाली सिद्ध होता है। अतः सादृश्य के समक्ष ध्वनि-नियम का कोई महत्त्व नही रह जाता।

2 **शब्द-ग्रहण** (Loan)—भाषा मे आदान-प्रदान, ग्रहण-त्याग की क्रिया सदा चलती रहती है। ग्रहण किये गये शब्द सामर्थ्यवान होते है। उन पर ध्वनि-नियम लागू नही होते। ऐसे शब्द अपना स्वतत्र अस्तित्व बनाये रहते है।

3. **भाषागत पुनर्जागरण** (Linguistic Renaissance)—भाषा का विकास सदा ऋजुता मे ही नही होता। अर्थात् अतीत से वर्तमान के क्रम मे ही भाषा के विकास की प्रक्रिया नही होती। सुदूर अतीत से भी भाषा आवश्यक सामग्री ग्रहण करने मे सकोच नही करती। वर्तमान हिंदी मे प्राकृत, अपभ्र श का ही क्रम नही होता, बल्कि सस्कृत जैसी सुदूर भाषा से भी अनेक शब्द ग्रहण किये गये है। अतः भाषा के विकास में कोई नियम लागू करना अत्यन्त कठिन है।

4. **मिथ्या आकार समता**—कुछ शब्द, जिनके रूपाकार दो भाषाओ मे एक-से हैं, प्राचीन भाषा से व्युत्पन्न माने जाते है, किन्तु यह भ्रमात्मक व्युत्पत्ति है। जैसे कोतवाल की व्युत्पत्ति कोट्टपाल से बताई जाती है। किन्तु कोट्टपाल का भाषिक आदेश कोट्टपाल>कोट्टाल>कोटाल होना स्वाभाविक है। कोटाल रूप बँगला मे पाया जाता है। अत. कोतवाल अपवाद ही ठहरता है।

इससे प्रकट है कि ध्वनि-नियम सार्वकालिक और सार्वभौमिक नही है। इनका सम्बन्ध विशिष्ट काल की विशिष्ट भाषा से ही होता है।

भाषा का विकास प्रसंग-सापेक्ष है। उस पर परिवेश का प्रभाव पडता है। अत ध्वनि-नियम जैसी कोई वस्तु नही होती। इसीलिए कुछ लोगो ने इसे ध्वनि-प्रवृत्ति (Phonetic Tendency) नाम दिया है। इन नियमो के आकलन से भाषा-विकास के चिन्तन का पता चलता है तथा भाषा के ऐतिहासिक रूपो का स्वरूप स्पष्ट होता है। अतः इन नियमो का ऐतिहासिक महत्त्व है। आज की भाषागत समस्याओ के निर्धारण मे इन नियमो का कोई योगदान नही है।

1. ग्रिम नियम

जर्मन भाषा के महान् विद्वान् याकोब ग्रिम (1785—1863) ने अपने व्याकरण ग्रथ दायत्श ग्रामातिक (Deustche Grammatik) के दूसरे सस्करण के पहले खण्ड मे 1822 ई० में पहली बार इस नियम का परिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। बाटरमैन के मत से इस ध्वनि-परिवर्तन की ओर डेनमार्क के भाषा-विज्ञानी रास्क ने ग्रिम के पूर्व ही सकेत किया था। वान्द्रियेज ने भी पैडरसन का इसी आशय का प्रमाण भाषा मे प्रस्तुत किया है। रास्क को महत्त्व देते हुए प्रो० ओटो यस्पर्सन कहते है कि ग्रिम नियम को रास्क नियम कहना अधिक

उचित होगा। जो हो, ग्रिम ने रैस्क के ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त का परिपूर्ण विवेचन किया और उसे विस्तार दिया है।

इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय भाषाओ के स्पर्श व्यजनो से है, जिनका जर्मन भाषा मे ध्वनि-परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन दो बार हुआ। इस प्रकार ग्रिम नियम के दो भाग होते है—1. प्रथम ध्वनि-परिवर्तन, 2 द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन। रास्क द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन की दिशा से भी परिचित थे।

प्रथम ध्वनि-परिवर्तन—प्रथम ध्वनि-परिवर्तन ईसा के जन्म के कई शताब्दियों पूर्व हो चुका था। उस समय तक ऐंग्लोसैक्सन जाति जर्मन जाति से अलग नही हुई थी। इस परिवर्तन का प्रभाव गौथिक, निम्न जर्मन, अँगरेजी, डच आदि भाषाओ पर पडा। मूल भारोपीय भाषा की व्यजन ध्वनियाँ सस्कृत, लैटिन, ग्रीक, स्लावोनिक आदि में सुरक्षित है। अत: सस्कृत की ध्वनियो को मूल भारोपीय ध्वनियो की प्रतिनिधि ध्वनियाँ माना जा सकता है। अँगरेजी की ध्वनियो को प्रभावित भाषा की ध्वनियो का प्रतिनिधि माना जा सकता है। अत सुविधा के लिए मूल भारोपीय भाषा के शब्दो के स्थान पर अधिकांशतः सस्कृत और दूसरी ओर जर्मनिक वर्ग की अँगरेजी भाषा के शब्दो को उदाहरण-स्वरूप लेकर परिवर्तन की दिशाओ को स्पष्ट किया जा सकता है।

1. ग्रिम ने प्रतिपादित किया कि मूल भारोपीय भाषाओ की सघोष महाप्राण ध्वनियाँ—घ, ध, भ—भारत जर्मन भाषाओ मे सघोष अल्प प्राण—ग, द, ब—मे परिवर्तित हो गईं।

2. भारोपीय भाषाओ की सघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ—ग, द, ब भारत-जर्मन भाषाओ मे अघोष अल्पप्राण—क, त, प—मे बदल गई।

3. भारोपीय भाषाओ की अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ—क, त, प—भारत-जर्मन भाषाओ की अघोष महाप्राण —ख, थ, फ—मे परिवर्तित हो गई।

	मूल भारोपीय भाषाएँ		जर्मन भाषा
	सघोष महाप्राण		सघोष अल्पप्राण
(क)	घ् ध् भ्	>	ग् द् ब्
	सघोष अल्प प्राण		अघोष अल्पप्राण
(ख)	ग् द् ब्	>	क् त् प्
	अघोष अल्पप्राण		अघोष महाप्राण
(ग)	क् त् प्	>	ख् थ् फ्

भारोपीय भाषाओ के लिए सस्कृत तथा जर्मन के लिए अँगरेजी को प्रतिनिधि मानकर इन परिवर्तनो की परीक्षा की गयी है। यथा,

संस्कृत		अँगरेजी
(क) घ्>ग्—घंस>हस	—	गूज (goose)
ध्>द (ड्)—विधवा	—	विडो (widow)
भ्>ब्—भ्रातृ	—	ब्रदर (Brother)
भरामि	—	बेयर (Bear)
भ्रू	—	ब्रो (Brow)
(ख) ग्>क्—गो	—	काउ (Cow)
गोत्र	—	क्लान (Clan)
द्>त् (ट्)—दश	—	टेन (Ten)
द्वौ	—	टू (Two)
ब्>प्—बोधन	—	पेन (Pen)
Knnabis (ग्रीक)		हेम्प (Hemp)
(ग) क्>ख् (ह्) कः		हू (Who)
त्>थ्—त्रि		थ्री (Three)
तनु		थिन (Thin)
प्>फ्—पितृ		फादर (Father)

द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन—ग्रिम के अनुसार दूसरा परिवर्तन लगभग सातवी शताब्दी मे हुआ। इसके पूर्व ही ऐंग्लो सैक्सन जाति उच्च जर्मन जाति से अलग हो चुकी थी। इसलिए यह परिवर्तन उच्च जर्मन और निम्न जर्मन भाषाओ मे हुआ। अँगरेजी को उच्च जर्मन की प्रतिनिधि भाषा मानकर इस परिवर्तन को समझाया गया है—

निम्न जर्मन	उच्च जर्मन
ख् थ् फ्	ग् द् ब्
ग् द् ब	क् त् प्
क् त् प्	ख् थ् फ्

उच्च-निम्न जर्मन भाषाओ का भेद सामाजिक स्तर पर ही है। यहाँ क, त, प का ख थ फ होना चाहिए किन्तु यह परिवर्तन ख, त्स या त्स, फ या प्फ के रूप मे होता है। फिर ख का ग भी नही होता। त्स और फ का द और ब हो जाता है।

होना चाहिए	होता है
ग>क>ख>ग	ग>क>ख>★
द>त>थ>द	द>त>त्स, त्स>द
ब>प>फ>ब	ब>प>फ, प्फ>ब

निम्न जर्मन	उच्च जर्मन
ग>क—गिस्	कस्टे
द>त—डॉटर	टाखटर
ब>प—बी, डबिल	पिन, डाप्पेल
क>ख—योक	याख
बुक	बुख
त>त्स—टैन, वाटर, फुट	त्सेन, वास्सर, फुस्स
प>फ—थार्प, अप, पाउण्ड, एपिल—	डार्फ, डाउफ, फुण्ड, आप्फेल
ख>*—हार्ट, हॉस्टिस	हर्त्स, हॉस्ट
थ>द—थी, थिक	द्राय, दिक
फ>ब—थीफ, वाइफ	दीव, वाइब

इन उदाहरणो मे व्यंजन गुच्छ की स्थिति मे विकास का क्रम दिखाई नही पडता। इससे यह अर्थ निकलता है कि ग्रिम नियम एकाकी ध्वनियो को लक्ष्य करके बनाये गये है। व्यंजन-गुच्छो पर होनेवाले प्रभाव को लक्षित नही किया गया है। तात्पर्य यह कि ग्रिम नियम केवल असयुक्त अर्थात् एकल ध्वनियो पर लागू होता है, सयुक्तो पर नहीं। फिर इस नियम के कई अपवाद भी है—

अपवाद—

मूल भारोपीय शब्द	जर्मनिक ट्यूटानिक शब्द
पिस्केस	फिस्कस
अस्ति	इस्त
स्पश	स्पेहोन

इन उदाहरणो में क ख मे, त थ मे तथा प फ मे परिवर्तित नही है।

2 ग्रैसमैन नियम

ग्रैसमैन ने 1862 ई० में ग्रिम द्वारा प्रतिपादित नियम में संशोधन प्रस्तुत किया। उन्होने अपना नियम प्रस्तुत किया कि यदि मूल भारोपीय भाषा मे शब्द या धातु के आदि और अत दोनो स्थानो पर महाप्राण व्यंजन हो तो सस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं मे एक अल्प प्राण हो जाता है। ग्रैसमैन ने बताया कि ग्रिम नियम के अपवाद नही दिखाई पडते हैं, जहाँ आद्यक्षर के बाद आने वाले अक्षर मे घ, ध, भ मे से कोई ध्वनि रहती है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत और ग्रीक शब्द-रचना निरन्तर दो महाप्राण अक्षरो के अनुकूल नही है। जैसे सस्कृत मे 'भोधा' नही मिलता बल्कि 'बोधा' मिलता, ग्रीक मे फउथो नही होता, पेउथा मिलता है। इसमे ग्रैसमैन ने निष्कर्ष निकाला कि जहाँ एक महाप्राण ध्वनि मिलती है, वहाँ मूल

भारोपीय भाषा में दो महाप्राण ध्वनियाँ थीं। इससे ग्रिम नियम के अनुसार घ ध भ का ग द ब हो जाना सही है और अपवाद अपवाद नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ऐसा सर्वत्र नहीं होता—

संस्कृत	गाथी
बोधति	बिन्दान
दभ	दाब्ज

3. वर्नर नियम

जर्मन भाषाशास्त्री कार्ल वर्नर ने ग्रिम नियम में दूसरा संशोधन प्रस्तुत किया। दरअसल, ग्रैसमैन के संशोधन के बाद भी कुछ अपवाद रह गये थे, जिनका समाधान करना आवश्यक था। कार्ल वर्नर ने उनका समाधान कुछ नियमों के आधार पर किया। इन्हीं नियमों को वर्नर नियम कहते हैं। वर्नर का नियम बलाघात पर आधारित है। उन्होंने बताया कि ग्रिम नियम उच्चारण वैशिष्ट्य पर आश्रित है। मूल भारोपीय भाषा में क त प के पूर्व बलाघात हो तो परिवर्तन ग्रिम नियम के अनुसार ही होता है, अर्थात् क त प>ख(ह)थ फ में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जहाँ क त प>ग द ब में बदल जाता है। वर्नर ने स्थापित किया कि जहाँ मूल भाषा में क त प के पूर्व बलाघात होता है तो ग्रिम के अनुसार ख थ फ होता है, अन्यथा ग द ब हो जाता है। यथा,

संस्कृत	गाथिक	अँगरेजी
त>द (ड)—शतम	हुन्द	हण्ड्रेड
प>ब—सप्तम	सिबुन	सेवेन
क>ग—युवक	जुग्स	योग
भ्राता	ब्राथर	ब्रदर

4 तालव्य नियम

तालव्य नियम की स्थापना के साथ कई विद्वानों के नाम जुड़े हुए हैं। सर्वप्रथम विल्हेम टॉमसन ने 1875 ई० में अपने एक वक्तव्य में इसका उल्लेख किया। अभी वक्तव्य प्रकाशित नहीं हुआ था कि उन्हें पता चला कि जॉनश्मिट ने इस विषय पर एक विस्तृत निबन्ध तैयार कर लिया है। 1920 ई० में सैमलेदे ाफहालिगेर के द्वितीय खण्ड में यह प्रकाशित भी हुआ। एसाइतेगर ने भी स्वतन्त्र रूप से इस सिद्धान्त का विश्लेषण कर लिया और उसे 'दे अरिस्क स्प्राकेन ओ पेलेतोर' में छपवाना प्रारम्भ कर दिया। तभी उन्हें ज्ञात हुआ कि कॉलिट्ज और द' सोस्युर ऐसे ही विचार प्रकट कर चुके है तो उन्होंने उसका प्रकाशन स्थगित करा दिया। कार्ल वर्नर ने भी स्वतंत्र रूप से इस सिद्धान्त का पता लगा

लिया था। किन्तु कॉलित्स की विशेष सक्रियता के कारण इसे कॉलित्स का तालव्य नियम के नाम से जाना जाता है।

तालव्य नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा के शब्दों का अग्रस्वर 'इ' के पूर्व स्थित (उच्चरित) कंठ्य व्यजन सस्कृत मे तालव्य व्यंजन मे बदल जाता है। अर्थात् क्व, ग्व का च ज मे परिवर्तन हो गया। पाकस्, पचति, पक्व आदि इस नियम के उदाहरण है। कठ्य व्यजन के तालव्य व्यंजन मे परिवर्तित हो जाने के कारण ही इसे तालव्य नियम कहते हैं।

यह भी बताया गया कि क ग के बाद आने वाले सस्कृत 'अ' ध्वनि का उच्चारण ग्रीक तथा लैटिन मे ई और ए की तरह होता है, किन्तु सस्कृत मे वे च ज के रूप मे आते हैं। जहाँ अ का उच्चारण ग्रीक लैटिन में 'ऑ' की तरह होता है, वहाँ सस्कृत मे क ग सुनाई पडता है। मूल भारोपीय भाषा मे शुद्ध कण्ठ्य या कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के बाद यदि कोई तालव्य स्वर—इ ई—आता है तो तालव्य ध्वनियाँ होती है। जहाँ 'ओ' आदि है, वहाँ कवर्ग ही रह जाता है।

जैसे—

ध्वनि-परिवर्तन	सस्कृत	लैटिन	ग्रीक
क>च	च (और)	que	Te
	चिद् (अनिश्चयार्थ)	quid	Ti
ग>ज	जनस् (मनुष्य)	—	Genos
	जानु (घुटना)	Genu	Gonu

अन्यत्र क वर्ग ही रह जाता है

क्>क्	क तर: (कोई एक)	Quod	Kotesos
	कर्क: (केकड़ा)	Cancer	Karkinos
ग>ग	युगम् (जुआ)	Jugun	Zugon

तालव्य नियम का प्रतिफलन सस्कृत गम्>जगाम्, कृ>चकार, हन्> जघान्, ओजस>उग्र, यज्>याग:, शोचते>शोक: आदि में भी द्रष्टव्य है।

श्री भगवद्दत्त जी ने तालव्य नियम की स्थापनाओ का अंतसाक्ष्य के आधार पर निराकृत किया है। उनकी मूल मान्यता के अनुसार भारोपीय जैसी कोई भाषा नही थी और सस्कृत ही ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ की जननी है।

5 ग्रीक नियम

ग्रीक नियम के अनुसार मूल भारोपीय शब्दों में दो स्वरो के बीच में आने वाला 'स' 'ह' मे परिवर्तित हो जाता है, और अन्त मे वह लुप्त भी हो जाता है। जैसे Gene SOS>Genẹhos>Genesos.

6 लैटिन नियम

भारोपीय भाषा के शब्द म दो स्वरों के बीच मे आने वाला 'स' का 'र' में परिवर्तित हो जाना लैटिन नियम कहलाता है। जैसे, Genesos>Generas, Generis.

7 फारसी नियम

फारसी नियम के अनुसार सस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी मे 'ह्' ध्वनि के रूप मे मिलती है। इसे फारसी नियम कहते है। यथा, सप्त-हफ्त, सिंध-हिंद।

8 मूर्धन्य नियम

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे मूर्धन्य नियम के बीज मिलते है। पाणिनि के अनुसार और ष के बाद 'न' का 'ण' तथा इ ए ओ जैसे स्वरों और क जैसे व्यंजन के पश्चात् आने वाली स ध्वनि 'ह्' ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है। जैसे उत्तीर्ण, विष्णु, रामेषु, वाक्षु।

उपर्युक्त सकेत पर प्रो० पॉट और रूसी विद्वान् फोर्तुनातोव ने मूर्धन्य ध्वनियो का अध्ययन किया। फोर्तुनातोव ने स्थापित किया कि भारोपीय भाषाओ यहाँ तक कि अवेस्ता में भी 'ट' वर्गीय ध्वनियाँ नही मिलती। मात्र संस्कृत मे ही ऐसी ध्वनियो का बहुलता से प्रयोग हुआ है। विद्वानो के अनुसार 'ट' वर्गीय ध्वनियाँ द्रविड़ भाषाओ के प्रभाव के कारण सस्कृत मे आई है।

मूल भाषा मे त वर्गीय ध्वनियाँ, जब र ल के पश्चात् आती है तो वे ट वर्ग मे विकसित हो जाती है। जैसे, कृत>कट, विकृत>विकट, पृयति>पठति।

फोर्तुनातोव ने मूर्धन्य नियम के अंतर्गत स्थापित किया कि (1) मूल भाषा मे ल के बाद त वर्ग का ट वर्ग मे परिवर्तन हो जाता है और ल का लोप हो जाता है।

(2) मूल भाषा मे र या ऋ के बाद त वर्ग नही आता।

प्रो० वाकर नागेल, ब्रुगमान तथा बार्थोलोमे ने फोर्तुनातोव की इस स्थापना का खण्डन किया है। उदाहरणों से इस सिद्धान्त की भ्रातिमूलकता की ओर सकेत करते हुए भी इस स्थापना की पुष्टि की कि र और ऋ के बाद त वर्गीय ध्वनियाँ ट वर्गीय हो जाती हैं। यथा, भृत>भट, नृत>नट आदि। फोर्तुनातोव की यह स्थापना महत्त्वपूर्ण है कि ट वर्गीय ध्वनियाँ द्राविड़ी प्रभाव से संस्कृत में नही आई है, वरन् अपनी आतरिक व्यवस्था के कारण हैं।

9. प्राकृत नियम

यह कोई नियम नही है, फिर भी संस्कृत की अनेक ध्वनियो के प्राकृत मे परिवर्तित हो जाने की ओर इसमे सकेत किया गया है। इसके अनुसार ख, घ, ध

ध्वनियाँ ह ध्वनि मे, ट>ड, ठ>ढ, त>द, न>ण, श, ष>स, प>ह, य>ज मे परिवर्तित हो जाती हैं—

ख>ह—मुख>मुँह
घ>ह—मेघ>मेह
ध>ह—बधू>बहू
ट>ड—कुटुम्ब>कुडुम्ब
ठ>ढ—पठन>पढण
त>द—अतिथि>अदिधि
न>ण—नाम>णाम
प>व—दीपाली>दिवाली
श>स—अशेष>असेस
ष>स—ऋषि>रिसि
ष>ह—पाषाण>पाहाण
य>ज—यशस>जस

ध्वनिग्राम विज्ञान

ध्वनिग्राम का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विज्ञान का नामकरण ध्वनिग्राम विज्ञान है। जेकबसन और एम० हाल के अनुसार 'भाषा ध्वनियों का उपयोग करती है तथा आवश्यकतानुसार उनके कुछ तत्त्वो के द्वारा अपने विविध उद्देश्यो की सिद्धि करती है। भाषा का यह क्षेत्र ध्वनिग्राम विज्ञान के अंतर्गत आता है।'[1] ध्वनिग्राम मे सध्वनियो की योजना होती है। पाइक कहते है कि 'ध्वनि वैज्ञानिक कच्चा माल तैयार करता है और ध्वनिग्राम वैज्ञानिक उससे पक्का माल तैयार करता है।' ध्वनिग्राम में ध्वनियो के वितरण के आधार पर ध्वनियो का अर्थ-भेदक और व्यावहारिक रूप गठित होता है।

ब्लूमफील्ड के अनुसार 'भाषा मे पाये जाने वाले ध्वनिग्राम ध्वनियाँ नही होते। वे मात्र समेकित ध्वनि-अभिलक्षण होते है। विशिष्ट ध्वनि-अभिलक्षणों की लघुतम इकाई को ध्वनिग्राम कहते है।'[2]

ब्लॉख एव ट्रेगर कहते है कि 'ध्वनिग्राम, ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है। यह अन्य ध्वनियो से व्यतिरिक्त (Contrasting) और भिन्न होता है।'[3]

---

1. फोनोलॉजी इन रिलेशन टू फोनेटिक्स—जेकबसन ऐण्ड हाल, पृ० 211
2. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड
3. आउट लाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस—ब्लॉख ऐण्ड ट्रेगर, पृ० 40

हाकेट के अनुसार एक भाषा के ध्वनिग्राम, उस भाषा की ध्वनि-प्रक्रियात्मक व्यवस्था मे ऐसे तत्त्व होते है, जिनमे परस्पर व्यतिरेकता होती है। भाषा-विशेष के ध्वनिग्राम एक-दूसरे से भिन्न होते है।'

ग्लीसन कहते है कि 'ध्वनिग्राम ध्वनियो के एक वर्ग को कहते है। वर्गगत ध्वनियो मे ध्वन्यात्मक साम्य होता है तथा भाषा-विशेष मे इनकी वितरणगत विशिष्ट अभिरचना होती है।'

डेनियल जोन्स मानते है कि 'ध्वनिग्राम किसी भाषा-विशेष की ध्वनियो का परिवार होता है। परिवार के ध्वनि-सदस्य इस प्रकार प्रयुक्त होते है कि शब्दगत जिस सदर्भ मे वे प्रयुक्त हो जाते हैं, उस सदर्भ मे दूसरे ध्वनि-सदस्य नही आ सकते।'[1]

रौबिन्स कहते है कि 'ध्वनिग्राम मे ध्वविगत भेद रखने वाली ध्वनियाँ अथवा ध्वनि-सदस्य होते है। तर्क के आधार पर इन्हे वर्ग की संज्ञा दी जा सकती है।'

रॉबर्ट हॉल मानते है कि 'ध्वनिग्राम एक इकाई है, ध्वनि-अभिलक्षणो का एक बन्ध है, अथवा व्यतिरेकगत इकाई है।'[2]

इस आधार पर ध्वनिग्राम मे निम्नाकित विशेषताएँ होती है—

1. भाषा के उच्चारण पक्ष की न्यूनतम इकाई ध्वनिग्राम होती है।

2. ध्वनिग्राम भाषा की अर्थ-भेदक इकाई है। ध्वनिग्राम का अपना कोई अर्थ नही होता, किन्तु लघुतम शब्द-युग्मो मे प्रयुक्त होने से उनमे अर्थ-भेदकता आती है।

सध्वनि (Allophone)

ध्वनिग्राम के अनेक सदस्य होते हैं। ध्वनिग्राम के इन सदस्यो को ही सध्वनि (Allophone) कहते है। अतः एक ध्वनिग्राम मे कई सध्वनियाँ होती है। आर्कि-बाल्ड ए० हिल के अनुसार 'ध्वनिग्राम के सदस्यों को सध्वनियाँ कहते हैं।' ब्लॉख ऐण्ड ट्रेगर कहते है कि 'ध्वनिग्राम की एकाकी ध्वनियाँ संध्वनियाँ है।' फ्रासिस नेलसन के अनुसार 'वे भिन्न ध्वनि प्ररूप, जिनमे ध्वनिग्राम बनते है, सध्वनि कहा जाता है।' कल, वल्कल, जमालपुर, लहर आदि मे आया हुआ ल समान होते हुए अलग-अलग है। इस तरह ल ध्वनि परिवार का एक सदस्य है। इसे ही सध्वनि कहते है।

ध्वनिग्रामो की प्रकृति और सख्या का निश्चय वितरण-पद्धति के आधार पर होता है। वितरण तीन प्रकार का होता है—मुक्त वितरण, पूरक वितरण

---

1. ऐन आउट लाइन ऑफ इग्लिश फोनेटिक्स—डेनियल जोन्स, पृ० 49
2. इन्ट्रोडक्टरी फोनेटिक्स—रॉबर्ट हाल, पृ० 79

और व्यतिरेकी वितरण ।

वितरण—वितरण उस परिस्थिति या परिवेश को कहते हैं जिनमे एकाधिक ध्वनि तत्त्व प्रयुक्त होते है । प्रयोगानुशासित परिवेश ही वितरण कहलाता है ।

मुक्त वितरण—दो उच्चारो के कतिपय खण्डो में विभिन्नता होते हुए भी कोई अर्थगत अन्तर नही होता तो इसे खण्ड या मुक्त वितरण कहा जाता है । दीवाल और दीवार मे ल, र मे मुक्त वितरण है, क्योकि परिस्थितियाँ एक होने पर भी अर्थ मे कोई भेद नही आता ।

पूरक वितरण—जब दो या दो से अधिक ध्वनियो का वितरण इस प्रकार हो कि उनमे से कोई भी ठीक उसी प्रकार की स्थिति मे घटित न हो तो उसे पूरक वितरण कहते हैं । जैसे लव, लोड, मिल्यन, बोल्ड, बिल्ड, फूल, पिल आदि में 'ल' ध्वनिग्राम की सध्वनियाँ ल् है । स्थिति-भेद के कारण ही ये संध्वनियाँ है ।

व्यतिरेकी वितरण—समान परिस्थिति में आनेवाली अर्थ-भेदक या क्रिया-भिन्नता मूलक ध्वनियाँ व्यतिरेकी वितरण मे होती है । व्यतिरेक या विरोध का निर्धारण परिवेश से होता है । ताल, थाल, चाल, माल, गाल में आल् सर्वव्यापक (सबमे वर्तमान) है । त, थ, च, म, ग के कारण ही अलग-अलग अर्थ वाले शब्दों की रचना हुई । ये अर्थ मूलक या क्रियाशील इकाइयाँ है ।

ध्वनिग्राम के भेद

ध्वनिग्राम के तीन भेद किये जा सकते है—मुख्य ध्वनिग्राम, संयुक्त ध्वनिग्राम और गौण ध्वनिग्राम ।

1. **मुख्य ध्वनिग्राम**—मुख्य ध्वनिग्रामो की संख्या 15 से 50 के बीच बताई गयी है । हिन्दी में ध्वनिग्रामों की संख्या 50 के आसपास है । स्वर और व्यंजन के स्पर्श, संघर्षी, लुंठित, पार्श्विक, नासिक्य आदि भेद किये जाते है, जो ध्वनिग्राम पर भी लागू होते हैं । क, ख, अ, ई आदि हिन्दी के मुख्य ध्वनिग्राम है ।

2. **संयुक्त ध्वनिग्राम**—सयुक्त ध्वनिग्राम मुख्य ध्वनिग्रामो के ऐसे संयोग मात्र हैं, जो अर्थ और शब्द-रचना के लिए इकाई के रूप में प्रयोग मे आते हैं । ऐ और औ संयुक्त ध्वनिग्राम हैं ।

तेल और तैल तथा कोर और कौर मे ए ऐ ओ और औ ए, ऐ, ओ, औ से भिन्न है ।

3. **गौण ध्वनिग्राम**—जब दो या दो से अधिक ध्वनिग्राम अपेक्षाकृत लम्बे रूप, शब्द या वाक्य निर्माण करते है तो गौण ध्वनिग्राम सुनाई पड़ते है । गौण ध्वनिग्रामो को मालूम करना कठिन कार्य है । गौण रूप से प्रयोग में आने के कारण ये गौण ध्वनिग्राम कहे जाते हैं ।

बलाघात, सुराघात, मात्रा, अनुनासिकता, विवृत्ति आदि में गौण ध्वनिग्राम लक्षित किये जा सकते हैं

रूप-विज्ञान

रूप-विज्ञान भाषाविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अग है। इसका सम्बन्ध शब्दों, शब्द के रचनात्मक प्रत्ययो, पदो और पद-रचना के प्रत्ययो के विश्लेषण-विवेचन से है। रूप-विज्ञान की अवधारणा पर ही व्याकरण की स्थापनाएँ आधारित है। ससार की अधिकांश भाषाएँ रूपात्मक है। अतः रूप-विज्ञान भाषाविज्ञान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपक्षेत्र है। मैथ्यूज के अनुसार रूप-विज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है, जो शब्द के विभिन्न रूपो की रचना और प्रयोगो से सम्बद्ध है।

पाश्चात्य भाषाविज्ञान मे भाषा के तीन अग विचार्य है—1. ध्वनि-विज्ञान (Phonology), 2 व्याकरण (grammar), 3. अर्थ-विज्ञान (Semantics)। व्याकरण को रूप-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान मे विभक्त किया गया है। पश्चिमी भाषाविद् स्वतंत्र रूपिम को शब्द या प्रातिपदिक कहते है। भाषा की इकाई वाक्य होते है। वाक्य के खण्ड शब्द कहे जाते हैं। वाक्य मे प्रयोग होने पर शब्द को पद कहा जाता है।

शब्द

'शब्द' की व्युत्पत्ति 'शप्' या 'शब्द्' धातु से मानी जाती है। 'शब्द्' मे 'घ ञ्' प्रत्यय जोड़ने से शब्द की रचना होती है, जिसका अर्थ है शब्द करना, ध्वनि करना या बोलना। कुछ लोग शब्द को नाम धातु भी मानते है।

अँगरेजी मे शब्द को word कहते है। डच भाषा का woord, जर्मन का wort, गोथिक का waurd, आइसलैंडिक का orth, लैटिन का Vrbum और ग्रीक का Liro भी ध्वनि करना या बोलना के अर्थ मे प्रयोग मे आते है। अरबी 'लफ्ज' का अर्थ भी 'मुँह से फेंका हुआ' या 'ध्वनि किया हुआ' या 'बोला हुआ' होता है। इस प्रकार 'शब्द' के विभिन्न भाषाओं मे प्राप्त पर्याय भी अर्थ की दृष्टि से एक-दूसरे के निकट ही है।[1]

पतजलि ने महाभाष्य मे लिखा है—'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेश. शब्दः।' अर्थात् शब्द, कान से प्राप्य, बुद्धि से ग्राह्य, प्रयोग से प्रस्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है। अन्यत्र उन्होंने कहा है—'प्रतीत

---

1 शब्दो का डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 9

पदार्थ को लोके ध्वनि शब्द. ।' अर्थात् वह ध्वनि जिससे व्यवहार या लोक मे पद के अर्थ की प्रतीति हो, शब्द है।

शृंगार प्रकार मे कहा गया है—'येनोच्चरितेन अर्थः प्रतीयते स शब्दः ।' अर्थात् जिसके उच्चारण करने से अर्थ की प्रतीति हो वह ध्वनि शब्द है। शब्द के द्वारा वस्तु, क्वचित क्रिया आदि का बोध होता है—'येनोच्चारितेन सास्नालांगुल-ककुद-खुर-विषाणिना सप्रत्ययो भवति स शब्दः ।'

पाश्चात्य भाषावैज्ञानिको ने शब्द को भाषा की सर्वाधिक प्रारंभिक इकाई मानकर विश्लेषित किया है। पामर (Palmer) के अनुसार ऐसी भाषिक लघुतम इकाई, जो एक पूर्ण उच्चार के रूप मे कार्य कर सके, शब्द है (The Smallest speech unit capable of functioning as a complete utterance) । उलमान के अनुसार शब्द भाषा की लघुतम महत्त्वपूर्ण इकाई है (The smallest significant unit of language) । ब्लॉक तथा ट्रेगर के मत से रूपग्राम एक ऐसा भाषिक रूप है, जिसका अर्थमूलक खण्डन सभव नही होता ।'[1]

ब्लूमफील्ड कहते है कि 'रूपग्राम वह भाषिक रूप है, जिसकी सादृश्यता कोई दूसरी भाषिक इकाई न तो ध्वनि के स्तर पर कर सकती है, न अर्थ के स्तर पर ।'[2] ग्लीसन के अनुसार रूपग्राम व्याकरणिक उपयुक्तता वाली लघुतम इकाई है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के मत से अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम स्वतंत्र इकाई शब्द है। रामचन्द्र वर्मा 'वह जो कुछ हमे सुनाई दे' को शब्द कहते है।

शब्द शुद्ध अर्थतत्त्व है। शब्द निरपेक्ष होते है। शब्द का अर्थ तभी स्पष्ट होता है, जब हम उसके रूप मे परिवर्तन करते है। डॉ० भोलानाथ तिवारी यह मानते है कि शब्द पर ही पद आधारित होते हैं।

पद

शब्द का वाक्य मे प्रयुक्त स्वरूप ही पद या रूप कहा जाता है। शब्द में अर्थ-तत्त्व सनिहित होता है, किन्तु अर्थ देने की क्षमता उनमे तब आती है जब उनका प्रत्यय-सहित प्रयोग वाक्य मे किया जाता है। शब्द जब वाक्य मे प्रयुक्त होते है तो शब्द के अर्थ मे विभाजन होता है, उनमे परस्पर अन्वय होता है। अन्वय के अभाव में शब्द की सार्थकता अधूरी रह जाती है।

सस्कृत मे 'शब्द' के मूलरूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदिक' कहा जाता है। सम्बन्ध तत्त्व के लिए जोड़े गये तत्त्व को 'प्रत्यय' कहते है। प्रकृति और प्रत्यय के सयोग से जो बनता है उसे पद या रूप कहते है। अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय युक्त

1. आउट लाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस—ब्लॉक ऐण्ड ट्रेगर, पृ० 54
2. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड, पृ० 161

शब्द ही पद' कहलाता है प्रयोग योग्यता पदों मे होती है शब्दा म नहीं पाणिनि ने पद की परिभाषा दते हुए कहा है – सुप्तिङन्त पदम्। सुबन्त तिङन्त च पदमज्ञस्यात्।' अर्थात् सुप् (संज्ञा-विभक्ति) और तिङ् (क्रिया-विभक्ति) के योग से पद की रचना होती है। शब्द मे अर्थ तत्त्व होने पर भी पद बने बिना उसमें अन्वय की शक्ति नही आती।

पतजलि ने पद से ही प्रयोग-योग्यता स्वीकार करते हुए कहा है—'अपदम् न प्रयुञ्जीत।' अर्थात् अपद का प्रयोग नही करना चाहिए। उन्होने यह भी कहा है कि न तो शब्द अथवा प्रकृति मे और न प्रत्यय मे ही प्रयोग की योग्यता होती ह। अतः न केवल प्रकृति (मूल शब्द, धातु) का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का—'नापि केवला प्रकृति. प्रयोक्तव्या, नापि केवल प्रत्ययः।' दोनो का संयोग होने पर पद बनता है। पद ही प्रयोग योग्य होता है। इसीलिए कहा गया है कि भली भाँति ज्ञात और प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग तथा लोक में अभीष्ट फलदायी होता है—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञात' सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।'

शब्द के रूप होते है। सम्बन्ध का निर्धारण करने के लिए लिंग, वचन, कारक आदि के अनुसार संस्कृत मे शब्द के रूप चलते है। इसलिए भाषाशास्त्रियो ने रूप और पद को पर्यायवाची माना है। अत पद या रूप अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का समाहार है। अत. पद और रूप मे कोई अन्तर नही है।

अयोगात्मक (चीनी आदि) भाषाओं में शब्द और पद मे भेद नही होता। इसमे सम्बन्ध तत्व या विभक्ति प्रत्यय जोड़ने की आवश्यकता नही होती। वाक्य मे शब्द के स्थान के आधार पर वाक्य में शब्द के सम्बन्ध का निर्धारण हो जाता है।

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओ मे ही प्रकृति-प्रत्यय का विधान है।

सम्बन्ध तत्त्व

शब्द को प्रकृति कहा गया है। शब्द या प्रकृति का प्रयोग वर्जित है। वाक्य मे प्रयोग करने के पूर्व शब्द या प्रकृति मे सम्बन्ध तत्त्व जोडा जाता है। सम्बन्ध तत्त्व को प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय को विभक्ति भी कहा जाता है। पद और शब्द का भेदक तत्त्व प्रत्यय या विभक्ति है। विभक्ति का अर्थ हे विभाजन करने वाला। विभक्ति से शब्दों के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। विभक्ति ही अर्थ-भिन्नता का कारण है।

शब्द का विश्लेपण धातुओ से होता है। धातुओ के द्वारा विचारो का द्योतन होता है। धातुओं में उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय) और प्रत्यय आवश्यकतानुसार जोड कर शब्द-रचना की जाती है। शब्दो मे सम्बन्ध तत्त्व या प्रत्यय जोड़ने से पद बनते हैं। पदों को रूप भी कहते है। प्रत्यय जोड़ने के बाद शब्द का जो रूप

बनता है, उसे रूप कहते है। सस्कृत मे शब्दों के रूप चलते हैं। प्रत्यययुक्त प्रातिपदिक, प्रकृति या शब्द ही रूप या पद होते है। पाणिनि के सूत्र 'सुप्तिङन्त पदम्' मे सुप् और तिङ् सम्बन्ध तत्त्व या प्रत्यय है। उनके अनुसार प्रतीयते विधीयते इति प्रत्यय.'। महाभाष्य मे कहा गया है कि प्रत्यय से शब्दों का अर्थ अन्वित होता है। जो अर्थ की प्रतीति कराये उसे ही प्रत्यय कहा गया है—'प्रत्यय इत्यन्वर्थ सज्ञा। य. स्वमर्थम् प्रत्याययति स प्रत्ययः।'

उलमैन के अनुसार प्रत्यय मूलत. स्वतन्त्र शब्द थे। समस्त पदों के अन्त मे उनका प्रयोग वर्षों तक होता रहा। प्रयोग-बाहुल्य से उनकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गई और वे व्याकरणिक सकेत (चिह्न) के रूप मे प्रचलित हो गए। उनका प्रयोग शब्दान्त मे होने लगा।[1] फादरली (Fatherly), ब्रदरली (Brotherly) आदि मे लगने वाला ly वास्तव Like का परिवर्तित रूप है। सस्कृति का 'आलय' शब्द घिसते-घिसते 'आल' और फिर 'ल' रह गया। समुराल, देवल आदि के 'ल' मे इसे देखा जा सकता है।[2]

अर्थदर्शी प्रकृति या प्रातिपदिक तथा सम्बन्धदर्शी प्रत्यय के संयोग से पद निर्मित करने की विधि श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं मे ही है, अयोगात्मक मे नही। जैसे हस्त शब्द है प्रकृति तत्त्व। उसमे एन प्रत्यय या सम्बन्ध तत्त्व का सयोग होने पर 'हस्तेन' पद या रूप बनता है। हिन्दी मे हाथ मे से प्रत्यय या विभक्ति जोडने पर 'हाथ से' में अर्थ के साथ ही सम्बन्ध की भी प्रतीति होती है। राम ने रावण को बाण से मारा' वाक्य मे राम, रावण, बाण आदि का अर्थ-विभाजन सम्बन्ध तत्त्व के कारण होता है। कुछ शब्दो में सम्बन्ध तत्त्व उसी में मिल जाते हैं। जैसे 'मारा' मे सम्बन्ध तत्त्व मिल गया है।

सम्बन्ध तत्त्व के द्वारा मुख्यत: लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल आदि के भावो की अभिव्यक्ति होती है। यदि किसी शब्द की वाक्य मे विशेष स्थिति उसे वाक्य के अन्य शब्दों से सम्बन्धित करती है और अर्थ की प्रतीति कराती है तो उसे भी सम्बन्ध तत्त्व माना गया है। शब्द सम्बन्ध तत्त्व के कारण नियन्त्रित होते है और नियन्त्रित होकर ही अर्थ की प्रतीति कराते है।

सम्बन्ध तत्त्व के प्रकार

लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल आदि के भाव सूचित करने के लिए भाषा मे सम्बन्ध तत्त्व का सहारा लिया जाता है। शब्द मे सम्बन्ध तत्त्व के योग से ही पद या रूप की सृष्टि होती है। रूप परिवर्तन मूलक सम्बन्ध तत्त्वों के संयोग के

---

1. वर्ड्स एण्ड देयर यूज—उलमैन, पृ० 68
2 हिन्दी शब्द रचना—माई दयाल जैन, पृ० 32-33

अनेक प्रकार होते है। उनका विवेचन यहाँ आवश्यक है।

1. **शब्द-स्थान**—वाक्य मे प्रयुक्त शब्दों के स्थान या विशेष स्थिति के कारण भी उनमें सम्बन्ध तत्त्व संयुक्त हो जाता है। शब्द के स्थान बदल जाने पर उसका वह सम्बन्ध तत्त्व छिन जाता है जैसे—

राजमहल—राजा का महल

महलराज—महलों का राजा

राम रोटी खाता है—रोटी जलती है।

Mohan beats Ram—Ram beats Mohan.

ऊपर के पहले उदाहरण मे रोटी कर्मकारक है, जबकि दूसरे मे कर्ताकारक। Mohan और राम मे भी यही स्थिति है। शब्द का स्थान बदल जाने से सम्बन्ध तत्त्व मे परिवर्तन हो गया है।

2. **शून्य सम्बन्ध तत्त्व**—कभी-कभी वाक्यान्तर्गत प्रयोग मे शब्द को ज्यो का त्यो छोड़ दिया जाता है। उसमे सम्बन्ध तत्त्व नही जुड़ा होता है। इस रूप मे भी शब्द एक विशष सम्बन्ध की सूचना देता है। इस प्रकार के प्रयोग मे शब्द अविकृत ही रह जाता है। सस्कृत मे वणिक्, सम्राट्, विद्युत्, मरुत्, भूभृत, लता, आशा, इच्छा, वारि, अस्थि, दधि, नदी, स्त्री, नारी, मधु, अश्रु आदि शब्द प्रथमा एक वचन मे अविकृत रहते है। ऐसे प्रयोग मे शब्द और पद मे कोई अन्तर नहीं होता। शून्य सम्बन्ध तत्त्व के योग से शब्द ही पद रूप मे बदल जाता है।

संस्कृत धातुओं के लोट लकार मध्यम पुरुष एक वचन मे शून्य सम्बन्ध तत्त्व जुडा होता है। हिंदी की आज्ञार्थक क्रियाओ मे धातु रूप अविकृत ही रहता है। जैसे—पढ़, लड़, हँस, कर, भर आदि। 'ना' हटाकर ही इन्हे प्रयोग-योग्य बना लिया गया है। हिन्दी के अव्यय सदा एक रूप रहते है। अव्यय का अर्थ है, जिसका व्यय न हो, अर्थात् जिसमे परिवर्तन न हो। अव्यय मे विभक्तिगत परिवर्तन नहीं होता। ये अविकृत ही प्रयोग मे आते है। अँगरेजी मे go शब्द सभी पुरुषो मे (अन्य पुरुष एकवचन छोड़कर) सदा एक रूप रहता है—I go, We go, You go, They go इसी प्रकार Put भी सभी कालों मे Put ही रहता है। Sheep का बहुवचन रूप Sheep ही रहता है।

वैयाकरण शून्य सम्बन्ध तत्त्व को विभक्तिहीनता नही मानते। उनके अनुसार यहाँ विभक्ति का लोप हो गया है। यहाँ विभक्ति थी, किन्तु अब उसका लोप हो गया। विभक्ति के लोप हो जाने पर भी वैयाकरण ऐसे शब्दो मे शून्य विभक्ति की कल्पना कर लेते है। ऐसी कल्पना इसलिए आवश्यक है कि विभक्ति-योग के बिना शब्द पद बनेगा ही नही। अतः शून्य विभक्ति के काल्पनिक योग से शब्द को पद बना लिया गया। इससे यह सिद्धात सुरक्षित रह गया कि शब्द मे विभक्ति का योग होने पर ही पद की रचना होती है।

शून्य सम्बन्ध तत्त्व को शून्य विभक्ति या जीरो इन्फ्लेक्शन या जीरो मॉरफीम कहते हैं।

3. **स्वतंत्र सम्बन्ध तत्त्व**—ससार की अनेक भाषाओ मे स्वतत्र शब्दो के प्रयोग से सम्बन्ध तत्त्व का बोध होता है। अर्थात् स्वतत्र शब्द ही सम्बन्ध तत्त्व का कार्य करते है। हिन्दी की परसर्ग विभक्तियाँ इसी कोटि की है। जैसे—हिन्दी परसर्ग (Post position)—ने को से का में पर आदि।

अँगरेजी पूर्व सर्ग (Pre position)—for, from, to, in आदि।

संस्कृत—अथ, इति, च, वा, एव, अपि आदि।

कभी-कभी दो स्वतत्र शब्द सम्बन्ध तत्त्व प्रकट करते है। जैसे—अगर सजय जायेगा, तो अजय यही रहेगा। यद्यपि-तथापि, जहाँ-तहाँ, ज्यों-त्यो, यदि-तो आदि इसी तरह के सम्बन्ध तत्त्व हैं। संस्कृत के यत्र-तत्र, यथा-तथा, यदि-तर्हि आदि शब्द सम्बन्ध तत्त्व का ही बोध कराते हैं। अँगरेजी मे If-then, Either-or Neither-nor, Though-yet आदि भी स्वतंत्र सम्बन्ध तत्त्व के ही वाचक है।

4 **प्रत्ययन** (Affixation)—प्रत्यय को सम्बन्ध तत्त्व भी कहते हैं। ये प्रत्यय धातुओ या प्रातिपदिको मे जुड़कर सम्बन्ध का निर्धारण करते है। इस आधार पर ये आदि, मध्य और अंत में जोड़े जाते है। इन्हे पूर्व सर्ग (Prefix), मध्य सर्ग (Infix) और अन्त्य सर्ग या (Suffix) कहते है। पूर्व प्रत्यय, मध्य प्रत्यय और अत्य प्रत्यय भी इन्हे कहा जाता है।

(क) **पूर्व सर्ग या पूर्व प्रत्यय**—पूर्व सर्ग या पूर्व प्रत्यय को उपसर्ग भी कहते हैं। इस सदर्भ में पाणिनि का कथन है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते।

प्रहाराहार संहार विहार परिहार वत्।

उपसर्ग से आत्वर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसे हार से प्रहार, आहार, उपाहार, उपहार, विहार, संहार, परिहार आदि। विधान, संधान, परिधान आदि भी पूर्व सर्ग के ही उदाहरण है।

अँगरेजी में Serve मे पूर्व प्रत्यय जोडने से, deserve, reserve, preserve आदि बनते है। prefer, refer, defer, confer तथा percieve, recieve, decieve, concieve आदि भी पूर्व योग से निर्मित हैं।

संस्कृत भूतकालिक क्रिया धातु के आदि मे 'अ' के योग से निष्पन्न होती है। जैसे—अपठत्, अभवत्, अहसत्, अकरोत् आदि। 'अ' के पूर्व योग से इनमे भूत-कालिकता आ गई है।

(ख) **मध्य योग**—प्रकृति के मध्य मे जुडने वाले प्रत्यय मध्य प्रत्यय या मध्य योग कहलाते हैं। मध्य योग को विकरण भी कहते है। सस्कृत मे रुधादि गण की

धातुओं के बीच में 'न' जोड़ा जाता है, जो मध्य योग का उचित उदाहरण है। जैसे रुध् से रुणद्धि (रोकता है), रुन्ध (तुम रोकते हो) या छिद् से छिन्द् या छिन्धि आदि। अरबी में क त ब से किताब या कुतुब मध्य योग ही है।

कुछ लोग मानते है कि भूयते, पठ्यते, गम्यते, हस्यते, दृश्यते आदि में 'य' भाववाच्य या कर्मवाच्य का बोधक है। इसी प्रकार भावयति, पाठयति, हासयति आदि 'अय' प्ररणार्थक है। विभूषति, पिपठिषति आदि मे 'ष' इच्छा का द्योतक है। इनमे य, अय, ष मध्य योग है। किन्तु ये मध्य सर्ग नही है, प्रत्यय है। ये प्रत्यय प्रकृति के मध्य मे नही जुड़ते। इसी प्रकार हिन्दी की प्रेरणार्थक क्रियाओ या द्विरुक्तिमूलक पदो में आने वाला 'वा' या 'आ' मध्य योग नही है। ये भी प्रकृति के मध्य मे नही आते। जैसे लिखना—लिखवाना, करना—करवाना, फट-फट—फटाफट, चट-चट—चटाचट आदि। इन्हे मध्ययोग का उदाहरण मानना समीचीन नहीं होगा, क्योकि इनका संयोग प्रकृति के मध्य मे नही है।

(ग) **अन्त्य सर्ग या पर प्रत्यय** (Suffix)—प्रकृति या प्रातिपदिक के अंत मे जुडनेवाले प्रत्यय को अन्त्य योग या पर प्रत्यय कहते हैं। संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण-वाची शब्दो से पद बनाने के लिए पर प्रत्ययो का योग प्रचलित है। पर प्रत्यय या अन्त्य योग को प्रत्यय कहा जाता है। ने को से का मे पर आदि पर प्रत्यय ही हैं। संस्कृत मे विभक्तियो का योग अन्त्य योग है। जैसे—राम + : (सु) = रामः, देवम्, देवानाम, देवाय, देवस्य आदि अंत्य योग है।

हिन्दी मे लड़का, लड़के, लड़कों के लिए, लड़को मे आदि परसर्ग की विभक्तियाँ है। लड़को तथा लड़की मे भी परसर्ग जोडकर लिंग और वचन का निर्धारण किया गया है। अँगरेजी मे Read से Reader, Plead से Pleader, Teach से Teacher, Play से Played, Go से Going आदि अंत्य योग के उदाहरण हैं।

5. **ध्वनि प्रतिस्थापन** (Replacing)—इसे ध्वनि विकृति (Phonetic modification) या अपश्रुति (Vocatic ablaut) भी कहते हैं। इसमे शब्द या प्रकृति के स्वर अथवा व्यंजन या मात्राओ में परिवर्तन होता है।

कभी-कभी स्वरो मे परिवर्तन से सम्बन्ध तत्त्व प्रकट किये जाते है। जैसे—Come—Came, Sing—Sang—Sung, Tooth—Teeth, Foot—Feet आदि।

संस्कृत में देव से दैव, कुमार से कौमार, श्रवण से श्रावण, श्रुति से श्रौत, रुद्र से रौद्र, पुत्र से पौत्र, दशरथ से दाशरथी, मामा से मामी, नाना से नानी आदि।

हिन्दी मे मिला से मेल, मिला, लिख से लेख, चित् से चेत आदि।

व्यंजनो के परिवर्तन से भी सम्बन्ध तत्त्व का बोध होता है। जैसे भोज्य से भोग्य, भोज से भोग, Send से Sent, Save से Safe, Advice से Advise

आदि।

मात्रिक परिवर्तन—जैसे जा से गया, पच से अपाक्त या आपाक्षी आदि।

6. ध्वनि द्विरावृत्ति(Reduplicating)—कभी-कभी ध्वनियों की द्विरावृत्ति से सम्बन्ध तत्त्व की व्यंजना होती है। अभ्यास अर्थात् आवृत्ति से रचना तत्त्व मुखर होता है। जैसे—पठ—पपाठ, लिख—लिलिख, बारबार, पुनः पुन., प्रत्येक आदि आवृत्ति के उदाहरण हैं। रो-रो, दे दे, ले ले, कह्-कह, दे दिलाकर, ले लिवाकर आदि में भी द्विरावृत्ति है।

7 ध्वनि वियोजन (Subtracting)—कुछ ध्वनियों को निकालकर व्याकरणिक कोटियों का निर्धारण होता है। फ्रांसीसी भाषा में ध्वनि वियोजन के उदाहरण अधिकता से प्राप्त होते है।

8. ध्वनिगुण—बलाघात या सुर के माध्यम से भी सम्बन्ध तत्त्व का निर्धारण होता है। सुराघात के उदाहरण चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओं मे बहुलता से मिलते हैं। जैसे—Conduct शब्द में क पर बलाघात होगा तो वह संज्ञा और ड पर बलाघात हो तो क्रिया होगा। Present में र पर बलाघात हो तो संज्ञा और 'जे' पर होने पर क्रिया होगा।

चीनी भाषा में 'ब' शब्द पर सुराघात होने से उसका अर्थ बदल जाता है। धीर सुराघात होने पर महिला, उच्च होने से उमेठना और तीक्ष्ण होने से राजा का कृपापात्र अर्थ होता है। इन्द्र शत्रु पर अनुचित स्थान (अस्थाने) सुराघात होने से दैत्यों का नाश हो गया, जबकि वे देवों के विनाश के लिए ऐसा कह रहे थे।

9. अर्थगत अंतर्भुक्ति या संलयन (Fusion of meaning)—कुछ ऐसे पद होते हैं, जिनमें एकाधिक अर्थ अंतर्भुक्त रहते हैं। इसे संलयन भी कहा जाता है। ऊँ पर प्रत्यय एक साथ उत्तम पुरुष वक्ता और एकवचन का द्योतक है। स्पेनिश भाषा मे इनके उदाहरण मिलते हैं।

अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व

अर्थ तत्त्व को प्रकृति, प्रातिपदिक, शब्द तथा अर्थ भी कहा जाता है। सम्बन्ध तत्त्व को विभक्ति प्रत्यय, रूप साधक प्रत्यय, प्रकार्यक (Functor) तथा रूपमात्र कहते हैं। अर्थ तत्त्व से तात्पर्य है अर्थ को व्यक्त करने वाले तत्त्व अर्थात् शब्द से। यहाँ अर्थ से अभिप्राय कोशगत अर्थ (Dictionary meaning) से है। अर्थ तत्त्व को स्वतंत्र रूपिम कहते है। अर्थ तत्त्व या प्रकृति को धातु भी कहा जाता है—'नाम च धातुजमाह।'

सम्बन्ध तत्त्व में सम्बन्ध का अर्थ है व्याकरणिक प्रकार्य और तत्त्व का अर्थ व्याकरणिक प्रकार्यों को स्पष्ट करने वाले रूप हैं। लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल, वाच्य आदि व्याकरणिक प्रकार्य या कोटियाँ हैं। व्याकरणिक प्रकार्य को विभक्त करने वाले, उनका अर्थ स्पष्ट करने वाले सम्बन्ध तत्त्व हैं

1. अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व वाक्य रचना स्तर पर एक इकाई का निर्माण करते हैं। मोहन ने राम को पीटा वाक्य में पीटा क्रिया से राम और मोहन का सम्बन्ध विभाजन सम्बन्ध तत्त्व के आधार पर होता है।

2. अर्थ तत्त्व कोशीय इकाई है। सम्बन्ध तत्त्व व्याकरणिक इकाई है।

3. अर्थ तत्त्व आकृति तथा उच्चारण की दृष्टि से एक मानसिक सकल्पना का निर्माण करता है, किन्तु सम्बन्ध तत्त्व किसी बिम्ब का निर्माण नहीं करता। अर्थात् शब्द स्वतत्र अर्थ का द्योतक होता है, जबकि सम्बन्ध तत्त्व का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता।

4. अर्थ तत्त्व स्थापन्न होता है, जबकि सम्बन्ध तत्त्व नहीं। घर के स्थान पर गृह का प्रयोग हो सकता है, किन्तु में, पर, से आदि का अलग से प्रयोग नहीं हो सकता।

5. अर्थ तत्त्व विभिन्न शब्द वर्गो में विभक्त किए जा सकते है और सम्बन्ध तत्त्व व्याकरणिक कोटियो में।

6. अर्थ तत्त्व के साथ प्रयुक्त होकर सम्बन्ध तत्त्व पृथक् व्याकरणिक कोटियो का निर्धारण करते हैं। जैसे—बडाई, मिठाई, खाया, पढ़ा आदि।

7. अर्थ तत्त्व सम्बन्ध तत्त्व के बिना पद या रूप अर्थात् वाक्य-रचना की इकाई नहीं बन सकते—'नापि केवला प्रकृति. प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्यय.।'

कुछ विद्वान् सम्बन्ध तत्त्वों के नाम और क्रिया नामक दो प्रकार बताते है। नाम सम्बन्ध तत्त्व के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया-विशेषण सम्बन्ध तत्त्व है। सज्ञादि के लिग, वचन, कारक आदि सम्बन्ध तत्त्व हैं। क्रिया के लिग, पुरुष, काल, वाच्य, वृत्ति आदि सम्बन्ध तत्त्व है। सम्बन्ध तत्त्व के कारण ही लिंग, वचन, कारक, काल आदि के भावो की अभिव्यक्ति होती है। सम्बन्ध तत्त्व के कारण ही बहुवचनत्व, भूतकालत्व या कारकीय सम्बन्ध की सूचना मिलती है। सम्बन्ध तत्त्व से ही शब्दों का अर्थ नियन्त्रित होता है और वाक्यगत अर्थ की प्रतीति होती है।

अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का संयोग प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होता है। यह संयोग पूर्ण, अपूर्ण और स्वतंत्र रूप से होता है।

(क) **पूर्ण सयोग**—जहाँ अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग प्रश्लिष्ट होता है, वहाँ पूर्ण सयोग होता है। इसमे अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व को अलग करना सभव नही होता। जैसे विशेष—वैशिष्ट्य, देह—दैहिक, पृथु—पार्थिव, शील—शैली, ऋषि—आर्ष।

क् त् ब् >किताब, कुतुब, किताबत, मकतब।

क् त् ल् >कत्ल, कातिल, मकतूल आदि।

Teach—Taught, Buy—bought, Bring—Brought.

(ख) **अपूर्ण संयोग**—जहाँ अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व को अलग-अलग किया जा सकता है, वहाँ अपूर्ण सयोग है। जैसे भला—भलाई, गँवार—गँवारपन, प्रभु—प्रभुता, शुभ्र—शुभ्रता, Play—Played, Man—Woman आदि।

(ग) **स्वतंत्र**—ऐसी भाषाएँ भी है, जिनमें अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व स्वतत्र होते है। चीनी भाषा मे स्वतत्र सयोग मिलते हैं।

बंटू तथा फूल भाषाओ मे सम्बन्ध तत्त्व का आधिक्य दिखाई पड़ता है।

हिन्दी में सम्बन्ध तत्त्व

हिन्दी मे सम्बन्ध तत्त्व कई प्रकार के है।

हिन्दी मे क्रिया, कर्ता, कर्म आदि के स्थान निर्धारित है। उनके स्थान से ही सम्बन्ध का बोध हो जाता है। इसीलिए हिन्दी मे शून्य सम्बन्ध तत्त्व का विकास हुआ है। राम रोटी खाता है वाक्य मे कारकीय विभक्ति पर सर्ग नही है, फिर भी इनका सम्बन्ध स्थान के आधार पर निर्धारित हो जाता है। फिर भी ने को से का में पर परसर्गो का प्रयोग होता है।

धातु रूप और आज्ञार्थक क्रियाओ मे बलाघात से सम्बन्ध का निर्धारण होता है। चल, पी, जा आदि की आज्ञार्थकता का बोध बलाघात से हो जाता है।

हिन्दी के बहुवचन मे सम्बन्ध तत्त्व का अपूर्ण योग होता है। जैसे—घोडो (घोड़ा+ओं), किताबो (किताब+ओ)।

हिन्दी मे सम्बन्ध तत्त्व के प्रश्लिष्ट योग भी होते है। जैसे कर से किया, दे से दिया, ले से लिया, जा से गया। इसी प्रकार अपश्रुति के उदाहरण रूप मे कुकर्म से कुकर्मी, बकरा से बकरी आदि को लिया जा सकता है।

अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व में अंतर

1. अर्थ तत्त्व से अभिप्राय 'उन तत्त्वों से है जो प्रतिमाओ के भावो की अभिव्यक्ति करते है (अर्थात् जो अर्थ अथवा विचार का उद्‌बोध कराते हैं)।[1]

सम्बन्ध तत्त्व, भाषा के वे अंग हैं, जो इस प्रकार व्यक्त भावो में परस्पर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते है। सम्बन्ध तत्त्व बुद्धि द्वारा स्थापित अर्थ तत्त्वो के परस्पर सम्बन्ध के द्योतक है।[2]

2. अर्थ तत्त्व पूर्ण शब्द हैं। अर्थ तत्त्व मे पारिवारिक बन्धन से प्रत्येक शब्द का अर्थ समाहित होता है। अर्थ तत्त्व सामयिक होता है, क्योकि पद मे अनेक अर्थ संश्लिष्ट होते हैं। जैसे बालक शब्द का अर्थ तत्त्व सामयिक होने हुए भी पूर्ण है।

---

1 भाषा—वान्द्रियैंज, पृ० 90

2. वही

सम्बन्ध तत्त्व रिक्त शब्द हैं अधिकतर रिक्त शब्द पूर्ण शब्दों के विशिष्ट रूप होते है। अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध तत्त्व को रिक्त शब्दों के रूप मे जोडा जाता है। इस दशा मे उनका निजी अर्थ लुप्त हो जाता है। जैसे पठति मे 'ति' रिक्त शब्द है।

3. अर्थ तत्त्व स्वतन्त्र होता है। अनेकार्थी होने से उसके विविध प्रयोग होते है। एक प्रयोग में उसके अर्थ को नियन्त्रित कर दिया जाता है। 'पद रचनात्मक तत्त्व कभी एक अर्थ तत्त्व की ओर तो कभी दूसरे अर्थ तत्त्व की ओर आकृष्ट होते है।'[1]

सम्बन्ध तत्त्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नही होती। प्रत्यय (सफिक्स) तथा परप्रत्यय (एंडिंग) धातुओं मे जोड़े जाते हैं। भारतीय भाषाओं मे धातुओं से ही शब्द की प्रक्रिया होती है। धातु को प्रकृति या प्रातिपदिक इसीलिए कहा जाता है।

4. अर्थ तत्त्व का सम्बन्ध अक्षरों से होता है।

सम्बन्ध तत्त्व अधिकतर एक ध्वनि तत्त्व है, जिसका कार्य व्याकरणीय सम्बन्ध का द्योतन कराना है। वाक्य के अन्य शब्दों से अर्थ तत्त्व का सम्बन्ध बताने का कार्य सम्बन्ध तत्त्व से होता है।

पद-विभाग

वाक्य भाषा की वह इकाई है, जिससे भाव अथवा विचार अभिव्यक्त होते हैं। वाक्य पदों का संघटित रूप होता है—'पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघाज पदम्।' वाक्यगत पदों के अनेक विभाग किये गए हैं।

पद-विभाग के सम्बन्ध मे आचार्यों में मतभेद है। पहला मतभेद है कि पद-विभाज्य हैं या अविभाज्य। दूसरा मतभेद पद-विभाग की संख्या को लेकर है। औदुम्बरायण शब्द की सत्ता उच्चारण की अवस्था तक ही मानते हैं—'इन्द्रिय नित्य वचनमिति औदुम्बरायण.।' अतः उनके अनुसार शब्द या पद के विभाजन का प्रश्न ही नहीं है।

सर्वप्रथम यास्क ने निरुक्त में पद-विभाग का उल्लेख करते हुए कहा—'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते उपसर्ग निपाताश्च।' अर्थात् पद के चार विभाग हैं, याम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। यास्क ने नाम और आख्यात अर्थात् संज्ञा और क्रिया को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उपसर्ग निर्बद्ध अव्यय और निपात स्वतन्त्र अव्यय हैं। स्पष्ट है कि नाम और आख्यात ही प्रधान पद-विभाग है। अव्यय को उन्होंने दो भागों—उपसर्ग और निपात मे बाँट दिया। यास्क के पद-विभाग मे

---

3. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 107

उपसर्गवाचक न होकर द्योतक (प्रकाशक) हैं। अव्यय वह है जिसका व्यय न हो। अव्यय अपरिवर्तित रहता है। उपसर्ग और निपात दोनों अव्यय हैं।

यास्क की तरह पतजलि ने भी पद के चार विभाग किए हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वाणी के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—

चत्वारिश्रृ गा त्रयो अस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

चत्वारि श्रृगाणि-पदजातानि नामाख्यातोपर्सगनिपाश्च। त्रयोऽसस्य पादाः—त्रय.कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः। सप्तहस्तासो अस्य—सप्त विभक्तयः।

पाणिनि ने यास्क के दो प्रमुख भेदों नाम और आख्यात को पद-विभाग स्वीकार किया, किन्तु उनके नाम बदल दिए। उन्होने नाम और आख्यात को सुबन्त और तिङन्त नाम दिया—'सुप्तिङन्तं पदम्।' पदो का सुबन्त और तिङन्त विभाजन मूलत. आकृतिमूलक है। 'धातु और प्रातिपदिक की सत्ता को वे आख्यात और नाम का मूल मान लेते है और इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पाणिनि को भी नाम और आख्यात के रूप मे पद का विभाजन स्वीकार था।'[1] पाणनि ने उपसर्ग और निपात को अलग नही माना, क्योंकि शाकटायन ने पहले ही व्यवस्था दे दी थी कि उपसर्ग अपने आपमे सार्थक और अर्थबोध मे समर्थ नही हैं—'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः।' उपसर्ग वाचक नहीं, द्योतक होते है। उपसर्ग नाम और आख्यात के साथ सयुक्त होकर ही अर्थ द्योतित या प्रकाशित करते है। इस-लिए ये निर्बद्ध अव्यय है। निपात भी अव्यय ही हैं, किन्तु उनका प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता है। जैसे—इव, एव, अपि आदि।

पाणिनि ने उन विभक्तियो या अप्रत्ययो के आधार पर पदों को विभक्त किया, जिनके प्रयोग मे शब्द मे प्रयोग-योग्यता आती है। सुप् और तिङ् विभक्तियो के योग से शब्द प्रयोग-योग्य अर्थात् पद हो जाते हैं। अतः उन्होने सुबन्त और तिङन्त को ही पद-भेद स्वीकार किया। सुप् विभक्ति से नाम पद और तिङ् से क्रिया पद की रचना होती है, ऐसा माना जाता है। अत पाणिनि ने आकृति के आधार पर पद के दो भेद किये—सुबन्त और तिङन्त। तिङन्त अर्थात् आख्यात भाव-प्रधान होते हैं और सुबन्त अर्थात् नाम सत्त्व-प्रधान—'भावप्रधानमाख्यात सत्व प्रधानानि नामानि।'

भर्तृहरि ने पद-विभाग करने वाले आचार्यों के मतों का संकेत करते हुए कहा है—'द्विधाकैश्चित् पद भिन्न चतुर्धा पंचधाऽपिवा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति प्रत्ययादिवत्।' अर्थात् पदो के विभेद दो से लेकर पाँच तक आचार्यों ने किए हैं।

---

1. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिलदेव द्विवेदी पृ० 262

नाम मे सर्व लगाने मे सर्वनाम हुआ। सर्वनाम अर्थात् वह नाम जो सबके लिए प्रयोग मे आ सके। अतः सर्वनाम भी नामवत् ही है।' सर्वनाम जब स्वायत्त है, अथवा अवधारणा के लिए प्रयुक्त होता है तो उसका कार्य संज्ञा के समान होने से इसकी गणना संज्ञाओं की धारा मे होनी चाहिए।'[1] इसी प्रकार विशेषण की भी अलग सत्ता नहीं होती। इसका उद्देश्य संज्ञा की विशिष्टता बताना होता है। अत. संज्ञा से अलग उसकी सत्ता अकल्पनीय है। 'विशेषण का विशेष्य अर्थात् संज्ञा से प्रायः विभेद करना कठिन रहता है।'[2] इसके अतिरिक्त सभी भाषाओं मे संज्ञा के स्थान पर विशेषण और विशेषण के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग होता है। अतः इसका समावेश संज्ञा नामक व्याकरणिक धारा मे होना उचित है।

क्रिया व्यापार-प्रधान होती है। इसके चार विभाग होते है—क्रिया-विशेषण, सम्बन्धसूचक, विस्मयादिबोधक और अव्यय। इन सबको यास्क ने अव्यय के अतर्गत रखा और उसके उपसर्ग और निपात दो वर्ग निर्धारित किए।

इस प्रकार अनेक मत-मतान्तर के बावजूद पाणिनि का पद-विभाजन सर्वमान्य है। नाम और आख्यात सुबन्त और तिङन्त नाम के दो ही पद-विभाग मान्य हुए। शेष सभी का समाहार इनके अन्तर्गत हो जाता है।

अँगरेजी मे आठ वाग्भाग या पद-विभाग (Parts of speech) होते हैं। यह विभाजन लातिन के अनुसार ही है। अँगरेजी के आठ पद-विभाग इस प्रकार है—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, सम्बन्धसूचक, समुच्चयबोधक, और विस्मयादिबोधक। अँगरेजी के आधार पर हिन्दी में भी आठ पद-विभाग कामताप्रसाद गुरु ने किये है। जैसा ऊपर दिखाया गया है, सर्वनाम और विशेषण का समाहार संज्ञा मे हो जाता है और शेष क्रिया के अंतर्गत आ जाते है।

इसलिए नाम और आख्यात को ही पद-विभाग स्वीकार किया गया है। प्राचीन वैयाकरणो और आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने नाम और आख्यात की सत्ता व्याकरणिक कोटियों मे स्वीकार की है। वान्द्रियैज का कथन है कि पदों को छाँटते चलने का यह क्रम यदि आगे बढ़ाया जाय तो अन्त मे केवल दो शब्द-भेद रह जाते है—संज्ञा तथा क्रिया।'[3]

व्याकरणिक कोटियाँ

भाषा की लघुतम इकाई वाक्य है। वाक्य में अनेक पद होते है। पद (शब्द) अर्थगर्भित होते है। प्रयुक्त पदो का विश्लेषण व्याकरण और कोश के आधार पर

---

1. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 142
2. वही
3. वही

किया जाता है। कोशार्थ से वस्तु या वस्तु के भाव का बोध होता है। जैसे कमल शब्द का अर्थ एक पुष्प-विशेष होगा। व्याकरण से पद की आकृति तथा रचना तत्त्व के योग से शब्द के स्वरूप और अर्थ का विश्लेषण होता है। हैलिडे का यह कथन ठीक नहीं है कि शब्द की आकृति का अध्ययन व्याकरण से और अर्थ का अध्ययन कोश से किया जाता है।

व्याकरणिक कोटियो से तात्पर्य व्याकरणिक मौलिक धारणाओं से है।[1] व्याकरण शास्त्र मे नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात के अतिरिक्त जाति, व्यक्ति, समानाधिकरण, समवाय, गुण, द्रव्य, सम्बन्ध आदि भी व्याकरण की धारणा के अन्तर्गत परिगणित है।[2]

वान्द्रियैज के अनुसार 'सम्बन्ध तत्त्वों द्वारा अभिव्यक्त भावो को व्याकरणात्मक धाराओं (ग्रैमेटिकल कैटेगरी) की संज्ञा दी जाती है।'[3] उनके मत से लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति (मूड), प्रश्न व निषेध, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध, तादर्थ्य, करण आदि भाषा की व्याकरणिक धारणाएँ है, इनमे कुछ सम्बन्ध तत्त्व भावो को व्यक्त करने में सहायक होते हैं। इससे यह निश्चय होता है कि भाषा की अभिव्यंजना मे सूक्ष्मता और निश्चयात्मकता लाना ही व्याकरणिक कोटियो का मुख्य कार्य है। तात्पर्य कि सम्बन्ध तत्त्वो के संयोग से नाम और आख्यात के लिंग, वचन, पुरुष, कारक, काल, वृत्ति आदि का बोध व्याकरणिक कोटियो से होता है।

व्याकरणिक कोटियो के सम्बन्ध मे यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक भाषा की रचना-पद्धति अलग होती है। इसलिए प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ अलग-अलग होती है। संस्कृत की व्याकरणिक कोटियाँ चीनी भाषा पर लागू नहीं होगी, क्योकि दोनो की रचना-पद्धति में अन्तर है। अत: प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ उस भाषा की संरचना के अनुसार निर्मित होती है।

दूसरी बात यह कि व्याकरणिक कोटियाँ काल-सापेक्ष होती हैं। भाषा के विकास के साथ ही व्याकरणिक कोटियो मे भी परिवर्तन होता है। संस्कृत से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशी भाषाओं और फिर हिन्दी का विकास हुआ है। इस विकास-क्रम मे व्याकरणिक धारणाएँ भी बदल गयी। संस्कृत मे तीन लिंग थे। हिन्दी मे दो ही रह गये। संस्कृत मे तीन वचन हैं। हिन्दी में द्विवचन तिरोहित हो गया। संस्कृत में काल (टेंस) की अपेक्षा वृत्ति (Mood) की प्रधानता थी। हिन्दी मे वृत्ति की धारणा समाप्त हो गयी है। इस प्रकार संस्कृत भाषा की

1. द फिलॉसफी ऑफ संस्कृत ग्रामर—पी० सी० चक्रवर्ती, पृ० 43
2. व्याकरणिक कोटियो का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ० 16
3 भाषा वान्द्रियैज पृ० 109

व्याकरणिक धारणाएँ हिन्दी मे परिवर्तित हो गयी। जब भाषा ही बदल गयी तो भाषा के व्याकरण की कोटि भी बदल गयी।

तीसरी बात यह कि भाषिक सघटना के आधार पर व्याकरणिक कोटियो का निर्माण होता है। भाषा-प्रवाह के विश्लेषण की स्थिति मे ही व्याकरणिक कोटियों की रचना होती है। व्याकरणिक कोटियों की शास्त्रीय उपयोगिता यह है कि उससे भाषा का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से उनसे नये शब्दो की रचना मे सहायता मिलती है।

प्रत्येक भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व होता है। इसलिए व्याकरणिक कोटियाँ भी स्वतन्त्र और पृथक् अस्तित्व की होती है।

प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ भिन्न होती हैं। सम्बन्ध तत्त्व के आधार पर कोटियो का निर्धारण होता है। फिर भी कुछ सामान्य व्याकरणिक कोटियाँ सभी भाषाओं में पाई जाती है, जैसे लिंग, वचन, पुरुष, कारक, काल, वाच्य, वृत्ति। इन पर ही यहाँ विचार किया जायेगा।

लिंग (Gender)

लिंग का शाब्दिक अर्थ चिह्न है। जिससे वस्तु को पहचाना जाय, वह चिह्न है। नाम या संज्ञा की पहचान लिंग-विधान से होती है। वान्द्रियैज के अनुसार सज्ञा का उद्बोध होते ही उसके लिंग का विचार स्वतः उद्बुद्ध हो जाता है।[1] फिर भी लिंग-विचार का कोई तार्किक आधार नही है

लिंग दो प्रकार के बताये गये हैं—प्राकृतिक और व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्त्री स्तन-केशवती होती है और पुरुष लोमश। जहाँ इन दोनो का अभाव हो वहाँ नपुसक लिंग होता है—'स्तन-केशवती स्त्री लोमश. पुरुष. स्मृत। उभयोरन्तरं यच्च तद्भावे नपुसकम्।'[2] जैसे पिता-माता, पुत्र-पुत्री, घोडा-घोड़ी, सर्प-सर्पिणी आदि। अर्थात् पुरुष चिह्नवाली वस्तु पुंल्लिग और स्त्री चिह्न से युक्त वस्तु स्त्रीलिंग होती है। कोई चिह्न नही रहने पर नपुसक लिंग का विधान हुआ।

प्राकृतिक लिंग की अभिव्यक्ति के लिए कोई पद-रचनात्मक विधि नही थी। इसीलिए व्याकरणिक लिंग की विधि प्रकाश मे आई। अर्थात् प्राकृतिक नियमो का उल्लंघन करके भाषिक या व्याकरणिक नियमों की स्थापना की गई। प्राकृतिक लिंग को अमान्य कर भाषा या व्याकरण के आधार पर लिंग-निर्धारण व्याकरणिक लिंग है। भाषा में लिंग-निर्धारण का आधार शास्त्रीय या व्याकरणिक लिंग है,

---

1. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 111
2. परम लघु मंजूषा की अर्थदीपिका टीका—सदाशिव शास्त्री पृ० 110

प्राकृतिक लिंग नहीं। तात्पर्य कि पुरुषत्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व की स्वाभाविक पहचान के आधार पर ही लिंग का निर्णय नहीं किया जाता, बल्कि शास्त्रीय या व्याकरणिक आधार पर किया जाता है। जैसे स्त्रीवाची 'दार' को स्त्रीलिंग होना चाहिए, किन्तु है पुल्लिग। महिला और भार्या स्त्रीवाची हैं, जबकि कलम नपुंसक लिंग है। यदि प्राकृतिक नियम के अनुसार ही लिंग निर्णय किया जाता तो दार, भार्या, कलम, महिला सभी नाम स्त्रीवाची होते। इसी प्रकार पुस्तक स्त्रीलिंग है और ग्रंथ पुल्लिग। माला स्त्रीवाची है। निर्जीव होने से इनको नपुंसक लिंग होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी है। इसीलिए वान्द्रियेंज ने फ्रांसीसी भाषा के संदर्भ में कहा है कि 'प्राकृतिक लिंग की अभिव्यक्ति के लिए फ्रांसीसी व्याकरणीय लिंग इतना कम उपयोगी है कि तीन चौथाई समय स्त्रीपुंस्त्व के भेद को व्याकरणीय लिंग से व्यक्त करने का फ्रांसीसी में कोई साधन नहीं।'[1] इतनी बात तय है कि यदि प्राकृतिक लिंग के द्वारा ही लिंग ज्ञान का आधार होता तो एक वस्तु के वाचक शब्दों का प्रयोग एक ही लिंग में होता। जैसे नक्षत्र, पुष्प और तारका का प्रयोग एक ही लिंग में होता। किन्तु तारका स्त्रीवाची और शेष पुरुषवाची है। इसी प्रकार ग्रंथ और पुस्तक को भी समझना चाहिए।

लिंग-निर्धारण की कोई रचनात्मक विधि नहीं है। फ्रेजर का कहना है कि पुल्लिग और स्त्रीलिंग के भेद का सम्बन्ध स्त्रियों की विशिष्ट भाषा से है। कौण्ड-भट्ट के अनुसार 'शब्द मे निष्ठ और उसी के द्वारा वाच्चलिंग के धर्मों को लेकर विभिन्न शब्दों का प्रयोग विभिन्न लिंगों में होता है।'[2] उनका विचार है कि सत्व का आधिक्य होने पर पुल्लिग और उसका अपचय होने पर स्त्रीलिंग होता है। नपुंसक में सत्व, रज और तम की साम्यावस्था होती है।[3] किन्तु सत्व, रज और तम की कोई मूर्त धारणा या रूप नहीं होता। ऐसी दशा में प्रयोक्ता ही लिंग का निर्णायक होगा। कुछ लोग मानते हैं कि लिंग-धारणा का आधार सजीवता-निर्जीवता, सबलता-निर्बलता, श्रेष्ठता-हीनता आदि होती है।

लिंग-निर्धारण का आधार क्या रहा होगा, कहना कठिन है। पाणिनि ने लोक-व्यवहार के आधार पर लिंग की धारणा को स्वीकार किया और वस्तुपरक दृष्टि से इस पर विचार किया। पतंजलि और भर्तृहरि ने लोक-व्यवहार या यादृच्छा को 'विवक्षा' कहा है। विवक्षा यानी वक्ता की इच्छा—

'स्थितेषु त्रिषु लिंगेषु विवक्षा नियमाश्रयः।
कस्यचिच्छब्द-सस्कारे व्यापारः क्वचिदिष्यते।'—वाक्यपदीय 3/19

---

1. भाषा—वान्द्रियेंज, पृ० 112
2. व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ० 38
3. वही

प्राकृतिक लिंग धारणा से भी प्रयुक्त लिंग का नहीं होना इसीलिए भाषाओं मे कृत्रिम लिंग के आविर्भाव या आरोपण की कल्पना की गयी। कृत्रिम या व्याकरणिक लिंग-धारणा ही भाषा में सर्वोपरि होती है। भाषा मे प्रयुक्त होने वाला लिंग पूर्णतः शब्दनिष्ठ होता है, अर्थनिष्ठ नही।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि 1. भाषिक लिंग-धारणा वस्तुपरक है। 2. भाषिक लिंग शब्दनिष्ठ होता है। 3. लिंग-निर्धारण का आधार लोक प्रयोग है। 4. प्रत्येक भाषा मे लिंग-धारणा अलग-अलग है। प्राकृतिक आधार पर लिंग-निर्णय नही हो सकता। यदि ऐसा होता तो एक वस्तु का लिंग सभी भाषाओं में प्राकृतिक लिंग के आधार पर निर्धारित होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक ही वस्तु विभिन्न भाषाओं मे विभिन्न लिंग मे प्रयुक्त होती है। 5 लिंग-धारणा काल-सापेक्ष है। आत्मा शब्द संस्कृत मे पल्लिग है, किंतु हिंदी मे स्त्रीलिंग। सस्कृत काल के उपरान्त हिन्दी काल मे लिंग-धारणा बदल गयी। 6. लिंग-भेद से विभक्ति भेद होता है। अर्थात् नाम के लिंग के आधार पर उसमे विशेष विभक्ति का प्रयोग होता है। 'जिस नाम का सकेत जिस लिंग मे हो, उसके साथ वैसी ही विभक्ति का प्रयोग सामानाधिकरण्य के आधार पर होगा।'[1]

लिंग की संख्या भी सभी भाषाओं मे एक जैसी नहीं है। हिन्दी मे दो ही लिंग है। सस्कृत परम्परा में तीन लिंग है। अपभ्रंश तक आते-आते सस्कृत का नपुमक लिंग लुप्त हो गया। महाराष्ट्री और दक्षिणी शौरसेनी में तीन लिंग अवशिष्ट हैं। गुजराती में भी नपुसक की स्वल्प सत्ता है। अँगरेजी मे एक चौथा समानलिंग होता है। ग्रीक, जर्मन, रूसी भाषा मे भी तीन ही लिंग है। चीन (काकेशी परिवार) में छः लिंगों का प्रचलन है। इस तरह प्राकृतिक लिंग भाषा मे ग्राह्य नही हुआ। लिंग-धारणा का कोई निश्चित आधार भी नहीं है।

भाषा मे लिंग-धारणा की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से होती है—

1. **प्रत्यय जोड़कर**—संस्कृत में 'आ' और 'ई' जोड़कर पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाये जाते है। हिन्दी मे आ, ई, इन, नी, आनी, आइन, इया आदि प्रत्ययो के योग से पुल्लिग के स्त्रीलिंग रूप बनाये जाते है। जैसे सर्प—सर्पिणी, बाघ—बाघिन, नाई—नाइन, मुशी—मुंशीआइन, मुंशीयानी, पंडित—पंडिताइन, पडितानी, घोडा—घोड़ी, हाथी—हथिनी आदि।

2. **स्वतंत्र प्रयोग द्वारा**—जैसे पिता—माता, राजा—रानी, भाई—बहन, सन—डॉटर, ब्वाय—गर्ल आदि।

3. **स्त्री-पुरुषवाची स्वतंत्र शब्द जोड़कर**—जैसे नर भेड़—मादा भेड़, नर कबूतर—मादा कबूतर, ही गोट—शी गोट आदि।

---

1. व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ० 40

संस्कृत मे लिंग का प्रभाव संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम और क्रिया पर पड़ता है। हिन्दी मे भी संज्ञा, विशेषण और क्रिया लिंग-धारणा से प्रभावित है। जैसे मोटा लडका—मोटी लडकी, अच्छा पुरुष—अच्छी स्त्री, राम जाता है—सीता जाती है आदि।

वचन (Number)

वचन का आधार संख्या का विभेद है। संख्या अनन्त है। फिर भी भाषिक संरचना मे एक और अनेक का भेद मान्य हुआ। अर्थात् वस्तु की संख्या के एकत्व और बहुत्व के आधार पर वचन का निर्धारण किया गया। इसलिए व्याकरण मे एकत्व और बहुत्व के अनुसार एकवचन और बहुवचन का निर्धारण किया गया। किन्तु संसार की भाषाओ मे वचन-सम्बन्धी एकरूपता नही मिलती। संस्कृत, ग्रीक, अरबी आदि मे द्विवचन का प्रयोग होता है। कुछ भाषाओ मे त्रिवचन भी मिलता है। संख्या के आधार पर वचन की धारणा करना व्यावहारिक और उपादेय नही है। हिन्दी और अँगरेजी मे द्विवचन नहीं होते। संस्कृत के बाद प्राकृतों तक आते-आते द्विवचन के प्रयोग लुप्त हो गये।

'द्विवचन का प्रयोग संभवतः किसी ऐसी आवश्यकता के लिए होता था, जो हमारी अर्वाचीन विचार-शैली की कल्पना के बाहर है।'[1] वास्तव मे द्विवचन भी बहुवचन मे गतार्थ हो जाता है। संभवतः युग्ममूलक वस्तुओ को ध्यान में रखकर द्विवचन की कल्पना की गयी। डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार द्विवचन का आविर्भाव किन्ही वस्तुओ के समान और साथ-साथ देखने से हुआ होगा जैसे दो पैर, दो हाथ, दो आँखे आदि।[2] स्पष्टतः द्वित्व की धारणा से द्विवचन की संभावना की जाती है। प्राकृतिक वस्तुओं में युग्मता की भावना है, जैसे दिन-रात, सूर्य-चन्द्र। इन्ही से द्वित्व की धारणा को, और उससे द्विवचन को, बल मिला होगा।[3]

बहुत्व की धारणा व्यक्तिनिष्ठ और समूहनिष्ठ होती है। व्यक्तिनिष्ठ बहुत्व बहुवचन से व्यक्त किया जाता है, किन्तु समूहनिष्ठ बहुत्व एकवचन से ही बोधित होता है। जैसे जोड़ा, गाही, गडा, दर्जन, कोड़ी, ग्रौस आदि। लोकभाषाओ मे एक बीस, दो बीस (चालीस), तीन बीस (साठ) आदि की पद्धति बीस को इकाई मानकर ही चलती है।

संस्कृत मे एक जाति को एकवचन से प्रकट करने का नियम है—'जातौ

---

1. भाषा—वान्द्रियेज, पृ० 118
2. सामान्य भाषाविज्ञान—डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० 137
3. भाषाविज्ञान की भूमिका—आ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 244

एकवचनम्।' मनुष्य सामाजिक प्राणी है, गाय दूध देती है आदि जैसे वाक्यों में मनुष्य और गाय जाति की एकता का बोध कराते हैं। इनका प्रयोग एकवचन में ही चलता है, यद्यपि इनमे मनुष्य मात्र और गाय मात्र के बहुत्व का अर्थ संनिहित है।

इसी प्रकार बीस के ऊपर की संख्या को भी संस्कृत में एकवचन मे ही रखते है—'विंशत्याद्याः सदैकत्वे।' जैसे शतम् नराः, विंशतिः बालकाः आदि में शतम् और विंशति एकवचन के ही हैं। इसी प्रकार कुछ शब्द बहुवचन मे चलते है। जैसे दार, दर्शन, प्राण आदि। एक के लिए वचन और अनेक के लिए एकवचन का प्रयोग वचन-सम्बन्धी धारणा की असंगति है।

हिन्दी मे बहुवचन को व्यक्त करने के लिए दो पद्धतियाँ प्रचलित है—1. प्रत्यय जोड़कर, 2. समूहवाची शब्द के प्रयोग से।

1. प्रत्यय जोड़कर—बहुवचन द्योतित करने के लिए ए, ओं, आँ और एँ प्रत्ययोके अतिरिक्त शून्य प्रत्यय का भी प्रयोग होता है। जैसे गाय—गायें, बछड़ा—बछड़े, लड़का—लड़के, पत्नी—पत्नियाँ, औरत—औरतें, लड़की—लड़कियाँ, लड़कियो आदि। अँगरेजी में s, es, en, ren आदि बहुवचन प्रत्यय लगाये जाते है।

2. समूहवाची शब्द के प्रयोग से—समूहवाची शब्द, जैसे वृन्द, लोग, गण, समूह आदि जोड़कर एकवचन से बहुवचन बनाये जाते हैं। जैसे शिक्षकगण, छात्र-वृन्द, मजदूर लोग, तुम लोग, हम लोग, वे लोग, वृक्ष समूह आदि। गण, वृन्द, लोग आदि में प्रयोगानुसार बहुवचन के प्रत्यय भी लगाये जाते है। जैसे मजदूर लोगों को, तुम लोगो को आदि।

वचन के अनुसार संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम, और विशेषण के रूप परिवर्तित होते है।

पुरुष (Person)

पुरुष की धारणा का आधार क्रिया है। क्रिया कौन कर रहा है, इसके लिए व्याकरणिक विभाजन किया गया है। 'क्रिया की धारणा के साथ पुरुष की धारणा भी जुटी हुई है।'[1] पुरुष की धारणा वक्ता, श्रोता और अन्य के आधार पर भी की गयी है। वक्ता उत्तम पुरुष होता है और श्रोता मध्यम पुरुष। इनके अतिरिक्त अन्य को अन्य पुरुष कहते हैं। जैसे मैं, हम उत्तम पुरुष, तू, तुम मध्यम पुरुष और वह, वे तथा शेष अन्य पुरुष होते है। अँगरेजी मे फर्स्ट, सेकेण्ड और

1. व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ० 56

थर्ड परसन चलते है ।

हिन्दी में पुरुष का प्रभाव वचन, कारक और क्रिया पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है । उत्तम पुरुष का कर्मकारक मे विकारी रूप मुझे, मुझको, हमे, हमको हो जाता है । मध्य पुरुष मे तुझे, तुझको, तुम्हे, तुमको तथा अन्य पुरुष मे उसे, उसको, उन्हे, उनको रूप होता है । इनके अन्य कारकीय रूप मेरा, मेरे, हमारा, हमारे, तेरा, तेरे, तुम्हारा, तुम्हारे, उसका, उसके तथा उनका, उनके आदि है ।

पुरुष के बहुवचन रूप हम, तुम, वे है, जिनके रूप कारकीय प्रभाव से विकृत हो जाते हैं । कभी-कभी हम, तुम वे मे लोग लगाकर बहुवचन बनाते है । लोग लगा देने पर हम, तुम और वे के रूप अविकृत रह जाते हैं । उनमे कारकीय प्रभाव से कोई परिवर्तन नही होता ।

वचन से क्रिया भी प्रभावी होती है । वर्तमान काल में मैं के साथ 'हूँ' सहायक क्रिया जुड़ती है—मै जाता हूँ । इसी प्रकार विधेयार्थक क्रियाएँ भी पुरुष से प्रभावित होती है—मैं जाऊँ, तुम जाओ, वह जाए आदि ।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'पुरुष का एकवचन अपवर्जी होता है और बहुवचन समावेशी ।'[1]

कारक (Case)

कारक का अर्थ है करने वाला । 'कृ' धातु से कारक शब्द निष्पन्न है । क्रिया के साथ अन्वय की योग्यता कारकत्व है । जिसमे कारकत्व हो वह कारक है—'क्रियान्वयित्व कारकत्व ।' भर्तृहरि के अनुसार क्रिया को सिद्ध करने वाले पद रूप को कारक कहते हैं—

> गुण भावेन साकांक्ष तत्र नाम प्रवर्तते ।
> साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ।'—वाक्य पदीय ।

हेलाराज के अनुसार 'नाम कारक पदं क्रियाया गुणभूत सत् पादान्तरमाकाक्षति ।' तात्पर्य कि नाम का क्रिया के साथ सम्बन्ध प्रकट करने की योग्यता ही कारक है । विभक्तियो के द्वारा अन्वय की योग्यता प्रकट होती है । नाम के साथ क्रिया के सम्बन्ध को द्योतित करने का कार्य विभक्ति के द्वारा होता है । नाम के सम्बन्ध का विभाजन जिससे हो वह विभक्ति है ।

कारकों की संख्या में भी एकरूपता नही है । लातिन और जर्मन मे 5, स्लाविक मे 6, संस्कृत, ग्रीक, लिथुआनी मे 10 तथा हिन्दी मे आठ कारक होते हैं ।

कुछ लोग संस्कृत मे 6 और कुछ 7 कारक मानते हैं । ऐसे लोगों का तर्क

---

1 भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ० 246

है कि सम्बन्ध और संबोधन का क्रिया के साथ सम्बन्ध द्योतित नहीं होता। क्रिय के साथ अन्वय न होने से सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नही है। जैसे 'मोहन का घोडा दौडता है' मे दौड़ना क्रिया से घोड़े का सम्बन्ध है। मोहन के साथ उसका सम्बन्ध नही है। इसी प्रकार 'हे राम, आओ' मे क्रिया के साथ राम का सम्बन्ध कर्ता रूप मे ही होता है। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'सम्प्रदान और अपादान को भी कारक मानने मे कठिनाई होती है।'[1] कारण है, उनसे क्रिया का अन्वय न होगा।

क्रिया के साथ चार वस्तुएँ सम्बन्धित हैं—कर्ता, भोक्ता, साधन और स्थान। इनके सम्बन्ध से चार कारक—कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण विद्वानो को मान्य हैं। कहाँ से और किसके लिए परोक्ष और दूरारूढ सम्बन्ध हैं। कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारक की व्युत्पत्ति भी 'कृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है करना—'चत्वार्येव कारकाणि अभ्युपगन्तव्यानितत्रैव धात्वर्थं व्यापारस्य सत्वात्।'[2] सम्प्रदान और अपादान में करने का भाव नही है, दान का भाव है। रामाज्ञा पाण्डेय के अनुसार पाणिनि पूर्व काल मे सम्प्रदान और अपादान को कारक नही माना जाता था—'वस्तु तस्तु पाणिनेः पूर्व सम्प्रदानापादानयोः कारकत्वमेव नासीत्।'[3]

विभिन्न कारको के सम्बन्ध का विभाजन विभक्तियो द्वारा होता है। हिन्दी विभक्तियों को परसर्ग कहा जाता है। ये छः है—ने, को, से, का, मे, पर। अँगरेजी मे From, to, in, into, at आदि विभक्तियाँ हैं, जिन्हे Preposition या पूर्वसर्ग कहते। हिन्दी मे शून्य विभक्ति भी चलती है। जहाँ रूप अविकारी होता है, वहाँ शून्य विभक्ति होती है।

कारक का सम्बन्ध शब्द रूपों से है। अतः शब्द के लिंग, वचन तथा कारक की धारणा एक-दूसरे से सम्बन्धित है।

क्रिया (Verb)

सस्कृत मे क्रिया को आख्यात कहा जाता है। आख्यात अर्थात् क्रिया मे अनेक अर्थ संश्लिष्ट होते है। यास्क ने क्रिया में भाव की प्रधानता स्वीकार करते हुए कहा है—'भावप्रधानमाख्यातम्।' क्रिया की प्रमुख विशेषता यह है कि उसका ज्ञान अनुमानगम्य है। उसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नही होता। इसे स्पष्ट

1. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 246
2. व्याकरण दर्शन भूमिका—रामाज्ञा पाण्डेय, पृ० 214
3. वही, पृ० 208

करते हुए कहा गया है कि कोई क्रिया अपूर्ण स्थिति मे प्रत्यक्ष नही होती और पूर्ण होते ही वह क्रिया नही रह जाती, क्योकि क्रिया की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी क्रमरूपता है।[1] वाक्य मे कर्म की वर्तमानता और अभाव के आधार पर क्रिया के दो भेद होते है—अकर्मक क्रिया, सकर्मक क्रिया। भोक्ता अर्थात् कर्म न रहे तो अकर्मक और कर्म रहे तो सकर्मक क्रिया होती है।

क्रिया की प्रधानता के आधार पर क्रिया के दो भेद किये जाते हैं—मुख्य क्रिया या प्रधान क्रिया और सहायक क्रिया। सहायक क्रिया सहायक की भूमिका मे रहती है। जैसे 'राम जाता है' मे 'जाता' मुख्य या प्रधान क्रिया है और 'है' सहायक क्रिया। 'मै' के साथ सदा 'हूँ' का प्रयोग होता है, चाहे वह सहायक क्रिया के रूप मे हो या मुख्य क्रिया के रूप मे।

क्रिया की समाप्ति-असमाप्ति की दृष्टि से समापिका और असमापिका भेद होते है।

काल (Tense)

क्रिया का विशेषण काल कहलाता है—'कालस्तुव्यापारे विशेषणम्।' काल के द्वारा क्रिया की दशा की अभिव्यक्ति होती है। क्रिया की दशा से यहाँ तात्पर्य काल प्रस्तार (Duration) से है। 'फ्रांसीसी काल (टेन्स) उस क्षण की अभिव्यक्ति करते है, जबकि कोई कार्य सम्पन्न हुआ, या सम्पन्न हो रहा है या सम्पन्न होगा।'[2] वान्द्रियैज का कहना है कि 'भारत-यूरोपीय मे काल की अपेक्षा काल-प्रस्तार का संकेत अधिक होता था।'[3]

संस्कृत में काल के दो ही भेद माने गये है—अद्यतन और अनद्यतन—'कालस्तावदद्यतनाद्यनन भेदेन द्विविधा।'[4] फिर इनके भी दो भेद किये गये हैं—भूत और भविष्य। इस प्रकार काल के चार भेद हो जाते है—अद्यतन और अनद्यतन भूत तथा अद्यतन और अनद्यतन भविष्य। वर्तमान की सत्ता क्षणात्मक होती है, क्योकि 'प्रत्येक वर्तमान क्षण अपनी वर्तमानता के पूर्व भविष्य होता है और एक क्षण के बाद ही भूत हो जाता है। इसलिए वास्तविक वर्तमान केवल एक क्षण का होता है और इस क्षणात्मक वर्तमान का निदर्शन भाषा में नही

---

1. व्याकरणिक कोटियो का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ०दीप्ति शर्मा, पृ०58
2. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 120
3. वही
4. व्याकरण भूषण सार—कौण्डभट्ट, पृ० 122

किया जा सकता।'[1] जर्मन भाषा में भविष्य के स्थान पर वर्तमान का प्रयोग होता है। 'भविष्य के लिए वर्तमान का प्रयोग करने की भाषा में सामान्य प्रवृत्ति है।'[2] लोक में वर्तमान के प्रयोग बहुत अधिक मिलते हैं। जब तक क्रिया होती है तब तक वर्तमान काल और क्रिया के समाप्त हो जाने पर भूतकाल। इसलिए वर्तमान की सत्ता है और क्रिया की वर्तमानता द्योतित करने की विधि भाषा में प्रचलित है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि सबसे पहले वर्तमान काल की कल्पना की गई होगी, फिर भूतकाल की और अन्त में भविष्यत् काल की। भोगा हुआ वर्तमान ही भूतकाल हो जाता है। 'इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि मानव समूहों का ध्यान वर्तमान के बाद भूतकाल की ओर ही गया।'[3] इस स्थापना की पुष्टि में डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि भारत और यूरोप की जो भाषाएँ आपस में मिलती-जुलती हैं, उनमें वर्तमान काल के रूपों की समानता सबसे ज्यादा है, भूतकाल की उससे कम और भविष्यत् काल की सबसे कम।[4]

हिन्दी में क्रिया की तीन काल-दशाएँ मानी गई हैं—भूत, वर्तमान, भविष्यत्। इनके भी भेद पूर्णता-अपूर्णता, संभावना-निश्चयात्मकता आदि के आधार पर किये गये हैं। इच्छार्थक व्यापार भविष्यत् का ही बोधक होता है।

वान्द्रियैज का कहना है कि काल-सम्बन्धी धारणा में भी असंगतियाँ हैं। वर्तमान से भी भूत और भविष्यत् की अभिव्यक्ति की जाती है। जैसे वह नहीं आता है, तो मैं क्या करूँ। 'आता है' वर्तमान काल में होने पर भूतकाल के अर्थ को द्योतित करता है। इसी प्रकार 'अभी जाता हूँ' में क्रिया का वर्तमान रूप भविष्यत् के कार्य का बोध कराता है। इसी प्रकार भूतकाल की क्रिया से भी भविष्यत् काल का बोध होता है। जैसे तुमने ध्यान दिया, तो सफलता निश्चित है। यहाँ क्रिया भूतकाल की है, किन्तु इससे भविष्यत् का अर्थ प्रकट होता है। वान्द्रियैज के मत से वर्तमान से भूतकाल की अभिव्यक्ति हो सकती है।

वाच्य (Voice)

व्याकरण में वाच्य क्रिया का वह रूप है, जिससे क्रिया में कर्त्ता, कर्म या भाव की प्रधानता के विधान का ज्ञान होता है। 'वाच्य शब्द से अभिप्राय क्रियात्मक

---

1. व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ०82
2. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 122
3. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 121
4. भाषा और समाज डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 493

कार्य की उस स्थिति से है, जिसका सम्बन्ध कर्त्ता मे रहता है, या तो कर्ता क्रिया को सम्पन्न करता है, या क्रिया सम्पन्न होने से कर्त्ता अधिकारी होता है या उसके सहयोग से उसके हित के लिए, क्रिया सपन्न होती है।'[1] इस आधार पर वाच्य के तीन भेद होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। कर्तृवाच्य मे कर्त्ता स्वय काम करता है। कर्मवाच्य से भूतकाल की क्रिया का बोध होता है। कर्मवाच्य कभी भी कर्तृवाच्य का उलटा नहीं है। जब भाव पर जोर हो तो भाववाच्य होता है।

कर्तृवाच्य—भगवान भक्तों का उद्धार करते हैं।

कर्मवाच्य—भक्तो का उद्धार किया जाता है।

भाववाच्य—मुझसे खाया नही जाता।

हिन्दी मे भाववाच्य की क्रिया का रूप एकवचन, पुल्लिग, भूतकाल का होना है।

कारक और विभक्ति

सस्कृत व्याकरण मे कारक और विभक्ति को अलग-अलग मानने की परम्परा है। किन्तु हिन्दी में कारक और विभक्ति को एक मानने की चाल है। शायद यह परम्परा अग्रेजी व्याकरण के प्रभाव का फल है। हिन्दी मे कारक और विभक्ति के अर्थ की एकता यहाँ तक स्थिर हो गयी है कि कारक और विभक्ति मे अतर माना ही नही जाता।

संस्कृत में संज्ञा के साथ क्रिया के अन्वय यानी सम्बन्ध को कारक कहते हैं—'क्रियान्वयित्व कारकत्वम्।' पहले यह माना जाता था कि जो क्रिया का जनक है, वह कारक है। किन्तु कुछ ऐसे भी कारक होते है जो क्रिया के जनक नही होते। इसलिए यह संशोधन किया गया कि क्रियान्वयी यानी क्रिया से किसी प्रकार सम्बन्धित है, उसे कारक मानना चाहिए, क्रिया और सज्ञा के अन्वय को नही। किन्तु कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी व्याकरण में कारक को परिभाषित करते हुए कहा है—

'संज्ञा (या सर्वनाम) के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है, उस रूप को कारक कहते हैं।'[2] उन्होंने विभक्ति को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'कारक सूचित करने के लिए सज्ञा या सर्वनाम के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते है, उन्हें विभक्तियाँ कहते है।'[3] गुरु के

1. भाषा—वान्द्रियैज, पृ० 124-25
2. हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु, पृ० 147
3 वही

विवेचन का निष्कर्ष लिया जा सकता है कि संज्ञा के विशिष्ट रूप को कारक कहते हैं। विभक्ति एक प्रत्यय है, जिससे कारक सूचित होता है। विभक्ति के योग से बने शब्द-रूप पद कहलाते हैं। किन्तु कुछ ऐसे पद भी दिखाई पड़ते हैं, जिनमें विभक्ति या प्रत्यय दिखाई नहीं पडते। अतः कारक और विभक्ति को एक नहीं माना जा सकता।

व्याकरण की दृष्टि से भाषा की महत्तम इकाई वाक्य है। वाक्य का मूल-भूत अंश आख्यात माना गया है। आख्यात ही अव्यय, कारक, विशेषण, क्रिया-विशेषण से संयुक्त होकर वाक्य बनता है—आख्यातं साव्ययकारक विशेषण वाक्य।'[1] क्रिया-रहित वाक्य संभव ही नहीं है। व्यवहार मे क्रियापद व्यक्त भी हो सकता है और अव्यक्त (अनुमेय) भी। इस तरह वाक्य में क्रिया ही आधार-भूत रूप में सिद्ध होती है। इस दृष्टि से कारक वे संज्ञापद हैं, जो क्रिया की निष्पत्ति में साधन रूप होते हैं। वे क्रिया की आभ्यंतर प्रकृति का उद्‌घाटन भी करते हैं। महाभाष्यकार ने क्रिया को कारको की प्रवृत्ति-विशेष के रूप में भी परि-भाषित किया है—'कारकार्थी प्रवृत्ति विशेष क्रिया।' डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार क्रिया को कारको के प्रवृत्ति विशेष. के रूप मे देखने का कारण यही है कि 'कारक, साथ, क्रिया की आभ्यतर प्रकृति का उद्‌घाटन करने में समर्थ है, अन्यथा कारक तो क्रिया की निष्पत्ति के साधन मात्र हैं। मूल तो स्वयं क्रिया है, जो साध्य है, कारको के सभी व्यापार का अभिधायक है।'[2]

क्रिया वास्तव मे भाव है। भाव अप्रत्यक्ष होता है। अप्रत्यक्ष भाव को प्रत्यक्ष करानेवाला क्रिया मे अतर्भुक्त चेष्टामय व्यापार होता है। चेष्टामय व्यापार के आधार पर क्रिया का मूलभाव अनुमानित किया जाता है। इसीलिए क्रिया अनु-मेय है। डॉ० श्रीवास्तव कहते है कि 'क्रिया अगर भावपरक है, भावपरक अप्रत्यक्ष होने के कारण अनुमेय है, तब अनुमान का आधार क्रिया-सम्बन्धी व्यापार के साधनों की प्रवृत्ति ही हो सकती है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि कारक वस्तुतः अनुमेय क्रिया की प्रकृति को जानने के साधन रूप मे सिद्ध हैं।'[3]

अगर कारक की सकल्पना प्रकार्यात्मक है तो उसका स्तर सज्ञा और क्रिया की आभ्यन्तर प्रकृति से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से विभक्ति की संकल्पना रूपात्मक है। संस्कृत व्याकरण में छः कारक और सात विभक्तियो का निर्देश है। विभक्तियो का स्तर रूपात्मक होने से उनका नाम भी रूपपरक है, यथा प्रथमा, द्वितीया, तृतीयादि।

---

1. महाभाष्य, वार्तिक, 2/1/1
2. महाभाष्य, 1/3/1
3. हिन्दी भाषा की रूप-संरचना—सं० डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 75

संस्कृत में कारक और विभक्ति को अलग मानने का प्रधान कारण यह है कि एक ही विभक्ति कई कारकों मे आती है। यह बात हिन्दी मे भी है। घर गिरा, किसान घर बनाता है, लड़का घर गया। घर शब्द एक ही रूप मे आकर क्रिया के साथ अलग-अलग सम्बन्ध (कारक) सूचित करता है। इस दृष्टि से सस्कृत के समान हिन्दी में भी कारक और विभक्ति को अलग-अलग मानना उचित है। हिन्दी मे सज्ञाओं की विभक्तियों (रूपो) की सख्या संस्कृत से कम है। विकल्प में कई संज्ञाओ की विभक्तियों का लोप भी हो जाता है। सज्ञा की अपेक्षा सर्वनामों में विभक्ति रूप अधिक निश्चित हैं। हिन्दी में कभी-कभी एक ही विभक्ति चार कारकों में आती है—मेरा हाथ दुखता है, उसने मेरा हाथ पकड़ा, नौकर के हाथ चिट्ठी भेजी गई, चिड़िया हाथ न आई। यहाँ हाथ संज्ञा क्रमशः कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारकों मे आई है। हिन्दी मे अधिकाश विभक्तियों का रूप केवल अर्थ से निश्चित किया जा सकता है, क्योकि रूपो की संख्या बहुत ही कम है।

अर्थ के द्वारा ही शब्द का शब्द के साथ अन्वय माना जा सकता है। कारक अर्थ तत्त्व है। वह शब्द का रूप नही है। वह प्रकृति, प्रत्यय या पद नही है। विभक्ति कारक का बोध कराने वाला प्रत्यय है। गुरु जी ने ठीक ही कहा है कि जिस रूप से यह अन्वय सूचित होता है उसे विभक्ति कहते हैं। विभक्ति एक रूप है। वह शब्द या पद का अंश है। वह अर्थ का प्रकाशक है, अर्थ नही है। जबकि कारक अर्थ है, शब्द नहीं। भाषा मे एक ओर वाच्य अर्थ की व्यवस्था है तो दूसरी ओर विवक्षित अर्थ का बोध कराने के लिए अपेक्षित रूपात्मक व्यवस्था भी है। प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, समास, कृत्तद्धित आदि इसी रूपात्मक व्यवस्था के अंग हैं। कारक वाच्य है और विभक्ति वाचक। वाच्य-वाचक का भेद स्वतः सिद्ध है। इस सम्बन्ध-भेद से कारक और विभक्ति का मौलिक अंतर स्पष्ट होता है।

कारक और विभक्ति के अंतर को इससे भी समझा जा सकता है कि षष्ठी एक विभक्ति है, उसे कारक नही माना जा सकता। जो संज्ञा षष्ठी मे है उसके अर्थ का क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता। वह क्रियान्वयी नही है। अतः उसे कारक नही मानते। षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कई प्रकार का होता है। वैयाकरणो ने कहा कि षष्ठी के सैकड़ो अर्थ होते है—'एक शतं षष्ठ्यर्थाः।' पाणिनि ने षष्ठी का विधान शेष के अर्थ मे ही किया है—'षष्ठी शेषे।' उन्होने सुप् या तिङ् प्रत्यय लगाकर पद बनाने का विधान दिया—'सुप्तिङन्त पदम्।' उन्होने सुप् और तिङ् दोनों प्रत्ययों को विभक्ति कहा है। कुछ तद्धित प्रत्ययों को भी उन्होने विभक्ति कहा—'प्राग् दिशो विभक्तिः।' इस प्रकार पाणिनीय परम्परा में विभक्तियों की सख्या सात ही नहीं है अधिक है कारक तो छः ही

हैं, पर विभक्तियाँ बहुत हैं।

विभक्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विभक्तियों से कारक का अर्थ प्रतीत होता है। डॉ० वि० कृष्णस्वामी आयगार के अनुसार 'कृत्, तद्धति और समास से भी कारक का बोध होता है।'[1] इससे जाहिर होता है कि केवल विभक्ति से ही कारक का अर्थ प्रतीत नहीं होता। कई विभक्तियाँ कुछ शब्द विशेष पर आधारित होती है। इन्हें उपपद विभक्ति कहते है।

गुरुजी के अनुसार कारक और विभक्ति को अलग मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि एक ही विभक्ति कई कारकों मे आती है। वास्तव मे विभक्ति का अर्थ कारक नहीं है। कारक अर्थ है, वाच्य है। विभक्ति शब्दांश है, वाचक है। अत: एक वाचक से कई अर्थों का बोध और एक अर्थ (वाच्य या कारक) के बोध के लिए कई वाचको (विभक्तियो) का प्रयोग होता है। कारक प्रत्येक भाषा मे अर्थतत्त्व के रूप में विद्यमान है। उसकी अभिव्यक्ति विभक्ति प्रत्यय, पूर्वसर्ग और परसर्ग से होती है। ये सभी वाचक हैं। किन्तु इनमे वाच्य-वाचक का सम्बन्ध सर्वत्र विद्यमान रहता है।

हिन्दी में परसर्ग और विभक्ति को लेकर भ्रम पैदा किया गया है। ने, को आदि को परसर्ग कहा जाता है। किन्तु पुराने लेखक इनको विभक्ति कहते थे। इससे जाहिर है कि हिन्दी मे परसर्ग और विभक्ति दोनों शब्द पर्याय है। विभक्ति को परसर्ग भी कह सकते है। किन्तु परसर्ग रूपात्मक व्यवस्था के अंग हैं और कारक भाषा की आर्थी व्यवस्था के अंग हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी भी मानते हैं कि परसर्ग (Postposition) कारक चिह्नों को कहते है, जो सज्ञा-सर्वनाम के बाद जोड़े जाते हैं। हिन्दी में परसर्ग दो प्रकार के है—मूल और यौगिक। ने, को, से, मे, पर आदि मूल परसर्ग है और के लिए, के ऊपर, मे का आदि यौगिक परसर्ग हैं। इनका विकास स्वतंत्र शब्दों से हुआ है। इनकी स्वतंत्र सत्ता है।

रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अन्तर

ध्वनि-परिवर्तन की दिशा से रूप या पद भी प्रभावित होते है। अत. ध्वनि-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन को एक ही समझा जाता है, किन्तु दोनो मे अन्तर है।

ध्वनि-परिवर्तन मे एक विशिष्ट ध्वनि परिवर्तित होती है और उक्त विशिष्ट ध्वनि-परिवर्तन का प्रभाव ऐसे सभी समान ध्वनिवाले शब्दो मे दिखाई पड़ता है। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन का क्षेत्र व्यापक है।

---

1 हिन्दी भाषा की रूप-सरचना—स० डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 58

रूप-परिवर्तन सीमित होता है। रूप-परिवर्तन किसी विशिष्ट शब्द, पद या रूप को ही प्रभावित करता है। शब्द या रूप के सभी क्षेत्रों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता।

ध्वन्यात्मक परिवर्तन ध्वनिग्रामों में होते हैं। पदरचनात्मक परिवर्तन का सम्बन्ध शब्दों से है।

कई ध्वन्यात्मक परिवर्तनों से पूरा ध्वनिचक्र विकृत हो जाता है। रूप-परिवर्तन से शब्द या पद का अशमात्र, जो विशिष्ट प्रयोग से प्रभावित हो, विकृत होता है।

रूप-परिवर्तन के कारण

भाषा परिवर्तनशील होती है। इसलिए भाषा की परिवर्तनशीलता का प्रभाव ध्वनि, पद, अर्थ, वाक्य—प्रायः भाषाविज्ञान के सभी अगों पर पड़ता है। रूप-परिवर्तन के निम्न कारण होते हैं :

1. सादृश्य—ससार की सभी भाषाएँ सादृश्य से प्रभावित होती हैं। मनुष्य की अनुकरणशील प्रवृत्ति से ही सादृश्य के आधार पर नये शब्द गढ़ने की विधि प्रचलित हुई है। भाषा के विकास में सादृश्य का प्रमुख हाथ होता है। 'नये शब्द को किसी पुराने शब्द के वजन पर उसकी आकृति के साँचे में ढाल लेना और दोनों शब्द-रूपों की दृष्टि से उनका एक हो जाना ही सादृश्य का मूल है।'[1] जैसे संस्कृत के द्वादश के वजन पर 'एकदश' के स्थान पर 'एकादश' और पैंतीस तथा पैतालीस की अनुनासिकता के सादृश्य पर ही सैंतीस और सैंतालीस की रचना हुई है। तुझ के वजन पर मैं का रूप 'मझ' के स्थान पर 'मुझ' हो गया। मरा, चला, बैठा के सादृश्य पर कर से 'करा' प्रयोग होता है, किन्तु होना चाहिए किया। इसी तरह कर में 'इए' प्रत्यय जोड़कर करिए शब्द प्रयोग में हैं, यद्यपि होना चाहिए कीजिए। इसी वजन पर 'हूजिये' भी पुरानी हिन्दी में प्रचलित था। मातृ का मातुः, पितृ का पितुः के सादृश्य पर पति से पत्युः रूप चल पड़ा, यद्यपि 'पतेः' होना चाहिए। बड़ा, अच्छा, मीठा, खट्टा, लम्बा, छोटा आदि विशेषण रूपों में परिवर्तन होता है। भारी, ताजा, खारा आदि रूप अपरिवर्तनीय हैं। फिर भी कुछ लोग ताजी खबर, खारी बावली, भारी बदन आदि का प्रयोग करते हैं।

तात्पर्य कि अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण सादृश्य के आधार पर नियमों के अंतर्गत उल्लिखित अपवादों को भी नियमित बना दिया जाता है।

---

1 भाषाविज्ञान कोश—डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० 695

2. ध्वनि-परिवर्तन—ध्वनि-परिवर्तन में भी पद के रूप में परिवर्तन हो जाता है। संयोगात्मक भाषा में ध्वनि-परिवर्तन के कारण विभक्तियों का लोप हो गया। कारकीय सम्बन्ध के लिए नयी विभक्तियों या परसर्गों का प्रयोग प्रारंभ हुआ। ये विभक्तियाँ या परसर्ग जो स्वतंत्र शब्द थे, घिसकर ने, को, से, का, में, पर के रूप में प्रचलित हो गये। स्वतंत्र शब्द घिसकर इन रूपों में आ गये। रामः के स्थान पर राम अथवा राम ने, रामस्य के स्थान पर राम का जैसे रूप इसी ध्वनि-परिवर्तन के साक्षी हैं।

3. स्पष्टता—वक्ता की इच्छा होती है कि वह अपने विचार या भाव स्पष्टता से व्यक्त करे। अतः जब वक्ता यह सोचता है कि उसकी अभिव्यक्ति में स्पष्टता नहीं है तो वह ऐसे रूप या पद का प्रयोग करने लगता है, जो उसकी दृष्टि में अधिक स्पष्ट होते हैं। 'दर' का अर्थ फारसी में 'में' होता है। दरअस्ल, दरहकीकत आदि स्पष्ट और सही प्रयोग हैं। किंतु 'दर' का अर्थ स्पष्ट होने के कारण 'दरहकीकत में', 'दरअस्ल में' प्रयोग किये जाते हैं। इसी प्रकार 'श्रेष्ठ' का अर्थ है 'सबसे अच्छा'। किन्तु श्रेष्ठ को अस्पष्ट ज्ञात होने पर सर्वश्रेष्ठ, श्रेष्ठतम जैसे प्रयोग बहुलता से होने लगे हैं। सर्वोत्तम में भी यही बात है। हम और तुम बहुवचन हैं, किन्तु स्पष्टता के आधार पर इनके एकवचन प्रयोग प्रचलित हो गये। जैसे हम चले। तुम जाओ। वे गये। हम, तुम और वे का एक वचन अर्थ में प्रयोग प्रचलित होने से लोग जोडकर इनके बहुवचन रूप बनाये जाते हैं। जैसे हम लोग, तुम लोग, वे लोग।

4. अज्ञान—अज्ञान के कारण अस्पष्टता आती है। अतः अज्ञान के कारण भी रूप में परिवर्तन हो जाता है। इस अज्ञान के मूल में भी सादृश्य तत्त्व संयुक्त होता है, क्योंकि रूप-निर्माण सादृश्य से ही होता है। जैसे गर्मी के वजन ठंढा का ठंढी का प्रयोग। ठंढा संज्ञा की तरह प्रयोग में आता है। इसी प्रकार फिजूल, वाहियात, फालतू शब्दों का अज्ञान के कारण, परिवर्तित रूप बेफिजूल, बेवाहियात, बेफालतू प्रचलन में दिखाई पड़ते हैं। एक्सरे एकवचन है, किंतु उसे बहुवचन मानकर उसका एक वचन रूप एक्सरा चलाते हैं। अभिज्ञ के 'अ' को निषेधात्मक समझकर लोग भिज्ञ शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जवाहरात, जेवरात, कागजात बहुवचन हैं। अज्ञान के कारण इन्हें एकवचन जानकर लोग जवाहरातों, कागजातों जैसे बहुवचन रूप बनाते हैं। कोमलताई, कृपणताई, सुन्दरताई आदि प्रयोगों में अज्ञान ही सूचित होता है, क्योंकि इनमें दो भाववाची प्रत्यय लगाये गए हैं।

5. नये रूपों की सृष्टि—भाषा को अर्थवत्ता देने, संक्षिप्तता तथा नवीन प्रयोग की दृष्टि से भाषा के रूप तत्त्व में परिवर्तन किये जाते हैं। जैसे प्रभावशाली की जगह 'प्रभावी', फिल्म बनाया की जगह 'फिल्माया', स्वीकार किया

की जगह 'स्वीकारा', अनुरोध किया है की जगह 'अनुरोधा' जैसे प्रयोग नवीनता के आग्रह में की गयी नयी रूप-सृष्टियाँ हैं। लोकभाषाओं के बतियाना, लतियाना, छकियाना, जुतियाना, गरियाना जैसे नये प्रयोगों से भाषा में नये रूपों की सृष्टि हुई है।

6. **बल**—बलाघात के परिणामस्वरूप भाषिक रूपों में नये स्वरूप उभर आते हैं। जैसे बल देने के लिए अनेक से अनेकों, खालिस से निखालिस, खाकर से 'खाकरके' जैसे रूप प्रचलन में हैं। बल देने के लिए आलू से आलुएँ, ज्वालामुखी से ज्वालामुखियाँ (और ज्वालामुखियाँ हो चूर्ण—कामायनी), सुस्वागतम् जैसे प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं।

7. **अल्पप्रचलित की जगह बहुप्रचलित रूप**—जो रूप अधिक प्रचलित होते हैं, उनपर सादृश्य का प्रभाव कम पड़ता है। पर अल्प प्रचलित शब्दों के स्थान पर बहुप्रचलित रूपों के सादृश्य पर शब्द की रूप-रचना होती है। 'ता' भाववाचक प्रत्यय है। सौंदर्य, सादृश्य, तारुण्य में ता प्रत्यय लगाकर सौंदर्यता, सादृश्यता, तारुण्यता आदि शब्दों की रचना बहुप्रचलित शब्द रूपों का अनुकरण ही है। 'हिन्दी में भी अधिक प्रयुक्त होने वाले षष्ठी विभक्ति के रूप अन्य विभक्तियों के रूपों का स्थान लेने की चेष्टा में है।'[1] जैसे मुझको, मुझसे, मुझमें, मुझपर जैसे रूपों के स्थान पर मेरे को, मेरे से, मेरे में, मेरे पर रूपों का प्रयोग पश्चिमी हिन्दी में चलने लगा है।

ऊपर रूप-परिवर्तन के कारण बताये गये हैं, उनका आधार सादृश्य ही है। सादृश्य की स्थितियों की खोज भाषाशास्त्रियों द्वारा की गयी है। Kurylowicz तथा Manczak ने इन पर गहन रूप में विचार करके सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उनके निष्कर्षों का उल्लेख करते हुए लेहमन ने कहा है कि 'लम्बे शब्द प्रायः छोटे शब्दों के अनुसार परिवर्तित होते हैं और रूपान्तर के शून्य रूपग्राम के स्थान पर प्रायः कोई परिपूर्ण रूपग्राम आ जाता है।'[2]

रूप-परिवर्तन के स्वरूप (दिशाएँ)

रूप-परिवर्तन का क्षेत्र सीमित होता है। अतः इस परिवर्तन की दिशाएँ भी विस्तृत नहीं हैं। परिवर्तन के क्षेत्र निम्नांकित हैं :

1. **नये सम्बन्ध तत्त्व**—यह क्षेत्र ध्वनि-परिवर्तन से सम्बन्धित है। ध्वनि-परिवर्तन के कारण संयोगात्मक भाषाओं की विभक्तियों का लोप हो जाने पर नये सम्बन्ध तत्त्व प्रचलित हुए। ये सम्बन्ध तत्त्व या विभक्तियाँ स्वतन्त्र शब्दों के

---

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 128-129
2. हिस्टोरिकल लिंग्विस्टिक्स—लेहमन, पृ० 189-190

रूप में ही प्रयोग मे आती थी। कालान्तर मे ये स्वतन्त्र शब्द घिसकर 'ने को से का मे पर' विभक्ति या परसर्ग के रूप मे प्रयोग मे हैं। जैसे दव , देव, देवस्य, देने के हिन्दी मे देव ने, देव को, देव का, देव मे रूप प्रयुक्त होते हैं।

2. **सादृश्य**—सादृश्य के आधार पर शब्दो तथा सम्बन्ध तत्त्वों में भी परिवर्तन हुआ है। जैसे सादृश्य के आधार पर एकरूपता के उद्देश्य से प्राकृत मे अकारान्त, इकारान्त तथा उकारान्त शब्दो के रूप एक जैसे हो गए—अग्गिस्स, वाउस्स, बुद्धस्स। हिन्दी मे चला, पढ़ा के सादृश्य से किया के स्थान पर 'करा' और पढ़िए आदि के वजन पर कीजिए के स्थान पर 'करिए' का प्रयोग होता है। सादृश्य के आधार पर ही मेरे ने, मेरे को, मेरे से, मेरे पर प्रचलित हैं। मैंने के वजन पर तैंने के प्रयोग पुरानी हिन्दी में मिल जायेंगे।

3. **अतिरिक्त शब्दों या प्रत्ययों का योग**—एक प्रत्यय के रहते अज्ञान के कारण दूसरे प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसे जवाहरात आदि मे आत् बहुवचन प्रत्यय है। फिर भी लोग जवाहरातों का प्रयोग करते हैं। सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम आदि मे 'सर्व' अतिरिक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। अनेकों में ओ प्रत्यय अतिरिक्त है।

4. **गलत प्रत्यय प्रयोग**—जैसे इन्द्रियो के स्थान पर इन्द्रियाँ। इन्द्री शब्द का रूप परिवर्तित होकर इन्द्रिय हो गया। इसलिए इन्द्रियाँ प्रयोग प्रचलित है।

5. **नया प्रत्यय या आधा नया आधा पुराना प्रत्यय**—जैसे प्रभावशाली की जगह प्रभावी मे नया प्रत्यय है। इसी प्रकार छठवाँ में ठ और वाँ दो प्रत्ययो का योग है।

रूपग्राम या रूपिम या पदग्राम

भाषा की अभिव्यक्ति की लघुतम अर्थपूर्ण इकाई रूपग्राम या रूपिम या पदग्राम कहलाती है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'भाषा या वाक्य लघुतम सार्थक इकाई को रूपग्राम अथवा रूपिम कहते हैं।'[1] अत. भाषा के रूपो (Morph) के अर्थ एव वितरण के आधार पर रूपग्राम (Morpheme) और सरूप (Allomorph) का निर्धारण किया जाता है। रूपिम का सम्बन्ध उच्चरित भाषा से है। रूपिमो की व्यंजना लेखिम (Grapheme) से की जाती है। रूपग्राम का अर्थगत विखण्डन नहीं किया जा सकता।

ब्लूमफील्ड के अनुसार 'रूपग्राम एक ऐसा भाषिक रूप है जिसकी सदृशता कोई दूसरी भाषिक इकाई ध्वनि या अर्थ के स्तर पर नहीं कर सकती।'[2]

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 244
2. सम्वेव पृ० 161

ब्लॉख एवं ट्रेगर के अनुसार 'रूपग्राम एक ऐसा भाषिक रूप है, जिसका अर्थ-मूलक खडन संभव नहीं है।'[1]

हॉकेट कहते है कि 'भाषिक उक्तियो में रूपग्राम लघुतम अर्थमूलक अंश होते हैं।'

ग्लीसन के मत से 'अभिव्यक्ति के स्तर पर रूपग्राम एक विशिष्ट लघुतम भाषिक इकाई है, जिसे आशयमूलक सरचना के किसी एक विशिष्ट भेद से सह-सम्बन्धित किया जा सकता है।'

रॉबिन्स कहते हैं कि 'लघुतम व्याकरणिक इकाइयो को रूपग्राम कहा जाता है।'

उपरूप या संरूप (Allomorph)

संरूप को रूपिम का स्थानिक प्रभेद माना जाता है। अर्थात् प्रत्येक सरूप का प्रयोग स्थान अलग-अलग होता है। जैसे घोडों, लड़को आदि मे 'ओं' सरूप हैं।

एक रूपग्राम के अन्तर्गत विभिन्न रूप संयोजित होते हैं। रूपग्राम के विभिन्न रूपो को संरूप या (Allomorph) कहा जाता है।

सरूपो का प्रयोग स्थानिक रूप से होता है। उनमें एक ही अर्थ निहित होता है। इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नही किया जाता। रूप और संरूप को स्पष्ट करते हुए रॉबिन्स कहते है कि रूप और संरूप मे कोई तात्विक अन्तर नही होता। अन्य विचारक रूपग्राम और संरूप में भी कोई अन्तर नही मानते। रूप या सरूप रूपग्राम का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यष्टि इकाई है। इस प्रकार रूप या सरूप या उपरूप के योग से ही रूपग्राम का निर्माण होता है।

रूपग्राम और शब्द मे अन्तर होता है, दोनो एक नही हैं। रूपग्राम पूरा शब्द भी हो सकता है और एक शब्दांश भी। जैसे गायों मे गाय एक रूप रूपग्राम है और ओं दूसरा। दोनों ही सार्थक हैं।

रूपग्राम के प्रकार

रूपग्राम दो प्रकार के होते हैं—1. बद्ध रूपग्राम, 2. मुक्त रूपग्राम। बद्ध रूपग्राम वे हैं जिनका उच्चारण स्वतन्त्र होने पर भी अकेले प्रयोग नही होता। जैसे ओं, ता, ऊँ आदि सार्थक रूपग्राम होने पर भी इनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नही हो सकता। ये किसी अन्य रूपग्राम मे बद्ध होकर ही अर्थपूर्ण इकाई बनते हैं।

मुक्त रूपग्राम स्वतन्त्र होते हैं। उनका उच्चारण और प्रयोग स्वतन्त्र रूप

---

1 ५ आफ एनालिसिस ब्लाख एव ट्रगर पृ० 54

से हो सकता है। ये बिना किसी सहयोग के ही उच्चमूलक हैं और प्रयोग मे आते ़। जैसे सो, जा, खा, पढ आदि।

प्रकृति और प्रत्यय की दृष्टि से विचार किया जाय तो सम्बन्ध तत्त्व या ात्यय बद्ध रूपग्राम हैं और प्रकृतियाँ बद्ध और मुक्त रूपग्राम। प्रत्यय सदा प्रकृति के साथ प्रयोग मे आते हैं। अलग से उनका प्रयोग नहीं होता। प्रकृति तत्त्व के मुक्त और बद्ध दोनो रूप होते है। जैसे अधिकार। इसमे अधि+कार अर्थात् दो रूपग्राम है। कार मूल तत्त्व या प्रकृति है। 'अधि' प्रत्यय है। यह पूर्व प्रत्यय (Preposition) है।

कुछ विद्वानो के अनुसार 'प्रयोग की दृष्टि से अर्थ तत्त्वदर्शी और सम्बन्ध तत्त्वदर्शी दोनो ही रूपग्राम बद्ध होते है।'[1] कुछ बद्ध रूपग्राम प्रकार्यात्मक रूपग्राम कहे जाते है। हिन्दी मे प्रचलित ने को से का मे पर तथा अँगरेजी मे to, form, on, in, of आदि प्रकार्यात्मक बद्ध रूपग्राम है।

---

1 ऐतिहासिक जलज पृ० 118

अर्थ-विज्ञान

अर्थ-विज्ञान शब्दार्थ-विज्ञान है। अर्थ-संरचना का अध्ययन उसका केन्द्र बिन्दु है। महाभारत मे 'ऊहापोहोऽर्थ विज्ञान तत्त्वज्ञान च धी गुणाः' और शब्द-परिच्छेद के वार्तिक मे 'शब्दज्ञानार्थ विज्ञान शब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ' के उल्लेख से अर्थ-विज्ञान की ओर ही संकेत किया गया है।

अर्थ-विज्ञान के संदर्भ मे Semantics (फ्रांसीसी Semantique) शब्द का सर्वप्रथम मिशेलब्रेआल ने 1883 ई० मे 'सोसाइटी फौर ग्रीस स्टडीज' के अधिवेशन में प्रयोग किया। उनकी Essai de Semantique नामक पुस्तक 1897 ई० मे प्रकाशित हुई, जिसका अँगरेजी अनुवाद 1900 ई० मे श्रीमती हेनरी कस्ट ने Semantics किया। अर्थ-विज्ञान के लिए ही सेमेन्टिक्स शब्द का प्रयोग किया गया। कालक्रम मे यह शब्द अर्थ-विज्ञान के लिए प्रचलित हो गया।

शब्द के अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ और उनके कारणों का विश्लेषण अर्थ-विज्ञान का विषय है। अर्थ का सम्बन्ध शब्द मे है। भाषा सार्थक शब्दो का समूह है। शब्द और अर्थ बोधक-बोध्य भाव से जुडे हुए है। शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। शब्द से अर्थ व्यंजित होता है। स्पष्टत. प्रत्येक शब्द के साथ अर्थ सम्पृक्त है। कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर की वन्दना वाक् और अर्थ की तरह सम्पृक्त कहकर की—'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।' तुलसी ने भी 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' कहकर शब्द और अर्थ की अभिन्नता प्रतिपादित की है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द और अर्थ को अलग नही किया जा सकता। शब्द और अर्थ संयुक्त होते है। 'शब्द तो अर्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसको ऐसे भी कह सकते है कि शब्द अमूर्त अर्थ का मूर्त रूप है या शब्द शरीर है तो अर्थ आत्मा। जिस तरह शरीर की सहायता से ही आत्मा का प्रत्यक्षीकरण होता है, उसी प्रकार शब्द की सहायता से ही अर्थ का बोध होता है।'[1]

---

1 भाषाविज्ञान की भूमिका —देवेन्द्र नाथ शर्मा पृ० 250

अर्थ का लक्षण

भाषा की लघुतम सार्थक इकाई शब्द है। शब्द लोक-व्यवहार के निमित्त है। इसलिए वाक्यपदीय में उन्हे लोक-निबन्धन कहा गया है। शब्द अर्थ संश्लिष्ट होते है। इसलिए शब्द सार्थक कहे जाते है। शब्द के बिना अर्थ और अर्थ के बिना शब्द की सभावना नही की जा सकती। भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के समन्वित रूप को एकतत्त्व और शब्द तथा अर्थ को उसका अग माना है—'एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थो व पृथक् स्थितो।'

अर्थ के बिना शब्द का कोई मूल्य नही होता। ऋग्वेद मे अर्थ रहित वाणी को 'फल-पुष्प रहित' कहा गया है—'अफलामपुष्पाम्। यास्क ने भी निरुक्त मे अर्थ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—'अर्थवाचः पुष्पफलमाह।'[1] अर्थात् उन्होने अर्थ को वाणी का फल एव पुष्प कहा है। शब्द का महत्त्व अर्थ के कारण है। अर्थ के महत्त्व को विश्लेषित करते हुए निरुक्तकार ने आगे कहा है—

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।[2]

अर्थात् जिस प्रकार बिना अग्नि के शुष्क ईंधन प्रज्वलित नही हो सकता, उसी प्रकार बिना अर्थ समझे जो शब्द दुहराया जाता है, उसी प्रकार वह कभी अभीप्सित विषय को प्रकाशित नही कर सकता। उन्होंने यह भी कहा है कि बिना अर्थ जाने जो वेदों का अध्ययन करता है, वह केवल भार ढोता है—'स्थाणुरथ भारहारः किलाभूर्धी य वेद न विजानाति योऽर्थम्।'

शब्द का सम्बन्ध तत्त्व अर्थ है। अर्थ आत्मा है शब्द की। अर्थ न रहने पर शब्द मात्र 'शव' है। शब्द ही अर्थ के माध्यम या साधन है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। भर्तृहरि ने अर्थ का लक्षण करते हुए कहा है—

यस्मि स्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थ प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्।[3]

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण से जब जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है, अर्थ का दूसरा लक्षण नही है।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इसी आधार पर अर्थ की परिभाषा करते हुए कहा है, 'शब्द के द्वारा जो प्रतीति है, उसे अर्थ कहते है।'[4]

अर्थ-प्रतीति का आधार वक्ता या प्रयोक्ता होता है। भर्तृहरि ने इसे स्पष्ट

---

1. निरुक्त, 1/20
2. वही, 1/18
3. वाक्यपदीय, 2, 330
4 भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 251

करते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वक्ता की इच्छा के अधीन है। वक्ता या प्रयोक्ता जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करता है, वही अर्थ उसे मिल जाता है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वास्तविक नहीं होता, वरन् काल्पनिक, असत्य होता है—

प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्य साधनरूपताम्।
अर्थस्य वाभिसम्बन्धः कल्पनां प्रसमीहते।

ब्लूमफील्ड भी इस स्थापना से सहमत हैं। उनके अनुसार अर्थ की परिभाषा वक्ता की मन स्थिति के संदर्भ में ही की जाती है।[1] सी० के० ओगडन तथा आई० ए० रिचर्ड्स भी मानते हैं कि अर्थ नितान्त व्यक्तिगत होता है।[2] प्रयोक्ता की मनःस्थिति, चिन्तन-मनन और पद्धतियाँ कालानुसार भिन्न हो जाती है। पीढ़ियाँ भी बदलती है तो प्रयोक्ता भी बदल जाते है। 'शब्द के उच्चारण के साथ कोई एक निश्चित वस्तु संकेतित न होकर उस वस्तु के परिवार की अनेक वस्तुएँ सकेतित हो सकती है।'[3] इससे स्पष्ट होता है कि शब्द परिस्थितिवश असमर्थ होते हैं। पतजलि ने 'दही' के उदाहरण से इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि दही कहने से कम जमा हुआ (मन्दक), मलाईवाला (उत्तरक), न जमा हुआ आदि का बोध होता है। अतः दही कहने से निश्चित और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। प्रदीप-घट न्याय के आधार पर भर्तृहरि कहते है कि प्रदीप साहचर्य और सामीप्य के कारण अन्य अर्थो को भी प्रकाशित करता है। शब्द अपने मुख्यार्थ का ही नही साहचर्य और सामीप्य के कारण अबिवक्षित अर्थ को भी प्रकाशित करता है। सी० डी० बक के अनुसार 'अधिकाश शब्दो का अर्थ कोई स्थिर बिन्दु (Fixed point) न होकर बदलते आयामो का एक पूरा क्षेत्र होता है।'[4]

यास्क और ब्रेआल शब्दो की असमर्थता को रेखांकित करते हुए कहते है कि वस्तु को शब्द के द्वारा सम्पूर्ण अर्थ सदर्भ मे व्यजित नही किया जा सकता। शब्दो से अपूर्ण और (अयथार्थ) ही प्रकट होता है। जैसे स्थूणा (खंभा) की व्युत्पत्ति 'स्था' धातु से है। जो खड़ा हो वह स्थूणा। किन्तु खंभे की अन्य स्थितियाँ भी होती हैं, जिनका बोध स्थूणा यानी खड़ा होनेवाला से नही होता। इसी प्रकार Sun की व्युत्पत्ति जिस धातु से है उसका अर्थ है चमकना। Horse शब्द लैटिन के Curro से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है दौड़ने वाला। सूर्य और घोड़े के अन्य परिवेश भी होते है। जब Sun अस्त हो जाता है तो उसे Sun नही कहा जा सकता, और

1. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड, पृ० 139
2. द मीनिंग ऑफ मीनिंग—रिचार्ड्स, पृ० 161
3. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 144
4 ए डिक्शनरी ऑफ सेलेक्टेड सिनोनिम्स भूमिका पृ० V

Horse जब विश्राम करता है तब इन शब्दों मे सम्पूर्ण अर्थ व्यंजित नही होता, क्योंकि अस्त होने पर भी उसे Sun कहकर चमकने वाला और घोडे की विश्रामावस्था में या मरने पर भी उसे दौडने वाला(Horse) कहने से शब्द की असमर्थता ही द्योतित होती है। इसीलिए ब्रेआल कहते है कि 'भाषा पदार्थों को अपूर्ण और अयथार्थ रूप में लक्षित करती है।'[1]

भाषा की अभिव्यंजना या अन्य भाषिक प्रयत्नो का लक्ष्य अर्थ का प्रेषण है। 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' (भगवान ने मुख दिया, अतः बोलना ही चाहिए) की उक्ति में बोलने की क्रिया की अर्थ सापेक्षता ही प्रकट की गयी है। अर्थ तो वाणी का फूल है—'अर्थवाचः पुष्पफलमाह।'

अर्थ की प्रतीति शब्द के उच्चारण से सम्बद्ध है। प्रत्येक शब्द अपने अर्थ को उपस्थित करता है। अर्थ ही शब्द का सम्बन्ध है। सकेत और ज्ञान से शब्द का अर्थ-बोध होता है। अभिधा द्वारा अर्थ ग्रहण होता है। साक्षात् सकेतित अर्थ अभिधा-व्यापार से ही प्रकट होता है। अर्थ-ग्रहण से बिम्ब-ग्रहण होता है। इसे ही अर्थ का चित्र धर्म कहा गया है।[2]

वक्रोक्तिकार के अनुसार अर्थ वह है जो सहृदयों के हृदयो मे आह्लाद उत्पन्न करता है और स्वस्पन्द मे अर्थात् आत्मभाव मे सुन्दर होता है—'अर्थः सहृदयाह्लाद कारि स्वस्पन्द सुन्दरः।'[3] आह्लादकता भाषा के आत्मपक्ष से संबंधित है। अतः अर्थ भाषा का आत्मपक्ष है। 'अर्थतत्त्व का विवेचन भाषा के अतस् या आत्मपक्ष के अंतर्गत आता है।'[4]

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'शब्द के द्वारा जो प्रतीति होती है, उसे अर्थ कहते हैं।'[5] डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार अर्थ का प्रमुख लक्षण प्रतीति है और प्रतीति का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक पक्ष से विशेष है।[6] भर्तृहरि ने घट-प्रदीप न्याय के आधार पर अर्थ का विश्लेषण करते हुए कहा है कि शब्द जिन अर्थों मे प्रयुक्त होता है उनके साहचर्य से अन्य अर्थो को प्रकाशित करता है। शब्द अपने मुख्यार्थ का ही नहीं, सान्निध्य के कारण अविवक्षित अर्थों का भी बोध कराता है।[7]

---

1. सेमेन्टिक्स—ब्रेआल, पृ० 171
2. काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र, भूमिका पृ० 48
3. वक्रोक्ति जीवित—कुंतक
4. अर्थतत्त्व की भूमिका—डॉ० शिवनाथ, पृ० 10
5. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 251
6. भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, 90
7. वाक्य पदीय भर्तृहरि 2 300—303

अर्थ-प्रतीति मानसिक व्यापार है। मन मे अर्थ-प्रतीति दो प्रकार से होती है—1. आत्मप्रत्यक्ष, 2. परप्रत्यक्ष। अर्थ का निर्धारण वक्ता या श्रोता के मस्तिष्क मे उपजे बिंबो के आधार पर होता है। शब्द का अर्थ प्रयोक्ता की इच्छा और मानसिक स्थिति से जुड़ा हुआ है। प्रयोक्ता की मानसिक स्थिति तथा इच्छा मे भी परिवर्तन होते रहते है। अर्थ-निर्धारण मे श्रोता के मानसिक परिवेश और शब्द के प्रसग की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। एक शब्द का परिवेश-क्षेत्र उस शब्द का अर्थ-क्षेत्र होता है।

अर्थ की उत्पत्ति स्वत. नहीं होती। शब्द को प्रयोक्ताओ ने अर्थ दिया। मतलब कि अर्थ प्रयोक्ता या वक्ता के अधीन होते है। वक्ता शब्द का जिस अर्थ मे प्रयोग करता है, वही अर्थ उसे मिल जाता है। अत. अर्थ वक्ता की इच्छानुसार स्फुटित होते हैं। अर्थ नित्य या निश्चित नही होते, क्योंकि प्रयोक्ता के अनुसार उनका निर्धारण परिवेश और प्रसंग के सदर्भ मे होता है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है .

प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्य साधनरूपताम्।
अर्थस्य वाभिसंबन्ध· कल्पना प्रसमीहते।

तात्पर्य कि अर्थ काल्पनिक होते है। प्रयोक्ता की इच्छा से ही उनका निर्धारण होता है। कबीर ने शब्द को वही अर्थ दिया, जो वे देना चाहते थे। ब्लूमफील्ड का भी कहना है कि वक्ता की मनःस्थिति के संदर्भ में ही अर्थ की चर्चा और परिभाषा कर सकते हैं।[1] सी० के ओगडन और आई० ए० रिचार्ड्स के अनुसार अर्थ नितान्त वैयक्तिक होते है।[2]

शब्द को जड तत्त्व कहा गया है, जबकि अर्थ चेतन तत्त्व है। अर्थ का व्यवहार से ही निर्धारण होता है। अर्थ की सत्ता व्यावहारिक होती है। उसके व्यवहारात्मक और कलात्मक स्वरूप के कारण ही अर्थ तत्त्व अधिक सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और रोचक होता है।

आचार्य शुक्ल कहते है कि 'अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु का विषय से है। भाव या चमत्कार से नि.संग विशुद्ध रूप मे अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है।'[3]

अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान को ही अर्थ के अतर्गत स्वीकार किया है। ब्रैडले ने भी कहा है कि अर्थ भावात्मक या ध्वन्यात्मक होते है।

अर्थ और भाव एक होते हुए भी एक नहीं हैं। वस्तु का प्रथम रूप अर्थ है।

---

1. लैंग्वेज—ब्लूमफील्ड, पृ० 139
2. द मीनिंग ऑफ मीनिंग—ओगडन, पृ० 161
3 इन्दौर वाला भाषण

भावित होने पर अर्थ ही भाव का रूप ग्रहण कर लेता है। अर्थ कभी निर्भाव नहीं होता और भाव कभी निरर्थक नहीं रहता।

अर्थ के अंतर्गत केवल वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ ही नहीं आते, बल्कि रस, भाव, अर्थालंकार, गुण तथा रीति भी उसके अंतर्गत समाहित रहते हैं।[1] इनकी सहायता से ही अर्थ में चित्रात्मकता या संगीतात्मकता आती है। रामदहिन मिश्र ने अर्थ के तीन मुख्य धर्म माने है—संगीत धर्म, भाव धर्म और चित्र धर्म।

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थ के दो भेद बताये गये है—संरचनागत अर्थ और प्रसंगार्थ। संरचनागत अर्थ को रूढ़ार्थ भी कहा जाता है। रूढार्थ सामाजिक परम्परा से ग्राह्य होते है और प्रसंगार्थ प्रसंग के संदर्भ में।

शब्द में कभी एक अर्थ और कभी अनेक अर्थ संश्लिष्ट होते है। एक अर्थ वाले शब्दों को एकार्थी और अनेक अर्थवाले शब्दों को अनेकार्थी कहते है।

निष्कर्षतः अर्थ का प्रमुख लक्षण प्रतीति है। प्रतीति मानसिक क्रिया है। प्रत्येक वस्तु का एक नाम होता है, जो लोक-व्यवहार के द्वारा प्राप्त है। अर्थ अनित्य होते है, क्योंकि वे वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं। हमारी आर्थी प्रतिक्रिया के परिणाम से ही अर्थ का निर्धारण होता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

प्रत्येक शब्द अर्थगर्भ होता है। शब्द के बिना अर्थ की सत्ता नहीं हो सकती। उसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द का कोई मूल्य-महत्त्व नहीं है। इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अटूट होता है। शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। दोनों का सम्बन्ध बोधक-बोध्य का होना है। भाषिक उपयोगिता अर्थ की ही होती है, किन्तु अर्थ तत्त्व के वाहक शब्द हैं। शब्द ही अर्थ के माध्यम है।

शब्द वह वस्तु नहीं है, जिसका वह बोधक है। रोटी (वस्तु) खाते है, रोटी शब्द नहीं। 'रोटी' शब्द तो वस्तु का बोध, प्रतीति करा देता है, संकेत कर देता है। इसलिए शब्द को वस्तु का संकेत भी कह सकते है। संकेत वक्ता/प्रयोक्ता के अधीन होता है। अर्थात् संकेत यादृच्छिक होता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सघन और व्यापक होता है। तुलसीदास ने 'गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' कहकर और कालिदास ने 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये' के द्वारा शब्द और अर्थ की अभिन्नता प्रतिपादित की है।

पतंजलि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए कहा—'नित्यो

---

1 काव्य-दर्पण रामदहिन मिश्र पृ० 49

ह्यर्थवतामर्थैरभिसंवन्धः।' अर्थात् शब्दो और अर्थो का सम्बन्ध नित्य है। इससे स्पष्ट होता है कि पतंजलि ने शब्द और अर्थ के स्थायी सम्बन्ध को मानते हुए, कहा कि शब्द से अर्थ छिन्न नही हो सकता। इस आधार पर कहा जा सकता है कि अर्थ-सकोच, आगम, विपर्यय को वे नही स्वीकार करते। जाहिर है कि तब वे अर्थ-परिवर्तन को भी नहीं मानते। किन्तु यह अनर्थ उनके श्लोक का भ्रमात्मक अर्थ ग्रहण करने के कारण हुआ है। वास्तव मे पतजलि ने इस उक्ति से सम्बन्ध की नित्यता का ही प्रतिपादन किया है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शाश्वत है। इस सम्बन्ध के अभाव मे शब्द का कोई अर्थ नही होगा और अर्थ का वाहक कोई शब्द नही रहेगा। पतजलि के कथन की भ्रामक धारणा के कारण यह विवाद चल पड़ा कि शब्द का अर्थ नित्य है या अनित्य।

कैयट, भर्तृहरि, हेलाराज आदि वैयाकरणो ने कहा है कि 'शब्द के द्वारा अर्थ-बोधन अनादि काल मे चल रहा है। इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य कहा गया है। अनित्य अर्थ को भी नित्य इसलिए कहा गया है कि शब्द का कोई न कोई अर्थ अवश्य रहता है।' इन आचार्यो ने पतजलि की स्थापना की मूल प्रकृति की ओर संकेत किया है।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र आचार्य ने पतंजलि की परम्परा मे ही कहा है—'सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यवाये चित्रवत्।'[1] अर्थात् शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध नित्य नही है, जिस प्रकार भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र नष्ट हो जाता है।

पतंजलि के अनुसार शब्द के दो रूप है—ध्वनि और स्फोट। ध्वनि शब्द का गुण है। ध्वनि शब्द की व्यंजकता है। उसके द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है। अतएव ध्वनि व्यजक है। और स्फोट व्यंग्य। 'अर्थात् मनुष्य जो शब्द बोलते है वह वर्णनात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते है। अतएव अर्थज्ञान होता है।'[2] पतजलि ने शब्द की परिभाषा करते हुए उसके 'प्रयोगेनाभिज्वलित' होने का सकेत दिया है। अभिज्वलित से तात्पर्य है स्फुट होना, व्यक्त होना।

शब्द के द्वारा जो प्रतीति होती है, उसे अर्थ कहा गया है। यह प्रतीति मानसिक होती है। शब्द कर्णेन्द्रिय के द्वारा श्रवण किये जाते है, बुद्धिग्राह्य होते हैं तथा प्रयोग द्वारा व्यक्त या व्यंजित होते हैं। ध्वनि के सुनाई पड़ते ही अर्थ का स्फोट जिस माध्यम से होता है, उसे संकेतग्रह कहते हैं। सकेतग्रह का प्रमुख आधार अनुभव है। सकेत ग्रहण करने के अनेक साधन हैं।

---

1. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० 124
2 अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० 73

सामान्यत. चेतना के विकास के साथ ही मनुष्य के मस्तिष्क मे प्रत्येक वस्तु का एक बिम्ब अंकित हो जाता है। वस्तु के उल्लेख या दर्शन से उसका बिम्ब मानस में उभर आता है। स्फोटवादियों के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है—'पूर्व-पूर्व वर्णानुभवाहित संस्कार सचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यजते स्फोट:।' कभी देखे दृश्य, पक्षी, स्त्री तथा अन्य वस्तुओ की मूर्ति मानस पटल पर अंकित हो जाती है। यही बिम्ब-निर्माण है। 'जैसे-जैसे किसी वस्तु का बिम्ब मन पर अंकित होता है वैसे-वैसे उसका वाचक शब्द भी संस्कार में अंकित होता जाता है।'[1] इस संकार के फलस्वरूप वस्तु को देखकर शब्द का परिज्ञान हो जाता है और शब्द को सुनकर वस्तु का प्रतिभिज्ञान उभर आता है। शब्द का अर्थ हमारे मानस मे संस्कार रूप मे बद्ध है। इसी संस्कार में शब्द का अर्थ या बोध अथवा प्रतीति निहित होती है। शब्द में निहित अर्थ ही अर्थबोध के लिए पर्याप्त नही होता। वक्ता के परिवेश और शब्द के प्रसंग से अर्थ-बोध होता है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं—'शब्द और अर्थ का मूर्त सम्बन्ध यह है कि शब्द द्वारा हमे किसी पदार्थ या कर्म का बोध होता है, जिससे वह ध्वनि-संकेत सम्बद्ध हो गया है। शब्द स्वय वह पदार्थ नही है, वह किसी की ओर संकेत भर करता है। इसीलिए हम उसे 'बोधित उत्तेजक' कहते है। जैसे माँ शब्द कहने से हमे अपनी जन्मदात्री का बोध होता है, अन्य लोगो को यह बोध 'ममी' कहने से होता है। माँ या ममी की ध्वनियो मे कोई ऐसा गुण नही है जो जननी के गुणों का प्रतिबिम्ब हो। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि और उससे सम्बद्ध किये हुए पदार्थ का ही सम्बन्ध है। यह संबंध अटूट और अविच्छेद्य है।'[2]

कुछ विद्वान् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नही मानते। वैशेषिक दर्शन मे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को असम्बद्ध कहा गया है—'शब्दार्थाविसंबद्धौ।' शब्द और अर्थ की नित्यता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए ये आचार्य कहते हैं कि शब्द-अर्थ का सम्बन्ध नित्य स्वीकार करने पर 'शब्द का अर्थ त्रिकाल में एक ही होना चाहिए। किन्तु लोक-व्यवहार मे देखा जाता है कि शब्दों के अर्थ में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।'[3]

डॉ० बाबूराम सक्सेना शब्द और अर्थ के नित्य और अनित्य सम्बन्ध विषयक विवाद का समन्वयवादी समाधान देते हुए कहते है कि 'शब्द और अर्थ के नित्य संबंध

---

1. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 269
2. भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 10
3 भाषाविज्ञान के सिद्धान्त—सं० डॉ० रामेश्वर दयाल अग्रवाल, पृ० 152

का तात्पर्य केवल यही है कि प्रत्येक शब्द में कोई अर्थ होता है। किन्तु किसी शब्द विशेष में कौन-सा अर्थ है यह बात देश, काल और समाज पर निर्भर है। समय-समय पर शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं।'[1] अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया मन्द गति से निरन्तर चलती रहती है। कालान्तर में अर्थ-परिवर्तन का स्वरूप प्रकट होता है। अर्थ-परिवर्तन अर्थ-विस्तार, अर्थ-सकोच और अर्थादेश आदि से होता रहता है। अर्थ-परिवर्तन को अर्थ-विस्तार भी कहा जाता है। कभी-कभी अर्थ इतना बदल जाता है कि व्युत्पत्ति के अर्थ से उसकी कोई सगति समझ में नहीं आती। 'बोलते समय वक्ता के स्वर, मुद्रा, चेष्टा आदि के सयोग से अर्थबोध में जो वैशिष्ट्य आता है उसकी गणना अनित्यार्थ में की जाती है।'[2] अनित्यार्थ का तात्पर्य यह है कि स्वर आदि के भेद से उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं।

अर्थ के तीन स्तर माने गये हैं— वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ।

इससे स्पष्ट है कि शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ही सब कुछ नहीं है। जब रूढ़ार्थ या मुख्यार्थ बाधित होता है तो गौणार्थ विवक्षित होता है। जैसे 'राम गदहा है'। राम पशु नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ यहाँ बाधित है। गदहा की मूर्खता राम पर आरोपित करना यहाँ वक्ता का प्रयोजन है। अतः अर्थ होता है कि राम मूर्ख है। यह गौण अर्थ है। गौण अर्थ लाक्षणिक होता है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी गौण ही होता है। परिस्थिति, परिवेश, स्वर, मुद्रा आदि के द्वारा व्यंग्यार्थ का प्रस्फुटन होता है। इससे जाहिर होता है कि एकार्थक शब्दों में भी उपर्युक्त कारणों से अनेक अर्थों का प्रकाशन होता है। विनफ्रेड पी० लेहमान शब्द के अर्थ को प्रसग-निर्भर मानते हैं। उन्होंने वृत्तों की सहायता से इस कथन को स्पष्ट किया है।[3]

भाषाशास्त्री यह मानते हैं कि बिम्ब अथवा अर्थ को व्यक्त या स्पष्ट करने का प्रतीक(Symbol)शब्द है। सदर्भ में प्रयुक्त होकर शब्द अनेकार्थी हो जाते हैं। सर्वाधिक स्थिर मूल अर्थ या मुख्यार्थ ही होता है। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ मूलार्थ या वाच्यार्थ का ही विस्तृत या स्थानान्तरित अर्थ होता है। मूलार्थ ही प्रयोग के प्रारंभ में प्रकाशित होता है। उसके बाधित होने पर अन्यार्थ की प्रतीति होती है। अन्यार्थ स्थानान्तरित या आरोपित होते हैं और परिवेश, प्रसंग आदि से ही इनके अर्थ का निर्धारण होता है।

कुछ आचार्यों ने हिन्दी-सस्कृत की आधारभूत ध्वनियों का सम्बन्ध कुछ निश्चित अर्थों से माना है।[4] 'इ' निकटता और 'उ' दूरी के अर्थ में प्रचलित हैं।

---

1. भाषाविज्ञान के सिद्धान्त—स० डॉ० रामेश्वर दयालु अग्रवाल, पृ० 152
2. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 280
3. हिस्टॉरिकल लिंग्विस्टिक्स—ऐन इन्ट्रोडक्शन, पृ० 198
4. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास 2रा भाग पृ० 330

जैसे इमि, इत, इह्, इष्ट, इन्दु, इम आदि शब्दों मे निकटता का भाव-बोध सूचित है । उम, उन, उदाम, उड़ना, उचक्का, उठाना आदि मे दूरी का भाव लक्षित है । अ में तटस्थता, उदासीनता या शून्य का सकेत गर्भित है । अ और अन उपसर्ग अभावसूचक हैं। जैसे अंत, अकेला, अस्तु, अटकना, अडियल आदि से यह भाव सूचित होता है । ए 'अ' और 'इ' के अर्थ से सयुक्त है । ओ 'अ' और 'उ' के अर्थ से जुड़ा हुआ माना गया है ।

इसी प्रकार 'ख' से निर्मित शब्दों में शून्य, खोखला और प्रकाशमान अर्थ समाविष्ट है । घ से घिसटन और घर्षण, छ से छेदन, छिलन, आच्छादन आदि अर्थ की सूचना मिलती है। इस सदर्भ में डाक्टर हरदेव बाहरी कहते हैं कि 29 ध्वनियों से जिस प्रकार लाखो शब्द बन जाते हैं, उसी प्रकार इन 29 मूल अर्थो से लाखो अर्थ विकसित होते हैं । ध्वनियों के संचय, क्रमचय और हेरफेर से अर्थों मे हेरफेर होता है ।[1]

ध्वनियो मे निश्चित अर्थ का संयोजन माना जाय तो यदि 'प' पालन के अर्थ मे आता है तो पीटना अर्थ से उसका मेल क्यो नही है ? 'च' लघुता का द्योतक है तो चगा और चढना मे यह अर्थ क्यो नही घटित होता ? इन अपवादो का समाधान अर्थ-परिवर्तन और अर्थ-विकास मे किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि कुछ ध्वनियाँ (जैसे महाप्राण और मूर्धन्य) इतनी प्रबल होती हैं कि शब्द मे कही भी रहकर वे आगे-पीछे की ध्वनि के अर्थ पर छा जाती हैं ।[2]

अर्थबोध (संकेत ग्रह) के साधन

प्रत्येक शब्द सार्थक होता है । शब्द का अर्थ-बोध कराने वाली शक्ति होती है । शक्ति ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है । लोक-व्यवहार मे प्रत्येक वस्तु को एक निश्चित नाम दिया गया, जिसे शब्द कहते है । इस प्रकार वस्तु और शब्द का एक सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध को ही शक्ति या सकेत कहते हैं । इस शक्ति या सकेत से ही वाचक (शब्द) से वस्तु का बोध होता है । वस्तु का बोध ही अर्थ है । इस तरह बोध-व्यापार या अर्थ-बोध को सकेत ग्रह कहते है । अत सकेत ग्रह ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है । सकेत ग्रहण करने के अनेक साधन हैं। सकेत ग्रहण अथवा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध ज्ञान को दर्शाते हुए मुक्तावलीकार ने कहा है—

> संकेतग्रह व्याकरोपमान कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्यशेषाद्वि वृत्तेर्वदन्ति ।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—2रा भाग, 336
2. वही

अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान या संकेत ग्रह 1. व्याकरण, 2. उपमान, 3. कोश, 4 आप्तवाक्य (यथार्थ वक्ता का कथन), 5. व्यवहार, 6. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, 7. वाक्यशेष, 8. विवृति आदि अनेक कारणों से होता है।

'शब्द शक्ति प्रकाशिका' मे जगदीश ने भी इन्हीं साधनों का उल्लेख करते हुए कहा है—

> शक्तिग्रह व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत. सिद्धपदस्य वृद्धा' ।

इस उद्धरण मे भी सकेत ग्रहण करने के उपरिलिखित साधन ही बताये गये हैं ।

1. व्यवहार—भाषा का ज्ञान, विकास और बोध व्यवहार-सापेक्ष होता है। शब्दों मे निहित अर्थ का ज्ञान व्यवहार से ही होता है। ससार के पशु-पक्षी, कीट-पतग, खाद्य-अखाद्य, माता-पिता, भाई-बहन से शिशु को परिचित कराते हैं। इनको ही वस्तु कहते है। वस्तु का सकेत शब्द से ग्राह्य है। वस्तु के साथ ही उसके प्रतीक-सकेत रूप शब्द से भी शिशु का परिचय कराया जाता है। एक-एक शब्द के उच्चारण से वस्तु के सकेत शब्द का उच्चारण नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार वस्तु और शब्द का परिचय व्यवहार से प्राप्त होता है। लोक-व्यवहार की परम्परा माता की गोद से गुरुकुल होते हुए जीवन के बहुआयामी परिवेश तक जाती है। इसीलिए वाक्यपदीय मे शब्द को लोक-व्यवहार का निमित्त या लोक-निबन्धन कहा गया है। वस्तु-विशेष और शब्द-विशेष का सम्बन्ध अर्थात् अर्थ तत्त्व के बोध की क्षमता का विकास होता रहता है। इस प्रकार लोक-व्यवहार अर्थ-ज्ञान का प्रमुख और प्रथम साधन ठहरता है।

2. व्याकरण—व्याकरण भाषा की व्यवस्था है। व्याकरण के द्वारा शब्दो के प्रयोग नियन्त्रित होते हैं। शब्द का अर्थ सश्लिष्ट होने के बावजूद प्रयोग सापेक्ष होता है। शब्द प्रयोग मे आकर ही पद बनते हैं। मात्र शब्द और अर्थ के ज्ञान से अभिव्यक्ति नहीं होती। प्रयोग से शब्द और उसके अर्थ का ज्ञान होता है और भावाभिव्यक्ति पूर्ण होती है।

प्रत्यय आदि के सयोग से शब्द को सिद्ध रूप मिलता है। सिद्ध रूप का ही प्रयोग भाषा में होता है। शब्दो के सिद्ध रूप का प्रयोग एक सर्वमान्य व्यवस्था के अतर्गत होता है। यह व्यवस्था व्याकरण से प्राप्त होती है। इस व्यवस्था के कारण प्रयुक्त शब्दो(पदों) में बोधगम्यता आती है। अतः भाषा की प्रयोग-व्यवस्था व्याकरण के नियमाधीन है। व्याकरण सकेत ग्रह का अनिवार्य साधन है। परिनिष्ठित भाषा का व्याकरण तो होता ही है, असभ्य जनो की बोली की भी एक व्यवस्था होती है, जिसे मौखिक व्याकरण के रूप में समझा जा सकता है।

उदाहरण के लिए मौलिक, दैनिक, धोबिन आदि शब्दों को लीजिये। ये शब्द

मूल, दिन, धोबी से बनाये गये है। प्रकृति मे प्रत्यय का संयोग किया गया है। इन्हे व्याकरणिक व्यवस्था से सिद्ध पद बनाया गया है। व्याकरण के द्वारा इन शब्दों का अर्थबोध या संकेत-ग्रहण हो जाता है।

3. **उपमान**—उपमान का अर्थ है सादृश्य, समानता, मेल, बराबरी आदि। किसी नयी वस्तु का ज्ञान कराने के लिए किसी पूर्व ज्ञात वस्तु को उपस्थित कर दोनों मे सादृश्य स्थापित किया जाता है। सादृश्य मे अपरिचित वस्तु का अर्थ प्रकट हो जाता है। यह स्पष्ट है कि दृष्ट या अनुभूत वस्तु के आधार पर ही अदृष्ट या अननुभूत वस्तु का अर्थ-बोध होता है। इसके लिए सादृश्य की प्रक्रिया का प्रयोग होता है। सादृश्य-विधान ही उपमान-विधान है। तात्पर्य कि सादृश्य या उपमान के लिए पूर्व ज्ञात वस्तु का ज्ञान अपेक्षित है। गाय का अर्थ जानने वाले जब 'नील-गाय' को देखते हैं तो नीले रंग के कारण उसे नीलगाय का अर्थ देते है। जौ से परिचित व्यक्ति समानता के आधार पर जई को पहचान लेते हैं। इस प्रकार सादृश्यता अथवा उपमान के द्वारा भाषिक ज्ञान विकसित होता है तथा अर्थ-बोध विस्तृत होता है।

4. **कोश**—कोश अर्थ-ज्ञान का एक माध्यम है। कोश शब्द-भण्डार होता है। शब्दो के अर्थ का निर्देश कोश से होता है। कोश मे ऐसे सभी शब्दो का संग्रह होता है, जो प्रचलन में थे या हैं। उनके अर्थ का ज्ञान न होने पर हम कोश से उसके अर्थ से परिचित होते हैं और व्याकरण-सम्मत व्यवस्था के अन्तर्गत उसका प्रयोग करते हैं। कोशगत अर्थ निष्प्राण होते है, क्योंकि प्रयोग-सापेक्षता उनमे नही होती। 'पानी' शब्द के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ होते हैं। कोश से यह ज्ञात नही होता कि किस संदर्भ में, अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। प्रयोक्ता अपनी इच्छा और मनःस्थिति के अनुसार कोशगत शब्दो को प्रयोग द्वारा अर्थ देता है। अत कोश शब्दों के विविध सबंधो को अर्थ प्रदान करता है। जैसे निर्जर शब्द का अर्थ हमे कोश से ही मालूम होता है—'अमरा निर्जरा देवा.।'

5. **आप्त वाक्य**—प्रामाणिक वक्ता के कथन को आप्त वाक्य कहते है। कुछ शब्दो के अर्थ का प्रत्यक्ष बोध नही होता। महापुरुषो, ऋषियो, विद्वानो आदि की वाणी के प्रमाण से, प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी, वस्तु का बोध होता है। ईश्वर, आत्मा आदि का बोध महापुरुषो की वाणी के आधार पर स्वीकार कर लिया गया है। ऋषियो के कथन को आप्त वाक्य कहते है। पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि का अर्थ आप्त वाक्य के आधार पर ही समझा और स्वीकार किया जाता है। ऋषि-मुनि, महापुरुष, विद्वान आदि का कथन विश्वास योग्य माना जाता है। ऐसे लोगो के सबध मे धारणा है कि वे विषय का ठीक ठीक वर्णन करने वाले है। इन शब्दो के अर्थ व्यवहार या प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रकट नहीं होते। इस प्रकार आप्त वाक्य का तात्पर्य ऋषियों, विद्वानों, महापुरुषो के विश्वसनीय वचन से है, जिनको हम बिना

प्रत्यक्ष बोध के स्वीकार ही कर लेते हैं।

6. **वाक्य शेष**—वाक्य शेष को प्रकरण या प्रसग भी कहा जाता है। जहाँ शब्द अनेकार्थी हो वहाँ उसके अर्थ का निर्धारण वाक्य के शेष अवयवो से ही ज्ञात हो सकता है। इसे ही वाक्य शेष कहते है। वाक्य मे प्रयुक्त होने पर प्रसंग या प्रकरण के अनुकूल अनेकार्थी शब्द के वाछित अर्थ का निर्धारण होता है। प्रसंग या प्रकरण वाक्य के शेष अवयव ही होते हैं।

मैं नमक खाता हूँ और मैंने इस घर का नमक खाया है वाक्यों मे 'नमक' शब्द भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त है। प्रथम मे सामान्य कथन द्वारा नमक खाने की बात कही गई है, जबकि दूसरे में संबद्ध परिवार द्वारा भरण-पोषण पाने की कृतज्ञता का बोध निहित है। दोनों वाक्यों मे नमक का अर्थ वाक्य के शेष अवयव से स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् वाक्य के शेष अवयव के सदर्भ से अनेकार्थी शब्दो के अर्थ का निर्धारण भी अर्थबोध का साधन है।

7. **विवृति**—विवृति का अर्थ है व्याख्या। इस व्याख्या मे विवरण की अपेक्षा होती है। अर्थ-विवरण के आधार पर शब्द के पारदर्शी और अपारदर्शी दो भेद किए गए है। पारदर्शी शब्दों के अर्थ स्वय प्रकाशित होते है, किन्तु अपारदर्शी शब्द के अर्थ विवरण और व्याख्या से ही प्रस्फुटित होते है। योजना, प्रक्रिया, आधुनिकता, मिथक आदि अपारदर्शी शब्दो से अर्थ स्वयं ही प्रकाशित नहीं होते। उनकी व्याख्या करने और विवरण देने पर ही उनका अर्थ प्रकट होता है। जैसे रीति शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अतः रीति की व्याख्या करते हुए कहा गया—'विशिष्टा पदरचना रीतिः।' अर्थात् विशिष्ट पद-रचना रीति है। इसी प्रकार विवर्तवाद, ध्वनि सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय आदि का अर्थ व्याख्या के उपरान्त ही व्यजित होता है।

8. **पद-सान्निध्य**—प्रसिद्ध पदो के सान्निध्य से बहुत-से ऐसे शब्दो के अर्थ प्रकट हो जाते है, जिनका अर्थ हम नही जानते। जैसे बाग मे आम, नारंगी, सेब, नाशपाती, आड़ू, खुबानी आदि के पेड़ है। यहाँ हम आम, नारंगी आदि के सान्निध्य से यह समझ जाते हैं कि खुबानी और आड़ू भी फल होते है। अतः जातिगत अर्थ अर्थात् फल की जाति का भाव-बोध प्राप्त हो जाता है। यह सही है कि इससे अर्थ का पूर्ण प्रकाशन नही होता, क्योंकि वस्तु का ज्ञान हमें नही होता। इसी प्रकार वेला, चमेली, गुलदाउदी, कचनार, बकुल, पारिजात कहने से यह बोध हो जाता है कि पारिजात भी कोई पुष्प-विशेष है। अतः उसकी जाति का पता चल जाता है। यहाँ अन्य पद के साहचर्य से सकेत-ग्रहण होता है।

संकेत-ग्रहण के बाधक कारण

संकेत ग्रहण करने के लिए अर्थबोध के बाधक तत्त्वों का परिहार आवश्यक

है। अर्थ-ग्रहण मे बाधा उपस्थित होने के कई कारण हो सकते है। इन्हे सकेत-ग्रहण के बाधक तत्त्व मानते है। साख्य दर्शन में अर्थ के प्रत्यक्ष अभिज्ञान मे व्यवधान उपस्थित करने वाले कारणों का उल्लेख किया गया है—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानदभिभवात् समानाभिहाराच्च।

अर्थात् अधिक दूरी, अधिक सामीप्य, ज्ञानेन्द्रियो मे पाए जानेवाले दोष, मनोगत अनवस्थान (मन की अस्थिरता), वाणीगत सूक्ष्मता (वाणी की अस्फुटता), वक्ता-श्रोता के बीच आने वाले भौतिक व्यवधान, वाणीगत उच्चस्वरता की अपेक्षा किसी अन्य अधिक तीव्र स्वर द्वारा व्याघात तथा समान वस्तु के मिश्रण से प्रत्यक्ष ज्ञान मे बाधाएँ उपस्थित होती है।

1. **अधिक दूरी**—वक्ता और श्रोता के बीच अधिक दूरी होने पर शब्द-ध्वनि का प्रेषण और श्रवण प्रयोजन के अनुसार नही हो पाता। अत: अधिक दूरी से सकेत-ग्रहण में व्यवधान उपस्थित हो जाता है।

2 **अधिक सामीप्य**—अधिक निकटता से उच्चरित शब्द का अर्थबोध अपेक्षित रूप से नही हो पाता। कान मे मुँह सटाकर बोलने से शब्द-ध्वनि का यथोचित ग्रहण नही हो पाता। इस कारण अपेक्षित अर्थबोध नही हो पाता। अति दूरी और अति सामीप्य से सकेत-ग्रहण मे बाधा होने स ऐसा कहा जा सकता है कि अर्थबोध के लिए अपेक्षित दूरी ही होनी चाहिए। ऐसा न हो कि वक्ता-श्रोता अत्यन्त निकट हो या अत्यन्त दूर हो। इन दोनो से प्रेषण और ग्रहण मे व्यवधान आ जाता है।

3 **ऐन्द्रिक दोष**—वक्ता और श्रोता की वागिन्द्रियों और श्रवणेन्द्रियों मे दोष होने पर प्रेषण और ग्रहण उचित रीति स नही होता या एकदम नही हो पाता। अत. इन्द्रियो की सदोषता से भी संकेत-ग्रहण मे व्यवधान होता है। 'आन्हर गुरू बहिर चेला, मांगे गुरतले आवे ढेला' उक्ति मे इन्द्रियो की सदोषता से उत्पन्न अर्थबोध के व्यवधान का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

4 **मनोगत अवस्थान**—मनोगत अवस्थान का अर्थ है मन की अस्थिरता। मन अस्थिर या चचल हो तो सुने गए शब्दो के संकेत की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इसलिए अर्थबोध के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है। अतः मानसिक चंचलता की अवस्था मे सकेत-ग्रहण नही हो पाता।

5 **वाणी की सूक्ष्मता**—जहाँ वाणी इतनी सूक्ष्म हो कि वह पूरी तरह स्फुट होकर श्रोता के कान तक न पहुँच सके, तो अर्थ-ग्रहण नही हो पाता।

6. **भौतिक व्यवधान**—जब कोई भौतिक बाधा जैसे दीवाल के भौतिक व्यवधान से वक्ता की ध्वनि श्रोता को सुनाई नही पड़ती। अत: भौतिक व्यवधान से सकेत-ग्रहण में बाधा होती है।

7 **तीव्र स्वर का व्याघात**—जब किसी अन्य उच्च स्वर से वक्ता की ध्वनि

दब जाती है तो अर्थ का संकेत-ग्रहण नही हो पाता ।

8. समानाभिहार—जब कोई समान ध्वनियाँ एक में मिल जाती है तो कोई भी ध्वनि स्पष्ट सुनाई नही पडती । इससे अर्थ का ज्ञान नही हो पाता ।

उपर्युक्त बाधाओ के मूल मे वक्ता या श्रोता की असमर्थता का ही उल्लेख किया गया है । अर्थ-ग्रहण मे श्रोता की ग्राहकता ही महत्त्वपूर्ण है । अति दूरता अति सामीप्य, ऐन्द्रिकघात, सूक्ष्मता, अभिभव तथा व्यवधान आदि के द्वारा इच्छित शब्द-ध्वनि श्रोता तक पहुँच नही पाती । जब ध्वनि ही नही पहुँचती तो अर्थ-ग्रहण का कोई प्रश्न नही उठता ।

कुछ लोग सामानाधिकरण्य के अभाव को भी अर्थबोध मे बाधक मानते है । श्रोता और वक्ता के भाषिक सामानाधिकरण्य, बौधिक सामानाधिकरण्य और भावात्मक सामानाधिकरण्य को अर्थबोध के लिए आवश्यक मानते है । यह सही है कि भाषिक, बौधिक और भावात्मक समानता होने पर ही वक्ता के कथन का अर्थ श्रोता ग्रहण कर पाता है।

भ्रामक अर्थ और संकेतगत विस्मृति को अर्थबोध का बाधक कहा गया है । इसी तरह सस्कारजन्य दृढ़ता के अभाव से संकेत-ग्रहण नही हो पाता । इसके लिए कहा गया है कि अर्थ का जो संस्कार मन मे बद्धमूल है उसकी आवृत्ति होनी चाहिए—'आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां बोधादपि गरीयसी ।' अर्थात् शास्त्रो के बोध से भी अधिक महत्त्व आवृत्ति का है ।

अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्धारण के साधन

कोश मे एक शब्द के एकाधिक अर्थ दिए होते हैं । एक शब्द के एकाधिक अर्थ होने को अनेकार्थता कहते हैं । कुछ विद्वान यह मानते है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होने की बात भ्रांति है । प्रयोग के समय एक ही अर्थ प्रासगिक होता है । यमक और श्लेष अलंकार मे एक शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते है । प्रसग-भेद से ही भिन्न-भिन्न अर्थो का नियोजन-निर्धारण होता है । अर्थात् प्रसग-भेद से ही अर्थ-भेद होता है ।

वस्तुतः प्रत्येक शब्द का एक केन्द्रीय अर्थ होता है । इसी केन्द्रीय अर्थ के पार्श्व मे अन्य अर्थ उपजते हैं । कभी-कभी अन्य अर्थ केन्द्रीय अर्थ से सर्वथा भिन्न हो जाते है, जिसे अपवाद ही माना जाना चाहिए । सभव है, प्रारंभ मे ये अपवाद न हो । अर्थात् केन्द्रीय अर्थ के समकक्ष ही ये अर्थ हों, किन्तु कालान्तर में इनके बोध मे आदेश आ गया हो । इतना सही है कि अनेकार्थी शब्दो के अन्य अर्थ विकसित होने के कारणों को जानना बडा कठिन कार्य है ।

अनेकार्थ शब्दो के अर्थ-निर्धारण की शक्ति को प्रासंगिक अर्थ के प्रतिपादन मे केन्द्रित करने के लिए प्रतिबन्धों का उल्लेख आचार्यों ने किया है उनका उद्देश्य

यह रहा है कि अप्रासंगिक अर्थों की व्यंजना के स्थलों में अनेकार्थी शब्दों की शक्ति न व्यय हो। भर्तृहरि ने कहा है--

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता,
> अर्थः प्रकरणम् लिङ्गम् शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
> सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्तिः स्वरादय,
> शब्दार्थस्यनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्द-सान्निध्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, शब्दार्थ का अनवच्छेद, विशेष स्मृति अनेकार्थता को बाधित करने वाले निर्णायक साधन हैं। अनेकार्थ-निर्णय के और भी साधन हैं, किन्तु इन्हें दिशा-निर्देशक साधन माना जा सकता है।

1. **संयोग**--अनेकार्थ शब्द के किसी एक अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। तात्पर्य कि साथ आने वाले किसी अन्य शब्द के संयोग से अनेकार्थ शब्द का एक अर्थ प्रसंगानुकूल निर्धारित होता है। यथा, 'शंखचक्रयुत हरि कहे, होत विष्णु को ज्ञान।' हरि के सूर्य, सिंह, वानर, विष्णु आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ शंख-चक्र के संयोग से विष्णु का ही ज्ञान होता है।

2. **विप्रयोग**--विप्रयोग या वियोग भी अनेकार्थता को बाधित करने का कारण होता है। यहां प्रसिद्ध वस्तु के अभाव के कारण एक अर्थ निर्धारित होता है। जैसे, 'सोहत नाग न मद बिना, तान बिना नहि राग।' यहाँ नाग का अर्थ हाथी और साँप दोनों है। किन्तु मद के वियोग के कारण हाथी अर्थ ही यहाँ निर्धारित होगा। इसी प्रकार राग का अर्थ संगीत का राग ही नियत होगा।

3. **साहचर्य**--जहाँ किसी सहचर या साथ रहनेवाले की प्रसिद्ध सत्ता से अर्थ-निर्णय हो, वहाँ साहचर्य होता है। साहचर्य और संयोग में अंतर यह है कि साहचर्य में शब्दों का एकत्र प्रयोग अनिवार्य होता है। साहचर्य में प्रकृतिगत अनुकूलता आवश्यक होती है। जैसे बेनीमाधव। बेनी और माधव अनेकार्थी हैं, किन्तु दोनों के साहचर्य से तीर्थराज प्रयाग (त्रिवेणी) में स्थित विष्णु अर्थ यहाँ होगा।

4. **विरोध**--जहाँ किसी प्रसिद्ध असंगति के कारण अर्थ का निर्णय होता है, वहाँ विरोध है। जैसे 'राहुग्रस्यो द्विजराज।' यहाँ राहु के विरोध के कारण द्विजराज का अर्थ चन्द्रमा होगा। इसी प्रकार 'लुको नाग लखि मोरहिं आवत।' यहाँ भी मोर के विरोध के कारण नाग का अर्थ सर्प ही व्यक्त होता है।

5. **अर्थ**--जहाँ प्रयोजन अनेकार्थ में एकार्थ का निश्चय कराता है, वहाँ अर्थ है। यहाँ प्रयोजन से अनेकार्थता बाधित होती है और एक अर्थ व्यजित होता है। जैसे, 'शिवा स्वास्थ्य रक्षा करें, शिवा हरे सब शूल।' यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा और शूल-निवारण के प्रयोजन से शिवा का अर्थ हर्रे (हरीतकी) होगा, भावानी या पार्वती नहीं

6. **प्रकरण**—जहाँ किसी प्रसंगवश वक्ता और श्रोता की समझदारी से किसी अर्थ का निर्णय हो, वहाँ प्रकरण समझा जाता है। जैसे 'सैंधव लाओ।' यहाँ प्रसग के अनुसार सैंधव का अर्थ घोडा या नमक होगा। 'वृक्ष जानिए दल झरे, दल साजे नृप जानि' मे दल का अर्थ वृक्ष के सदर्भ से पत्ता और राजा के प्रसंग से सैन्य-समूह होगा।

7 **लिंग**—नानार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ मे वर्तमान और अन्य अर्थ मे अवर्तमान किसी विशेष धर्म, चिह्न या लक्षण का नाम लिंग है। यहाँ लिंग से तात्पर्य व्याकरणिक चिह्नो से नही है। जैसे 'पयोधर मे बिजली का खेल।' यहाँ बिजली का खेल बादल मे होने से स्तन अर्थ बाधित हो जाता है। 'बिजली का खेल दिखाना' इस धर्म, लिंग या चिह्न से बादल अर्थ ही व्यजित होता है।

8. **अन्य सन्निधि**—अनेकार्थ शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले भिन्नार्थक शब्द की समीपता अन्य सन्निधि है।

वृन्दावन के कुजन मे रास रचि,
स्याम अरु स्यामा की धूम मची।

श्यामा अनेकार्थी शब्द है, किन्तु कुज, रास, श्याम और वृन्दावन के सान्निध्य से 'स्यामा' का अर्थ राधा होगा, कोयल या कालिका नहीं। सन्निधि गत बाधा से यहाँ अर्थ नियत्रित हुआ है।

9. **सामर्थ्य**—जहाँ कार्य-सम्पादन में किसी पदार्थ की शक्ति से शब्द के अनेक अर्थ मे से एक अर्थ का निश्चय हो, वहाँ सामर्थ्य है। जैसे 'व्याल वृक्ष तोर्‌यो।' यहाँ वृक्ष तोडने की शक्ति हाथी मे होने से 'व्याल' का हाथी अर्थ नियंत्रित होता है।

10. **औचित्य**—प्रयोगगत योग्यता को औचित्य कहते हैं। यहाँ पदार्थ की योग्यता से एकार्थ का निर्णय होता है। जैसे 'हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकहिं साथ।' यहाँ चढ़ने की योग्यता बन्दर मे और उड़ने की योग्यता पक्षी में होने से 'हरि' का अर्थ बन्दर और 'द्विज' का अर्थ पक्षी नियत होगा।

11. **देश**—जहाँ देश की विशेषता के प्रभाव से अनेकार्थ का एक अर्थ निश्चित हो, वहाँ देश है। जैसे 'खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।' यहाँ 'ब्रजखोरी' (देश) की विशेषता के प्रभाव से 'हरि' का अर्थ कृष्ण लिया जाएगा।

12. **काल**—जहाँ समय के कारण अर्थ का निर्धारण हो, वहाँ काल समझा जाता है। जैसे 'कुवलय निसि फूल्यो।' कुवलय का अर्थ यहाँ निसि (काल) के प्रभाव से कोकाबेलि ग्रहण किया जाएगा, कमल नही, क्योकि कमल रात में नही फूलता।

13 **व्यक्ति**—जहाँ व्यक्ति अर्थात् स्त्री-पुरुष आदि के कारण (लिंग के कारण) अर्थ का निर्णय हो वहाँ व्यक्ति है। जैसे एरी मेरी बीर जैसे-तैसे इन आँखिन तें

कढ़िगो अबीर पै अहीर तौ कढ़े नही।' इस वाक्य मे 'मेरी' स्त्रीवाची है। अत: वीर का अर्थ भाई, सखी, पति, योद्धा आदि मे से केवल सखी का ही बोध होता है

14 स्वर—स्वर को काकु भी कहते हैं। इसमे सुर-क्रम नियोजित हो जाने से अनेकार्थ का एक अर्थ प्रकट हो जाता है। विश्वनाथ स्वर को अर्थ-निर्णय का साधन नही मानते, क्योकि वेद में ही स्वर के आधार पर अर्थ-निर्णय होता है—'स्वरस्तु वेद एव विशेष प्रतीतिकृत्।' किन्तु लौकिक भाषा में भी स्वर के आरोह-अवरोह से अर्थ का निर्णय होता है। जैसे 'वह आ गया' से आश्चर्य, क्रोध, निराशा, घृणा आदि अनेक भावो की व्यजना स्वर के आरोह-अवरोह की जाती है।

वाक्यपदीय के व्याख्याकार पुण्यराज ने कहा है कि जिन साधनो का उल्लेख यहाँ किया गया, केवल वे ही अर्थ-निर्णय के साधन नही है। ये साधन तो मात्र दिशा का निर्देश करते हैं—'एतच्च शब्दार्थनिर्णयोपायाना दिङ्मात्र प्रदर्शनम् बोधव्यम्।' अर्थ-निर्णय के अन्य साधनो की संभावना का संकेत इस कथन से मिलता है।

एकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय के साधन

एकार्थ शब्दों में एक ही अर्थ निहित होता है। अत: उसके निर्णय की बात असगत प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव मे ऐसा है नही। आर्थी व्यंजना मे शब्द के अर्थ के अतिरिक्त व्यग्य अर्थ भी निहित होता है। इसी व्यग्यार्थ की प्रतीति के लिए एकार्थक शब्दों का अर्थ नियन्त्रित या बाधित किया जाता है। इसमे अर्थ किसी शब्द-विशेष पर अवलबित नही होता, बल्कि व्यंजना से सूचित व्यग्य अर्थ पर आधारित होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने एकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय के निम्नांकित साधन बताए है—

> वक्तृबोधव्य वाक्यानामन्य संनिधि वाच्ययोः।
> प्रस्ताव देश कालानां काको चेष्टादिकस्य च।
> वैशिष्ट्यादन्यमर्थ या बोधयत् सार्थसभवा।[1]

अर्थात् वक्ता, श्रोता, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, काकु, चेष्टा से अर्थ का बोध होता है।

1. **वक्ता**—कवि-कल्पित व्यक्ति के कथन की विशेषता से जहाँ व्यग्यार्थ की प्रतीति हो। जैसे 'सध्या हो गई' से वक्ता के अनुसार अर्थबोध होता है।

> जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघ की राति।
> तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति।

1. साहित्य-दर्पण, 2/16

कवि-कल्पित दूती नायक से निवेदन करती है कि जिस उशीर की रावटी मे जेठ की दुपहरी भी माघ की रात सी शीतल लगती है, उसमे भी नायिका उबल-सी रही है। व्यंग्यार्थ है कि नायिका की दशा पर तरस खाओ, निष्ठुर न बनो। यहाँ वक्ता से तात्पर्य कहनेवाले से है।

2. **बोद्धा**—बोद्धा का तात्पर्य है श्रोता। यहाँ श्रोता की विशिष्टता से व्यंग्यार्थ का बोध होता है। जैसे 'सागर कूल मीन तड़पत है, हुलसि होत जल पीन।' यह ज्ञात होने पर कि यह गोपिका की उक्ति है, यहाँ व्यग्यार्थ होता है कि कृष्ण के पास रहकर भी हम मछली की तरह तड़प रही है।

3. **वाक्य**— यहाँ वाक्य की विशेषता से व्यग्यार्थ प्रकट होता है। जैसे—

जेहि विधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न वृथा हमार।

यहाँ शब्द मे निहित वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ होता है कि मै तुम्हे रूप नही दूँगा, क्योकि इससे तुम्हारा अहित होगा।

4. **अन्य सन्निधि**—अर्थात् जहाँ एक कहे, दूसरा सुने और तीसरा कोई अन्य अर्थ समझे। जैसे 'पुनि आउब एहि बिरिया काली।' यहाँ व्यंग्यार्थ है कि पुनः तुम यहाँ आना, हम भी कल इसी समय आयेगी।

5 **प्रकरण**—प्रकरण अर्थ-भेद का प्रमुख कारण है। 'साँझ हो आई' से प्रसगानुसार अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

6. **देश**—जहाँ स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रकट हो। जैसे 'घंटी बज गई' से स्थान की विशेषता से अर्थ नियन्त्रित होता है।

7. **काल**—समय की विशेषता से अर्थ नियन्त्रण। जैसे—

कहाँ जायेगे प्राण ये लेकर इतना ताप।
प्रिय के फिरने पर इन्हे फिरना होगा आप।

काल वैशिष्ट्य से यहाँ वेदनाधिक्य का अर्थ व्यंजित होता है।

8. **वाच्य**—जहाँ वक्तव्य की विशिष्टता से अर्थबोध हो। जैसे—

अखिल यौवन के रग उभार।
हड्डियों के हिलते कंकाल, कचों के चिकने काले व्याल,
केंचुली काँस सेवार, गूँजते हैं सबके दिन चार।

यहाँ वाच्य की विशिष्टता से संसार की असारता का व्यंग्यार्थ प्रकट है।

9. **काकु**—गले से निकाली गई विशेष ध्वनि काकु है। कठ की विभिन्नता से जहाँ अर्थ का नियन्त्रण किया जाय, वहाँ काकु है। जैसे, 'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू।' कंठ की विभिन्नता से कथन करने पर अर्थ होगा कि मैं ही सुकुमार नही हूँ, आप भी हैं। आप बन के योग्य हैं तो मै भी बन के योग्य। यह व्यग्यार्थ है।

10. **चेष्टा**—चेष्टा अर्थात् इंगित-हाव-भाव आदि के द्वारा जहाँ व्यंग्य लक्षित हो। जैसे—

कंटक काढत लाल के चंचल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि।

के द्वारा प्रेम की व्यंजना होती है।

अर्थ-परिवर्तन

शब्द जब कोश की कारा से निकलते है तो प्रचलित होते हैं। प्रचलन मे आते ही उनमें अर्थ-परिवर्तन की संभावनाएँ प्रारभ हो जाती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध क्रमशः वक्ता-श्रोता पर आधारित है। भाषा-व्यापार आदान-प्रदान-मूलक होने से श्रोता की मन स्थिति, रुचि, सामर्थ्य आदि पर अर्थ-बोध निर्भर है। अर्थ-चक्र की प्रक्रिया मे वक्ता और श्रोता के साथ ही श्रोता के संस्कार की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वक्ता शब्द व्यक्त करता है, श्रोता सुनता है और अपने संस्कार के अनुरूप अर्थग्रहण करता है।

प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी वस्तु का प्रतीक होता है। शब्द के प्रतीकत्व से ही वस्तु का संकेत होता है। किन्तु शब्द और वस्तु का सम्बन्ध जन्मजात नही होता। अभिधान ग्रहण यादृच्छिक होता है। सकेतित अर्थ ही मूल अर्थ होता है, जो व्युत्पत्ति के आधार पर टिका है। किन्तु काल और देश की विभिन्नता के कारण शब्द व्युत्पत्तिपरक मूल अर्थ से भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेते है। कभी-कभी अर्थ इतना बदल जाता है कि व्युत्पत्तिगत अर्थ से उसकी कोई सगति नही दिखलाई पडती। इसी परिस्थिति को ध्यान में रखकर साहित्यदर्पणकार ने निर्णय दिया है—'अन्यद्धि शब्दाना व्युत्पत्ति निमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।' अर्थात् शब्दो का अर्थ सदा व्युत्पत्ति के आधार पर ही नही होता, वह मुख्यत. उनकी प्रवृत्ति के आधार पर होता है।[1] तात्पर्य कि अर्थ का नियमन व्युत्पत्ति से ही नही होता, लोक व्यवहार से होता है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से लोक-प्रचलित अर्थ के भिन्न होने पर इस व्युत्पत्तिगत अर्थ को भूल जाते है। ब्रेआल (ब्रील) का कथन है कि शब्द के एक विशेष अर्थ मे रूढ हो जाने पर वह शीघ्र ही अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से मुक्त हो लेता है।[2] वास्तव मे प्रचलित अर्थ के बोध मे व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बहुत सहायक नही होता।

सी० डी० बक ने भारोपीय भाषाओं के पर्यायवाची शब्दकोश की भूमिका मे लिखा है कि 'अर्थ-परिवर्तन के मूल मे निहित भाव-सम्पर्क इतने मिश्रित होते

---

1. साहित्यदर्पण, 2/5
2. सेमेन्टिक्स—ब्रेआल, पृ० 172

है कि अर्थ-परिवर्तनो का कठोर वर्गीकरण संभव नही है। बहुत से अर्थ-परिवर्तनो पर बिभिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक अर्थ मे प्रत्येक शब्द का अपना एक अर्थगत इतिहास होता है।'[1] अर्थ का इतिहास वक्ता-श्रोता के मनोवेग, चिन्तन और प्रसंग से ही निर्मित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थ-परिवर्तन मे व्यजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। लक्षण का आधार मिलने पर ही अर्थ-विकास सभव हो पाता है।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

कहा गया है कि शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के अतिरिक्त भी एक लोक-प्रचलित अर्थ होता है जो विभिन्न अवस्थाओ से गुजर कर रूढ़ हो जाता है। अर्थ-विकास मन्द गति से होता रहता है। समय बीतने पर उसके परिवर्तित अर्थ सामने आते है। ब्रेआल ने अर्थ-परिवर्तन की निम्नलिखित दिशाओ का निर्देश दिया है—

1. अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning)
2. अर्थ-संकोच (Contraction of meaning)
3. अर्थादेश (Transference of meaning)

डॉ० हरदेव बाहरी के अनुसार 'आरंभ मे किसी शब्द का अर्थ एक ही होता है, किन्तु धीरे-धीरे उसके प्रयोगो मे इतनी विविधता और विभिन्नता आ जाती है कि उससे सम्बद्ध अर्थो का एक परिवार-सा जुड़ जाता है। इस प्रक्रिया को शब्द और अर्थ का सम्बन्धान्तरण कहा जाता है।'[2] उन्होंने शब्दार्थ सम्बन्धान्तरण के कई भेद बताये हैं—अर्थ-संकोच, अर्थ-प्रसार, उत्कर्ष, अपकर्ष, मूर्तीकरण, अमूर्तीकरण, अंगागी अन्तरण, सादृश्यान्तरण, सहान्तरण, विकासमान अन्तरण, व्याकरण-सम्मत अन्तरण इत्यादि।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने डॉ० बाहरी द्वारा बताये गये सम्बन्धान्तरण के भेदो की परीक्षा कर यह निष्कर्ष दिया है कि 'वस्तुतः यह समस्त भेद तीन भेदों के अतर्गत ही समाहित होते जाते हैं—1. अर्थ-संकोच, 2 अर्थ-विस्तार, 3. सम्बन्धान्तरण।'[3]

1. अर्थ-विस्तार—शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है, किन्तु वह सदा-सर्वदा एक नही रहता। जब शब्दार्थ सीमित क्षेत्र से निकलकर विस्तार पा जाता है तो उसे अर्थ-विस्तार कहते है। तात्पर्य कि प्राचीन अर्थ की तुलना मे नये अर्थ

---

1. भूमिका, पृ० VI
2. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 162
3. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 91

का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तो उसे अर्थ विस्तार कहते है प्रयोग की विविधता और विभिन्नता के कारण जब अर्थ एक सीमित परिवेश या संदर्भ से टूटकर विविध संदर्भ या परिवेश ग्रहण कर लेता है तो उसे अर्थ-विस्तार कहते हैं।

डॉ० हरदेव बाहरी के मत से 'शब्द मे किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना अर्थ-विस्तार करना प्रत्येक विकासशील भाषा का स्वभाव है और हिन्दी का क्षेत्र तो इतना विस्तृत है कि उसके लिए यह प्रक्रिया स्वाभाविक और आवश्यक है।'[1] टकर महोदय अर्थ-विस्तार को अर्थ-विकास की स्वाभाविक क्रिया नहीं मानते और उसे स्वीकार नही करते। उनके अनुसार अर्थ-विस्तार वास्तव मे अर्थादेश है। टकर के विचार को अमान्य कर दिया गया है, क्योंकि अर्थ-विस्तार मूल अर्थ का विशिष्ट और सीमित अर्थ का सामान्यीकृत और विस्तृत अर्थ होता है।

उदाहरण के लिए 'प्रवीण' शब्द को लीजिये। वीणा बजाने मे कुशल व्यक्ति को प्रवीण कहा जाता था—'प्रकृष्टो वीणायाम्।' बाद मे वीणा से प्रवीण का सम्बन्ध टूट गया, क्योंकि प्रवीण के साथ वीणा का उल्लेख भी आवश्यक हो गया —'वीणायां प्रवीणः।' अब तो उसका अर्थ इतना विस्तृत हो चुका है कि वीणा तोड़ने से लेकर झाड़ू लगाने तक के कार्य मे सुदक्ष व्यक्ति को प्रवीण कहा जाने लगा है।

कुश लाने मे निपुण व्यक्ति को कुशल कहा जाता था—'कुशानलाति इति कुशलः।' जो कुश लाने मे चतुर हो वह कुशल। इस कार्य में चतुराई इसलिए कि अन्य तृणो से अलग उसकी पहचान बना पाना और इस सावधानी से कुशोत्पाटन करना कि कुश के नुकीले अग्रभाग से उँगलियाँ छिद न जायँ। कुश लानेवाला कुशल अब चतुर, निष्णात का पर्यायवाची हो गया है। कुश का अग्रभाग तीव्र एव तीक्ष्ण होने से ही बुद्धि को कुश की अग्रता से विशेषित किया जाता है—कुशाग्र बुद्धि।

तैल का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है तिल का रस। प्रारंभ मे तिल के तेल को तैल कहा गया। तैल से तेल हो गया। अब सरसों, नारियल, मूँगफली, अलसी, बर्रे, साँप, मछली, यहाँ तक कि मिट्टी के तेल का भी वाचक यह शब्द हो गया है।

सूत्रपात का अर्थ है नापने के लिए डोरी डालना। आज भी मकान बनाने का आरंभ करते समय सूत की डोरी डालकर ही नापते हैं। अब सूत्रपात का अर्थ आरंभ हो गया है, जो प्रत्येक कार्य के लिए प्रयुक्त होता है।

गवेषणा का अर्थ है खोयी हुई गाय को खोजना। आज खोज के अर्थ मे इसका विकास हो गया है।

गोष्ठी की व्युत्पत्ति गो तथा स्थ के योग से है। अर्थ है जहाँ गाये रहती है—'गावतिष्ठन्त्यत्रइति।' आज कवियो, साहित्यकारों की भी गोष्ठियाँ होती हैं।

---

1 हिन्दी: उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 161

अभ्यास का प्रयोग वाण फेंकने के लिए प्रयोग में आता था। अब प्रत्येक कार्य के लिए किया गया पूर्व प्रयत्न अभ्यास हो गया है। तटस्थ वह है जो तट पर स्थित हो। विवाद से अलग रहने वाला भी तटस्थ हो गया है। स्थाली मिट्टी के बर्तन को कहते थे। अब धातु के एक विशेष पात्र को थाली कहते हैं। निपुण पहले पुण्य करने वाले को ही कहते थे। अब चोरी तक में सिद्धहस्त को निपुण माना जाता है। गोहार का गायों के चोरी जाने पर की गयी पुकार का अर्थ था। अब हर पुकार गोहार है।

डालडा पहले हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड द्वारा निर्मित एक वनस्पति घी को कहा जाता था। अब यह प्रत्येक वनस्पति घी का बोधक हो गया है। हलवाई पहले हलवा बनाने या बेचने वाले को कहा जाता था। अब प्रत्येक मिठाई बनाने-बेचने वाले की संज्ञा हलवाई है।

पंडित शब्द विद्वान् के लिए प्रचलित था। अब निरक्षर ब्राह्मण भी पंडित कहा जाता है। हरा होने से पालक, चौराई को सब्जी कहते थे। अब आलू भी सब्जी है। अतिथि वह है जिसके आगमन की तिथि निर्धारित न हो—'न तिथिर्यस्य सोऽतिथि:।' आज पूर्व सूचना देकर आने वाले महानुभाव भी अतिथि होते हैं। गँवार शब्द का पूर्वरूप है— ग्रामदारक:। अर्थात् गाँव में रहने वाला। आज प्रत्येक असभ्य और मूर्ख गँवार हो गया है। स्याह (काली) होने से स्याही। अब नीली, लाल रोशनाई भी स्याही कही जाती है। महाराज तो शासक होते थे। अब रसोइया भी महाराज कहा जाता है।

मिस्र के लोग पेपीरस नाम के पौधे से कागज बनाते थे। पेपीरस के कारण 'पेपर' नाम प्रचलित हुआ। बाइबलौस (Byblos) नगर से कागज का निर्यात होने से उस नगर के नाम पर कागज को 'बाइबलौस' कहने लगे। 'बाइबलौस' अर्थात् कागज पर लिखी छोटी किताब को यूनानियों ने 'बिबलिओन' (Biblion) कहना शुरू किया। ईसा की मृत्यु के 400 साल बाद उनके धर्म और जीवन पर लिखित पुस्तक का नाम बाइबिल पड़ा। बिबलिओग्राफी में आज भी पुस्तक मात्र का अर्थ इसमें सुरक्षित है।

अंग्रेजी क्लाएट (Client) का अर्थ आज्ञाकारी सेवक, दास, नौकर था। आज वकील, डाक्टर, व्यापारी सबके क्लाएंट हैं।

महीने के पहले दिन को कलैण्ड्स कहते हैं। जिस बही पर पहली तारीख कलैण्ड्स (Kalends) को सूद का हिसाब दर्ज करते थे उसे कलैण्डेरियम् (Calenderium) कहा जाता था। अब कलैण्डर महीने के प्रतिदिन का द्योतक हो गया है।

पहले Virtue का अर्थ पुरुषोचित गुण था। अब वह स्त्री-पुरुष सबके गुणों का बोधक हो गया है

लेडी (Lady) का मूल अर्थ रोटी बनाने वाली थी। अब स्त्री मात्र के अर्थ मे लेडी शब्द प्रचलित है।

आलंकारिक प्रयोगो से भी शब्द के अर्थ मे विस्तार होता है। लाठी (सहारा), काँटा (बाधा), चोला (शरीर), घट (शरीर) के अर्थ मे आलंकारिक प्रयोग से ही विकास हुआ है। जयचन्द (देशद्रोही), विभीषण (घर का भेदिया), महाभारत (युद्ध), लंकाकाण्ड (आगजनी), मजनू (दुर्बल और दिलफेंक), रुस्तम (वीर), कर्ण (दानी), चाणक्य (कूटनीतिज्ञ, बुद्धिमान) आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाओ को जातिवाचक बनाकर अर्थ को विस्तार देने की परम्परा है। इसी तरह देवताओं के नाम सामान्य व्यक्तियों के नाम बना देने से भी अर्थ विस्तृत होता है। जैसे, लक्ष्मी, मुरलीधर, गोबर्धन, शंकर, राधा, कमला आदि।

फारसी और अँगरेजी से ग्रहण किये गये कुछ शब्दों के अर्थ मे भी विस्तार आया है। जैसे, जीन (गद्दी) का अर्थ मोटा कपड़ा हो गया है। इसी प्रकार शेखचिल्ली, लालबुझक्कड़, भामाशाह आदि नामों का भी अर्थ विकसित हो गया है।

अर्थ-संकोच—प्राचीन अर्थ की तुलना में जब नये अर्थ का क्षेत्र यदि सीमित या संकुचित हो जाय तो इस परिवर्तन को अर्थ संकोच कहा जाता है। जब शब्द का विस्तृत अर्थ प्रचलन मे सीमित अर्थ का वाचक हो जाय तो अर्थ-संकोच होता है।

ब्रेआल (ब्रील) का कथन है कि 'जैसे-जैसे किसी जाति का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे उसके दृष्टिकोण मे विशेषता आती जाती है। परिणामत. अर्थ-संकोचात्मक औद्भूति दिखाई पड़ने लगती है।'

डॉ० हरदेव बाहरी कहते हैं कि शब्दों के निरुक्तार्थ या यौगिक अर्थ व्यापक होते है। अर्थात् उस शब्द द्वारा द्योतित गुण या व्यापार अन्य वस्तुओ मे पाया जाता है, किन्तु संभवत शब्द की सृष्टि के दिन से ही उसका सम्बन्ध वस्तु-विशेष या व्यापार-विशेष से जुड़ा रहता है।'[1]

'मृग' का मूल अर्थ पशु है और इसका प्रयोग सभी प्रकार के पशुओ के लिए होता था। मृगया और मृगराज मे यह अर्थ आज भी सुरक्षित है। किन्तु आज इसका प्रयोग पशु-विशेष—हरिण—के लिए होने लगा है।

'सिंह' शब्द हिंस से निकला है। हिंस का अर्थ है पीड़ा देना। जो पीड़ा दे उन सबके लिए सिंह शब्द का व्यवहार होता था, किन्तु आज वह केवल शेर का वाचक शब्द रह गया है।

जलज का अर्थ है जल मे उत्पन्न। मछली, काई, सेवार, कमल आदि जल से उत्पन्न होने से जलज कहे जाते थे। आज उसका अर्थ कमल मे सीमित हो गया

1 हिन्दी : उद्भव विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी. पृ० 161

है। पंकज की भी यही गति है। कमल के अर्थ मे पकज भी सीमित हो गया है।

कुंजर का अर्थ है जो कुज मे चलता है। कुज में चलने वाले सभी पशुओ के स्थान पर यह हाथी का वाचक हो गया है। मोदक का अर्थ है मोद अर्थात् प्रसन्नता देने वाला। अब यह केवल लड्डू के अर्थ मे सकुचित हो गया है। विद्यार्थी विद्या-कामियों का प्रतीक न रहकर अब छात्र के अर्थ मे प्रचलित है। सर्प शब्द 'सृप' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है रेंगना। अब यह साँप नामक विशेष कीड़े के लिए प्रयोग मे आता है। सभा मे बैठने वाले को सभ्य कहा जाता था। अब यह शिष्ट के लिए रूढ़ हो गया है। पर्वत पोरियो वाला या गाँठ वाले को कहते थे। अब पहाड़ मे इसका अर्थ सकुचित हो गया है। किसी भी खिली हुई वस्तु को पुष्प कहा जाता था। अब यह फूल का वाचक हो गया है। नख का मूलार्थ खोदना था, जो अब नाखून के अर्थ में रूढ़ हो गया है। कुछ और उदाहरण देखिये—

घृत (घृ धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ सीचना है। पानी के लिए भी इसका प्रयोग होता था)—घी

पावक (पवित्र करने वाला)—अग्नि

भार्या (भरणीया इति जिसका भरण-पोषण किया जाय)—पत्नी

धान्य (धन से सम्बद्ध) —अन्न, धान

रदन (फाड़ने वाला)—दाँत

जगत् (खूब चलने वाला)—संसार

धेनु (जो दूध दे)—गाय

दूल्हा (जो दुर्लभ हो)—वर

तृण (तृ धातु से निष्पन्न, अर्थ है चुभना) —घास

मदिर (भवन मात्र के लिए प्रयुक्त)—देवालय

मुग्ध—(मूढ, मूर्ख)—अच्छाई से प्रभावित होना

सब्जी (सभी हरी वस्तुओ के लिए)—तरकारी

ईश्वर (ऐश्वर्यवाला)—परमात्मा

मधुर—माहुर

पायजन (Poison) का अर्थ पेय पदार्थ या—जहर

मैगजिन (Magazine) का मूल अर्थ भण्डार था—पत्रिका

सरकस (Circus) का आकार गोल होने का अर्थ—सरकस

भाषा के विकास के साथ ही अर्थ-संकुचन की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। अर्थ-संकोच के निम्न प्रकार बताये गये हैं—

(क) उपसर्ग—उपसर्ग शब्दो के साथ जुडकर उनके अर्थ को सीमित कर देते है। जैसे,

हृ (ले जाना)—हार प्रहार, सहार विहार उपहार समाहार आहार

आदि।

चर् (चलना)—आचार, विचार, प्रचार, संचार, उपचार।

सर् (सरकना)—सार, प्रसार, अभिसार।

भू (होना)—भव, भाव, प्रभाव, भव्य, भवन, अनुभव, संभव आदि।

मन्—मन, मनन, मान आदि।

(ख) **प्रत्यय**—प्रत्यय के योग से भी अर्थ-संकोच होता है।

कार—जानकार, सलाहकार।

वान—हाथीवान, पहलवान, गाड़ीवान आदि।

दान—चायदान, उगलदान, आदि।

(ग) **समास**—समास भी अर्थ-संकोच के कारण होते हैं। जैसे—

नीलाम्बर (नीला वस्त्र धारण करने वाला)—बलराम

पीताम्बर (पीला वस्त्र धारण करने वाला)—विष्णु, कृष्ण, राम।

गिरिधारी (पर्वत धारण करने वाला)—कृष्ण

पश्यतोहर (देखते-देखते हरण करने वाला)—सुनार

(घ) **विशेषण**—संज्ञा के पहले विशेषण के प्रयोग से भी अर्थ का विस्तार सीमित हो जाता है। जैसे—

लगन(काल)—शुभ लगन, हवाई जहाज(हवा में उड़ने वाले जहाज के रूप में सीमित), कृष्णजन्माष्टमी, भजन, कुँवर, चाल, मध्यमा, शास्त्री आदि।

(ङ) **शब्दों का अर्थ विशेष में रूढ़ हो जाना**—पाणिनि और पतंजलि ने बताया है कि धातुओं के अर्थ तो निश्चित होते है, किन्तु कुछ प्रत्ययों के अर्थ निश्चित हो जाने से वे शब्द एक निश्चित अर्थ के वाचक हो जाते हैं। जैसे, पाठक, कुंजर, मोदक, घृत, मन, बाढ़, सर्प, जगत आदि।

'छात्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'छत्र' से पतंजलि ने बताई है। यह विद्यार्थी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। गुरु शिष्य को आच्छादित करता है, इसलिए वह छात्र है। अवतार का अर्थ है उतरना, लक्ष्य, भूमिका आदि। किन्तु आज वह देवताओं के उद्भव के अर्थ में रूढ हो गया है। अवधि का अर्थ सीमा, समय, ध्यान आदि है। आज वह काल की सीमा के अर्थ में रूढ़ हो चुका है। आदर्श का अर्थ दर्पण, प्रतिलिपि, टीका आदि है। उसी से आरसी शब्द बनकर दर्पण अर्थ में प्रयुक्त होता है। आदर्श का अर्थ आज अनुकरणीय बात या कार्य हो गया है। पुराण का अर्थ पुराना है, किंतु अब पुराण ग्रंथों के रूप में रूढ़ हो गया है। मूली का अर्थ है मूल से उत्पन्न, किन्तु आज वह एक सब्जी है। लोहा किसी भी धातु को कहा जाता था, आज उसका अर्थ एक विशेष धातु है। गाय का स्वामी गोस्वामी था, किन्तु आज इन्द्रियों का स्वामी अर्थ होता है। गर्भिणी पशु और स्त्री दोनों कहे जाते थे। आज केवल स्त्री गर्भिणी होती है, पशु तो गाभिन होती है।

इसी प्रकार लीग, कांग्रेस, मोटर, ग्लास, साइकिल, स्प्रिट आदि के अर्थ संकुचित हो गये है।

(च) पारिभाषिकता और नाम—पारिभाषिक रूप और नाम भी शब्दो के अर्थ का वृहत् क्षेत्र संकुचित कर देते है। रस शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे आयुर्वेदिक रस, काव्य-रस, राम रस, वनस्पतियो का रस। पारिभाषिकता के संदर्भ से इनका अर्थ संकुचित हो जाता है। सधि युद्ध, व्याकरण, छंद के अर्थ मे प्रचलित है। गोली भी संदर्भ से कई अर्थ लेती है।

इसी प्रकार नामो से भी अर्थ को संकोच प्राप्त होता है। लक्ष्मीकान्त, विक्रमादित्य, नीरज, सुमन, निराला, तुलसी, कबीर, देशरत्न, महामना आदि नाम अर्थ को संकुचित करते हैं। इस क्रम मे जातिवाचक संज्ञा के व्यक्तिवाचक बन जाने से अर्थ संकोच होता है।

ऋषि वाजप्यायन का कथन है कि शब्द मूलत: जाति या वर्ग का अर्थ द्योतित करते है, किन्तु उनका सापेक्षिक प्रयोग उनके अर्थ (सम्बन्ध) को सीमित कर देता है। अर्थ-संकोच भाषा के लिए आवश्यक होता है, क्योकि इससे भाषा की सम्पन्नता का परिचय मिलता है और भाषा स्थिर होती है।

अर्थादेश

आदेश का अर्थ होता है परिवर्तन। इस परिवर्तन मे अर्थ न तो संकुचित होता है और न उसका विस्तार होता है। अर्थादेश मे आदेश द्वारा प्राचीन अर्थ का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर कोई नया अर्थ सामने आ जाता है। जैसे, दुर्लभ के विकसित रूप दूल्हा का अर्थ आदेश से वर हो गया है।

अर्थादेश दो प्रक्रियाओ से घटित होता है। पहली प्रक्रिया के अनुसार नया अर्थ प्राचीन अर्थ से ही विकसित होता है। दूसरे प्रयोक्ता की तात्कालिक मानसिक प्रतिक्रिया या भ्रांति के कारण नया अर्थ बाहर से आकर शब्द के साथ संयुक्त हो जाता है।

अर्थ-विस्तार में पुराना अर्थ नये अर्थ मे किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहता है। नये अर्थ का क्षेत्र पुराने अर्थ के क्षेत्र से व्यापक होता है। अर्थ-संकोच मे पुराने के क्षेत्र से नये अर्थ का क्षेत्र सीमित हो जाता है। अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच मे पुराना अर्थ नये अर्थ से किसी-न-किसी रूप या मात्रा मे जुड़ा होता है। किन्तु अर्थादेश मे अर्थ का परिवर्तन इतना स्पष्ट होता है कि पुराने अर्थ से विकसित नये अर्थ के बीच अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही दिखाई पड़ता है, क्योकि अर्थादेश मे पुराने अर्थ का लोप होना अनिवार्य है। जहाँ मानसिक प्रतिक्रिया या भ्रांति से नया अर्थ ग्रहण कर पुराना अर्थ लुप्त हो जाता है, वहाँ तो दोनो के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता।

अर्थादेश के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दुहिता शब्द का अर्थ आज पुत्री हो गया है। दुहिता का प्राचीन अर्थ है जो गाय दुहने का कार्य करे—'दुहिता—यद्वा दोग्धि गाः इति, पुराकाले कन्यासु...एव गोदोहनभारस्थितेस्तथात्वम् ।'[1] प्राचीनकाल मे गायो के दुहने का कार्य-भार कन्याओ को दिया गया था। अत. आज दुहिता का अर्थ कन्या हो गया है। इसी प्रकार अंग्रेजी के लेडी शब्द का मूल अर्थ था रोटी पकानेवाली। रोटी पकाने का कार्य स्त्रियाँ करती थी। इसलिए लेडी शब्द स्त्रीमात्र का वाचक हो गया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अर्थादेश की पहली प्रक्रिया के अंतर्गत पुराने अर्थ के लुप्त हो जाने पर भी नया अर्थ पुराने अर्थ से ही विकसित हुआ है।

ऋग्वेद की प्रारंभिक ऋचाओ मे 'असुर' शब्द देवता का वाचक था। ईरानी शब्द 'अहुर मजदा' मे यह अर्थ आज भी सुरक्षित है। बाद मे असुर से राक्षस और सुर मे देवता अर्थ ग्रहण कर लिया गया। 'देव' का फारसी मे अर्थ 'राक्षस' है। आकाशवाणी पहले देववाणी थी, किन्तु आज यह रेडियो का वाचक हो गया है। 'देवाना प्रिय' से कभी अशोक की प्रशंसा की गयी होगी, अब तो यह मूर्ख का वाचक है। 'भद्र' से ही 'भद्दा' बना, किन्तु अपना अर्थ खोकर। 'बुद्ध' बना 'बुद्धू' भी अपने पूर्वज अर्थ से एकदम भिन्न हो गया। साहस से डकैती आदि बुरे कर्मो का बोध होता था, आज साहस एक उत्तम गुण हो गया है। मौन अर्थात् मुनियो का भाव—'मुनेर्भावः इति।' अब मौन 'चुप' का बोधक है।

शब्द	मूल अर्थ	नवीन अर्थ (अर्थादेश से)
तारतम्य	कम-ज्यादा	ताँता बँधने का भाव (आचरण)
खाद (खाद्य)	खाने योग्य वस्तु	उर्वरक
मधुर (माहुर)	मीठा	विष
जुगुप्सा	गुप्त रखना, छिपाना	घृणा, निन्दा
भ्रातृव्य	भ्राता का पुत्र	शत्रु
अरि	पड़ोसी राजा	दुश्मन

इसी प्रकार अशोक के राज्यकाल मे पाप का खण्डन करने वाले सम्प्रदाय का नाम पाषंड था। इस सम्प्रदाय वाले पाषडी कहलाये। आज पाखडी का अर्थ ढोंगी, दिखावटी और दुष्ट व्यक्ति हो गया है। जंघा से जाँघ का विकास हुआ है, जिसका अर्थ है घुटने के नीचे का भाग। तेलगू में जंघा और मलयालम मे जंघ शब्द का अर्थ अब भी घुटने और टखने के बीच का भाग है। हिन्दी मे वह उरु (घुटने के ऊपर का भाग) के अर्थ मे प्रचलित हो गया।

अँगरेजी में स्कूल शब्द Schole से आया है, जिसका अर्थ था अवकाश। पहले

---

1. हलायुध कोश—सं० जयशंकर जोशी, पृ०359

Knight का अर्थ नौकर और नाइस (Nice) का अर्थ मूर्ख था। आज नाइट का अर्थ सामन्ती उपाधि और नाइस का उत्तम है। वास्तव मे ब्रेआल द्वारा निर्धारित अर्थादेश की सीमा अर्थ-विस्तार और अर्थ-सकोच के इतनी निकट है कि उसकी अलग पहचान होने मे कठिनाई होती है। इसीलिए जी० स्टेर्न ने अनुभवाश्रित वर्गीकरण (Empirical classification) और उलमान ने व्यावहारिक वर्गीकरण (Functional classification) प्रस्तुत किये है। उन्होने इसलिए ये वर्गीकरण प्रस्तुत किये है क्योकि अर्थादेश और अर्थ-विस्तार तथा अर्थ-सकोच की सीमारेखा अलग से पहचानना कठिन होता है। फिर भी ब्रेआल का वर्गीकरण ही लोकप्रिय और मान्य है। अर्थादेश मे प्राचीन अर्थ का लोप आवश्यक है। जहाँ प्राचीन अर्थ के संदर्भ से नया अर्थ उत्पन्न होता है, वहाँ भी प्राचीन अर्थ लुप्त ही रहता है। दुहिता मे गाय दुहने वाली अर्थ का सर्वथा लोप हो गया, हाँ कन्या का संदर्भ रह गया और उसी आधार पर नये अर्थ का निर्माण हुआ। माहुर शब्द मधुर से बना है। मधुर और माहुर मे खींचतानकर संबन्ध स्थापित करने के उत्साह के कारण ही अर्थादेश और अर्थ-सकोच का अंतर धूमिल हो जाता है।

अर्थ-विकास की एक और दिशा होती है। यह दिशा अर्थ के उत्कर्ष-अपकर्ष की है। यह प्राचीन अर्थ की तुलना मे नये अर्थ की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता पर विचार करने का दृष्टिकोण है। नया अर्थ उत्कर्षपूर्ण, उन्नत या श्रेष्ठ होगा या अपकर्ष-युक्त, अश्रेष्ठ, अवनत या हीन। इस तरह अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष की दिशा भी अर्थ-विकास की है।

(क) **अर्थोत्कर्ष**—जब शब्द का प्राचीन अर्थ परिवर्तित हो और प्राचीन अर्थ की अपेक्षा नवीन अर्थ अधिक उन्नत हो तो इसे अर्थोत्कर्ष कहा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रारंभ मे शब्द का हीन अर्थ था, किन्तु उस हीन अर्थ का त्याग कर दिया गया और नया अर्थ उन्नत होकर प्रयोग में चलने लगा। जैसे साहस का अर्थ बुरा कार्य था। धर्मग्रन्थों मे साहस को दण्डविधि का महान् अपराध कहा गया है। किन्तु आज साहस का अर्थ जीवट, हिम्मत हो गया है। इस प्रकार प्राचीन अर्थ का उत्कर्ष हो गया। यास्क ने कहा है कि 'कक्ष' शब्द प्रारंभ मे अश्व के कक्ष का बोधक था। उसके अर्थ का उत्कर्ष हो जाने से मनुष्य के कक्ष के लिए भी उसका प्रयोग होने लगा। 'मुग्ध' का अर्थ पहले 'मूर्ख' या मोह या भ्रम मे पड़ा हुआ था, किन्तु अब हम भगवान के रूप पर मुग्ध होते हैं। मूढ़ता का भाव मुग्ध से समाप्त हो गया। 'कर्पट' शब्द का अर्थ 'जीर्ण वस्त्र' प्रचलित था—'पश्च्चरं जीर्णवस्त्र।' अब ऊनी, सूती, रेशमी सभी प्रकार के वस्त्रों के अर्थ मे 'कपड़ा' चलता है। 'गोष्ठ' का अर्थ गायो के रहने के स्थान से उन्नत होकर कविगोष्ठी आदि रूप मे प्रचलित है। पुंगव का अर्थ बैल था। अब उसका अर्थ श्रेष्ठतावाचक है। 'प्रणाली' का प्रयोग नाली के अर्थ मे होता था, अब रीति या पद्धति अर्थ ग्राह्य है। कृष्ण

का अर्थ काला है, किन्तु भगवान कृष्ण के साथ जुडकर उसके अर्थ का उत्कर्ष हो गया। भीष्म और भीम का अर्थ भयानक प्रचलित था, किन्तु महापुरुषो के सम्पर्क से 'दृढ़प्रतिज्ञ' और योद्धा के रूप मे उसके अर्थ का उत्कर्ष हो गया है।

महात्मा गाधी ने 'अछूत' 'बन्दी' शब्दों को गौरव प्रदान किया। फिरगी भी अब डाकू अर्थ मे प्रचलित नही है। यूरोपियन लोगो के लिए फिरगी शब्द प्रयुक्त होता है।

धर्म से सम्बन्ध होने के कारण मंदिर, कलश, पाठ, ग्रन्थ, माला, जाप आदि शब्दो के अर्थ मे उन्नति हुई है। स्नेहमय गालियो मे भी अर्थोत्कर्ष हुआ है—जैसे 'धत् पगले', 'तू बुद्धू ही रह गया'।

'विशेषक शब्दो का लोप होने पर भी, विशेषक भाव विद्यमान रहने से अनेक साधारण शब्दो मे अर्थोत्कर्ष पाया जाता है। मदिर का मूल अर्थ है घर। पर देव मदिर के देव शब्द का लोप हो जाने के उपरान्त भी देव मदिर का भाव बना रहा है। इस प्रकार यह महल : राजमहल, प्रासाद : राजप्रासाद, त्योहार : शुभ त्योहार, मुहूर्त : शुभ मुहूर्त, कुलीन : उच्चकुल, केशिनी : बडे केशोवाली, नाम : अच्छा नाम, यश आदि।'[1]

लुब्धक का अर्थ बहेलिया था, अब लोधे के लिए प्रयोग मे आता है। कच्छप-घातक (कछुए का वध करनेवाला) से विकसित कछवाहा राजपूतो के लिए प्रयोग मे आता है। इसी प्रकार योद्धा मे यादव और बधिक से बघेल शब्द विकसित होकर उन्नत अर्थ प्रदान करते हैं।

मार्शल (Marshall) का मूल अर्थ घोड़े का नौकर (Mar घोड़ा+shal नौकर) था। अब सेना के पदाधिकारी एयर मार्शल, फील्ड मार्शल होते है। इसी प्रकार Cricket लकड़ी का द्योतक था, अब एक खेल का बोधक है। नाइस और नाइट (Knight) के अर्थ में भी इसी प्रकार का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

(ख) **अर्थोपकर्ष**—शब्द के प्राचीन अर्थ की तुलना मे नवागत अर्थ हीन, अश्रेष्ठ अथवा अवनत होने से अर्थ का अपकर्ष होता है। असुर, भद्दा, देवानाप्रिय, बुद्ध, पाखण्ड आदि शब्दो के नवागत अर्थ हीन या अश्रेष्ठ है। पदाति (पैदल सैनिक) से 'पाजी' शब्द निकला है। जायसी ने 'सहस-सहस बैठे तह पाजी' में पैदल सैनिक अर्थ मे पाजी का प्रयोग किया है। आज दुष्ट और बदमाश के अर्थ मे पाजी का प्रयोग होता है। नग्न और लुचित से 'नगा-लुच्चा' बना है। लुचित ऐसे जैन साधुओं के लिए आदर के साथ प्रयोग मे आता था, जिनके केश नोच लिये गये हो। आज इसका अर्थ बदमाश और लम्पट है। लिंग का अर्थ चिह्न, लक्षण होता है, किन्तु आज इन्द्रिय विशेष के लिए इसका प्रयोग होता है। सहवास

1 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, द्वि० भा०, पृ० 356

का प्राचीन अर्थ से अपकर्ष हो गया और अब मैथुन अर्थ में प्रचलित है। हरिजन का गांधीजी ने अछूतों के लिए प्रयोग किया और भगवान का जन लुप्त हो गया। खलीफा का अर्थ उत्तराधिकारी था, आज भिश्ती, टेलर सभी खलीफा है। गर्भिणी से बना गाभिन शब्द का प्रयोग पशुओं के लिए होता है। ग्रामीण से बना शब्द गँवार अब मूर्ख का वाचक हो गया है। कान्स्टेबिल पहले अफसर को कहते थे, अब साधारण सिपाही कास्टेबिल है। संसर्ग का अर्थ संभोग के निकट पहुँच रहा है।

नारद (लड़ाई कराने वाला), जयचन्द (देशद्रोही), विभीषण (भेदिया), महाजन (बड़े लोग), गुरु, महाराज, पंडित आदि शब्दो के अर्थ मे भी हीनता का अर्थ आ गया है। भैय्या, नेताजी, सिन्डीकेटी, खद्दरधारी आदि के अर्थ अवनत हुए है।

(ग) **अर्थ-विनिमय**—अर्थ का परस्पर बदल जाना अर्थ-विनिमय है। दो पदार्थों के अर्थ प्राय अदल-बदल जाते है। नीम तिक्त और मिर्च कटु होती है। किन्तु हिन्दी मे नीम कड़वी (कटु) और मिर्च तीती (तिक्त) होती है।

(घ) **अर्थ-विसर्पण**—इसे अर्थ बढ़ना कहा जाता है। इसमे साधारण अर्थ के स्थान पर अर्थ को बढा दिया जाता है। 'मिजाज' शब्द का प्रयोग अभिमान के अर्थ मे प्रचलित हो गया है—'उसका मिजाज चढ़ गया है।'

(ङ) **अंगांगी अंतरण**—जो परस्पर अगागि सम्बन्ध से जुडे है, उनका अर्थ परस्पर परिवर्तित हो जाता है। 'कभी एक अंग पूरे अगी का अर्थात् एक भाग सम्पूर्ण वस्तु का अर्थ देता है और कभी सम्पूर्ण से केवल उसके किसी एक अंग का अर्थ सूचित होता है। 'बाजार मन्दा' का अर्थ अपने-अपने व्यापार क्षेत्र मे इतना भर ही है कि गेहूँ या सोना या कोई अन्य द्रव्य मन्दे भाव में बिक रहा है। जलपान का अर्थ पानी मात्र पीना नही है, इसमे मिठाई, नमकीन, फल आदि सम्मिलित हैं।'[1] अंश से पूर्ण का बोध बत्ती जलाना (पूरा दीपक जलाना), रोटी बनाना (पूरा भोजन बनाना), हथकड़ी पहनना, स्कूल जाना आदि से भी होता है। कुआँ सूख गया (पानी सूख गया), दिया जलता है (तेल और बत्ती जलती है), थाली लगाओ (पूरा भोजन लगाओ), कॉलेज जाना (पढ़ने जाना) द्वारा अंश से पूर्ण अर्थ का बोध होता है।

डॉ० हरदेव बाहरी ने 'हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास' मे अर्थ-परिवर्तन की अन्य छ: प्रक्रियाओ का उल्लेख किया है :

1. कार्य-कारण के लिए, 2. आधार-आधेय के लिए, 3. स्थान उपज के लिए, 4. लेखक की कृति के लिए, 5. चिह्न-चिह्नित के लिए, 6 विचित्र अंतरण।

---

1 हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, द्वितीय भाग- पृ० 361-362

1. कार्य-कारण के लिए—मुहावरों के द्वारा अर्थ इस प्रक्रिया से प्रकट होता है। जैसे, आँखों में धूल झोंकना (धोखा देना), सिर उड़ा देना (मार देना), खून चूसना (शोषण करना), कलेजा ठंडा होना (शांति मिलना) आदि।

2. आधार-आधेय के लिए—नल नहीं आया (पानी नहीं आया), कुआँ सूख गया (पानी सूख गया), घर जगा है (घर के लोग जगे हैं) आदि।

3. स्थान उपज के लिए—सिरोही (राजस्थान में एक स्थान के नाम पर तलवार का नाम), कश्मीरा (काश्मीर में बना एक ऊनी वस्त्र), काफी (अबीसीनिया के नाम पर एक पेय का नाम काफी), साँची (भोपाल के पास साँची नाम के स्थान का भाव), मगही (मगध क्षेत्र में उत्पन्न पान) आदि।

4. कृति के लिए—मानस कहता है वेद सच्चा है आदि।

5. चिह्न-चिह्नित के लिए—लाल पगड़ी (सिपाही), मोटा आसामी (धनी, मालदार), चोटी—दाढ़ी (हिन्दू—मुसलमान)।

6. विचित्र अतरण—कभी-कभी शब्दार्थ विचित्र रीति से अतरित होता है। जैसे दुपट्टा (दोपट), तार (टेलीग्राम के अर्थ में) आदि।

कभी-कभी भ्रांति के कारण शब्द का अर्थ सादृश्य के आधार पर द्योतित होता है। जैसे परशु (फरसा), हिन्दी में फरुआ, हँसिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

मूर्तीकरण—जब अमूर्त पदार्थवाचक शब्द मूर्त पदार्थ के अर्थ को द्योतित करते हैं तो मूर्तीकरण कहा जाता है। जैसे, मीठा 25 रु० किलो और नमकीन 20 रु०। धूल में मिला देना, काल के कराल कर, बाल उड़ाना, बिखरे विचार, आवाज बैठना आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। प्रेमाग्नि, विरहाग्नि, विद्यारत्न, प्राण-पखेरू इसके उत्तम उदाहरण हैं। सुहाग अचल रहना का अर्थ पति का दीर्घजीवी होना, परिवार का अर्थ अच्छादन है, अब कुटुम्ब के अर्थ में प्रचलित है। सफेदी कराना का अर्थ चूना पोतवाना है।

अमूर्तीकरण—यह मूर्तीकरण का विलोम है।

आलंकारिक प्रयोग—पारा चढ़ना, छत्रछाया, भार, गधा आदि के आलंकारिक प्रयोग सर्व ज्ञात हैं।

मुहावरा—माथा ठनकना, सिर पीटना, पाँव भारी होना, पगड़ी उछालना, बीड़ा उठाना, हथेली पर सरसों जमाना आदि प्रयोगों में प्रचलित अर्थ से अलग अर्थ का बोध उपर्युक्त मुहावरों में प्रयुक्त शब्दों से होता है। इन्हें लाक्षणिक या आलंकारिक प्रयोग भी कह सकते हैं।

सांकेतिकता—प्रकाश—ज्ञान, आशा, अंधकार—अज्ञान, निराशा, मधु—प्रेम, सुख, सफेद बाल—बुढ़ापा।

अर्थारोप—कभी-कभी अज्ञान के कारण पुराने अर्थ से अलग अर्थ में भी शब्दों का प्रयोग होता है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

शब्द की सत्ता अर्थमूलक होती है। अर्थ मनुष्य के अनुभव, व्यापार और अन्य परिवेश से जुडा होता है। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण अनुभव और व्यापार अर्थ है। अनुभव और व्यापार परिवेशगत होते है। परिवेश परिवर्तन ही अर्थ-परिवर्तन है। काल और क्षेत्र के अनुसार परिवेश मे परिवर्तन होते है। परिवेश बदलने से भाषा-सरचना के तत्व भी बदल जाते है। सरचक तत्वो के बदलने से उसके अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि मूल अर्थ की शक्ति क्षीण हो जाती है। अत. व्यजना के लिए शब्द को सदर्भगत नया अर्थ प्राप्त होने लगता है। यह अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया एक दिन मे पूरी नही होती। अनवधि काल-सीमा मे शब्दो के नये अर्थ उद्‌भावित होते हैं। शब्द प्रयोग के साथ ही अर्थ-परिवर्तन की सभावना प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्येक अर्थ परिवर्तन के पीछे एक प्रयोक्ता समाज होता है। मामूली से अर्थ-परिवर्तन के पीछे प्रयोक्ताओ का सूक्ष्म मनोविज्ञान, उनकी जटिल सामाजिक, सास्कृतिक परम्पराएँ और अवस्थाएँ हो सकती है। अर्थ के क्षणिक अपसरण (Shift) के पीछे प्रयोक्ताओ के मनोवेगो और चितनधाराओ का एक पूरा इतिहास होता है।'[1] इसलिए अर्थ-परिवर्तन से न केवल अर्थ-भेद, बल्कि समाज-भेद का निर्धारण किया जा सकता है। अर्थ-भेद से समाज और संस्कृति के विविध सोपानों का निर्धारण भी हो सकता है। इसीलिए मेरियोपेई ने कहा है कि 'अर्थ तत्व भाषा का ही नही, मानव सभ्यता का भी अंतस्तल निरूपित करते हैं।'[2]

शब्द के अर्थ-परिवर्तन मे व्यजना शक्ति का सहयोग अपेक्षित होता है। व्यजना का शब्दार्थ है विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना, विकसित करना। व्यजना या लक्षणा से वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ का बोध व्यजना और लक्षणा शक्ति से ही सभव है। लक्षणा और व्यजना प्रयोक्ता के मनोविज्ञान से सम्बद्ध है। अर्थ-परिवर्तन के पीछे प्रयोक्ता का मनोवैज्ञानिक परिवेश होना है।

टकर के आधार पर डॉ० आई० जे० तारापुरवाला ने अर्थ-परिवर्तन के निम्न लिखित कारणो का उल्लेख किया है :

1. आलंकारिक प्रयोग
2. परिवेश का परिवर्तन
   (क) भौगोलिक, (ख) सामाजिक, (ग) भौतिक
3. विनम्रता-प्रदर्शन
4. रोमन शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति या सुश्राव्यता

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान — जयकुमार जलज, पृ० 149
2. द स्टोरी ऑफ लैंग्वेज—मेरियोपेई, पृ० 148

(क) क्रीड़ा, (ख) जुगुप्सा, (ग) अमगल, (घ) अंधविश्वास

5. व्यग्य
6. भावात्मक बल
7 सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग
8 अज्ञान या भ्राति
9. शब्दार्थ की अनिश्चितता
10. अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत प्रत्यय
11. शब्दार्थ के एक तत्त्व की प्रमुखता
12. गौण अर्थ की प्रमुखता

1 **आलंकारिक प्रयोग**—सौन्दर्य ही अलंकार है—'सौन्दर्यं अलंकारः ।' अर्थात् वाणी को विभूषित करने, मनोहरता का आधान करने तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अलकार-योजना की जाती है। अलकार शब्द और अर्थ दोनो मे होते हैं। इसलिए उनके शब्दालकार और अर्थालंकार दो प्रमुख भेद किए जाते हैं। अर्थालकारो की योजना किसी तथ्य, अनुभूति, घटना या चरित्र की अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए की जाती है। नेत्र कमल के समान सुन्दर है मे उपमा, नयन-कमल मे रूपक, यह नेत्र है या कमल मे उत्प्रेक्षा, यह (नेत्र) कमल है मे अतिशयोक्ति तथा अन्य अभिव्यक्तियो से अन्य अलकारो की योजना होती है।

अलकारो का मुख्य आधार सादृश्य होता है। भाव-सादृश्य या धर्म-सादृश्य के आधार पर अदृश्य भाव को दृश्य और अरूप को सरूप कर दिया जाता है। इस प्रकार आलकारिक प्रयोग से अरूप भाव सरूप वस्तुओ की भाँति सगुण हो जाते हैं। इस प्रकार मूल अर्थ के स्थान पर अन्य अर्थ का आरोप करके आलकारिक प्रयोग से अर्थ-परिवर्तन किया जाता है। जैसे 'माखन सो मन', 'दूध सो यौवन', कसाई (क्रूर), गदहा (मूर्ख) आदि आलकारिक प्रयोगो मे भाव-सादृश्य या धर्म-साम्य या रूप-साम्य के आधार पर अन्य अर्थ का आरोपण किया गया है।

अलकार-प्रयोग के स्थान पर सादृश्य पर विचार करना अधिक उचित होगा, क्योकि अलकार सादृश्यधर्मी होते है। अतः आलकारिक प्रयोग के स्थान पर हम भाव-साहचर्य और भाव-सादृश्य, पर ही विचार करें, तो अच्छा होगा। डॉ॰भोलानाथ तिवारी ने आलकारिक प्रयोग को माना है किन्तु अर्थ-परिवर्तन के कारणो को कठिन बताते हुए कहते हैं कि 'सादृश्य, बल तथा भाव-साहचर्य ही घूम-फिर कर अर्थ-परिवर्तनो मे अधिक कार्य करते दिखाई पड़ते हैं।'[1]

---

1. भाषाविज्ञान— डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, पृ॰ 260

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा 'अनुभूति और अभिव्यजना के नैसर्गिक असमानाधिकरण्य को दूर करने के लिए' लाक्षणिक प्रयोग को अर्थ-परिवर्तन का प्रथम कारण मानते है।[1] जैसे मनुष्य के अंगो के सादृश्य के आधार पर आलू या नारियल की आँख, आरे के दाँत, सुराही की गर्दन आदि। इसी प्रकार सुन्दर को चन्द्रमा, विद्वान को वृहस्पति, स्थूलकाय को हाथी आदि के उदाहरण भी उन्होंने दिए है। वास्तव मे आचार्य शर्मा द्वारा निर्देशित लाक्षणिक प्रयोग सादृश्य के अन्तर्गत ही आ जाते है। ये अर्थ एक प्रकार से सादृश्य के आधार पर ही नियोजित होते है।

डॉ० तिवारी ने आलकारिक प्रयोग को भी सादृश्य पर ही आधारित बताया है। सूक्ष्म वस्तु व्यापार के लिए अलंकार प्रयोग आवश्यक होता है। गहरी बात, सजीव चित्रण, निर्जीव भाषा, कटु अनुभव, सरस बात आदि को उन्होने आलकारिक प्रयोग बताया है। पत्थर, बेपेंदी का लोटा, गाय, शेर, गदहा, उल्लू, बैल, चमार, क्रिस्तान, अहीर, जाट आदि शब्द प्रयोग मे अपना यथार्थ अर्थ न देकर अपने गुण का अर्थ देते हैं। बील का कहना है कि अन्य कारणो से शब्दो मे अर्थ-परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, किन्तु अलकारो से एक क्षण में अर्थ-परिवर्तित हो जाता है। डॉ० तिवारी ने कहा है कि 'अपने आलकारिक अर्थ में ये प्रतीक रूढ़ हो चुके हैं?'[2]

(क) **भाव-साहचर्य**—वस्तु, भाव या गुण बहुआयामी होते है। सीमित दृष्टि क्षेत्र मे आने वाले आयाम को ही हम देख पाते है। सम्पूर्ण गुण, भाव या वस्तु को हम अनुमान से ही देखते-समझते है। दृष्टि और अनुमान के आधार पर वस्तु का एक मानस चित्र या बिम्ब निर्मित होता है। इस प्रकार बहुआयामी वस्तु को हम एक नाम देते है, जो उस वस्तु का अर्थ होता ह, किन्तु वस्तु का नाम या अर्थ उसके सम्पूर्ण रूप, गुण, धर्म का बोध नही करा पाता। कारण यह है कि वस्तु के नाना धर्मो की तुलना मे मानव-ज्ञान सीमित है। इसीलिए सीमित ज्ञान के आधार पर दिया गया शब्द का अर्थ भी सीमित होता है। 'शब्द वस्तु का उतना स्वरूप भी सूचित करने मे असमर्थ है, जितना हमारे मानस लोक मे है।'[3] इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'प्रत्येक भाषा के शब्द द्वारा सूचित अर्थ के साथ अन्य अनेक अर्थ या भाव जुडे हुए है। सूक्ष्म भावनाओ के वाचक शब्दो के उच्चारण से ही नही स्थूल सत्ताओ के वाचक शब्दों के उच्चारण से भी उनसे संबंधित अनेक भाव और वस्तुएँ बोधित हो जाती हैं।'[4] सिपाही शब्द के उच्चारण से न

1. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 292
2. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 276
3. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 176
4. वही

केवल पुलिस कांस्टेबिल का अर्थ द्योतित होता है, बल्कि लाल पगड़ी, उसकी पोशाक तथा उसका रक्षक-भक्षक बिम्ब भी बोधित हो जाता है। मुख्य अर्थ से जुड़े हुए अन्य अर्थ, वस्तु और भाव शब्द के सहचर कहलाते हैं।

जैसा कि कहा गया है, शब्द का अर्थ स्थिर नहीं होता है। परिवेश के साथ ही अर्थ का आयाम भी बदल जाता है। शब्द का अर्थ निश्चित न होने से ही उनके सहचर अर्थ या भाव उदित होते हैं। शब्द के अर्थ यादृच्छिक होते है। अतः व्यक्तिगत धारणाओं के कारण सहचर अर्थ द्योतित होने लगते है। जब सहचर अर्थ मुख्य हो जाते हैं तो शब्द के अर्थ बदल जाते हैं। जैसे ब्रह्मचारी शब्द का सहचर भाव है, चोटी-चन्दन धारी, अध्ययनशील, सयमी, तेजवान, धर्म-निष्ठा परायण आदि। उसके श्रद्धेय, अश्रद्धेय चरित्रवान, चरित्रहीन आदि व्यक्तिगत धारणाएँ या प्रत्यय शब्दार्थ मे अर्तनिहित हो जाते हैं। इनमे से कोई अर्थ मुख्य होकर शब्द के अर्थ मे परिवर्तन ला देता है।

'धूम' शब्द का अर्थ है धुआँ। विवाह या यज्ञादि मे होम करने तथा भोजन बनाने के क्रम मे अधिक धुआँ होता था। विवाह और यज्ञ समारोह हैं जिनमे खूब धुआँ होता था। समारोह के मुख्य अर्थ—धूम होना—के साथ ही हलचल, ठाठ-बाठ आदि की कल्पना भी जुड़ी होती है। ये शब्द के सहचर अर्थ है। सहचर अर्थ मूल अर्थ म प्रधान हो गया। अब धूम का समारोह, हलचल, ठाठबाठ अर्थ प्रचलित हो गया है।

सस्कृत मे धान्य शब्द का मूल अर्थ अनाज है। धनधान्य मे धान्य का अनाज अर्थ आज भी सुरक्षित है। जिन क्षेत्रो मे धान (Paddy) अधिक पैदा होता था, उनमे धान्य के साथ धान (Paddy) अर्थ भी संयुक्त हो गया। धान भी अनाज ही है। अतः कालान्तर मे धान्य के साथ धान अर्थ सहचरित हो गया। धान पैदा करने वाले क्षेत्र की भाषाओ मे धान ही धान्य का वाचक अर्थ हो गया। हिन्दी मे धान, बगला, असमिया और उड़िया मे धान् प्रचलित हो गए। किन्तु धान के लिए पजाबी मे झोना, भुजी या चोह्ना, सिन्धी मे सार्यू, मराठी में भात और गुजराती मे डॉगर शब्द इस बात के द्योतक हैं कि वहाँ सहचर अर्थ प्रचलित नहीं हुआ।

मृग शब्द का मूल अर्थ पशु है। मृगया (पशुओ का शिकार), मृगराज (सिंह), शाखामृग (बन्दर), पर्णमृग (गिलहरी) आदि मे मृग का पशु अर्थ सुरक्षित है। किन्तु हरिण के अर्थमे उसका प्रयोग साहचर्य का ही परिणाम है। गायो को पुकारने के लिए प्रयुक्त गोहार शब्द सहचरित होकर भगवान से लेकर आदमी तक को पुकारने के अर्थ मे चल निकला। गवेषणा का गायो को खोजना अर्थ साहचर्य से खोज अर्थ का बोधक हो गया।

वैदिक काल मे ऋतुओ के विभाग को पर्व कहा जाता था। ऋतु के प्रारम्भ मे यज्ञ की परम्परा रही। इससे पर्व शब्द के साथ यज्ञ, समारोह, उत्सव आदि के

भाव सहचरित होने लगे। कालान्तर में सहचर अर्थ—यज्ञ या त्योहार—ही प्रमुख हो गया।

'ननान्दा' का अर्थ है जो आनन्द न दे। पति की बहन के आचार-व्यवहार से आनन्द न प्राप्त होने से उसके लिए नानन्दा शब्द प्रचलित हुआ, जो ननद के रूप मे विकसित हुआ। मौन मुनि का गुण है, किन्तु आगे चलकर 'चुप' के अर्थ मे प्रचलित हो गया। गाय दुहने वाली 'दुहिता' साहचर्य के कारण पुत्री अर्थ मे प्रचलित है। गम् धातु से निष्पन्न गाय का अर्थ है घूमने वाली, किन्तु सहचर अर्थ प्रधान हो जाने से गाय एक पशु विशेष का ही वाचक हो गया।

लाल पगड़ी, गांधी टोपी, लाल झंडा, केसरिया टोपी शब्द साहचर्य या समीपता के कारण अपना मुख्यार्थ छोड़कर सिपाही, कांग्रेसी, कम्युनिस्ट, जनसंघी के वाचक हो गए हैं।

मैने तुलसी को पढा है, कालिदास पर शोध कर रहा है, का अर्थ साहचर्य के कारण तुलसी तथा कालिदास के ग्रंथ है। 'पंचायत मचाना', चकबन्दी पढ़ाना आदि के अर्थ साहचर्य से ही शोरगुल तथा झंझट विकसित हो रहे हैं।

अँगरेजी के Silly का अर्थ था शांत, मौन, अनाक्रामक। आवश्यकता होने पर भी शात, मौन, अनाक्रामक बना रहने वाले के साथ मूर्ख अर्थ भी सहचरित होता है। कालान्तर मे सहचर अर्थ मूर्ख ही प्रमुख हो गया। भर्तृहरि ने भी कहा है—'मौनेदैन्यभयम्।'

सहचर अर्थ की प्रधानता होने से ही to starve का अर्थ भूख से मरना तथा to discipline का अर्थ ताड़ित करना हो गया है। Knight, Marshall, Nice आदि के प्रचलित अर्थ भी साहचर्य भाव के कारण ही परिवर्तित हो गए हैं। घड़ी का वाचक शब्द Clock सहचर अर्थ के प्रधान हो जाने से घटा (Hour) का वाचक हो गया है।

(ख) **भाव-सादृश्य**—साहचर्य के कारण शब्द के मूल अर्थ के साथ अन्य अर्थ भी, जो छोटे और अप्रधान होते है, संबद्ध हो जाते है। पुराना अर्थ कालान्तर मे नष्ट हो जाता है और नया अर्थ प्रमुख हो जाता है। नये अर्थ का भी कालक्रम मे यही परिणाम होता है। साहचर्य और सादृश्य मे अतर यह है कि साहचर्य मे नया अर्थ मौलिक अर्थ मे विद्यमान होता है। वह परिवर्तन होने पर उठ खड़ा होता है, प्रचलित हो जाता है। जबकि सादृश्य मे वह मौलिक अर्थ मे विद्यमान नही होता। वह बाहर से आता है। 'इसमे दो अर्थो के वाचक शब्द निकट आते है और इस प्रकार एक शब्द अपने द्वारा सूचित होने वाले अर्थ को दूसरे शब्द द्वारा सूचित होने वाले अर्थ से संयुक्त कर देता है। इस स्थिति में पहले शब्द का अर्थ अपना प्राचीन या सयोग से पूर्व का अर्थ खो देता है। उस शब्द मे एक नया ही अर्थ आ

जाता है। यही सादृश्य के आधार पर हुआ अर्थ-परिवर्तन है।'[1]

कुर्सी के पाँव, सुराही की गर्दन, आरे के दाँत, कंघी के दाँत, आलू और ईख की आँख, सितार या सारंगी के कान, कुर्सी की पीठ, कागज की पीठ, चने की नाक, अंधा युग, पहाड़ की चोटी के अर्थ रूप-सादृश्य या कार्य-सादृश्य के कारण बदल जाते हैं। काव्य की आत्मा समानता के कारण ही अर्थ परिवर्तित हो जाता है।

कभी-कभी सादृश्य दिखाई भी नही पड़ता। प्रणाली का अर्थ है नाली या पतनाला। पानी बहने के मार्ग या साधन के सादृश्य पर अन्य कार्यो के साधन या ढग को प्रणाली कहने लगे। अलकार का लोप हो जाने से केवल रीति या ढंग ही प्रणाली का अर्थ शेष बच पाया है।

हिन्दी गधा (मूर्ख), गाय या गऊ (सीधा-सरल), पत्थर (कठोर), चमचा (सेवक या मध्यस्थ), भैंस (मूर्ख), बैल (मूर्ख), कसाई (क्रूर), बनिया (कंजूस) का अर्थ-परिवर्तन सादृश्य के आधार पर ही हुआ है। सभव है आलकारिक प्रभाव खत्म हो जाय और इनके सादृश्यमूलक शब्द ही वाचकता ग्रहण कर लें।

वृहस्पति, चन्द्रमा, सूर्य आदि भी सादृश्य के कारण ही विद्वान्, सुन्दर और प्रतापी-तेजवान् का अर्थ द्योतित करते है।

2 परिवेश का परिवर्तन—भाषा के प्रयोक्ता और श्रोता का एक परिवेश होता है। परिवेश भाषा-संगठन की परिस्थितियाँ है। समाज-भेद से परिस्थितियाँ या परिवेश बदल जाता है। परिवेश बदल जाने से भाषिक सम्बन्ध परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार समाज या परिवेश-भेद से भाषा-भेद या अर्थ-भेद हो जाता है। परिवेश के अन्तर्गत भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और भौतिक वातावरण भी समाहित होते है।

(क) **भौगोलिक वातावरण**—एक स्थान पर रहने वाले जब किसी कारण-वश दूसरे स्थान पर जा बसते हैं तो उनका भौगोलिक परिवेश बदल जाता है। भौगोलिक वातावरण बदल जाने से नयी वस्तुओ से उनका सम्बन्ध जुड़ता है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के लिए शब्द नही होते। नये अर्थो (वस्तु, स्थिति भाव) को शब्दित करने के लिए या तो पुराने अर्थो को ही सादृश्य के आधार पर ग्रहण कर लिया जाता है या पुराने शब्दो मे ही नया अर्थ समाविष्ट कर देते है, क्योकि शब्द के पुराने अर्थ नये वातावरण मे अनावश्यक हो गये होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्ही परिस्थितियो मे आर्यो ने भैंसा या जगली बैल का वाचक उष्ट्र शब्द का प्रयोग ऊँट के लिए किया था, क्योकि ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओ मे उष्ट्र शब्द जगली बैल या भैंसे के लिए ही प्रयुक्त है। कॉर्न (Corn) अनाज का वाचक है,

1 ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 180

किन्तु भौगोलिक वातावरण बदल जाने से कॉर्न का अर्थ अँगरेजी में गेहूँ, स्कॉच मे बाजरा और अमरीकी मे मक्का है। ड्रिंक (Drink) का अर्थ पीना है, किन्तु यूरोप में ड्रिंक शराब पीने के लिए और भारत मे जल पीने के लिए प्रयुक्त होता है। 'सॉफ्ट ड्रिंक' में ड्रिंक पेय के अर्थ मे चल पड़ा है।

इतना ही नहीं, पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे 'चावल' शब्द कच्चे चावल और पके भात के लिए प्रयोग मे आता है, जबकि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार मे चावल का अर्थ कच्चे चावल और भात का अर्थ पके चावल से है। 'ठाकुर' शब्द उत्तर प्रदेश मे कुलीन क्षत्रिय के लिए, बिहार मे नाई के लिए और बगाल में रसोइये के लिए चलता है। 'डेरा' का अर्थ पूर्वी भारत में स्थायी निवास या घर के लिए प्रयोग में आता है, जबकि पश्चिमी भारत में अस्थायी निवास के लिए।

(ख) **ऐतिहासिक वातावरण**—काल का संदर्भ ऐतिहासिक वातावरण का सृजन करता है। ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति या स्थान का संदर्भ शब्दो के अर्थ परिवर्तित करने का एक माध्यम है। 'विदेह' शब्द का अर्थ है बिना देह का, किन्तु राजा जनक और मिथला के संदर्भ मे उनका ही वाचक हो जाता है। ऐतिहासिक सदर्भ मे 'बीड़ा उठाने' का अर्थ उत्तरदायित्व लेना है। 'भिश्ती का राज' और 'चाम के दाम' ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे 'अनधिकृत शासन' का अर्थ देते है। ऐतिहासिक कथा, परम्परा, प्रथा एवं वातावरण आदि से जुड़कर 'घर का भेदी', लंकाकाण्ड, महाभारत होना, रामराज, जयचन्दी मनोवृत्ति, नादिरशाही, औरंगजेबी कोड़ा, मार्शल ला, सत्याग्रह आदि के अर्थ इतिहास के सदर्भ से ही द्योतित होते है।

तहसीलदार और कलक्टर के अर्थ एक ही है, किन्तु राजनीतिक परिवर्तन के कारण दोनो के अर्थ बदल गये है। कोतवाल का विकास 'कोटपाल' से हुआ है। दुर्ग का रक्षक कोटपाल होता था। आज वह पुलिस का सामान्य अधिकारी है। पटवारी 'पट्टधारी' से विकसित हुआ है। इसका अर्थ है कार्यालय का चपरासी। महाराष्ट्र में आज भी चपरासी को 'पट्टेवाला' और गुजरात मे 'पटावाणो' कहते हैं। किन्तु उत्तर प्रदेश मे गाँव की जमीन का लेखा रखनेवाले एक पदाधिकारी को पटवारी कहते है। 'नायक' का अर्थ है सेना का नेता, किन्तु आज 'नायक' सेना का छोटा पदाधिकारी रह गया है। पाँच से अधिक सदस्य रहने पर भी गाँव की सभा पचायत ही है।

(ग) **सांस्कृतिक वातावरण**—सास्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव शब्द के अर्थ पर भी पड़ता है। वैदिक काल मे 'यजमान' यज्ञ करने वाले को कहा जाता था। आज ब्राह्मण, नाई, धोबी आदि के गृहस्थ ग्राहक भी 'यजमान' या जजमान होते हैं। वेद-वेदांग का अध्ययन करने वाले उपाध्याय आज 'ओझा' हो गये हैं। आचार्य का तद्भव 'अचारज' श्राद्ध कर्म कराने वाले महाब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, अग्निहोत्री आदि नाम अपने मूल अर्थ से हटकर

जातिगत उपनाम मात्र रह गये हैं पहले पितकर्म अर्थ 'पिता की सेवा' लिया जाता था और 'श्राद्ध' का अर्थ था उनके प्रति श्रद्धा। किन्तु आज उनके अर्थ 'अंतिम संस्कार' और 'पिण्डदान' हो गये है। क्षत्रियों ने पता नहीं कब तराजू पकड लिया और 'क्षत्री' से 'खत्री' हो गये। खत्री शब्द अब बनिया या व्यवसायी का वाचक हो गया है।

प्राचीनकाल मे कुमारियाँ 'स्वयंवर' से पति का वरण करती थी। वर का अर्थ जिसका वरण किया जाय। आज स्वयंवर प्रथा उठ गयी। 'दूल्हा' जो दुर्लभ होता है अब 'वर' बन बैठा है।

पंडित, महाजन आदि के अर्थ भी बदल गये हैं। अब निरक्षर ब्राह्मण भी पंडित है और निरर्थ बनिया भी 'महाजन' कहा जाता है। 'वामा' का अर्थ है बाईं ओर रहने वाली, किन्तु आज वह 'पत्नी' का वाचक है। 'रंडी' विधवा को भी कहते है और वेश्या को भी। 'कोठेवाली' पहले घरवाली को ही कहा जाता था, आज वेश्या के लिए प्रयोग मे आता है। वारांगना, नगरवधू आदि वेश्या के संकेतित नाम भी अर्थ परिवर्तन कर चुके हैं। चक्रपाणि, नीलकंठ आदि नाम पौराणिक संदर्भ मे रूढ अर्थ वाले हो गये है। रक्षाबन्धन, भाँवरी, हुक्का-पानी, भात-रोटी का संबंध, सूत्रपात आदि शब्द भी पुराने अर्थ खोकर नये अर्थ में प्रचलित हो गये है। ऐतिहासिक वातावरण के प्रभाव से ही यह परिवर्तन होता है।

(घ) **सामाजिक वातावरण**—कालक्रम से समाज मे परिवर्तन होता है। समाज-परिवर्तन से भाषा परिवर्तित हो जाती है। भाषा-परिवर्तन अर्थ का विकास या परिवर्तन है। फादर, मदर, सिस्टर के अर्थ पिता, माता, बहन है। लेकिन रोमन कैथोलिक चर्च मे उनका अर्थ क्रमशः पादरी, स्त्री, मिशिनरी और 'नन' हो जाता है। अस्पताल मे नर्स को सिस्टर कहा जाता है। 'भाई' शब्द इतना व्यापक है कि पुत्र, शिष्य, पत्नी, पति तथा अन्य लोगो के लिए भी भाई शब्द का प्रयोग होता है। उसके विभिन्न संदर्भ और अर्थ होते है। इसी प्रकार बाबू या बाबूजी के प्रयोग भी विभिन्न संदर्भ मे होते हैं। हम हर युवती या प्रौढ़ा को बहनजी और अधिक उम्रवाली को माँजी, ताईजी कहकर आदरपूर्वक संबोधित करते है। सामाजिक वातावरण के परिणाम से इन शब्दो के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं।

इसी प्रकार नाई की कलम, माली की कलम और विद्यार्थी की कलम के अर्थ मे अंतर होता है।

(ङ) **भौतिक वातावरण**—समाज का भौतिक वातावरण भी समयानुसार बदलता रहता है। भौतिक वातावरण बदलने से शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन आने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जैसे पत्ते (पत्र) पर संदेश लिखकर भेजने के कारण वह 'पत्र' कहलाता था। प्राचीनकाल मे पुस्तकें भोजपत्र या तालपत्र पर लिखी जाती थी सिल पन्नों को छेदकर उनका ग्रथन किया जाता था ग्रथन

करने (गूँथने) के कारण वह ग्रथ कहा जाता था। भौतिक वातावरण बदल जाने से (छापाखाना आदि) अब प्रेस में छपी पुस्तकों को ग्रंथ कहा जाता है। गिलास शब्द ग्लास (glass) से बना है, जिसका अर्थ होता था शीशा। अर्थात् ग्लास कहने का तात्पर्य शीशे के गिलास से था, किन्तु आज ताँबा, पीतल, स्टेनलेस किसी भी द्रव्य के बने ग्लास को गिलास कहते हैं। पेन (Pen) पेन्ना (Penna) से बना है, जिसका अर्थ है पंख। पहले पंख की कलम चलती थी। अब कई प्रकार के द्रव्यो से बनी लेखिनी को कलम कहते हैं। प्राचीनकाल मे सीक की नोक पर तूली (रुई) लगाकर भित्तिचित्र रँगे जाते थे। आज पशुओ के बाल तथा अन्य द्रव्यों से बनी चित्र बनाने की कूँची को तूलिका या तूली कहा जाता है। इस प्रकार भौतिक साधनों के बदल जाने मे शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन आ गया है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी आधार-सामग्री के आधार पर वस्तु का नाम या निर्माण-क्रिया के आधार पर वस्तु नाम के अंतर्गत इन शब्दों का उल्लेख करते हैं।

3. विनम्रता-प्रदर्शन—शिष्टता, विनम्रता आदि उत्तम सस्कार के लक्षण है। समाज मे अपनी सभ्यता प्रदर्शित करने के लिए हम ऐसी भाषा का प्रयोग करते है, जिससे हमारी शिक्षा, सस्कार, श्रेष्ठता का अनुमान हो जाय। लखनऊ मे इसीलिए 'गुफतार' (बोलने) पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कुछ लोग विनम्रता-प्रदर्शन को अर्थ-परिवर्तन का कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं मानते।

आपका दौलतखाना कहाँ है? मेरे गरीबखाने पर तशरीफ ले आइये, विराजिये, जलपान कीजिये, कुटिया पवित्र कीजिये, आप किस देश को श्रीक्षीण करके आ रहे है, श्रीमान् किन-किन अक्षरों को सुशोभित करते हैं (क्या नाम है), जूठन गिराइये (भोजन कीजिये) कैसे कृपा की (कैसे आये) कैसे स्मरण किया (किस लिए बुलाया) आदि प्रयोग विनम्रतावश किये जाते हैं। इन क्रम में शब्द के अर्थ ग्राह्य नही होते जो मूल अर्थ है। आपका अनुचर, आज्ञाकारी, स्नेहाधीन, कृपाकांक्षी, विश्वासपात्र आदि प्रयोग भी विनम्रता प्रदर्शित करने के लिए किये जाते हैं। अपने पुत्र के लिए आपका खादिम, दास आदि कहते है, जबकि दूसरो के पुत्र को साहबजादे, राजकुमार, छोटे साहब आदि नाम देते है।

इसी विनम्रता के लिए ईश्वर को दयानिधान, करुणासागर, भक्तवत्सल, दीनबन्धु, निर्बल के बल, संकटमोचन, अधम उद्धारन आदि सबोधनो से सुशोभित करते है। इसी कारण जमीदार, राजा, बादशाह, बडे अफसर को जहाँपनाह, अन्नदाता, पृथ्वीनाथ, आलमपनाह, गरीब परवर आदि नामो से पुकारते है। क्रूर शासक भी धर्मावतार, दयानिधान, कृपासागर कहा जाता है।

विनम्रता-प्रदर्शन तथा सम्मान देने के लिए ब्राह्मण को पंडितजी, महाराजजी, गुरुजी, राजपूतो को ठाकुर साहब, सरकार, राव साहब, सिंह साहब, वैश्य को सेठ जी लाला जी महाजन साहूजी जाट को चौधरी साहब कुम्हार को प्रजापति,

बढई को विश्वकर्मा, सिख को सरदारजी, आर्यसमाजी को महाशयजी, पठान को खान साहब, मुसलमानो को मिर्जा साहब आदि नामों से संबोधित करते हैं।

इसी के अतर्गत फरमाइये, अर्ज है, आज्ञा दीजिये, निवेदन है आदि प्रयोग भी होते है।

4. **सुश्राव्यता**—सुश्राव्यता का अर्थ है ऐसे शब्दों का उच्चारण जो सुनने मे अच्छे लगे। अर्थात् उन्हे सुनकर उद्वेग न हो। इसे उक्ति सस्कार भी कहा जाता है। सुश्राव्यता के लिए अँगरेजी मे 'युफेमिज्म' (Euphemism) शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है अच्छी ध्वनि।

जीवन मे प्राय: ऐसे क्षण आते हैं, जब सकोच, जुगुप्सा, अमंगल, अंधविश्वास या लघुता की भावना से जुडी वस्तुओं, कार्यों या भावो की अभिव्यक्ति मे सकोच होता है। ऐसी अभिव्यक्तियाँ अशोभन होती है। इसलिए हम अशोभन प्रयाग से दूर भागते हैं। प्रयोग की लाचारी होने पर सीधे उसके अशोभन वाचक को त्यागकर हम शोभन शब्दो के द्वारा प्रकारान्तर से कहते हैं। ऐसी दशा मे शोभन शब्द भी अशोभन अर्थ के वाहक हो जाते हैं। अर्थात् मौलिक अर्थ से हटकर वे उक्त व्यापार, कार्य या वस्तु के बोधक बन जाते हैं। इस प्रकार अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन में कभी-कभी साहचर्य या सादृश्य का योग भी दिखाई पड़ता है।

'यूफेमिज्म' का अर्थ है 'a pleasant way of refering to something unpleasant अर्थात् फूहड़, बुरी, अश्लील, अशोभन, अमागलिक बातो को सुघड़ ढंग से व्यक्त करना। शोभन प्रयोग में हम न केवल शब्द या वाक्यांश मे ही, बल्कि अर्थ मे भी सुघरपन ले आ देते हैं। कुछ लोगों ने इसे अर्थापदेश कहकर बड़ा भ्रामक नाम दिया है।[1]

काव्यशास्त्र मे अशोभन या अश्लीलत्व को दोष माना गया है। क्रीड़ा, जुगुप्सा, अमंगल को अश्लीलत्व के अंतर्गत माना जाता है। अश्लील लज्जाजनक होता है। अत: उसे सीधे न कहकर हम प्रकारान्तर से व्यक्त करते हैं।

(क) **व्रीड़ा**—व्रीडा का अर्थ है लज्जा। यौन अगों, क्रियाओं, मल-मूत्र त्याग सबधी व्यापारों को अभिधा या रूढ शब्दों मे व्यक्त करना लज्जाजनक होता है। इनकी अभिव्यक्ति मे सकोच होता है। फलस्वरूप अन्य शब्दो में इन्हें व्यक्त किया जाता है। जैसे लिंग का अर्थ है चिह्न। किंतु अब यह शिश्न के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

मल-त्याग के लिए हम शौच जाना कहते हैं। शौच का अर्थ है स्वच्छता। मल-त्याग स्वच्छ होना ही तो है। इसी प्रकार दिशा फिरना (दिशाओं मे घूमना), मैदान जाना, नदी जाना, बाहरी अलंग जाना, निवृत्त होना, निपटना (निबटना), लैट्रिन जाना, इग्लैण्ड (विलायत) जाना, पाकिस्तान जाना, बाथरूम या ट्वायलेट

---

1. भाषालोचन—सीताराम चतुर्वेदी, पृ० 433

जाना आदि अपना अर्थ खो चुके हैं और मल-त्याग के अर्थ मे प्रचलित हो गये है। टट्टी (आड) इसलिए प्रयोग मे आया कि मल-त्याग के लिए टट्टी (बाड या अवरोध) बना देते थे। पाखाना का अर्थ ही है पैर रखने की जगह। अँगरेजी मे to attend nature's call और to ease भी इसी दिशा मे किये गये प्रयत्न हैं।

मैथुन शब्द का मूल अर्थ है मिथुन(जोड़े) द्वारा किया गया कार्य। इसी प्रकार सहवास का अर्थ है साथ रहना, समागम का साथ आना, सभोग का साथ आनन्द लेना, बलात्कार का बल प्रयोग आदि साहचर्य के कारण यौन-सम्बन्धो का अर्थ व्यक्त करते हैं। Compromising position आदि के द्वारा यौन-सम्बन्ध की ही अभिव्यक्ति की जाती है।

गर्भिणी कहना अशोभन, अश्लील या लज्जाजनक है। अतः दिन चढना, महीना न आना, पाँव भारी होना, आस होना, उम्मीद से होना, खटाई प्रिय होना, आदि प्रयोग इसी सदर्भ मे किये जाते हैं।

भोजन के अर्थ मे भकोसना, लीलना, गटकना, घेपना (भोजपुरी) आदि शोभन शब्द नही होते। इनका प्रयोग करने में संकोच होता है। लक्ष्मी नारायण करना, भोग लगाना, भोजन करना, प्रसाद पाना आदि इस सदर्भ मे शोभन प्रयोग हैं।

(ख) **अमगल, अशुभ अथवा बुरा**—मृत्यु, व्याधि, वैधव्य आदि के वाचक शब्द इस श्रेणी मे आते है। 'मर गया' न कहकर स्वर्गवास होना, मुक्त होना, पच तत्त्व को प्राप्त होना, गगालाभ, असार-ससार छोडना, स्मृतिशेष, कथाशेष, लोकान्तर गमन, वैकुण्ठ लाभ होना, देहान्त आदि के शोभन प्रयोग किये जाते हैं। अँगरेजी मे इस अर्थ मे Pass away, Pass out, to be no longer आदि प्रयोग होते हैं।

वैधव्य के लिए सुहाग लुटना, माँग का सिन्दूर पुँछना, माँग सफेद होना, चूड़ी फूटना आदि प्रयोग होते हैं। शव को माटी या मिट्टी कहते हैं। अस्थिशेष को 'फूल' कहा जाता है। रुग्ण होने को जी खराब होना, तबीयत खराब होना, दुश्मनो की तबीयत नासाज होना आदि के द्वारा व्यक्त किया जाता है। दूकान बन्द करने के स्थान पर दूकान बढाना, दिया बुझाने के स्थान पर दिया बढ़ाना आदि कहा जाता है।

(ग) **जुगुप्सा**—घृणास्पद या भयास्पद वस्तुओ, कार्यो आदि की अभिव्यक्ति रूढ़ शब्दों से न करके भिन्न शब्दों से की जाती है। कीड़े पडना, मक्खियाँ भिनभिनाना, कोढ फूटना या चूना, कीडे बिलबिलाना आदि प्रयोग शिष्ट रुचि के विपरीत है। अतः ऐसे प्रयोग वर्जित-से हैं। इसी प्रकार साँप को कीरा या रसरी, बिच्छू को टेढकी, चेचक को शीतला आदि नाम से द्योतित करते हैं। साँप काटना को साँप सूँघना कहते है।

हैजा को पेट-मुह चलना, प्लग को महामारी, टीबी० को राजरोग तथा चेचक को माता की निकसारी कहकर उसकी भयंकरता को सुश्राव्य बनाया जाता है। इसी संदर्भ मे अंधे को सूरदास, बहरे को ऊँचा सुनने वाला कहते है।

(घ) अंधविश्वास—प्राय. प्रत्येक भाषा मे अधविश्वास से शब्द-प्रयोग और अर्थ परिचालित होते है। मनुस्मृति में कहा गया है—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्य कलत्रयो:।

अर्थात् कल्याणकामी व्यक्ति को अपना, गुरु का, अत्यन्त कृपण का, ज्येष्ठ संतान का और पत्नी का नाम नही लेना चाहिए। जो लोग अंधविश्वासी नहीं है, वे भी ऐसे प्रयोग से दूर ही रहते है। अंधविश्वास के कारण ही चेचक को मोतीझरा, माई, माता, शीतला देवी, महारानी आदि कहा जाता है। चेचक के लिए देवी ने मेरे घर कृपा की है भी कहा जाता है।

स्त्रियाँ अपने पति का नाम नही लेतीं। वे मलिकार, बबुआ के बाबू, पडित जी, ऊ लोग, आदमी, अपने आदि नामो से पति को संबोधित करती है। गृहिणी, घरवाली, मालकिन, मिसेज, होम मिनिस्टर, पेटीकोट गवर्नमेंट आदि शब्द पत्नी-वाचक हो गये है।

अपना नाम न लेने के अंधविश्वासी अपने नाम के व्यक्ति को 'नाम राशि' या मीत या मितवा कहते हैं।

(ङ) लघुता—लघु, हीन या गदे काम करने वालों को भी रूढ नाम से न पुकार कर अच्छे शब्दों द्वारा सबोधित किया जाता है। भंगी को जमादार, मेहतर (महत्तर), हलालखोर कहा जाता है। चमार रैदास हो जाते है। रसोइया को बगाल मे महाराज कहते है। मूर्ख को अल्पबुद्धि या निर्धन को अर्थ-दुर्बल भी कहा जाता है। बनिये को सेठ, सिपाही को हवलदार, व्याख्याता को प्रोफेसर या प्राध्यापक कहना भी इसी के अतर्गत आता है। खाना बनानेवाली को महाराजिन, मिश्राइन कहते हैं। अछूत को हरिजन इसी मानसिकता से कहा गया है।

5 व्यंग्य—कठ ध्वनि का आधार पाकर शब्द अपना प्रचलित रूढ़ अर्थ खो देते हैं तो व्यग्य अर्थ प्रकट होता है। यह व्यग्य किसी पर आक्षेप करने या उसका मजाक उड़ाने के लिए किया जाता है। यह अँगरेजी की आयरनी का समानार्थी है। व्यग्य से शब्दों का अर्थ अर्थादेश से परिवर्तित हो जाता है। जैसे सरस्वती के अवतार, लक्ष्मीपति और धन्ना सेठ के अर्थ मूर्ख, दीन और निर्धन हैं। अक्ल के समुद्र, बृहस्पति से मूर्खता द्योतित की जाती है। आँख के अधे नाम नयनसुख, नाच न जाने आँगन टेढ़ा, नाम पृथ्वीपाल भू बिसवा भर नही, गोबर गणेश, नाम चीनीप्रसाद सवाद गुड़ का भी नही आदि मुहावरे और लोकोक्तियाँ व्यग्य का ही उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। झूठे को युधिष्ठिर का अवतार, आततायी को

कृपानिधान, कुरूप को कामदेव कहना भी व्यंग्य का उदाहरण है।

6 **भावात्मक बल**—भावात्मक बल के कारण भी बहुत-से शब्दों के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। कभी-कभी भावात्मक बल व्यंग्य के निकट पहुँच जाता है किन्तु वह व्यंग्य होता नहीं। बच्चे को लाड-प्यार से शैतान, पाजी, दुष्ट, बदमाश आदि कहते हैं। कभी-कभी जिगरी दोस्त को 'कहो बेटा', 'हट साले', 'जा बे चूतिये की औलाद', 'नालायक' जैसे शब्दों और वाक्य-खण्ड कहकर प्रेमाधिक्य का परिचय देते है।

कभी घृणा और क्रोध में भी भावात्मक बल होता है। 'राम-राम' यह क्या किया? यहाँ राम-राम का अर्थ छीः-छीः या थू-थू है। भावातिरेक में भी भयानक या भयंकर चतुर, प्रचण्ड मूर्ख, तुमुल काण्ड, दारुण शीत, जैसे प्रयोग चलते हैं।

दाँत निपोरना, पाला मार जाना, आसमान सिर पर उठा लेना, फूँक से पहाड़ उड़ा देना, अंगार बरसाना आदि मुहावरों में भी भावात्मक बल के कारण ही अर्थ द्योतित होता है जो रूढार्थ से भिन्न है।

7. **सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग**—कभी-कभी अर्थ-विस्तार के द्वारा सामान्य अर्थ में प्रचलित शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग होने लगता है। सब्जी का अर्थ हरी तरकारी है, किन्तु आज आलू, प्याज, कटहल सभी तरकारियाँ सब्जी कही जाती है। स्याही वह है जो स्याह (काली) हो, किन्तु लाल, नीली सभी तरह की रोशनाई को अब स्याही कहते है। इसी प्रकार कोयला, कौआ, उल्लू, गीदड़, लोमड़ी आदि के नर-मादा दोनों का बोध एक ही शब्द-प्रयोग से हो जाता है।

8 **अज्ञान, भ्रांति अथवा अनभिज्ञता**—कभी-कभी अज्ञान, भ्रांति या अनभिज्ञता के कारण किसी शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, वह वास्तव में उसका अर्थ नहीं होता। धीरे-धीरे पुराना अर्थ लुप्त हो जाता है और अज्ञानादि से प्रचलित अर्थ ही प्रचलन में आ जाता है। जैसे 'खालिस' का अर्थ है शुद्ध, किन्तु अज्ञान के कारण लोग निखालिस शब्द का प्रयोग करते है, जिसका अर्थ है 'जो खालिस नहीं है' अर्थात् मिलावटी। जायसी ने मुरुख को अमुरुख लिखा है—'सो अमुरुख जो करन चह लेखा।' 'अलोप' का भी प्रयोग जायसी ने किया है। 'असल में' की जगह लोग दरअसल में का प्रयोग करते हैं। दर का अर्थ ही है 'में'। विन्ध्याचल पर्वत, हिमाचल पर्वत आदि में अचल पहाड़ का द्योतक होने पर भी पर्वत शब्द का प्रयोग लोग अज्ञानवश करते है। अकलंक, बेवाहियात, बेफालतू, बेफजूल आदि प्रयोग अज्ञान के कारण होते है। धन्यवाद का अर्थ है प्रशंसा, किन्तु अब वह आभार, शुक्रिया के लिए चलने लगा है। 'पाव' का अर्थ रोटी है, किन्तु अज्ञान के कारण पाव रोटी का प्रयोग होता है। ठढ के साथ पर ठढी और प्राइड के स्थान पर घमंड के लिए प्राउड का प्रयोग भ्रांति का

नमूना है। इसी प्रकार रिस्टवाच घड़ी, अश्वमेध यज्ञ, सज्जन व्यक्ति, मेन रोड सड़क, समतल धरातल में वाच, मेध, जन, रोड, तल आदि में उनके पर्यायवाची शब्द घड़ी, यज्ञ, व्यक्ति, सड़क, तल अज्ञान या भ्रांति के कारण ही प्रयुक्त होते हैं। इसमें पुनरावृत्ति दोष अज्ञान के कारण आ जाता है।

9. **अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द**—हस्तिन् मृग, फाउन्टेन पेन, हाफ पैंट, कैपिटल सिटी, प्रिंसिपल टीचर के स्थान पर हस्तिन्, पेन, पैंट, कैपिटल, प्रिंसिपल के प्रयोग में प्राचीन अर्थ की जगह नया अर्थ आ गया है। पैंट का अर्थ अब फुल पैंट विकसित हो रहा है। कैपिटल और प्रिंसिपल शब्द सिटी और टीचर के विशेषण न होकर अब जातिवाचक संज्ञा रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

पचांग पत्रक के लिए 'पत्रा', जन्मकुंडली के लिए 'कुंडली', विक्रमी संवत् के लिए 'संवत्', जगन्नाथपुरी के लिए 'पुरी', देव मंदिर के लिए 'मंदिर', राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लिए 'संघ', हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए 'सम्मेलन', मुस्लिम लीग के लिए 'लीग' आदि प्रयोग में अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग अर्थ-संकोच के कारण होने लगा है। रेलगाडी को गाड़ी, नेकटाई को 'टाई', बाइसिकिल को बाइक आदि कथन दैनिक जीवन में होते हैं।

10. **शब्दों का अधिक प्रयोग**—शब्द के अति प्रयोग से अर्थ की चमक धूमिल हो जाती है। कहा भी गया है—'अति परिचयादवज्ञा।' अति परिचय से अवज्ञा उत्पन्न होती है। अत्यधिक प्रयोग से शब्द के अर्थ का संदर्भ समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में सार्थक शब्दों की सत्ता भी निरर्थक जैसी हो जाती है, क्योंकि अर्थ का स्पन्दन समाप्त हो जाता है।

विराट् सभा होगी, महान् चित्र, रुपहला पर्दा, अखिल भारतीय आदि वाक्य-खण्ड निरर्थक हो गये हैं, क्योंकि हर चित्र महान् और हर सभा विराट् नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्वागत, समाजवाद, क्रांति, कला, नेता, बलिदान, धन्यवाद, अभिनन्दन, समारोह, उद्घाटन, शिलान्यास आदि शब्दों के निरर्थक प्रयोग से ये अपना अर्थ खो बैठे हैं। मंत्री, गवर्नर, चुनाव, जीत, हार, जनमत आदि शब्दों के दुरुपयोग से इनके अर्थ में गिरावट आई है। इनके अर्थ का अवमूल्यन हो गया है। प्रयोग तथा दुष्प्रयोग से इनका अर्थ-सम्बन्ध बुरी तरह प्रभावित हुआ है। ऐसे ही शब्दों का 'मुल्लमा छूट जाने' की बात अज्ञेय ने कही है।

'जे बासे के बीच में', 'हम कहतानी', 'मैंने कहा' का तकिया कलाम रूप में अति प्रयोग करने से इनका अर्थ चुक गया है। अज्ञेय तथा नयी कविता के कवियों ने ऐसे शब्दों को संस्कार देकर नयी अर्थ चमत्कृति प्रदान की है।

11. **किसी राष्ट्र या जाति के प्रति मनोभाव**—एक जाति या राष्ट्र की मनोभावनाएँ जब दूसरे राष्ट्र या जाति के प्रति बदल जाती है तो उनसे संदर्भित शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है। जैसे ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में

असुर का अर्थ देवता है। बाद में जब ईरानी और आर्य जातियो मे मतभेद हो गया तब आर्यों ने 'असुर' मे 'अ' को निषेधवाचक उपसर्ग मानकर सुर को देवता का वाचक बनाया। इसी प्रकार हिन्दू का अर्थ फारसी कोशो मे चोर, डाकू, गुलाम आदि मिलता है। चीन के साथ भारत का मनमुटाव हो जाने से पचशील शब्द का अर्थ अपनी महत्ता खो बैठा है। बुद्ध शब्द से बुद्धू बना है। पूँजीवाद, सामतवाद, जमीदार,तालुकेदार आदि शब्द भी अपनी महत्ता नये राष्ट्रीय सदर्भ मे खो चुके है और हीन भावना को उजागर करते है।

12. **एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन**—जब किसी भाषा वर्ग के एक शब्द में परिवर्तन होता है तो उस वर्ग के अन्य शब्दो मे भी परिवर्तन हो जाता है। एक भाषा वर्ग में अर्थ की एकरूपता के निर्वाह के लिए यह परिवर्तन स्वाभाविक हो जाता है। जब असुर का अर्थ देवता से राक्षस हुआ तो इस वर्ग के अन्य शब्दों जैसे आसुरी आदि के अर्थ मे भी परिवर्तन आया। सर्प का अर्थ रेगने वाला प्राणी था, किन्तु अब उसका अर्थ संकुचित होकर मात्र एक प्राणी का वाचक हुआ तो सर्पिल, सर्पिणी आदि शब्दों के अर्थ मे भी परिवर्तन हुआ। गाय का अर्थ गमन करने वाली की जगह एक पशु-विशेष के रूप मे जब संकुचित हुआ तो इससे सदर्भित अन्य शब्दो के रूप भी बदल गये। 'रामजनी' का अर्थ वेश्या होते ही वेश्या के मुहल्ले को रामगज और उसकी गली को 'रामगली' कहा जाने लगा। वान्द्रियँज ने फ्रांसीसी भाषा के शब्दों के उदाहरण से इस परिवर्तन की प्रक्रिया को समर्थित किया है।

13. **एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन**—कभी-कभी तद्भव शब्दों के साथ उनके तत्सम रूप भी प्रचलन मे रह जाते है। दोनो शब्दों के महत्त्व को अलग-अलग रेखांकित करने के लिए तत्सम शब्द को श्रेष्ठ अर्थ तथा तद्भव को हीन अर्थ प्रदान किया जाता है। अनजाने ही तत्सम शब्द की प्राचीनता-भक्ति श्रेष्ठता का आधार स्वीकार कर ली जाती है। वश>बाँस, गर्भिणी>गाभिन, स्तन>थन, स्थान>थान, वत्स>बछड़ा, वार्ता>बात, भद्र>भद्दा, प्रणाली>पनाली, तिलक>टिकुली, परीक्षक>पारखी, साधु>साहु।

बील ने इसे भेदभाव का नियम (Law of differentiatoin) कहा है।

14. **गौण अर्थ की प्रधानता**—साहचर्य के कारण कभी गौण अर्थ प्रमुख हो जाता है। सिन्धु के साहचर्य से नमक को सैधव, उडद को कम्बोजी और सूरत से सम्बन्ध होने के कारण तम्बाकू को सुरती कहना इसी प्रकार के उदाहरण है।

15. **व्यक्तिगत योग्यता**—व्यक्ति की शिक्षा, संस्कार, परिवेश और सामाजिक भिन्नता के कारण अर्थ मे भेद आ जाता है। धर्म शब्द का हिन्दू के लिए दूसरा अर्थ और मुसलमान के लिए दूसरा अर्थ है। ब्रह्म शब्द दार्शनिक के लिए और अर्थ देता है और ग्रामीण 'बरम्ह' शब्द का अर्थ कुछ दूसरा है।

टकर ने ठीक ही कहा है कि शब्द एक प्रकार का सिक्का है, जिसका मूल्य निश्चित नहीं है। बोलने और सुनने वाला उसका यादृच्छिक मूल्य ले सकते हैं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 1. पीढ़ी-परिवर्तन, 2. एक भाषाभाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना, 3 नवीन वस्तुओं का प्रचलन, 4. पुनरावृत्ति, 5. विभाषा से शब्दो का उधार लेना आदि को भी अर्थ-परिवर्तन का उपर्युक्त कारणो से अलग कारण मानते है।

पीढ़ी-परिवर्तन वास्तव में परिवेश-परिवर्तन ही है। अतः इसका विवेचन परिवेश या वातावरण के अतर्गत किया जा सकता है। इसी प्रकार एक भाषा-भाषी लोगो का तितर-बितर होकर बसना भी परिवेश के अतर्गत ही विचार्य है। पुनरावृत्ति वास्तव मे अज्ञान या भ्रांति से ही होती है। विभाषा से उधार लिये गये शब्दों मे अर्थ-परिवर्तन उधार लेने के कारण नही होता, बल्कि अपनी भाषा की परिस्थितियों के आलोक मे होता है। अत. उपर्युक्त कारणो को अलग से गिनना और अर्थ-विचार मे अनावश्यक विस्तार करना उचित प्रतीत नही होता।

शब्द-रचना की अन्य पद्धतियाँ

1. प्रयत्न लाघव की भावना से हम आजकल शब्दों को सक्षिप्त कर लेते है—सविद, भालोद, जसा, बिस्कोमान, यूनेस्को, यू. एन. ओ., नाटो, यू. के., यू. एस.ए., इप्टा, मिग (जहाज निर्माता मिकोयान और गुरेविच के प्रथमाक्षर), नेफा आदि।

2. अधविश्वास—इस अधविश्वास के आधार पर कि चन्द्रमा से अमृत करता है सुधाधर, सुधाकर, अमृतांशु आदि। साँप आँख से सुनता है, इस अंधविश्वास के कारण साँप को चक्षुश्रवा कहते हैं। कपूर को मेघसार और कोयल को काकसुता अंधविश्वास से ही कहा जाता है।

3. व्यक्तियों के नाम पर— दैत्य ऐटलस के चित्र छापने के कारण भूगोल पुस्तिका का नाम ऐटलस पड़ा। बाइकाट शब्द चार्ल्स कनिघम बायकाट के नाम पर प्रचलित हुआ।

4. स्थान के नाम पर—कश्मीरा(काश्मीर का गर्म कपड़ा), सुरत, कम्बोजी, सैंधव, मिश्री, मगही, जगन्नाथी, जापानी, बम्बइया, लखनौवा आदि।

5. स्वरूप के आधार पर— फूल के कारण फूलगोभी, बन्द होने से बन्दगोभी, गाँठ होने से गाँठ गोभी, करमकल्ला (करम-सब्जी, कला—सिर, सिर की तरह जिसका आकार हो), चारपाई, चौपाया, तिपाई, त्रिपाद, एकदन्त (एक दाँत दिखने से हाथी), द्विरद(हाथी के दो दाँत, खाने के और दिखाने के) आदि।

इसी प्रकार प्रयोग के आधार पर (रबर—जिसे रब किया जाय), रंग के आधार पर (सब्जी), ध्वनि के आधार पर (खड़खड़िया आदि), दृश्य के आधार

पर (जगमग, चकमक), जन्म के आधार पर (अंडज, पिंडज, स्वेदज), स्थिति के आधार पर (तीरस्थ से तीरथ-तीर्थ), प्रतिध्वनि और सादृश्य के आधार पर शब्दो का निर्माण होता है।

पर्याय विकास के कारण

पर्यायवाची शब्द मुख्यत. समानार्थी होते है। पूर्ण पर्याय को एकार्थी और अपूर्ण पर्याय को समानार्थी कहते हैं। एकार्थी के एक अर्थ होते है। समानार्थी मे अर्थ एक न होकर समान होते है।

अर्थ-परिवर्तन—जैसे राम-राम, यह क्या किया ! यहाँ राम-राम का अर्थ छीः-छीः है।

विकास के साथ नया ज्ञान—लाल रंग को ज्ञान के विकास के साथ सिंदूरी, गुलाबी, प्याजू, लाखा, तरबूजी आदि भेद हो जाते है।

विदेशी संपर्क, प्रत्यय-उपसर्ग, अनुवाद, पुराने शब्दो को पुनः प्रचलित कर, सक्षेप, जनभाषा के शब्दो को अपनाकर तथा ध्वनि-परिवर्तन से पर्याय शब्दो की रचना होती है।

वाक्य-विज्ञान

वाक्य भाषा का लघुतम उच्चार है। भाषा शब्द भाष् धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है बोलना। वाक्य की व्युत्पत्ति वाक् (वाच) धातु से मानते हैं। वाक् का अर्थ भी बोलना है। इस प्रकार भाषा और वाक्य दोनों का अर्थ बोलना ही निर्धारित किया गया है। वाक्य का अर्थ है 'वह जो बोला जाय।' भारतीय आचार्यों ने 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द समूह को वाक्य' कहा है।

ध्वनि, पद, अर्थ आदि भाषा के एकांश माने गए हैं, किंतु उच्चार या भाषा में वाक्य की ही प्रधानता है। यह सही है कि ध्वनि और शब्द या पद सार्थक होते हैं, किन्तु पूर्ण अर्थ या अभिलषित अर्थ की अभिव्यक्ति वाक्य से ही होती है। जैसे, राम है जाता घर मोहन खाता रोटी है। उपर्युक्त उदाहरण में ध्वनि, शब्द या पद सार्थक है, किन्तु इनसे पूर्ण अर्थ या इच्छित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। राम घर जाता है और मोहन रोटी खाता है से इच्छित अर्थ व्यजित होता है।

वाक्य को परिभाषित करते हुए ब्लूमफील्ड ने कहा है—'वाक्य एक पूर्ण उक्ति है।'

बाजेल के अनुसार, 'वाक्य एक ऐसी छोटी-से-छोटी इकाई है, जो इसी प्रकार की अन्य इकाइयों के साथ प्रतिनिधानीय सम्बन्ध रखती है'—The Sentence, the smallest unit such that every unit of the kind is commutable with every other.[1]

सिमोन पॉटर कहते हैं कि 'वाक्य भाषा की मुख्य इकाई और लघुतम पूर्ण उच्चार है'—The sentence is the chief unit of speech. It may be difined quite simply as a minimum complete utterance.[2]

ग्लीसन कहते है कि 'रूप और वाक्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है'—The distinction between morphology and syntax is not always sharp.[3]

---

1. लिंग्विस्टिक फार्म—सी० ई० बाजेल, पृ० 8
2. मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स—सिमोन पॉटर, पृ० 104
3. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रीप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन पृ० 128

इतना तो स्पष्ट है कि वाक्य का सम्बन्ध रूप या पद से है। पद ही वाक्य की प्रमुख रूप से सक्रिय इकाई होती है। अतः वाक्य के अन्तर्गत पदों का परस्पर सम्बन्ध अनिवार्य महत्त्व का होता है—'पदना परस्परान्वये पदार्थवशादाधिक्य संसर्ग स वाक्यार्थः।'

डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते हैं कि 'पद या शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड है।'

डॉ० तिलक सिंह का कहना है कि 'भाषा संरचना की सबसे बड़ी इकाई, जिसमें अनुतान-कन्टूर विद्यमान रहता है, वाक्य कहलाती है।'

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'वाक्य पूर्णतः मानसिक या मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। उसमें पदों का प्रयोग भाव या विचार के अनुसार होता है।'

वाक्य भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाई है। इसके रचना-पक्ष को महत्त्व देने वाले आचार्यों ने वाक्य की रचना, रूप अथवा प्रक्रिया को परिभाषा में समाविष्ट किया है। जिन आचार्यों ने वाक्य के प्रयोजन पक्ष को प्रमुखता दी है, उन्होंने उसके उद्देश्य को परिभाषा में व्यंजित किया है।

वाक्य को भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाई कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा के संप्रेषण का संपूर्ण दायित्व वाक्य पर है। इस दृष्टि से ब्लूमफील्ड की व्यंजना अधिक सार्थक है कि वाक्य एक पूर्ण उक्ति है। वाक्य या वाक्यों के द्वारा वक्ता के विचारों को अभिव्यक्ति मिलती है। वाक्य के संरचक तत्त्व पद होते हैं। पदों का परसर्गों या विभक्तियों के साथ प्रयोग होने पर ही वाक्य-रचना होती है।

वाक्य-विज्ञान में वाक्य का स्वरूप विवादास्पद रहा है। वाक्य को परम्परागत वैयाकरणों और आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने विभिन्न कोणों से देखा-परखा है। पद और वाक्य के सापेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में भारतीय मीमांसक एकमत नहीं हैं। एक पक्ष पद को और दूसरा पक्ष वाक्य को महत्त्व प्रदान करता है। उनके सिद्धान्त क्रमशः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के नाम से ख्यात हैं।

अभिहितान्वयवाद की मान्यता है कि पदों की संघटना से वाक्य बनता है। इसलिए भाषा में स्वाभाविक और मूल सत्ता पदों की है।

अन्विताभिधानवाद के अनुसार पदों की अलग कोई सत्ता नहीं होती।

भाषा में वाक्य की ही मौलिक सत्ता होती है। वाक्य को तोड़ने से ही पद या रूप की प्राप्ति होती है। अन्विताभिधानवाद का समर्थन करते हुए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

> पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
> वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन्।[1]

अर्थात् जिस प्रकार पदों में वर्णों की और वर्णों में उनके अवयवों (रेफ आदि) की

1. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, पृ० 81

सत्ता नही है, उसी प्रकार वाक्य मे पृथक् पदों की कोई सत्ता नही है।

वाक्य की सत्ता को स्वीकार करते हुए पुण्यराज ने भी कहा है—'पदार्थ एव वाक्यार्थ.।' मम्मट ने अन्विताभिधानवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है—'वाच्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनः।' अर्थात् वाक्यार्थ वाच्य ही होता है, यह अन्विताभिधानवादियो का मत है।

जो हो, दोनो मतवादी आचार्य यह मानते हैं कि पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह की सज्ञा वाक्य है। वाक्य और पद दोनों का अस्तित्व इतना क्लिष्ट है कि उनका स्पष्ट अन्तर प्रकट करना बड़ा कठिन है। ग्लीसन ने भी कहा है कि पद और वाक्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है।

आधुनिक भाषाविज्ञान वाक्य को ही महत्त्वपूर्ण सार्थक इकाई मानकर भाषा के विश्लेषण की ओर अग्रसर है। अन्विताभिधानवादी सिद्धान्त से उनका सहज सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान और अन्विताभिधानवाद की सहमति के बावजूद अभिहितान्वयवादियो की स्थापना को सर्वथा गलत नही माना जा सकता। जब पद और वाक्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीची जा सकती तो अभिहितान्वयवादियो की इस स्थापना को कि पद ही भाषा का प्रमुख तत्त्व है, सर्वथा अस्वीकार्य नही किया जाना चाहिए।

'पदे न वर्णा' कारिका की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने कहा है—'वर्णाः पदानि च असत्यानि वाक्यमवेतु अक्रमम्पूर्वापरमेक नित्य सत्यम्।'[1] अर्थात् वर्ण और पद असत्य हैं। वाक्य ही क्रम और पूर्वापर से रहित, एक, नित्य और सत्य है।'वाक्य की ये विशेषताएँ वर्ण और पदों की सापेक्षता मे ही सच है। निश्चय ही वाक्य पर क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध का बन्धन इतना नही है, जितना वर्ण और पद पर है।'[2] वाक्य भाषा की लघुतम सार्थक इकाई होने पर भी संपूर्ण अभिव्यक्ति का एक अंशमात्र है। तात्पर्य कि वाक्य सपूर्ण वक्तव्य का एक खण्ड है, हिस्सा है। डॉ० बाबूराम सक्सेना के मत से 'इस चर्चा मे हम न भी जाएँ कि वह वक्तव्य भी मनुष्य की सपूर्ण विचारधारा की एक लहर मात्र है और मनुष्य की सपूर्ण विचारधारा भी विचार की एक बडी धारा का अवयव मात्र है तो भी वाक्य वक्तव्य का अश होने के कारण क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध से तो बँधा हुआ है ही।'[3]

वाक्य की निरपेक्ष सत्ता नहीं होती। एक वाक्य अन्य वाक्यो से सदर्भित होता है। एक ही वाक्य सपूर्ण विचार को धारण करने मे असमर्थ है। वाक्य सम्पूर्ण

1. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, पृ० 82
2. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 133
3. सामान्य भाषाविज्ञान—डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० 208

विचार, वक्तव्य या अभिव्यक्ति का अंश है। जैसे ध्वनियों की सार्थकता पद या रूप में है और पद की सार्थकता वाक्य के संदर्भ में होती है, उसी प्रकार वाक्य की सम्पूर्ण विचार के संदर्भ में सार्थकता स्वयंसिद्ध हो जाती है। व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से एक वाक्य सम्पूर्ण हो सकता है, किन्तु प्रेषणीयता के संदर्भ से वह सम्पूर्ण प्रेषण-व्यापार का एक अंग मात्र ही ठहरता है। तात्पर्य कि अर्थ की दृष्टि से वाक्य की सत्ता को सापेक्ष मानना उचित होगा। डॉ० भोलानाथ तिवारी भी कहते हैं कि 'वाक्य पूर्ण (पूरे भाव) के खण्ड मात्र हैं, अतः अपूर्ण हैं।'[1] मनोवैज्ञानिक भी वाक्य को अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि वह भाव की अविच्छिन्न धारा का अंश मात्र हैं।

वाक्य की संरचना पदों या रूपों से होती है। रूप के बिना वाक्य की संरचना नहीं हो सकती। अतः पद जोड़कर वाक्य की संरचना हो या वाक्य को तोड़कर पद की उपलब्धि हो, पद की अपनी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पद या रूप में संरचना और अर्थ तत्त्व का संयोग होता है। संरचना अथवा उच्चारण का सम्बन्ध शरीर से है और अर्थ मन से सम्बन्धित है। 'पद ध्वनि और वाक्य के बीच की कड़ी है, क्योंकि उसमें उच्चारण और सार्थकता दोनों का योग रहता है, किन्तु न तो ध्वनि की तरह वह केवल उच्चारण है और न वाक्य की तरह पूर्णतः सार्थक।'[2]

अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पदार्थों का परस्पर संबंध पदों द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षादि के बल से भाषित होता है। उनके अनुसार पद की संरचना से ही वाक्य के अर्थ की सिद्धि होती है। आचार्य विश्वनाथ ने वाक्य रूप पद समूह की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है—'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।'[3] अर्थात् वाक्य ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है।

राजशेखर ने वाक्य के सरल स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है—'पदानामभिधित्सितार्थ ग्रथनाकरः संदर्भो वाक्यम्।' अर्थात् अभिधित्सित (जिसके प्रतिपादन की इच्छा हो) अर्थ का गुम्फन करने वाले पदों का संदर्भ वाक्य है। अर्थ-गुम्फन पर मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र और भाषाविज्ञान की दृष्टियों से विचार किया गया है। तर्कशक्ति के द्वारा 'योग्यता' का निर्धारण होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि 'आकांक्षा' की उपादेयता सिद्ध करती है। भाषाविज्ञान 'आसत्ति' की विशेषताओं पर बल देता है। 'इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति की

---

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 208
2. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 253
3. साहित्य दर्पण, 2/1, पृ० 31

विशेषताएँ हुए अभिधिप्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पद संदर्भ की विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गई हैं।[1] मीमांसक आकांक्षा को प्रथम स्थान देते हैं तो नैयायिक योग्यता को और वैयाकरण आसत्ति को।

1 **योग्यता**—एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध योग्यता है—'एक पदार्थेऽपर पदार्थसम्बन्धो योग्यता।' दूसरे आचार्य एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय (सम्बन्ध) की योग्यता कहते हैं—'योग्यता परस्परान्वय प्रयोजक धर्मवत्त्वम्।' आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय में बाधा का अभाव योग्यता है। 'आग से सींच रहा है'(वह्निना सिञ्चति) वाक्य के आग और सींचना शब्द में अर्थ का अन्वय नहीं होता। अर्थ की प्रतीति में यहाँ बाधा हो जाती है। कारण कि सींचना क्रिया—वस्तु को आर्द्र करना, भिगोना का अर्थ अन्वित नहीं होता। 'पयसासिंचति', अर्थात् जल से सींच रहा है में अन्वय की बाधा का अभाव होने से जल के द्रवत्व और सींचना क्रिया का अन्वय प्रयोजित हो जाता है। व्याकरणिक संरचना में भी अन्वय की बाधा होती है। जैसे राम जाती है (लिंग विषयक अयोग्यता), हमने बोला था (विभक्ति की अयोग्यता) आदि में व्याकरणिक संरचना के कारण अर्थ के अन्वय में बाधा उपस्थित होती है।

'योग्यता' वास्तव में अर्थ धर्म है, किन्तु उसे पदोच्चय धर्म भी माना जाता है। 'अर्थ और योग्यता का साक्षात् सम्बन्ध है, जिससे यह सिद्ध है कि पद और योग्यता परम्परया सम्बद्ध है।'[2]

2. **आकांक्षा**—वाक्य रूप पदोच्चय में आकांक्षा का होना न केवल आवश्यक, बल्कि स्वाभाविक है। विश्वनाथ ने आकांक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है—'आकांक्षा प्रतीति पर्यवसानविरहः।' अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत प्रतीति की समाप्ति का अभाव आकांक्षा है। इसका अभिप्राय यह है कि आकांक्षा श्रोता की यह जिज्ञासा है कि किस पद का अर्थ किस पद का स्मारक है। जैसे 'घोड़ा लाओ' वाक्य में घोड़ा को लाओ की और लाओ को घोड़ा की आकांक्षा है। वाक्य में एक पद दूसरे पद की आकांक्षा रखता है। मतलब कि वाक्यवर्ती पद परस्पर साकांक्ष अर्थ के बोधक हैं। आकांक्षा से ही कोई पद समूह वाक्य रूप में पहचाना जा सकता है। जैसे 'घोड़ा' पद सुनने के बाद श्रोता 'लाओ' पद सुनने का इच्छुक रहता है। इसीलिए नागेश भट्ट ने परमलघु मंजूषा में कहा है कि 'वाक्य समयग्राहिका आकांक्षा।' ये दोनों पद साध्य-साधन भाव से सम्बद्ध हैं और परस्पर साकांक्ष होने से वाक्य रूप में अन्वित होते हैं।

3. **आसत्ति**—विश्वनाथ के अनुसार 'आसत्तिर्बुद्ध्य विच्छेदः' अर्थात् पदार्थ

---

1. साहित्य दर्पण—सं० डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० 32
2. सहित्य दर्पण, पृ० 33

की अविच्छिन्न (अव्यवहित) उपस्थिति आसत्ति है। 'बुद्ध्यविच्छेद' का तात्पर्य है श्रोता से पद प्रतीति का अविच्छिन्न प्रवाह। नागेश भट्ट के अनुसार 'प्रकृत अन्वय बोध के प्रतिकूल पद का अव्यवधान ही आसत्ति है।' जैसे आज घोडा कहा जाय और कल लाओ कहा जाय तो पदार्थ की अविच्छिन्न उपस्थिति नही है। इसमे 'कालव्यवधान' उपस्थित होने से अर्थ की प्रतीति नही होगी। देश और काल की दृष्टि से पदो की सन्निधि या आसन्नता आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पदो के बीच समय और पदार्थ दोनो के अव्यवधान को आसत्ति कहते है।[1]

डॉ० भोलनाथ तिवारी के मत से भारतीय दृष्टि से वाक्य के लिए पाँच बाते आवश्यक है—सार्थकता, योग्यता, आकाक्षा, सन्निधि और अन्विति। सार्थकता से डॉ० तिवारी का तात्पर्य है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिए। ध्वनि, पद या रूप तथा वाक्य में स्वत. सार्थकता होती है, क्योकि भाषा के ये अवयव सार्थक होने पर ही ग्राह्य और विचार्य होते हैं। अतः ध्वनि, पद और वाक्य सार्थक होते है। उसकी सार्थकता पर अलग से विचार करने की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार योग्यता का अर्थ ही होता है—एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का अन्वय। अत. अन्विति योग्यता के अतर्गत ही अतर्भूत है।

अन्य विद्वान् योग्यता, आकाक्षा और आसत्ति के अतिरिक्त तात्पर्य को भी वाक्य के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार प्रसग-निरपेक्ष प्रयोग तात्पर्य वृत्ति की दृष्टि मे व्यर्थ हो सकते है। 'अत. तात्पर्य वृत्ति वाक्य अथवा वाक्यों की नियोजिका है।'[2]

वाक्य-रचना

वाक्य-रचना पदो के सयोग से होती है। इसमे मुख्यत. चार बाते आवश्यक मानी गई है—1. पदक्रम या शब्दक्रम, 2. अन्वय, 3. लोप, 4 आगम।

1. **पदक्रम**—योगात्मक भाषाओं मे पदक्रम अनिवार्य होता है। चीनी जैसी भाषाओ में पदक्रम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वियोगात्मक भाषाओं में भी पदक्रम के महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। पदक्रम का अर्थ है वाक्य मे निश्चित स्थान पर पद का प्रयोग। जैसे हिन्दी मे कर्ता पहले, कर्म बीच मे और क्रिया अत मे होती है। जैसे 'राम रोटी खाता है।' अँगरेजी में क्रिया कर्ता के बाद होती है। जैसे Ram reads a book.

2. **अन्वय**—अन्वय का अर्थ है व्याकरणिक समरूपता। भाषा मे कर्ता, कर्म, क्रिया, क्रिया-विशेषण, विशेषण आदि के लिग, वचन, पुरुष आदि की अनुरूपता

---

1. रस मीमासा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 303-304
2. भाषाविज्ञान की रूपरेखा—डॉ० हरीश, पृ० 303

होती है। अलग-अलग भाषाओं में अन्वय अलग-अलग होता है। जैसे रामः गच्छति—राम जाता है। सीता गच्छति—सीता जाती है।

3. लोप—वाक्य-रचना में सभी शब्दों का प्रयोग सदा नहीं किया जाता। कभी-कभी कुछ शब्द लुप्त हो जाते हैं। लोप होने वाले शब्द निश्चित होते हैं। जैसे तुम कहाँ जाओगे? श्रोता कहता है— घर। यहाँ 'मैं' तथा 'जाऊँगा' का लोप हो गया है। वाक्य में जिन शब्दों का लोप हो गया होता है उनको अर्थ के लिए ले आना अध्याहार कहलाता है। 'अध्याहार का अर्थ है वाक्य का अर्थ करते समय लुप्त शब्दों को ले आना। उनके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होता।'[1]

4. आगम—अर्थ के लिए कभी-कभी कुछ अतिरिक्त शब्दों को ले आया जाता है। इसे आगम कहते हैं। किन्तु 'अपेक्षित न हों तो अतिरिक्त शब्दों से बचना चाहिए।'[2]

वाक्य में निम्नलिखित बातें दृष्टिगत होती हैं—

(क) वाक्य भाषा की सहज इकाई है।

(ख) वाक्य में एक शब्द भी हो सकता है और एक से अधिक भी।

(ग) वाक्य में अर्थ की पूर्णता हो सकती है और नहीं भी।

(घ) वाक्य व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से पूर्ण होता है। व्याकरणिक पूर्णता कभी-कभी संदर्भ के आश्रित होती है।

(ङ) वाक्य में कम-से-कम एक समापिका क्रिया अनिवार्यतः होती है।

वाक्य के प्रकार

वाक्य का वर्गीकरण निम्न आधार पर किया जाता है—1. पदक्रम, 2. आकृति, 3. रचना, 4. अर्थ, 5. क्रिया-प्रयोग, 6. पदान्वयन।

1. पदक्रम—पदक्रम की दृष्टि से वाक्य के दो प्रकार होते हैं। एक, स्वतंत्र पदक्रम वाले वाक्य, दूसरा निश्चित पदक्रम वाले वाक्य।

स्वतंत्र पदक्रम वाले वाक्य में प्रयुक्त पदों का क्रम स्वतंत्र होता है। इनमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि पदों का स्थान एवं क्रम निश्चित नहीं होता। जैसे रामः पुस्तकं पठति वाक्य को पठति रामः पुस्तकं आदि क्रम में भी लिखा जा सकता है। इस प्रकार इसमें पदों का क्रम स्वतंत्र है। निश्चित पदक्रम वाले वाक्य में पदों का स्थान एवं क्रम निर्धारित होता है। जैसे, राम घर गया या Ram takes rice में पदों का स्थान निर्धारित है। इसमें परिवर्तन लगभग नहीं होता।

2. आकृति—आकृति के आधार पर वाक्य दो प्रकार के होते हैं—अयोगा-

1. भाषाविज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 214
2. वही, पृ० 215

त्मक और योगात्मक ।

अयोगात्मक—अयोगात्मक वाक्य में पदों का रूप अलग-अलग होता है और उनका स्थान निश्चित होता है। चीनी, सूडानी, बर्मी, स्यामी, तिब्बती आदि भाषाओं में इसी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होता है। इसमें स्थान-परिवर्तन से रूपग्रामीय परिवर्तन होता है। सम्बन्ध तत्त्व का बोध कराने के लिए कुछ परिवर्तन करने या जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती।

योगात्मक—योगात्मक वाक्यों में सम्बन्ध तत्त्व प्रत्ययों से प्रकट होता है। किन्तु मूल शब्द और सम्बन्ध तत्त्व अलग पहचाने जाते हैं। मुंडा, सथाली, द्रविड़, एस्पिरैन्तो आदि भाषाओं में वाक्य-रचना योगात्मक होती है। जैसे Kat-in-o = एक बिल्ली।

योगात्मक के तीन रूप—अश्लिष्ट योगात्मक, श्लिष्ट योगात्मक और प्रश्लिष्ट योगात्मक—होते हैं।

अश्लिष्ट योगात्मक—अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य में मूल शब्द विकृत नहीं होता। मूल शब्द के साथ सम्बन्ध प्रत्यय जुड़े रहने पर भी अपनी अलग पहचान बनाये रखते हैं। जैसे Kat-id-o = एक बिल्ली का बच्चा।

श्लिष्ट योगात्मक—श्लिष्ट योगात्मक वाक्य में सम्बन्ध प्रत्यय मूल शब्दों में अपना स्वरूप लुप्त कर देते हैं, फिर भी उनका स्वरूप झलकता रहता है। सम्बन्ध प्रत्यय का अस्तित्व ऐसे वाक्यों में दिखाई पड़ने पर भी अलगाया नहीं जा सकता। जैसे राम.। राम में प्रथमा एक वचन का 'सु' प्रत्यय जोड़कर रामः निष्पन्न हुआ है। 'सु' प्रत्यय के अस्तित्व का ज्ञान विसर्ग से होता है, किन्तु प्रत्यय का व्यक्तित्व विलुप्त हो गया है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक—इस प्रकार के वाक्य में सम्बन्ध तत्त्व और अर्थ तत्त्व प्रश्लिष्ट यानी अधिक घनिष्ठ रूप में जुड़े होते हैं। उन्हें अलग करना तो कठिन है ही, पहचानना भी कठिन कार्य है। जैसे नातेन = लाओ, अमोखोल = नाव, निन = हम। नाधोलिनिन = हमारे पास नाव लाओ।

3. रचना के आधार पर वाक्य के विभेद किये गये हैं। गुरुजी के व्याकरण में वाक्य के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है—साधारण, मिश्र और संयुक्त। कुछ विद्वानों ने वाक्य के केवल दो भेद बताये हैं—सरल और संयुक्त। संयुक्त के अंतर्गत ही जटिल और मिश्र दोनों प्रकारों को सम्मिलित कर लिया गया है।

सन् 1980 में यमुना काचरू का 'हिन्दी का समसामयिक व्याकरण' प्रकाशित हुआ। उन्होंने वाक्य के दो भेद किये हैं—साधारण और जटिल। संयुक्त के अंतर्गत ही उन्होंने जटिल तथा संयुक्त वाक्य को परिगणित किया है। इससे स्पष्ट है कि वाक्य-प्रकारों के विभाजन तथा उनके नामकरण में मतभेद रहा है। मिश्र

वाक्य उसे कहा गया है जिसमें एक प्रधान वाक्य के अधीन एक या अधिक आश्रित उपवाक्य होते हैं । आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं—संज्ञा उपवाक्य, विशेषण उपवाक्य और क्रिया-विशेषण उपवाक्य ।

कर्म या पूरक रूप में प्रधान वाक्य की संज्ञा का कार्य करने वाला वाक्य संज्ञा उपवाक्य है ; जैसे, राम सोचता है कि मैं उसका मित्र हूँ । प्रधान वाक्य में प्रयुक्त संज्ञा की व्याप्ति मर्यादित करने वाला वाक्य विशेषण उपवाक्य है । जैसे मोहन की वह किताब फट गई जो आपने दी थी । वाक्य में प्रयुक्त क्रिया की विशेषता बताने वाला वाक्य क्रिया-विशेषण उपवाक्य है । उदाहरणार्थ, जब तुम कहोगे तभी भोजन होगा ।

डॉ० सूरजभान सिंह ने संरचना की दृष्टि से वाक्य के दो स्थूल भेद करना युक्तिसंगत माना है—सरल और असरल । असरल वाक्यों के फिर दो उपभेद किये गये हैं—संयुक्त तथा मिश्र ।

इस संदर्भ में उन्होंने संरचनात्मक उच्चाधिक्रम (हाइरार्की) में वाक्य का निकटतम घटक उपवाक्य बताया है । स्पष्टतः उपवाक्य ही वाक्य का निर्माण करता है । दूसरी बात यह है कि वाक्य केवल एक उपवाक्य का भी हो सकता है और एकाधिक उपवाक्यों का भी ।

सरल वाक्य—परम्परागत ढंग से सरल वाक्य उसे कहा गया है जिसमें एक उद्देश्य और एक विधेय होता है । अर्थात् एक कर्ता और एक क्रिया से सरल वाक्य की रचना होती है । डॉ० सूरजभानसिंह के अनुसार सरल वाक्य में उपवाक्य अकेला होता है और साथ ही स्वतंत्र उपवाक्य होता है । जैसे डाक्टर ने रोगी को देखा । यहाँ एक उद्देश्य और एक विधेय अर्थात् एक कर्ता और एक क्रिया की योजना है । यह एक अकेला उपवाक्य है, जो स्वतंत्र है ।

असरल वाक्य में कम से कम एक स्वतंत्र उपवाक्य और दूसरा स्वतंत्र या आश्रित होता है । असरल वाक्य के संयुक्त और मिश्र नामक भेद मान्य हैं ।

संयुक्त वाक्य—एकाधिक उपवाक्यों के संयोग से गठित वाक्य संयुक्त वाक्य कहलाते हैं । संयुक्त वाक्य में दो या दो से अधिक स्वतंत्र या प्रधान उपवाक्य होते हैं । इन दोनों उपवाक्यों में समानाधिकरण सम्बन्ध होता है । जैसे डाक्टर ने रोगी को देखा और उसे दवा दी ।

मिश्र वाक्य—मिश्रित और गंभीर विचारों को व्यक्त करने के लिए मिश्र वाक्यों की संरचना की जाती है । एक प्रधान उपवाक्य के अधीन एक या अधिक आश्रित वाक्यों का संघटन मिश्र वाक्य में होता है । डॉ० सिंह के अनुसार जहाँ दोनों में से एक स्वतंत्र / प्रधान और दूसरा आश्रित उपवाक्य होगा, वहाँ मिश्र वाक्य है । स्वतंत्र और आश्रित उपवाक्यों में समानाधिकरण सम्बन्ध न होकर व्यधिकरण या आश्रय / आश्रित सम्बन्ध होता है । जैसे, डाक्टर ने उस रोगी को

देखा जो पंक्ति मे सबसे आगे खडा था। मिश्र वाक्य के आश्रित उपवाक्य अपनी प्रकृति मे प्रधान वाक्य पर आश्रित होते है।

जटिल वाक्य—सयुक्त वाक्य मे दो या दो से अधिक उपवाक्य होते है जो समुच्चयबोधक अव्ययो से जुड़े होते हैं। वे उपवाक्य रचना या आर्थी इकाई की दृष्टि से परस्पर आश्रित नही होते। कुछ वाक्यों मे दो या दो से अधिक समानाधिकरण उपवाक्यों के अतिरिक्त एकाधिक आश्रित वाक्य भी हो सकते है। ऐसे ही वाक्यो को जटिल वाक्य कहा जा सकता है। कुछ वैयाकरण इन्हे सयुक्त वाक्य और कुछ संयुक्त मिश्र वाक्य कहते है। वास्तव मे ऐसे वाक्य ही जटिल वाक्य है। जैसे, वह तुरत उठा और बोला कि मै इसका प्रतिवाद करता हूँ।

4. अर्थ के आधार पर वाक्य के विविध भेद होते है—

विधानार्थी—मैं खाता हूँ।

निषेधार्थी—मैं नही आ सकूँगा।

प्रश्नार्थी—क्या तुम भी जाओगे?

आज्ञार्थी—तुम चलो।

इच्छार्थी—विद्यार्थी को पढना चाहिए।

संदेहार्थी—उस समय तुम पढ़ते होगे।

सकेतार्थी—शायद, मुझे चलना पडेगा।

विस्मयार्थी—अहा, आ गये।

5. क्रिया के आधार पर वाक्य के दो भेद बताये गये है—

1. क्रियायुक्त वाक्य, 2. क्रियाविहीन वाक्य।

1. **क्रियायुक्त वाक्य**—वाक्य योजना मे क्रिया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे क्रिया की व्याख्या करते हुए कहा है—

'आख्यात शब्दे नियत साधनं यत्रगम्यते।'

यास्क ने 'भावप्रधानमाख्यात' बताकर आख्यात मे क्रिया की प्रधानता पर बल दिया है। पुण्यराज ने क्रिया को वाक्य की आत्मा ही कहा है—'आख्यात शब्दो वाक्यमित्यस्मिन् पक्षे क्रिय. वाक्यार्थः।' वार्तिककार भी उसकी महत्ता का दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं—'आख्यात साव्ययकारक विशेषण वाक्यं।'

स्टोक के अनुसार वाक्य मे क्रिया का वही महत्त्व है जो शरीर मे आत्मा का—What the soul is to body, the verb is to sentence. यस्पर्सन, शेरव्हेंज आदि विदेशी विद्वानों ने भी वाक्य में क्रिया के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वाक्य मे क्रिया-प्रयोग अनिवार्य है, क्योकि क्रिया के बिना कर्ता के विधेय का ज्ञान नही हो पायेगा। जैसे, राम जाता है, सीता हँसती है आदि। इन वाक्यो मे जाता और हँसती के साथ 'है' सहायक क्रिया का

योग है। हँसती है और जाता है के बिना राम और मीना की विधेयता प्रकट नहीं होती।

क्रियाविहीन वाक्य—नैयायिक क्रिया के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। जगदीश काश्यप के अनुसार वाक्य परस्पर साकांक्ष और योग्य पदों का समुदाय है। वे क्रिया को वाक्य के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं मानते—'क्रियारहित न वाक्यमस्तीति प्राचां प्रवादो निर्युक्तिक स्वादश्रद्धेयः। नैयायिकों के समान ही अरस्तू भी क्रिया के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते।

कभी-कभी एकाकी पद प्रसंगानुसार वाक्यता ग्रहण कर लेते हैं। जैसे, तुम जाओगे ?—हाँ। भोजन करो।···नहीं। 'हाँ' और नहीं में प्रसंगानुसार वाक्यता का अनुमान कर लिया जाता है। विस्मय, आश्चर्य आदि के बोधक पद भी वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं। ओह, आह जैसे पदों में उद्देश्य और विधेय की योजना न होने पर भी वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसके लिए वाक्य के अन्य अपेक्षित अवयवों, क्रियादि की आवश्यकता नहीं होती। प्रश्नवाचक वाक्य मुहावरे-लोकोक्तियों, विज्ञापन आदि में भी क्रियाहीन वाक्यों की परम्परा चलती है। जैसे, प्रश्न—जाना है ? कहाँ ? मुहावरे-लोकोक्तियाँ—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू, काम का न काज का अढ़ाई सेर अनाज का, गोद में लड़का शहर में ढिंढोरा, अटकल पच्चू डेढ़ सौ, जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ, हाथ-कंगन को आरसी क्या, हाथ का मैल, कलेजे का टुकड़ा आदि विज्ञापन में नव वर्ष का सर्वोत्तम उपहार, दंगे में 50 हताहत आदि।

6. **पदान्वयन**—पदान्वयन का अर्थ है वाक्य में प्रयुक्त पदों का व्याकरणिक कोटियों की दृष्टि से सहप्रयोग। नाम पद और क्रिया पद के विभिन्न पक्षों के सम्यक् सह-सम्बन्ध को पदान्वयन कहा जाता है। जैसे 'वह घर गया।' इसमें लिंग, वचन, कारक आदि का सम्यक् अनुशासन है।

पदान्वयन के तीन भेद Concord, Government और Cross reference माने गए हैं।

वाक्य के अवयव

वाक्य के दो अवयव माने गये है—1. उद्देश्य, 2. विधेय।

उद्देश्य—जिस पद या पद-समूह के बारे में कुछ कहा जाता है, उसे उद्देश्य कहते हैं। हिन्दी में क्रिया का रूपान्तरण उद्देश्य के अनुसार होता है। इस दृष्टि से कर्तृवाच्यमूलक, कर्मवाच्यमूलक और भाववाच्य मूलक वाक्य होते हैं। कर्तृवाच्यमूलक में कर्ता की प्रधानता होती है। कर्मवाच्य में कर्म की और भाववाच्यमूलक वाक्य में भाव की प्रधानता होती है। जैसे, कर्तृवाच्यमूलक—मैं किताब पढ़ता हूँ। **कर्मवाच्य**—मेरे द्वारा किताब पढ़ी जाती है। **भाव**—मुझसे

किताब नही पढ़ी जाती।

विधेय—जिस पद या पद-समूह के द्वारा उद्देश्य के विषय मे कुछ कहा जाता है, उसे विधेय कहते हैं। विधेय का अन्ति महत्त्वपूर्ण अंग क्रिया होती है।

वाक्य के निकटस्थ अवयव भी होते है। वाक्य की अंतस्संघटना के अन्तर्गत वक्ता निकटस्थ अवयवो की योजना से बड़े वाक्यो की रचना करता है। छोटे वाक्य का आधार वाक्य या बीज वाक्य कहते हैं। हॉकेट के अनुसार 'निकटस्थ अवयवमूलक वाक्य विचार-योजना व्याकरणिक पद्धति को विस्तार से समझने का एक प्रयास है।'[1]

वाक्य-परिवर्तन के कारण

1. **अन्य भाषा का प्रभाव**—विभिन्न संस्कृतियो के भाषा के स्तर पर सम्पर्क मे आने पर वाक्य मे अन्य भाषाओ के प्रभाव मे परिवर्तन हो जाता है। हिन्दी भाषा पर अरबी-फारसी और अँगरेजी भाषाओ के प्रभूत प्रभाव दृष्टिगत होते हैं।

हिन्दी भाषा समास-बहुल भाषा है। संस्कृत की समास-बहुलता हिन्दी में दाय रूप मे ग्राह्य हो गई। राजमहल, महाराज, राजपुर, गणेश आदि प्रयोग इस कथन के साक्षी है। मेम्बरान जूरी, कानूनगो, ब्रह्मपुर आदि प्रयोग फारसी प्रयोग से हिन्दी मे प्रचलित हैं। कूचा रामलुभाया, पुरवा बाबूदीन भी फारसी प्रभाव के ही उदाहरण है।

'और' का वाचक शब्द संस्कृत मे च है। जोडने वाले शब्द के बाद (रामः मोहनश्च), या प्रत्येक शब्द के उपरान्त 'च' (रामश्च मोहनश्च) की परम्परा संस्कृत मे है। फारसी के प्रभाव से हिन्दी मे और का प्रयोग अन्तिम शब्द के पहले किया जाता है। जैसे, राम, लक्ष्मण और सीता जंगल को गये।

'कि' और 'चूँकि' के प्रयोग फारसी प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी मे चलते है।

अँगरेजी प्रभाव से हिन्दी मे भी अपरोक्ष कथन के 'मैं' के लिए वह लिखने की परम्परा चल पड़ी है। जैसे—Ram said that he would go there. इसे हिन्दी में 'राम ने कहा कि मैं जाऊँगा' कहा जायेगा, किन्तु इसके स्थान पर 'राम ने कहा कि वह जायेगा' प्रयोग हो रहा है। सामासिक चिह्न (Hyphen) और विराम (Comma) अँगरेजी के अनुकरण पर हिन्दी मे चल रहे हैं।

हिन्दी वाक्यो में क्रिया की योजना वाक्य के अन्त मे होती है, किन्तु अँगरेजी के प्रभाव से क्रिया के प्रयोग वाक्य के पहले या मध्य मे होने लगे हैं। जैसे, चलेगी थोड़ी मिठाई अब।

पूर्वी बोलियो के प्रभाव से 'हम कहे', 'वे लिखे है' जैसे प्रयोग भी हिन्दी मे

---

1. ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स—सी० एफ० हॉकेट

कभी कभी दिख[illegible] पड़ता है।

[illegible] के प्रभाव में 'मैंने कहा था', 'हमने नहीं जाना', 'हमने बोला' जैसे प्रयोग प्रचलन में आ रहे हैं।

2. अभिव्यक्ति की स्पष्टता का आग्रह—कभी-कभी ध्वनि-विकास के फल-स्वरूप सम्बन्ध तत्त्व घिसकर अनेक विभक्तियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। ऐसी विभक्तियाँ जब अभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित करती हैं तो स्पष्टता के लिए पर-सर्गों या अन्य सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। परसर्ग और क्रियाओं के प्रयोग से भाषा वियोगात्मकता की ओर बढ़ती है। इस प्रकार वाक्य के रूपों के क्रम का महत्त्व बढ़ जाता है और वाक्य-रचना परिवर्तित हो जाती है।

3. परिवेश में परिवर्तन—भाषा पर परिवेश का व्यापक प्रभाव पड़ता है। अशान्ति होने पर हमारी मानसिकता दूसरी होती है और शान्तिकाल में दूसरी। इस मानसिकता के सन्दर्भ में भाषा रचित-गठित होती है। झगड़े के अवसर पर, ट्रेन पकड़ने की हड़बड़ी, अत्यधिक क्रियाशील जीवन में छोटे वाक्यों की रचना स्वभावतः होती है। जैसे, कल चले जाना। जोर लगाओ। सामान चढ़ाओ पहले। 'युद्धक्षेत्र में क्रियाओं में भी कटौती हो जाती है और अधिकांशतः आज्ञार्थक क्रियाओं का प्रयोग बढ़ जाता है।'[1]

4. नवीनता के प्रति आग्रह—नवीनता के आग्रह से लेखकों ने स्थापित क्रम में परिवर्तन किया है। अज्ञेय में ऐसा आग्रह विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। जैसे 'तुम कितनी एकान्त 'तुम' हो और मैं कितना एकान्त 'मैं'।' ऐसे भाव सकलित वाक्य-विन्यास का परोक्ष प्रभाव वाक्य-रचना पर पड़ता है।

इनके अतिरिक्त पदक्रम, पदान्वय, पदाभिप्राय, रूप-वर्ग, परसर्ग-प्रयोग वाक्य-परिवर्तन की दिशाएँ हैं।

---

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 141

भाषा-परिवार

भूमिका

कहा जाता है कि संसार में लगभग 2746 भाषाएँ बोली जाती है। इनमें कुछ ऐसी बोलियों को सम्मिलित नही किया गया है, जो भाषिक दृष्टि से महत्त्व-हीन है। अर्थात् ये 2300 (1200 दोनों अमेरिका, 500 अफ्रीका और 600 आस्ट्रेलिया) नाना पिछडी हुई और जगली जातियो की भाषाएँ हैं, जिनका संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नही है।[1] अतः शेष भाषाओ को, जिनकी सख्या डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 800-900 है, अपनी समस्त परिस्थितियो और कृतियो के बीच, मानव के हुए विकास के इतिहास को स्पष्ट करने के लिए कुछ कुलो मे विभाजित कर दिया गया है। 'विभिन्न भाषाओ की धातुओ, उपसर्ग-प्रत्ययो और शब्दो को, जिन्हे जर्मन भाषा मे श्प्राख-गुट(Sprachgut) अर्थात् कच्चा माल या भाषा-वस्तु कहते है, ध्यान मे रखते हुए, उनकी गठन-रीति मे साम्य या वैषम्य को देखकर यह विभाजन किया गया।'[2]

भाषा-विभाजन का आधार

धातुओं, उपसर्ग-प्रत्ययो और शब्दो की गठन-रीति के साम्य-वैषम्य के आधार पर भाषा-कुल-विषयक सिद्धान्त की वैज्ञानिक कल्पना की घोषणा कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जॉन्स ने 2 फरवरी, 1786 ई० में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के अवसर पर सस्कृत भाषा के असाधारण वर्चस्व को प्रतिपादित करते हुए की थी। उनके अनुसार 'सस्कृत का गठन अद्भुत रूप से सुन्दर है, यह ग्रीक की परिपूर्णता से बढकर है, लैटिन से भी परिपुष्ट है और इन दोनों से सस्कृत कही अधिक सुसंस्कृत भाषा है।'[3] इन भाषाओ की धातुओ और व्याकरण मे अधिक साम्य होने से उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ कि इन भाषाओं का मूल कोई एक भाषा है, जो अब लुप्त हो चुकी है।

1. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 1
2. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 16
3. वही, पृ० 17

जॉन्स की धारणा भाषा-कुलों के सिद्धान्त प्रतिपादन में पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुई, और आधुनिक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ।

सर जॉन्स ने भाषा-विभाजन में धातुओं, उपसर्ग-प्रत्ययों और शब्दों के भाषिक गठन को आधार रूप में ग्रहण किया था। भाषाओं को एक कुल की भाषा मानने के पूर्व उसके गठनात्मक आधारों की परीक्षा करना आवश्यक होता है। गठनात्मक और व्याकरणिक समानता होने पर ही इन्हें एक परिवार की भाषा माना जाता है।

भाषाशास्त्रियों ने भाषाओं की विभिन्नता में एकता ढूँढ़कर पारिवारिक भाषा वर्ग की उद्भावना की है। प्रत्येक भाषा कालक्रम से विकसित होती रही है और उसका रूप बदलता रहा है। जिस मूल भाषा से एक परिवार की भाषा का उद्भव हुआ है, वह लुप्तप्राय हो चुकी है। भाषा के विकास एवं परिवर्तन के कारण समानता के आधार भी अधिक मुखर और स्पष्ट नहीं होते। फिर भी विभिन्न भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर पारिवारिक वर्ग की स्थापना की गई है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'ध्वनि, व्याकरण और शब्द-समूह का तुलनात्मक अध्ययन-विश्लेषण करके तथा भौगोलिक निकटता का विचार करके विद्वानों ने भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्धों का पता लगाया है।'[1] आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा कहते हैं कि (1) ध्वनि, (2) पद-रचना, (3) वाक्य-रचना, (4) अर्थ, (5) शब्द-भण्डार, (6) स्थानिक निकटता—इन छः आधारों पर भाषाओं की परीक्षा करने पर ही यह कहा जा सकता है वे एक परिवार की हैं या नहीं।'[2]

जयकुमार जलज (1) मौलिक शब्द समूह की समानता, (2) रूपात्मक समानता, (3) ध्वनिग्रामीय समानता को पारिवारिक विभाजन का सैद्धान्तिक आधार मानते हैं।[3]

वास्तव में पारिवारिक वर्गीकरण का अर्थ भाषाओं की आपसी विभिन्नता के बावजूद मौलिक शब्द-समूह, रूपात्मक गठन, ध्वनिग्राम तथा अन्य भाषा तात्त्विक संरचना की दृष्टि से समानताएँ देखना है। भौगोलिक समर्थन प्राप्त होने से वर्गीकरण का आधार अधिक पुष्ट होता है। इसे डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 'भौगोलिक निकटता का विचार' कहा है, किन्तु देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उसे एक सैद्धान्तिक आधार मान लिया है। 'भौगोलिक निकटता' से भाषा में परिवर्तन होते हैं, किन्तु भाषा की मूलभूत समता-विषमता का आधार स्थानिक निकटता को मान

1. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 1
2. भाषाविज्ञान की भूमिका—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० 110-111
3. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 192

लेना समीचीन नहीं है। स्थानिक निकटता भाषा-विकास का कारण हो सकती है। उसे भाषिक समानता का सैद्धान्तिक आधार नहीं माना जा सकता।

मौलिक शब्द-समूह की समानता—मौलिक या आधारभूत शब्द-समूह के अंतर्गत सम्बन्धियों (माता, पितादि), अंगो (हाथ, मुँह, नाक, कान आदि), घर-गृहस्थी के प्रयोग की वस्तुओं (आग, पानी आदि)के वाचक शब्दो, सर्वनाम, सख्या-वाचक विशेषण, दैनिक जीवन की सामान्य क्रियाओं की वाचक धातुओं को ग्रहण किया जाता है। यह शब्द-समूह अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील होता है। इस अल्प परिवर्तनशीलता को रेखांकित करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा है कि सांस्कृतिक प्रभावो के कारण अक्सर किसी भाषा के जो शब्द सबसे पहले बदलते हैं वे यही माता-पिता जैसे शब्द है।[1] 'पहले बदलना' और 'अधिक बदलना' दोनो अलग बातें हैं। इस समूह की परिवर्तनशीलता को एक उदाहरण मे स्पष्ट करते हुए ग्लीसन कहते है कि यदि हम 200 रूपग्रामो की तुलना कर रहे है तो एक हजार वर्ष मे अ भाषा 162 (81%) और ब भाषा भी इतने ही रूपग्रामों को सुरक्षित रखेगी।[2] इसीलिए समान रूपग्रामों की खोज मे मूलभाषा के मौलिक शब्द-समूह की ओर लौटना होता है।

भारोपीय भाषा के मौलिक शब्द-समूह की समानता का उदाहरण देना उचित होगा—

संस्कृत	पितृ	मातृ	भ्रातृ
फारसी	पिदर	मादर	बिरादर
लैटिन	पातेर	मातेर	फ्रातेर
जर्मन	फातेर	मुत्तेर	ब्रूदेर
अँगरेजी	फादर	मदर	ब्रदर

नाक के लिए समान शब्द का उदाहरण निम्नलिखित है—

लैटिन Nasus, इतालवी Naso, फ्रांसीसी Nez, स्वेडिश Nosa, अँगरेजी Nose, रूसी Nos, अवेस्ता Nah.[3]

किन्ही दो भाषाओ मे मौलिक शब्दो की सयोगजन्य समानता भी सभावित है। भाषाशास्त्रियों का अनुमान है कि मौलिक शब्दो मे सयोगजन्य समानता अधिक से अधिक चार प्रतिशत हो सकती है। सयोगजन्य समानता घुमक्कड़ प्रकृति, युद्ध, अपहरण, युद्धबन्दी या दास बनाने, आर्थिक, सांस्कृतिक, स्थानिक

---

1. भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 8।
2. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन, पृ० 343
3. ए डिक्शनरी ऑफ सेलेक्टेड सिनॉनिम्स इन दि प्रिंसिपल ऑफ इंडोयूरोपियन लैंग्वेजेज, पृ० 227

निकटता आदि के कारण संभव होता है।

रूपात्मक समानता—भाषा की रूप रचनात्मक पद्धति सामान्यतः शीघ्र परिवर्तित नहीं होती। धातु से शब्द बनाना, पूर्व, मध्य और अंत में प्रत्यय-उपसर्ग जोड़ना, वाक्य-रचना आदि की समानताओं के आधार पर किन्हीं दो भाषाओं को एक वर्ग में रखा जा सकता है। इस पर भी बाह्य प्रभाव और संयोग की संभावनाएँ हैं। किन्तु अध्येता यहाँ भी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संयोग-जन्य संभावनाओं को छूट देते हुए रूपात्मक समानता के आधार पर मौलिक शब्द-समूह के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों की परीक्षा करता है।

ध्वनिग्रामीय समानता—सामान्यतः भाषाएँ अपने ध्वनिग्राम को सुरक्षित रखती हैं। उच्चारण में परिवर्तन के बावजूद ध्वनिग्रामीय सत्ता प्रायः सुरक्षित रहती है। तात्पर्य कि ध्वनिग्राम में अर्थ-परिवर्तन करने वाले परिवर्तन नगण्य होते हैं। इन तीनों आधारों पर विचार करने के बाद तीनों के निष्कर्षों में समानता होने पर किन्हीं एकाधिक भाषाओं को एक परिवार की भाषा मानते हैं। 'भाषाओं के वर्णनात्मक अध्ययन के उपरांत ही उपरिवर्णित आधारों पर उनकी तुलना करते हुए ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा उनके प्राचीन रूप और पारिवारिक स्थिति को समझा जा सकता है।'[1] इस समय जो सामग्री उपलब्ध है उससे केवल संभावनाओं का संकेत किया जा सकता है। इससे अधिक की आशा करना उचित नहीं होगा।[2]

वास्तव में भाषा-परिवार का निर्धारण मौलिक भाषा रूप या शुद्ध भाषा रूप तक पहुँचना नहीं है। इसका अर्थ भाषाओं की विभिन्नता को कम करना, उनकी प्रकृति में स्थित समानता को उजागर करना तथा इस दिशा में संकेत करना है कि इन भाषाओं का मूल कोई एक भाषा रही है। इसके लिए मौलिक शब्द-समूह, रूपग्राम और ध्वनिग्राम की संरचना के आधार पर परीक्षा की जाती है। इस क्रम में ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक आदि प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

संसार की भाषाओं के पारिवारिक विभाजन के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। वर्गीकरण में मतभेद होने का कारण अधिकांश भाषाओं के वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन का अभाव है। अतः जो भी पारिवारिक वर्गीकरण भाषाशास्त्रियों द्वारा किया गया है, वह निजी मान्यताओं और स्थापनाओं पर आधारित है।

---

1 ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 195

2 ऐन इन्ट्रोडक्शन टू डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स—ग्लीसन, पृ० 372

जर्मन विद्वान विल्हेल्म फॉनहम्बोल्ड्ट ने सन् 1822 ई० मे ससार की भाषाओ को 13 परिवारों मे वर्गीकृत किया। पार्टिरीज ने दस परिवारो मे उन्हें बाँटा। ग्रे के अनुसार ससार मे 26 भाषा-परिवार हैं। फ्रेडरिक मूलर की मान्यता है कि 100 भाषा-परिवार हैं। भाषा और बोली के प्रसग मे उद्भूत कठिनाइयो से भाषाओ के पारिवारिक वर्गीकरण की असगतियों की ओर ग्लीसन ने संकेत किया है।

विद्वानों ने निम्नांकित 13 परिवारो मे संसार की भाषाओं को वर्गीकृत किया है—

1. भारोपीय
2. सैमिटिक
3. हैमिटिक
4. यूराल-अल्टाइक
5. चीनी-तिब्बती
6. द्राविड़
7. मलयपॉलीनेशियन
8. बटू
9. बुशमैन
10. सूडानी
11. रेड इंडियन
12. काकेशी
13. जापानी-कोरियाई

1. भारोपीय—इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

2. सैमिटिक—इंजील में पौराणिक कथा आई है कि हजरत नोह् के ज्येष्ठ पुत्र सेम दक्षिण-पश्चिम एशिया (अरब, असीरिया, सीरिया) निवासियो के आदि पुरुष थे। उनके नाम पर इस परिवार की भाषा का नाम सैमिटिक कुल या सामी पड़ा। अरबी इस कुल की प्रधान भाषा है जो अफ्रीका के मोरक्को से लेकर पूर्व मे सयुक्त अरब गणराज्य तक बोली जाती है।

3 हैमिटिक—हजरत नोह् के दूसरे पुत्र हेम अफ्रीकी निवासियो के आदि पुरुष थे। उनके नाम पर इस परिवार की भाषा का नाम हैमिटिक कुल या हामी पडा। इस परिवार की भाषा का विस्तार उत्तरी अफ्रीका से दक्षिणी अफ्रीका तक है। कालान्तर मे इस कुल की अधिकाश भाषाएँ नष्ट हो गई। जो शेष हैं, उन पर सैमिटिक परिवार या अन्य परिवार की भाषाओं का प्रभाव है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने सैमिटिक और हैमिटिक कुलो को अलग-अलग रखा है, किन्तु डॉ० उदय-नारायण तिवारी ने उन्हें एक ही परिवार के अंतर्गत वर्गीकृत किया है।

4 **यूराल अल्टाइक**— इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वतों के बीच स्थित टर्की, हंगरी, फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर और भूमध्य सागर से लेकर उत्तरी सागर तक बोली जाती है। किन्हीं विशिष्ट नाम के अभाव में यूराल तथा अल्टाई पर्वतों के नाम पर ही इस परिवार का नामकरण किया गया है। इस भाषा-परिवार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। यूराल के अंतर्गत फिनिश और इंगेरियन तथा अल्टाइक के अंतर्गत तुर्की, मंगोली और मंचू भाषाएँ आती हैं। व्याकरण की दृष्टि से समानता होने के कारण इन्हें अलग परिवार में न रखकर एक ही परिवार में रखा गया है, जबकि डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी यूराली और अल्टाइक का अलग-अलग वर्ग मानते हैं। यूराली वर्ग की भाषाओं पर भारोपीय भाषा का प्रभाव लक्षित होता है। तुर्की भाषा पर इस्लाम के कारण अरबी-फ़ारसी का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसे डॉ० उदयनारायण तिवारी ने तुर्क-मंगोल-मंचू वर्ग कहा है।

5. **चीनी-तिब्बती**— भारोपीय परिवार के बाद संसार में चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाओं के बोलने वाले अधिक संख्या में हैं। चीन, स्याम (थाईलैण्ड), तिब्बत, बर्मा आदि देशों में यह भाषा-परिवार फैला हुआ है। चीनी और तिब्बती भाषाओं में प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। तिब्बती में पालि और संस्कृत के अनुवाद भी किए गए हैं। बर्मी और स्यामी बर्मा और थाईलैण्ड की भाषाएँ हैं।

6. **द्राविड़**—इस परिवार के भाषाभाषी दक्षिण भारत में निवास करते हैं। तेलुगु, तमिल, कन्नड, मलयालम आदि इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं। तुलू, कोडगू या कुर्गी, गोंडी, कंध, माल्तो आदि भाषाएँ भी दक्षिण भारत क्षेत्र में प्रचलित हैं। तमिल में वैष्णव अलवारों ने भक्ति साहित्य की रचना की।

7. **मलयपॉलीनेशियन**—मेडागास्कर द्वीप, मलय द्वीप, इंडोनेशिया के विभिन्न द्वीपों, प्रशान्त महासागर में कर्क रेखा से लेकर 45 अक्षांश दक्षिण तक स्थित अनेक द्वीपों में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार की अनेक भाषाएँ हैं जिनकी अपनी बोलियाँ हैं। इस परिवार की भाषाओं को निम्नांकित पाँच समुदायों में विभाजित किया गया है—

1. इंडोनेशिया या मलायन, 2. मलेनेशियन, 3. पालिनेशियन, 4. पापुआ, 5. आस्ट्रेलियन।

कुछ विद्वानों ने इन पाँचों को स्वतंत्र परिवार माना है। इंडोनेशियन समुदाय में मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलीपाइन्स, मेडागास्कर, फारमोसा आदि द्वीपों की भाषाएँ आती हैं। मलेनेशियन समुदाय में फीजी द्वीप की फीजियन तथा केलीडोनी आदि भाषाएँ गिनी जाती हैं। पॉलीनेशियन समुदाय की भाषाएँ न्यूजीलैण्ड, समोआ, हवाई, ताहिती आदि द्वीपों में बोली जाती हैं। पापुआ समुदाय की भाषा न्यूगिनी और छोटे-छोटे द्वीपों की भाषा है। इस क्षेत्र की प्रधान भाषा

मफोर है। आस्ट्रेलियन समुदाय मे आस्ट्रेलिया और तस्मानिया मे बोली जाने वाली भाषा है।

8 बंटू—इस परिवार की प्राय. सभी भाषाओं मे 'आदमी' अर्थबोधक बन्टू शब्द का प्रयोग ध्वन्यन्तरो के साथ किया जाता है। बन्टू परिवार की भाषाएँ अफ्रीका मे 10^0 पूर्वी देशान्तर से 40^0 पूर्वी देशान्तर तक बोली जाती है। बन्टू परिवार मे लगभग 150 भाषाएँ है। पूर्वी क्षेत्र की प्रधान भाषा काफिर या जुलू है। मध्यवर्ती की प्रधान भाषा सेसुलो और पश्चिमी की प्रधान भाषा कागो है। संजीबार की स्वाहिली भाषा भी इसी परिवार की भाषा है। स्वाहिली छोडकर इस परिवार की अन्य किसी भाषा मे साहित्य उपलब्ध नहीं है।

9. **बुशमैन**—दक्षिण अफ्रीका मे नगामी झील से दक्षिण मे ओरन्ज नदी तक अर्थात् पूर्व मे 25 देशान्तर से पश्चिम मे अटलाटिक महासागर के तट तक बुशमैन भाषा परिवार का विस्तार है। इस क्षेत्र मे निवास करने वालो की संज्ञा बुशमैन होने से इनकी भाषा का नाम बुशमैन परिवार हुआ। बुशमैन परिवार में बुशमैन और हाटेन्टोट भाषाएँ आती हैं। इनके अतिरिक्त इसमे अन्य छोटी-छोटी बोलियो की गणना भी की जाती है।

10. **सूडानी**—अफ्रीका के भूमध्य रेखा के उत्तर और सेमिटिक भाषा परिवार के दक्षिण क्षेत्र के निवासियो की भाषा को सूडानी परिवार मे रखा गया है। इस परिवार मे लगभग 435 भाषाएँ आती हैं।

11. **रेड इडियन**—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियो की भाषाएँ रेड इडियन परिवार की भाषाएँ कहलाती है। कोलम्बस ने भ्रमवश यहाँ के मूल निवासियो को रेड इडियन कहा था। वह नाम आज भी प्रचलित है। रेड इडियन परिवार की 400 भाषाएँ और बोलियाँ है। इनकी न कोई लिपि है और न साहित्य है। केवल नहुअत्ल और मय भाषाओ की लिपि का विकास हुआ है।

12. **काकेशी**—पूर्व मे काम्पियन सागर और पश्चिम से काले सागर के मध्य स्थित काकेशस पर्वत के क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा काकेशी परिवार के अतर्गत है। यूराल अल्टाइक तथा भारोपीय भाषा परिवार से घिरे रहने के बावजूद इस परिवार की भाषा ने अपने स्वतत्र अस्तित्व की रक्षा की है। काकेशी परिवार म जार्जियन भाषा विशेष महत्त्वपूर्ण है।

13. **जापानी-कोरियाई**—इधर जापान और कोरिया की भाषा को जापानी-कोरियाई परिवार मे वर्गीकृत किया गया है। इसमे जापानी और कोरियाई दो भाषाएँ प्रधान है।

14. **मोनख्मेर**—वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस तथा भाषा के कुछ छोटे-छोटे भू-भाग की मुण्डा भाषाएँ मोनख्मेर भाषा परिवार के अतर्गत आती है।

भारोपीय परिवार

पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में यूरोप के आयरलैण्ड द्वीप तक की भाषाएँ भारोपीय परिवार के अंतर्गत परिगणित है। इनमे तुर्की तथा हंगरी की भाषाओं की गणना नहीं की जाती, क्योंकि ये यूराल-अल्टाई परिवार की है। भारत और यूरोप में प्रचलित होने के कारण इस क्षेत्र की भाषाओं को भारोपीय परिवार कहा गया है। इस परिवार को इण्डो जर्मनिक, इण्डोकैल्टिक, आर्य, संस्कृत, जेफेटिक आदि नाम दिए गए, किंतु भारोपीय नाम ही सुप्रचलित हुआ। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'यों हित्ती भाषा के पता चलने तथा उस पर खोज होने के उपरान्त सामान्य मान्यता यह है कि मूलतः यह परिवार 'भारत-हित्ती' था, जिसकी दो शाखाओं (मूल एनाटोलियन और भारोपीय) में एक भारोपीय थी।[1]

जर्मन विद्वानों ने सर्वप्रथम भारोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन किया और इस परिवार को इण्डोजर्मनिक नाम दिया। केल्टी भाषा की संबद्धता के कारण इसे इण्डोकेल्टिक नाम दिया गया। किन्तु ये नाम प्रचलित नहीं हुए। आर्य नाम जातीय आधार पर दिया गया था। संस्कृत नाम का आधार इस परिवार की भाषाओं में संस्कृत का वर्चस्व था। हजरत नोह के तृतीय पुत्र जेफ के नाम पर इसका नामकरण जेफेटिक किया गया था। जेफेटिक नाम का आधार भी जातीय ही है। भारोपीय नाम विशेष प्रचलित होने का कारण यह था कि यह भाषा परिवार भारत और यूरोप के दो विस्तृत भूखण्डों में विस्तृत है।

भारोपीय परिवार की मूल भाषा—भारोपीय भाषा परिवार अत्यन्त विस्तृत है। वैदिक, प्राचीन फारसी, अवेस्ता, ग्रीक, गौथिक, लैटिन, प्राचीन आयरिश, केल्ट बोलियाँ, अर्मेनियन, हित्ती, तुखारी आदि भाषाएँ इसी परिवार की हैं। इतना निश्चित है कि ये भाषाएँ कालान्तर में विकसित होकर एकाधिक कारणों से अलग-अलग अस्तित्व कायम करने में सक्षम हुईं। प्रारंभ में इनकी कोई एक मूल भाषा रही होगी। उसी मूल भाषा से भारोपीय भाषाएँ विकसित हुईं। इन 'भाषाओं के मूल उत्स-स्वरूप आद्य भारतीय-यूरोपीय भाषा अविभक्त रूप से एक जनसमुदाय द्वारा बोली जाती थी। उन्हें भाषातत्त्वविदों ने विरोस (Wiros) नाम दिया है।'[2] आद्य भारतीय यूरोपीय भाषा का मनुष्यवाची शब्द 'विरास' है। संस्कृत वीर, लैटिन वर्दूर, जर्मन वेर और प्राचीन आयरिश फेर आदि 'विरोस्' के ही विकसित रूप है। विरोस के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी नहीं है, किन्तु डॉ०

---

1. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 3
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 18

सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'प्राचीन भारत की ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों को ही भारतवर्ष मे आर्य नाम से प्रवेश करने वाली 'विरोस्' की सच्ची संतान कहा जा सकता है।'[1] इस प्रकार विद्वानो का अनुमान है कि विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले, विभिन्न मानसिक गठन वाले आधुनिक जनों के पूर्वज विरोस् है। 'ऐसे ही अन्य प्रमाणो से पता चलता है कि प्रारभ से ही भारतीय-यूरोपीय-भाषी 'विरोस्' अपनी भाषा एवं सामाजिक सगठन को साथ लिए हुए फैलते गए, और उनको उन्होने शांतिपूर्वक या अन्य उपायो द्वारा अपने सम्पर्क मे आने वाले जनों पर अधिष्ठित कर दिया।'[2] पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे यह अनुमान किया जाता है कि 'विरोस्' नॉर्डिक (Nordic) कुल के रहे होंगे। सभव है, आदिम निवासियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के फलस्वरूप विरोस् जन अपनी मूल अवस्था में मिश्रित रक्त के हों। मानव के सास्कृतिक इतिहास मे यह एक अभूतपूर्व घटना हुई कि 'विरोस्' जन ने अपनी भाषा एव संस्कृति का विकास कर एक महत्त्वपूर्ण शक्ति का रूप ले लिया और अन्य जनों को भाषा और संस्कृति के स्तर पर अपने में सम्बद्ध कर लिया।

'विरोस्' जन के निवास के बारे मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है, क्योंकि तत्सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं है। इटालियन नृतत्त्व विशारद सेर्जी (Sergi) का अनुमान है कि एशिया माइनर का पठार उनका प्रारम्भिक घर था। नेसीय और हित्ती भाषाओं मे प्राप्त प्रमाणो से इस अनुमान को अनुमोदन प्राप्त हुआ है। एक अन्य अनुमान से भारोपीय भाषी मनुष्यों का आदिम निवास-स्थान यूरेशिया महाद्वीप का कोई अन्य स्थान रहा होगा। मैक्समूलर ने उनका निवास मध्य एशिया बताया। लैथम(Latham)ने मध्य एशिया वाले मत का खण्डन किया और बताया कि उनका निवास-स्थान 'कहीं-न-कहीं यूरोप' मे रहा होगा।

एशिया माइनर का बोगाजकुई नामक स्थान 1700 ई० पू० से 1200 ई० पू० तक हित्ती साम्राज्य की राजधानी था। हित्ती भाषा इसी राज्य के निवासियों की भाषा थी। बोगाजकुई मे हुई खुदाई मे ह्यूगो विकलर को 1893 ई० मे कुछ कीलाक्षर लेख प्राप्त हुए। उनके आधार पर उन्होने हित्ती भाषा के अस्तित्व का निर्देश किया। 1905 से 1907 तथा 1931 से 1939 तक की खुदाई मे प्रभूत मात्रा मे सधिपत्र, घोषणाएँ, प्रार्थनाएँ, गाथाएँ, हित्ती भाषा का एक त्रिभाषीय कोश आदि प्राप्त हुए हैं। प्राप्त सामग्री की लिपि बेबोलोनियन क्यूनीफार्म है। परवर्ती खोजो से यह सिद्ध हुआ कि 'हित्ती भाषा भारोपीय भाषा की

---

1 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 19

2. वही, पृ० 20

पुत्री नहीं बहिन है।[1] इस आधार पर भारोपीय हित्ती भाषा की मूलभाषा को भारोपीय हित्ती नाम दिया गया है। तात्पर्य यह कि विरोस् या भारोपीय हित्ती भाषा से दो भाषाओं का विकास हुआ—भारोपीय और हित्ती। मईस आदि भाषाविज्ञानियों ने हित्ती भाषा को सैमिटिक परिवार की भाषा कहा है। 1917 ई० में जेक भाषाविज्ञानी बी० ह्राज्नी (Hrozny) ने इसका सम्बन्ध निर्विवाद रूप से भारोपीय परिवार में सिद्ध किया है।

हित्ती भाषा का काल 2000 ई० पू० से 1200 ई० पू० तक माना गया है। हित्ती भाषा इस काल में अपने परिवार की समकालीन भाषाओं से अधिक विकसित रही होगी, ऐसा अनुमान है।

भारोपीय भाषा का विकास

'विरोस्' जन के वंशज भारोपीय भाषाभाषियों के मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार भारत में मध्यदेश ही आर्यों का मूल निवास-स्थान था। डॉ० अविनाशचन्द्र दास, डॉ० सम्पूर्णानन्द, श्री एल० डी० कल्ला, डॉ० गंगानाथ झा आदि के मत से आर्यों का मूल निवास-स्थान भारत का सप्तसिन्धु प्रदेश था। जे० बी० ट्होड, मैक्समूलर आदि मध्य एशिया को आर्यों का मूल निवास-स्थान बताते हैं। लाथम, जे० स्मिथ, डेलब्रुक यूरोप के पक्ष में हैं, जबकि बाल गंगाधर तिलक ध्रुवप्रदेश को मूलनिवास मानते हैं।

ब्रान्देन्श्ताइन ने आदि भारोपीय भाषा (विरोस् जन की भाषा) के विकास को दो कालों में विभाजित किया है। प्रथम काल में आदि भारोपीय भाषाभाषियों की बोलियों में कुछ भिन्नता आने लगी थी, फिर भी भाषा और बोलियाँ कई समूहों में विभक्त नहीं हुई थी। 'उत्तर काल—जबकि भारतीय ईरानी शाखा भारतीय यूरोपीय पितृकुल से अलग हो चुकी थी और भारतीय यूरोपीयों की मुख्य शाखा अलग होकर नई जलवायु वाले किसी नये प्रदेश को चली गई थी।'[2] प्रथम काल में आदि भारोपीय भाषा (विरोस्) में प्रचलित कुछ खास शब्द और धातु भारत-ईरानी शाखा में भी ज्यों के त्यों रहे, किन्तु उत्तर काल में इन शब्दों और धातुओं के अर्थ भारत-ईरानी बहिर्भूत शाखाओं में नये और भिन्न हो गए।

ब्रान्देन्श्ताइन का निष्कर्ष है कि भारत-यूरोपीय जन अपनी आदिम अवस्था में शुष्क गैरिक प्रदेशों में रहते थे, जहाँ जंगल नहीं थे, छोटी वनानी थी। इस आधार पर उन्होंने मध्य एशिया को भारतीय आर्यों का निवास-स्थान घोषित

---

1. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 220
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 23

किया। 'इस प्रकार यूराल पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित सुविस्तृत प्रदेश ही आद्य भारतीय आर्यों की मातृभूमि सिद्ध हुई प्रतीत होती है। उनकी एक शाखा, भारत-ईरानी कुल की पूर्वज, सम्भवतः वहीं रही, जबकि मुख्य शाखा पश्चिम में आधुनिक पोलैंड की ओर प्रसारित होती चली गई।'[1] यहीं स्थान 'विरोस्' के यूरोप में फैलने का मुख्य केन्द्र-बिन्दु हुआ।

भारत-यूरोपीय जनों की संख्या में वृद्धि होने से जीवन-रक्षा के उपायों की खोज में वे अन्य स्थानों को गए होंगे। इस कारण वे कई समूहों में बँट गए। ये समूह नदियों, पहाड़ों और आवागमन की कठिनाइयों के कारण एक-दूसरे से अलग पड़ गए और इनका सम्पर्क-सूत्र छिन्न हो गया। 'इस प्रकार विभिन्न बोलियों के विकास के लिए बीजारोपण हुआ होगा। भारोपीय-हित्ती या विरोस् परिवार की दो शाखाओं—हित्ती और भारोपीय के रूप में विभिन्न बोलियों के विकास के लिए थोड़ी-सी भूमि पहले ही तैयार हो चुकी थी। अब जो भाषाभाषियों में क्षेत्रीयता विकसित हुई उससे विभिन्न बोलियों का और अधिक विकास होना स्वाभाविक ही था।'[2] आद्य भारोपीय भाषा में क्षेत्रीय भाषागत अंतर विद्यमान थे। उसमें एकरूपता के अभाव को भाषाविज्ञानियों ने रेखांकित किया है। क्षेत्रीय विभिन्नता और एकरूपता के अभाव के फलस्वरूप उक्त भाषा में महत्त्वपूर्ण अन्तर मुखर हुए, जिन्हें सतम् और केन्तुम् नाम से अभिहित किया गया है। डॉ० चटर्जी कहते हैं कि 'परन्तु ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य में वे विदेशी जनों में दूर-दूर तक फैल जाने के कारण अपनी पितृशाखा के सम्बन्धियों से पृथक् पड़ गए और इससे उनकी भारत-यूरोपीय भाषा में भी कुछ मौलिक परिवर्तन हो गए थे।'[3]

जर्मन विद्वान् श्लाइखर ने यह हिसाब लगाने का प्रयत्न किया कि भारोपीय भाषा से कब, कौन भाषा या भाषा-समूह अलग हुआ। उनका अनुमान था कि सबसे पहले एक ओर जर्मनिक और स्लाविक भाषाएँ और दूसरी ओर भारत-ईरानी, ग्रीक, इटैलिक, केल्टिक आदि अलग हुई होंगी। इन्हें ही केन्तुम् और सतम् वर्ग के रूप में पहचाना गया। पहली से दो शाखाएँ तथा दूसरी से भी दो शाखाएँ उभरीं। दूसरी से एक ओर ग्रीक आदि भाषाएँ अलग हो गईं और दूसरी ओर भारत-ईरानी भाषा भी अपनी अलग पहचान लेकर विकसित हुई। इन उपवर्गों के बनने का क्रम, काल तथा स्थान आदि के बारे में कुछ कहना कठिन है, क्योंकि अपेक्षित संदर्भ उपलब्ध नहीं है।

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 25
2. ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज, पृ० 223-224
3. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 26

केन्तुम तथा सतम वर्ग

जैसा कहा गया है कि एकाधिक कारणों से भारोपीय भाषाभाषियों के समूह में बँटने, समूहों के भ्रमण करने तथा भौगोलिक कठिनाइयों के कारण संपर्क सूत्र टूटने लगे और भाषा में क्षेत्रीयता विकसित हुई। इस परिवार की भाषा में एकरूपता समाप्त हो गई और भाषाओं के मुख्यत: दो वर्ग निर्मित हुए। भाषाशास्त्रियों ने इन्हें केन्तुम् और सतम् वर्ग नाम दिया।

सबसे पहले अस्कोली नामक भाषावैज्ञानिक ने लक्षित किया कि मूल भारोपीय भाषा की कंठ-ध्वनियाँ कुछ शाखाओं में कंठ्य रह गयी और कुछ शाखाओं में वे संघर्षी या स्पर्श संघर्षी हो गयी। अर्थात् आदि भारोपीय भाषा प्रथम क वर्ग का 'क' (अर्थात कंठतालव्य क्य) व्यंजन दो रूपों में विकसित हुआ। कुछ भाषा वर्गों में वह 'क' ही रहा, किन्तु कुछ में संघर्षी ध्वनि श या स में परिवर्तित हो गया। सौ (100) का वाचक आदि भारोपीय भाषा के क्यम्तोम (Kmtom) शब्द का रूप कुछ भाषाओं में निम्न प्रकार से विकसित हुआ—

लैटिन—केन्तुम्
ग्रीक—हे-कतोन (हेक्तोन)
इटालियन—केन्तो
फ्रेंच—केन्त
ब्रीटन—क्रेन्ट
गेलिक—क्यूड
तोखारी—कन्ध
पुरानी आयरिश—केत्

यही क्यम्तोम दूसरे वर्ग में अपने परिवर्तित रूप में प्रचलित हुआ। इस वर्ग में 'क' संघर्षी (स, श, ज आदि या स्पर्श संघर्षी (च, ज आदि) में परिवर्तित हो गया—

अवेस्ता—सतम्
संस्कृत—शतम्
फारसी—सद
हिन्दी—सौ
रूसी—स्तो
बलगेरियन—सुतो
लिथुआनियन—सितस् या सिम्तस्
अँगरेजी—सेन्ट

इस आधार पर वान ब्रैडके ने भारोपीय भाषाओं के विकास की कल्पना दो

वर्गों के रूप मे की। सौ के वाचक शब्दो मे यह भेद (क का स मे परिवर्तन) अधिक स्पष्ट और मुखर था। इसलिए उन्होंने लैटिन तथा अवेस्ता के सौ के वाचक शब्द केन्तुम तथा सतम् के नाम पर इन शाखाओ का नाम केन्तुम् तथा सतम् घोषित किया। भारोपीय भाषा के इन वर्गों मे क्व, ग्व आदि के उच्चारण भी भिन्न-भिन्न रूप में किए गए। केन्तुम शाखा मे उनका गौण ओष्ठत्व सुरक्षित है, किन्तु सतम् वर्ग मे वह समाप्त हो गया है—भारोपीय Kwo>लैटिन>Quo, किन्तु संस्कृत मे कः।

भारोपीय भाषा के केन्तुम और सतम् वर्ग का विभाजन मूलत. काल्पनिक है, क्योंकि इस विभाजन के पीछे कोई व्यापक और मौलिक रूपरचनात्मक आधार नहीं है। कुछ ध्वन्यात्मक अन्तरों का उल्लेख किया गया है, किन्तु केन्तुम् वर्ग की कुछ भाषाओं और सतम् वर्ग की कुछ भाषाओं में परस्पर अधिक समानताएँ दृष्टि-गत होती है। उदाहरण के लिए केन्तुम् वर्ग की ग्रीक भाषा और सतम् वर्ग की संस्कृत मे जितनी समानताएँ हैं, उतनी केन्तुम् वर्ग की अन्य भाषाओ की तुलना मे नही है।

प्रारम्भ मे यह धारणा थी कि पश्चिमी देशों की भाषाएँ केन्तुम् वर्ग की और पूर्व की सतम् वर्ग की है। हर्ट ने पोलैण्ड की विस्चुला नदी को केन्तुम् और सतम् वर्ग की विभाजक रेखा के रूप मे अनुमानित किया। बाद में यह धारणा खंडित हो गई, क्योंकि हित्ती भाषा विस्चुला नदी के पूर्व स्थित एशिया माइनर की भाषा रही है। हित्ती भाषा की प्रवृत्तियाँ केन्तुम् वर्ग की प्रवृत्तियो के अनुरूप है।

केन्तुम् और सतम् वर्ग की भाषागत प्रवृत्तियो मे अलगाव आने का अनुमान ही किया जा सकता है, क्योंकि इस संदर्भ मे निर्णायक सामग्री उपलब्ध नही है। जर्मन विद्वान् श्लाइखर के अनुमान से जर्मनिक और स्लाविक भाषाएँ पहले क्षेत्रीय प्रभाव से अलग पहचान बनाने लगी। इसके बाद भारत-ईरानी शाखा अर्थात् सतम् वर्ग की भाषिक प्रवृत्तियाँ मुखर हुई।

केन्तुम् वर्ग की भाषाएँ

केन्तुम् वर्ग मे पाँच उपवर्ग हैं—केल्टिक, जर्मनिक, इटैलिक, ग्रीक और तोखारी।

1. **केल्टिक**—केल्टिक उपवर्ग की भाषाएँ आयरलैण्ड, स्कॉटलैण्ड, वेल्स तथा कार्नवाल तथा फ्रांस के ब्रीटन प्रदेश मे बोली जाती हैं। इस भाषा को बोलने वालो की संख्या 10 लाख के लगभग है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से केल्टिक और इटैलिक भाषाओं में समानताएँ दीख पड़ती हैं।

2. **जर्मनिक**—इंग्लैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी, आइसलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क की क्रमशः अँगरेजी, डच, जर्मन, आइसलैण्डिक, नार्वेजियन, स्वेडिश तथा डेनिश

भाषाएँ इसी उपवर्ग की हैं जर्मनी शब्द का प्रयोग ईसापूर्व पहली सदी में केल्टिक भाषा भाषियों के द्वारा पड़ोसी के अर्थ में किया गया था। इस वर्ग को ट्यूटानिक वर्ग भी कहते हैं। ट्यूटन शब्द से अँगरेज, जर्मन आदि जातियों का बोध होता था। इस वर्ग के भाषाभाषियों की संख्या लगभग 56 करोड़ है।

3. **इटैलिक**—इस उपवर्ग की भाषाएँ इटली, रोमानिया, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल तथा इनके द्वारा स्थापित अफ्रीकी उपनिवेशों में बोली जाती है। इसे लैटिन उप-वर्ग भी कहते हैं। लैटिन रोमन साम्राज्य की भाषा थी। इसे बोलने वालों की संख्या लगभग 41 करोड़ है।

4. **ग्रीक**—ग्रीक भाषा ग्रीस या यूनान, साइप्रस देशों, भूमध्य सागर तथा एजियन सागर के द्वीपों की भाषा है। यह भाषा सतम् वर्ग को भारत-ईरानी तथा आर्मेनियन के अधिक निकट है। लगभग 1 करोड़ लोग इस उपवर्ग की भाषाएँ बोलते हैं।

5. **तोखारी**—तोखारी उपवर्ग की भाषाएँ मृत हो गई हैं। सम्भवतः सातवीं शताब्दी तक ये भाषाएँ प्रचलित थीं। बाद में वे लुप्त हो गयीं। मध्य एशिया में प्राप्त सामग्री के आधार पर प्रो० सीग(Sieg) ने यह कहा कि तोखारी केन्तुम् वर्ग की भाषा है। तोखारी में सौ के लिए कन्ध शब्द प्रचलित था। सम्भवतः ब्राह्मी या खरोष्ठी इसकी लिपि थी। महाभारत में जिन तुषार लोगों का उल्लेख किया गया है, तोखारी उन्हीं की भाषा थी।

सतम् वर्ग की भाषाएँ

सतम् वर्ग के चार उपवर्गों का उल्लेख विद्वानों ने किया है—अलबेनियन, आरमेनियन, बाल्टोस्लाविक और भारत-ईरानी।

1. **अलबेनियन**—यूगोस्लाविया, यूनान और एड्रियाटिक सागर से घिरे पहाड़ी देश अलबानिया की भाषा अलबेनियन है। यूनान, सिसली और इटली में भी यह भाषा बोली जाती है। यह भाषा वर्ग लैटिन से अधिक प्रभावित है। तुर्की, यूनानी और स्लाव भाषाओं के शब्द भी इसमें विद्यमान हैं। लगभग 30 लाख जन अलबेनियन भाषा बोलते है।

2. **आर्मेनियन**—आर्मेनिया पर ईरान का प्रभाव होने से इस पर ईरानी शब्दों का प्रभाव अधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है। इसमें लिंग का अभाव है। इस उपवर्ग के भाषाभाषियों की संख्या लगभग 40 लाख है।

3. **बाल्टोस्लाविक**—इस उपवर्ग में तीन भाषाएँ है—प्राचीन प्रशियन, लिथुआनियन और लाट्विचन या लेटिश। लिथूनिया और लाटेविया सोवियत संघ के प्रदेश हैं। अतः इन भाषाओं पर रूसी भाषा के स्पष्ट प्रभाव लक्षित है। स्लाविक भाषा की तीन शाखाएं है—उत्तरी, दक्षिणी और पश्चिमी स्लाविक।

स्लाविक के अंतर्गत श्वेत रूसी, महारूसी और लघु रूसी भाषाएँ आती है। रूसी या महारूसी मास्को की भाषा है। इस उपवर्ग की भाषा बोलने वालो की संख्या लगभग 33 करोड़ है।

4. भारत-ईरानी—ईरान, अफगानिस्तान, भारतवर्ष, पाकिस्तान तथा नेपाल मे भारत-ईरानी भाषाएँ बोली जाती है। भारोपीय परिवार की इन भाषाओ में प्राचीन साहित्य सुरक्षित है। भारत-ईरानी उपवर्ग को आर्य उपवर्ग भी कहा जाता है। अवेस्ता और वेदो की रचना इसी वर्ग की भाषाओं मे हुई है। इसमे तीन शाखाएँ है—आर्य भाषा, दरद और ईरानी। इन शाखाओं के छिनगाने का समय लगभग दो हजार ई० पू० माना जाता है।

भारोपीय परिवार की विशेषताएँ

1. रचना की दृष्टि से यह भाषा परिवार श्लिष्ट योगात्मक भाषा वर्ग के अंतर्गत आता है। श्लिष्ट योगात्मक वह भाषा होती है, जिसकी विभक्तियाँ शब्दो से इस प्रकार सटी होती हैं कि उन्हे अलग करना कठिन होता है। धीरे-धीरे इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट अयोगात्मक रूप मे विकसित हुई। संस्कृत मे विभक्तियाँ शब्द से सटी हुई होती है। जैसे देवम्, देवेन, देवाय आदि। किन्तु परवर्ती हिन्दी, अँगरेजी, फ्रासीसी, ईरानी भाषाओ मे विभक्तियाँ अलग हो गयी। जैसे राम को, of Ram आदि। इस प्रकार इस भाषा वर्ग की प्रवृत्ति योगात्मक से अयोगात्मक की ओर अग्रसर दिखाई पड़ती है। अर्थात् इस परिवार की अधिकतर भाषाएँ विभक्तियुक्तता से विभक्ति से अलगाव की दिशा मे विकसित हुई हैं। इसे ही योगात्मक से अयोगात्मक की ओर अग्रसर कहा गया है।

2. इस परिवार की भाषाओं की रूप-रचना उपसर्ग, प्रत्यय और धातु के सयोग से निर्मित है। उपसर्ग प्रारंभ मे स्वतंत्र सहायक शब्द थे। बाद मे इनकी सार्थकता मे ह्रास हुआ, क्योंकि तब ये स्वय अर्थबोध कराने मे असमर्थ हो गये। इस तरह उपसर्ग-प्रत्यय अर्थ के वाचक न होकर द्योतक हो गये। उपसर्ग धातु के अर्थ-परिवर्तन के माध्यम के रूप मे प्रचलित हुए।

3. इन भाषाओं की वाक्य-रचना शब्दो से नहीं होती, पदो से होती है। शब्दो मे विभक्तियाँ जोड़ने से पद बनते हैं। पदो से ही वाक्य निष्पत्ति होती है। विभक्तियों से ही पदो का अन्वय सिद्ध होता है।

4. भारोपीय भाषा मे समास बनाने की प्रवृत्ति रही है। संस्कृत मे समास की बहुलता है। अन्य भाषाएँ भी समास-रहित नही है।

5. स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन इस परिवार की अन्य विशेषता है। स्वर बदल देने से शब्दो के अर्थ मे अतर आ जाता है। जैसे, मुनि से मौन, पृथ्वी से पार्थिव, कुन्त से कौन्त आदि। बलाघात से ही अर्थ परिवर्तित होता है।

6 भारोपीय भाषा म प्रत्ययो की अधिकता है। पुराने प्र ययो क छि न भि न होने से बहुत से नय प्रत्ययो की योजन. का गई। इससे प्रत्ययों की सख्या बहुत अधिक हो गयी। इस परिवार की अन्य भाषाओ के सम्पूर्ण स्वरूप के विश्लेषण से प्रत्यय-बहुलता लक्षित हो जाती है।

भारत-ईरानी या आर्य वर्ग

भारत-ईरानी जन अपने को आर्य कहते थे। 'आर्य' शब्द का अवेस्ता-रूप 'अइर्य' (airya) मिलता है। अइर्य का सम्बन्ध कारक में बहुवचन रूप 'अइर्यन' (airyana) था, जो पहलवी मे एरान (Eran) हो गया। इसी एरान शब्द से ईरान विकसित हुआ। ईरान वास्तव में 'आर्याणाम्' का ही परिवर्तित रूप है। इससे प्रकट है कि ईरानी भाषाभाषी भी आर्य ही थे और उनका अपने को आर्य कहना अनुचित नही है।

ब्रान्देन्स्ताइन ने भारत-यूरोपीयों के इतिहास को दो कालो मे विभाजित किया है—प्राथमिक काल और उत्तर काल। प्राथमिक काल मे भारत-यूरोपीय जन कई समूहों में विभक्त नही हुआ था। उनकी बोलियो मे क्षेत्रीय अंतर के बावजूद अलगाव योग्य भिन्नता नही आई थी। उत्तर काल मे भारत-यूरोपीय से भारत-ईरान शाखा अलग हो चुकी थी। इस काल में 'शब्दो और धातुओ के अर्थ, भारतीय-ईरानी बहिर्भूत शाखाओं मे कुछ नये और भिन्न हो गये।'[1] भारोपीय-जन का प्रारंभिक मूल निवास मध्य एशिया ही ब्रान्देस्ताइन के मत से अनुमान्य है। भारतीय-ईरानी कुल के पूर्वज संभवतः वही रहे, जबकि यूरोपीय शाखा के पूर्वज पश्चिम मे आधुनिक पोलैण्ड की ओर चले गये। ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के द्वितायार्द्ध में भारत-ईरानी शाखा एशिया माइनर, मेसोपोतामिया एव ईरान की ओर चली आई। अनुमान है कि लगभग 2000 ई० पू० तक भारत-ईरानी या आर्य मेसोपोतामिया मे आ गये थे। कुछ उपजातियाँ निवास की खोज मे बढ़ते-बढ़ते ईरान में आ गई। यहाँ पर्शु, मद और कुरुगण (कुरुजन—ईरान मे कुरुष-Kuros) जैसी जातियों का सहज सम्पर्क उन्हे मिला।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि 'यही निश्चित रूप से मेसोपोतामिया मे ही विद्यमान भारतीय-ईरानी का आर्य धर्म बन गया जिससे वैदिक भारतीय तथा जरथुश्त्र के पूर्वज ईरानी, दोनों संस्कृतियाँ उत्पन्न हुई।'[2] यहाँ एलामी तथा पूर्वी ईरान क्षेत्र के दास और दस्यु जातियो का सामना उन्हें करना पड़ा। ऋग्वेद में दास या दस्यु का उल्लेख है। ईरानी मे उन्हे दाह और दह्यु कहा

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 23
2. वही, पृ० 29

गया। मेसोपोतामिया गुसस्कृत जीवन के फलस्वरूप आर्य भाषा मे भीतरी और बाहरी परिवर्तन को विद्वानों ने लक्षित किया है। मेसोपोतामिया के मितन्नी (Mitanni) तथा अन्य जातियो मे प्राप्त मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य और कास्सियो (Kassi) में उपलब्ध सूर्य आदि देवताओ तथा उनकी स्तुतियों से आर्य जाति यही परिचित हुई। गायत्री आदि छन्दो का विकास ईरान या मेसोपोतामिया मे ही हो चुका था। 'ईरान में बस जाने के पश्चात् आर्यों के प्रधान जन की उप-शाखाओं के दो दलों मे मतभेद हो गया। उनके झगड़े के मूल में प्राचीन उपजाति-गत भेद ही थे या धार्मिक, यह कहना अब असंभव है। परन्तु आर्य लोग दो उप-शाखाओं में विभाजित अवश्य हो गये—एक 'daiva दइव' या deva देवपूजक थे और दूसरे 'Asur Mazdhas असुर मज्धास् (असुर मेधा.—Ahura Mazdao अहुर मजदाओ) के पूजक थे।'[1] देवपूजक आर्य भारत की ओर अग्रसर हुए। राह मे उन्हें पंजाब तक दास-दस्युजनों का सामना करना पडा।

डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते है कि 'अपने मूल स्थान से चलकर भारत-ईरानी लोग ओक्सस घाटी के पास आए और वहाँ से फिर एक वर्ग ईरान चला गया और दूसरा कश्मीर तथा आसपास एव तीसरा भारत।'[2] इस प्रकार भारत-ईरानी शाखा के प्रसार के सम्बन्ध मे तीन प्रकार के मत प्रचलित हैं। स्टेनकोनोव इसकी केवल दो शाखाएँ—भारतीय और ईरानी मानते हैं। जूल ब्लॉक भी इसकी दो ही शाखाएँ मानते हैं, किन्तु दरद को भारतीय शाखा मे मानते हैं। ग्रियर्सन इसकी तीन शाखाएँ मानते हैं—भारतीय, ईरानी, दरद। दरद की अनेक प्रकृतिगत विशेषताएँ ईरानी और भारतीय, दोनो के समान हैं, फिर भी दोनो से कुछ बातें अलग भी हैं।

जैसे भारतीय भाषा का पवित्र ग्रंथ ऋग्वेद है, वैसे ही पारसी लोगो का पवित्र ग्रंथ अवेस्ता है। पारसी लोग जरथुश्त्र (जरठोष्ट्र) के उपासक हैं। ईरान के उत्तर और उत्तर-पूर्व प्रदेश की भाषा अवेस्ता की भाषा थी। अवेस्ता की रचना ऋषि जरथुश्त्र ने अनुमानतः ईसा पूर्व सातवी-आठवी शती मे की। अर्वाचीन अवे-स्ता की रचना ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी मे हुई होगी। अवेस्ता का संकलन सासानीय वंश के राजत्वकाल में तीसरी से सातवी शताब्दी के मध्य किया गया था। इस बीच अवेस्ता का बहुलांश नष्ट हो चुका था। जो साहित्य सुलभ है, वह प्राचीन साहित्य का अंशमात्र है।

जरथुश्त्र के पूर्व भारतीय और ईरानी आर्यों मे यज्ञपरायणता और देवोपासना थी। संभवत. ईरानियो के जरथुश्त्र का धर्म स्वीकार करने के बाद ही भारतीय

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ०41
2. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 5

आर्यों से उनका मतभेद प्रारंभ हुआ देव और असुर शब्द के द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि दोनों में विद्वेष हो गया देव शब्द ईरानी में अपदेवता या राक्षस के लिए प्रयोग में आता है, जबकि भारतीय भाषा में देवता के लिए। प्राचीन आर्यों के देवता नासत्य और इन्द्र ईरानियों के लिए अपदेवता हो गये। असुर शब्द प्राचीन भारतीय-ईरानी भाषा में देवतावाची था। वह ईरानी में आज भी देव-वाची है। ईश्वर को अवेस्ता में अहुरमजदा (असुरमेधा) अर्थात् महद्ज्ञानस्वरूप कहा गया है। किन्तु भारतीय भाषा में असुर शब्द के अर्थ में विपर्यय हुआ। असुर शब्द अब देवता-विरोधी या राक्षसवाची हो गया। वैसे ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों में असुर शब्द वरुण आदि देवताओं के विशेषण के रूप में प्रयोग में आया है। 'इस प्रकार इन दो शब्दों में ईरानीय तथा भारतीय आर्यों के धार्मिक कलह का इतिहास सन्निविष्ट है।'[1] फिर भी मित्र, अर्यमा, सोम ईरानी और भारतीय आर्यों द्वारा समान रूप से पूजे जाते हैं।

अन्य विद्वानों के अनुसार असीरियन लोगों से भारत-ईरानी आर्यों ने असुर शब्द लिया है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'पुराणों में राक्षसों के अर्थ में प्रयुक्त 'असुर' लोगों की महान् ऐहिक संस्कृति, भवन-निर्माण कला तथा उनकी क्रूरता का उल्लेख है। परन्तु बहुत संभव है कि यह शब्द उनकी 'अश्शुर या अस्सुर' (असीरिया) के जनों की स्मृति का द्योतक हो।'[2] 'मना' (एक परिमाणवाची शब्द) शेमीय minah मिनह् से आया है। बाल गंगाधर तिलक ने यह दिखलाया था कि बाबिलोनी दंतकथाओं में आए कुछ सर्पों के नाम अथर्ववेद में परिवर्तित रूप में ले लिए गए। डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते हैं कि 'फिनो-उग्रिक लोगों के सम्पर्क में आने पर एक ओर तो भारत-ईरानियों ने उन्हें सत् (100), असुर, वज्र, वराह आदि शब्द दिये तो दूसरी ओर उन्होंने फिनो-उग्रिक से कफ, कूप (कुआँ), शलाका, एक (1) आदि शब्द लिये।'[3]

भारतीय आर्य भाषा, संस्कृत और ईरानीय आर्यभाषा (अवेस्ता की भाषा) में प्रचुर समानताएँ दिखाई पड़ती हैं। अवेस्ता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

> हावनीम् आ रतूम् आ
> हाओमो उपाइत् जरथुश्त्रेम्
> आत्रेम् पइरि यओज्दथॅन्तेम्
> गथस् च स्रावयन्तेम्।

इसका संस्कृत अनुवाद डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इस प्रकार किया है—

---

1. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 23
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 40-41
3. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 6

सावने आ ऋतौ आ
सोम उपैत् (उपागात्) जरठोष्ट्रम्,
अथर परि-योस्-दधतम्
गाथाश्च श्रावयन्तम् ।[1]

अर्थात् सवनवेला (प्रातःकाल) में होम (सोम) जरथुश्त्र के पास आया जो अग्नि को उज्ज्वल कर रहा था और उसको गाथा सुना रहा था। डॉ० हरदेव बाहरी ने अवेस्ता के कई अंशों का वैदिक संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार पारसियों की प्राचीन पुस्तक अवेस्ता की भाषा और वैदिक आर्यों के ऋग्वेद की भाषा में इतना अधिक साम्य है कि एक की गाथाएँ दूसरी के मंत्रों में सहजतः रूपान्तरित की जा सकती हैं।

अवेस्ता और संस्कृत की विभक्तियाँ एक समान हैं। दोनों में तीन लिंग, तीन वचन और आठ कारक पाये जाते हैं। क्रिया के रूप भी दोनों में समान रीति से बनाये जाते हैं। प्राचीन संस्कृत का 'स' प्राचीन ईरानी में 'ह' हो गया—सोम—होम, सप्त—हप्त, सेना—हेना, असुर—अहुर, मास—माह।

इसी प्रकार संस्कृत ह और ज के रूप ज हो गये—हस्त—जस्त, हृदय—जरदय, होता—जोता, बाहु—बाजू, जात—जाद आदि। संस्कृत व के स्थान पर ब और त के स्थान पर थ मिलता है। जैसे, वशिष्ठ—बहिश्त, मंत्र—मंथ्र, मित्र—मिथ्र(सूर्य)।

डॉ० बाहरी ने अन्य समानताओं की जानकारी भी दी है—

(स) एक—यक (ईरानी), द्वौ—दो, पंच—पंज, अष्ट—हश्त, उष्ट्र—शुत्र, शक्त—सख्त, पक्तः—पुख्तः, नीलोत्पल—नीलोफर, कृष्ट—काश्त, गोधूम—गन्दुम, ताप—ताब, स्वप—ख्वाब, स्वतः—खुद, श्वसुर—खुसर, अन्तर—अन्दर, द्वार—दर, अंकुर—अंगूर आदि।

ईरानी में ट वर्ग ध्वनियाँ नहीं हैं। स्वरों और संयुक्त स्वरों की संख्या अधिक है। देव, नर, चर्म, तनु, दानव, अर्यमा, नव, वायु, मम, मे, दातरि जैसे अनेक शब्द दोनों में समान रूप से प्रचलित थे। डॉ० बाहरी के अनुसार 'ध्वनि विकास के क्रम से भी यह मत दृढ़ होता है कि प्राचीन ईरानी का विकास वैदिक भाषा से हुआ है।'[2]

अवेस्ता और वैदिक भाषा का स्वर सादृश्य निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है—अप्—अप्, मातर्—मातर्, इहि—इहि, जीव—जीव्य, उत—उत, दूर—दूर।

अवेस्ता में पदान्त का स्वर ह्रस्व हो जाता है—नारी—नाइरि, सेना—

1. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 24
2. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ०11

हुए न कहीं पदा त का स्वर दीर्घ भी होता है अति अही । अवस्ता की भाषा में अपिनिहिति (Epenthesis) अग्रागम(Prothesis) और स्वर भक्ति (Anaptyxis) का समावेश दिखाई पड़ता है । अनुगमित व्यजन के पूर्व इ या उ का सयोग अपिनिहिति है—भवति—बवइँति, तरुणम—तउरुनम् ।

इ या र् के पूर्व स्वर का संयोग अग्रागम है—रोपयन्ति—उरुपयेइन्ति । अवेस्ता मे तालव्य व्यंजन केवल च और ज ही हैं । सोष्म व्यजन घ, झ, ध, म भी अवेस्ता मे नही हैं । अवेस्ता में ऊष्म व्यंजनो की बहुलता है जैसे स, श शृ, षृ, ज, ज ।

अर्वाचीन अवेस्ता मे स्वरों का बाहुल्य, ह्रस्व-दीर्घ का विपर्यय, व्यंजन वर्णों का ऊष्मीकरण तथा अत्यधिक मात्रा मे अपिनिहिति के रूप मिलते हैं ।[1]

ईरानी का विकास

ईरानी के तीन ऐतिहासिक क्रम दिखाई पडते है—प्राचीन ईरानी, मध्यकालीन ईरानी और आधुनिक ईरानी । प्राचीन ईरानी में दो बोलियाँ हैं—प्राचीन फारसी और अवेस्ता । अवेस्ता का विकास-क्रम गाथा और परवर्ती अवेस्ता में दिखाई पड़ता है । गाथा मे जरथुश्त्र के उपदेश हैं । गाथा कहे जाने के कारण इस भाषा का नाम ही गाथा पड गया । वैदिक से जैसे सस्कृत का विकास हुआ वैसे ही गाथा से परवर्ती या अर्वाचीन अवेस्ता का विकास हुआ है । अवेस्ता पूर्वी ईरान या पश्चिमोत्तर ईरान की भाषा थी । डॉ० हरदेव बाहरी ईरानी की तीन स्थितियाँ मानते हैं—अवेस्ता की भाषा, अवेस्ता पर की गई टीका (जैन्द) की भाषा और हखमानी राजाओ के शिलालेख की भाषा ।

प्राचीन फारसी दक्षिण-पश्चिम ईरान की भाषा थी, जिसे पारस या फार्स कहा जाता था । ईरान के हखमानी वंशीय राजा दारय वहु (दारा) के कीलाक्षर मे उत्कीर्ण लेख प्राचीन फारसी के नमूने हैं। 323 ई० पू० मे सिकन्दर ने पर्सीपोलिस नगर को जला दिया था । कुछ सामग्री 651 ई० मे अरब आक्रमणों मे नष्ट हो गई ।

डॉ० बाहरी के अनुसार प्राचीन ईरानी का युग 400 ई० पू० तक माना जाता है । इसके बाद लगभग 200 वर्ष तक ग्रीक भाषा ईरान की साहित्यिक भाषा और राजभाषा रही । इसके बाद के 300 वर्षों का ईरानी का इतिहास अन्धकारमय है ।[2] 500 वर्षों तक उपेक्षित रहने के बाद सासानी बादशाहों के राज्यकाल में 224—651 ई० तक ईरानी पुनः शासन और साहित्य की भाषा

1. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 27
2. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 11

बनी।

मध्यकालीन ईरानी भाषा पहलवी के नाम से जानी जाती है। पहलवी प्राचीन फारसी के पर्थव से विकसित है—पर्थव = स० पहलव = योद्धा। ईसा के तीसरी से नवी शती तक पहलवी प्रचलित थी। कुछ विद्वान् फिरदौसी के काल तक, 940-1020 ई० तक पहलवी का काल मानते हैं।[1] इस काल में पहलवी के दो रूप प्रचलित थे। पश्चिमी ईरान मे हुज्वारेश और पूर्वी ईरान मे पाजन्द भाषा प्रचलित थी। हुज्वारेश सासानियों और पाजन्द पारसियों की भाषा थी। इनके अलावा भी शक, हुरवी, मीदी, सोग्दी आदि बोलियों के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। शक भाषा में अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद हुआ था।

इस्लाम के प्रचार के साथ ईरानी (पहलवी) भाषा अरबी के प्रभाव मे आने लगी, किन्तु इस प्रभाव से बचने के लिए उसने भरपूर चेष्टा की। कालान्तर मे अरबी ही नहीं, तुर्की भाषा से भी ईरानी प्रभावित हुई। फिरदौसी के काल—940-1020 ई० तक अरबी के प्रभाव से बचने की चेष्टा ईरानी करती रही। अरबी-तुर्की से प्रभावित ईरानी भाषा का आधुनिक काल यहीं से प्रारंभ होता है। आधुनिक फारसी राजभाषा बनी। आधुनिक ईरानी की सबसे बडी विशेषता यह है कि अब वह अयोगात्मक भाषा हो गई है। अरबी से अत्यधिक प्रभावित फारसी और प्राचीन फारसी मे अल्पांश मे ही समानता रह सकी है। पश्तो (अफगानी), बिलोची, देवारी तथा कास्पियन सागर के आसपास की भाषाएँ आधुनिक फारसी के अतर्गत आती है। फारसी का परिनिष्ठित रूप शीराज कहा जाता है।

दरद

दरद संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है पर्वत। कश्मीर तथा हिन्दूकुश के बीच पर्वतीय प्रदेश का प्राचीन नाम दरद है। इस प्रदेश मे बोली जाने वाली भाषा को दरद सज्ञा दी गयी है। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि मराठी, सिन्धी, पजाबी आदि आर्यभाषाओं पर इस भाषा का प्रभाव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दरद का क्षेत्र किसी समय सिन्ध, पजाब और महाराष्ट्र तक विस्तृत था। दरद मे ईरानी और भारतीय आर्य भाषाओं की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, फिर भी इनसे अलग कुछ भाषिक प्रवृत्तियाँ इसमें उपलब्ध हैं। भारतीय आर्य भाषा के प्रभाव के कारण भारतीय आर्य भाषा के अतर्गत इसका अध्ययन पैशाची या भूतभाषा नाम से किया जाता है। कश्मीर से हिन्दूकुश के क्षेत्र को भारतीय पिशाच देश कहते थे। इसलिए इस क्षेत्र की भाषा

1. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 13

को पैशाची नाम दिया गया।

दरद भाषा के तीन स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। पश्चिम की भाषा को काफिरी कहते हैं। इसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। मध्यवर्ती भाषा को खोवारी कहा गया है। इसका ही एक रूप चित्राली है। पूर्व की भाषा को शीना, कश्मीरी और कोहिस्तानी नाम से जाना जाता है। शीना प्राचीन दरद की उत्तराधिकारिणी भाषा है। कोहिस्तानी पर पश्तो का प्रभाव बढ़ता रहा है। कलाशा, अश्कुन्द, गिलगिती भी दरद की ही भाषाएँ हैं।

कश्मीरी का क्षेत्र व्यापक है। डॉ० चटर्जी दरद भाषा से ही कश्मीरी का उद्भव मानते हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल से सारस्वत कश्मीरी ब्राह्मणों के संस्कृत अध्ययन के कारण कश्मीरी संस्कृत के प्रभाव मे आई। गुणाढ्य ने बृहत्कथा की रचना पैशाची भाषा मे की थी। संस्कृत के प्रभाव से इसकी प्रवृत्तियाँ आर्य भाषा के समान हुई। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के मत से 'इस पर संस्कृत का इतना प्रभाव पड़ा था कि कुछ दिनो पूर्व तक यह भारत की शेष आर्य भाषाओं मे गिनी जाती थी।'[1] कश्मीरी भाषा शारदा लिपि मे लिखी जाती है। मुसलमान फारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

नवी शती मे रुद्रट ने जिन 6 भाषाओं का उल्लेख किया था, उसमें पैशाची भी सन्निविष्ट है— 'प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च।' 10वीं शती मे राजशेखर ने भारतीय भाषाओं के अंतर्गत पैशाची की भी गणना की— 'पैशाच पादौ।' 11वीं शताब्दी मे भोज ने भी इसी परम्परा मे कहा—'पैशाच्या शौरसेन्याश्चो।' नाट्यदर्पण मे अमरचन्द्र ने 'पैशाचिको चापभ्रंश' कहकर इसे भारतीय भाषा मे सम्मिलित किया है।

कश्मीरी में साहित्य-रचना 13वीं शती से प्रारंभ हुई। 14वीं शती मे कश्मीरी के प्रसिद्ध कवि लल्ला हुए।

कश्मीरी पर इस्लाम के प्रभाव से अरबी-फारसी का गहरा प्रभाव है। शारदा लिपि के स्थान पर अब फारसी लिपि ही प्रचलित है।

इसमे सघोष महाप्राण ध्वनियों का अभाव है। स्वरों मे सूक्ष्म भेद-उपभेद हैं। पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी में अल्प प्राणीकरण की प्रवृत्ति कश्मीरी के प्रभाव से ही है, ऐसा कहा जाता है।

भारतीय आर्य भाषा

भारोपीय कुल की अत्यन्त समृद्ध, गौरवपूर्ण, शक्तिशाली और दीर्घ परम्परा-युक्त भाषा आर्य भाषा है। धर्म, समाज, संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से भार-

---

1. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 40-41

तीय आर्य भाषा वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी आदि के रूप मे विकसित हुई है। संसार की भाषाओं मे इसका विशिष्ट स्थान है। इसका विकास अगले प्रकरण मे दिखलाया जायगा।

आर्यावर्ती या भारतीय आर्य भाषाएँ

आर्यों का मूल स्थान तथा भारत आगमन

आर्यों का मूल निवास-स्थान कहाँ था, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। ऋग्वेद के कुछ मंत्रो के आधार पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने प्रतिपादित किया था कि आर्यों का मूल निवास-स्थान उत्तरी ध्रुव का निकटवर्ती प्रदेश है। एक बंगाली विद्वान् ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में तिलक के मत का खण्डन करते हुए उनका मूल निवास-स्थान सरस्वती नदी के तट पर या उसके उद्गम स्थान पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

डॉ० गंगानाथ झा, श्री एल० डी० कल्ला, डॉ० सम्पूर्णानन्द, श्री अविनाश-चन्द्र दास, जयशंकर प्रसाद आदि विद्वान् यह मानते हैं कि आर्यों का मूल निवास-स्थान भारत मे था।

लखनऊ के बीरबल साहनी संस्थान के डॉ० गुरुदीप सिंह ने आर्यों के भारतीय मूल के होने के पक्ष में महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। राजस्थान की साँभर, पुष्कर, डिडवाना और लूण करनसर झीलो की सतह से प्राप्त प्रमाणों की टाटा इंस्टीट्यूट और विसकांसिन विश्वविद्यालय, अमरीका मे की गई रेडियो कार्बनिक जाँच से पता चलता है कि राजस्थान मे आज से नौ हजार वर्ष पहले भी लोग खेती करते थे। इन चारों झीलो मे मीठा जल था। वे लोग उस समय लकड़ी जलाते थे। यह समय हड़प्पाकाल से भी चार हजार वर्ष पूर्व का है।

डॉ० भगीरथ मिश्र का 'यही विश्वास है कि आर्यों का मूल स्थान भारत मे ही था और यही से वे विभिन्न देशों और दिशाओ मे गये।'[1]

इटालियन नृतत्त्व विशारद सेर्जी (Sergi) के अनुमान से एशिया माइनर का पठार ही आर्यों का प्रारम्भिक वासस्थान था।

मैक्समूलर के मत से आर्यों का आदि निवास मध्य एशिया था।

लैथम (Latham) ने कहा कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान 'कहीं-न-कहीं यूरोप मे' रहा होगा।

ब्रान्देन्सताइन के मतानुसार मध्य एशिया ही भारतीय आर्यों का प्रारम्भिक निवास-स्थान था।

---

1. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 309

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने आर्यों के आदिम निवास स्थान के सदर्भ मे विभिन्न विद्वानो की मान्यताओ का विश्लेषण किया है तथा यह निष्कर्ष निकाला है कि 'इस प्रकार यूराल पर्वतमाला के दक्षिण मे स्थित सुविस्तृत प्रदेश ही आद्य भारतीय आर्यों की मातृभूमि सिद्ध हुई प्रतीत होती है।'[1]

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा कहते है कि 'भाषाविज्ञान के आधार पर यूरोपीय विद्वानो का अनुमान है कि वे मध्य एशिया या दक्षिण-पूर्व यूरोप मे कही रहते थे।'[2]

डॉ० उदयनारायण तिवारी विद्वानों के मतभेद को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि 'परवर्ती भाषाओ के गहरे अध्ययन के बाद पडित लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह स्थान यूरोप में ही कहीं था ।'[3]

भारोपीय कुल का आदि निवास-स्थान कोई ऐसा मिलन-स्थल होना चाहिए जहाँ यूरोपीय, ईरानी और भारतीय भाषाभाषी एक साथ रहते होंगे। वहीं से ये अपने वर्तमान स्थानों को गये होंगे। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि मध्य एशिया या यूरोप के किसी स्थान पर भारोपीय भाषाभाषी जन एकत्र रहते थे।

आर्य लोगो के मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में प्राप्त प्राकृतिक लक्षण और शब्दार्थ की वैज्ञानिक परीक्षा करने पर यह प्रत्यक्ष होता है कि कार्पेथियन पर्वत-माला से लेकर बाल्टिक समुद्र तक फैला विस्तृत मैदान उनका आदि निवास-स्थान रहा होगा।

अपने मूल निवास से चलकर भारोपीय जन कई भागो मे विभक्त हो गये। एक वर्ग यूरोप की ओर चला गया। दूसरा वर्ग ईरान में रह गया। ईरानी वर्ग की शाखा ने यही अवेस्ता और ऋग्वेद के मंत्रो की रचना प्रारभ की। कालान्तर में ईरानी वर्ग की एक शाखा ईरान मे ही रह गई और दूसरी भारत की ओर अग्रसर हुई। भारत की ओर अग्रसर कुछ आर्य भारत के पश्चिमोत्तर और अफगानिस्तान के बीच के पर्वतीय प्रदेश मे बस गये, जिसे दरद या पिशाच देश कहा जाता था। शेष आर्य भारत मे चले आये।

आर्य लोग भारत में एक ही बार मे आ गये या कई खेपो में उनका आगमन हुआ, इस सम्बन्ध मे मतभेद हैं। हार्नले ने दो आक्रमणों वाला सिद्धान्त (Two Invasion Theory) प्रस्तुत किया और कहा कि वे दो बार में भारत मे आये।[4]

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 25
2. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 42
3. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 7
4. कम्परेटिव ग्रामर ऑफ द गौडियन लैंग्वेज—हार्नले, पृ० 31 एवं हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—हार्नले, पृ० 12-13

डॉ० ग्रियर्सन का नाम भी इस सिद्धान्त के साथ समाविष्ट किया गया था, जिसका उन्होंने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, खण्ड 1, भाग 1' में खण्डन किया और कहा कि मैं दो आक्रमणों वाले सिद्धान्त को अनावश्यक मानता हूँ। किन्तु भारतीय आर्य भाषाओं के 'भीतरी और बाहरी' दो वर्ग मानकर उन्होंने प्रकारान्तर से इसका समर्थन ही किया है।

आर्यों के भाषागत भेद के आधार पर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा मानते है कि आर्य एकाधिक बार मे भारत आए थे। 'पहली बार मे आने वाले आर्य कदाचित् काबुल की घाटी के मार्ग से आए थे, किन्तु दूसरी बार मे आने वाले आर्य किस मार्ग से आए थे, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। सभावना ऐसी है कि ये लोग काबुल की घाटी के मार्ग से नही आए, बल्कि गिलगित और चित्राल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे।'[1]

भारत में आर्यों का आगमन किस समय हुआ, इस सम्बन्ध मे भी विद्वान एक मत नही है। जो लोग भारत मे ही आर्यों का मूल निवास-स्थान मानते हैं उनके लिए आगमन का प्रश्न ही निरर्थक है, किन्तु जो यह मानते है कि आर्य बाहर से आए, वे आर्यों के आगमन की तिथि का सही निर्धारण नही कर सके हैं। ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओ के आधार पर भारत मे आर्यो के आगमन की तिथि निर्धारित की जाती है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा मानते है कि ऋग्वेद की ऋचाओ की रचना भिन्न-भिन्न देश-कालो मे हुई थी, किन्तु उनका सपादन एक ही काल मे हुआ। इसी तिथि, 1500 ई० पू० को उन्होंने प्राचीन भारतीय भाषा का उद्भव काल माना है। डॉ० भोलानाथ तिवारी भी 1500 ई० पू० को आर्यों के भारत मे प्रविष्ट होने की तिथि मानते है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार 'साधारणतया यह माना जाता है कि 2000-1500 ई० पू० भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे आर्यो के दल आने लगे थे।'[2]

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने विभिन्न तथ्यो के आलोक मे कहा है कि 'आर्यों के भारतागमन की कोई तिथि निश्चित कर लेना कठिन होने के कारण हम 1500 ई० पू० को उनके प्रारम्भिक समूहों के पजाब मे आने का सभाव्य काल मान लेते हैं।'[3] वे और भी कहते हैं कि यह समय ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के मध्य से अधिक प्राचीनतर नही हो सकता, पश्चात् का ही हो सकता है। विश्व इतिहास के प्रसंग में इस तिथि को और अधिक पूर्व खीचकर ले जाना इतिहास के

1. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 43
2. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 31
3. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 31

मूल सिद्धान्त के विरुद्ध होगा

ईरान से पूर्व की ओर बढ़ने वाले आर्यों को पूर्वी ईरान के दास-दस्युओं से लोहा लेना पड़ा। उन्हें पराजित कर अफगानिस्तान के पर्वतीय प्रदेश और भारत-अफगानिस्तान के बीच के दर्रों से होते हुए आर्य लोग पंजाब के मैदानों में आए। 'जब आर्य लोग भारत में आए, तब देश जनशून्य न था—यहाँ भी कुछ ऐसी जातियाँ और जन बसे हुए थे जिनकी सभ्यता काफी ऊँचे स्तर की थी।'[1] भारत भूमि पर सबसे पहले देशीय जनों से आर्यों की मुठभेड़ हुई थी। इस संग्राम में उन्होंने अपने सगोत्रों को एकत्र किया और विजय के लिए राष्ट्रीय देवताओं—इन्द्र, अग्नि, मरुत आदि से सहायता की प्रार्थनाएँ कीं। 'संग्राम' शब्द का अर्थ है लड़ने के लिए गोत्रों का मिलित होना। देवासुर संग्राम में यह अर्थ आज भी सुरक्षित है।

पंजाब में आर्य और देशीय जनों के भयानक संग्राम हुए। पंजाब ही आर्यों के प्रसार का प्रधान केन्द्र था। वहीं आर्यों का सबसे बड़ा निवास बना। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार 'पंजाब की अपेक्षाकृत विशुद्धता ई० पू० तीसरी शताब्दी के अशोक शिलालेखों से तथा पश्चात् भी प्रमाणित होती है। अधिकांश आर्य अधिवासी 'विश्' (वैश्य) कहलाए।'[2] शस्त्रोपजीवी वर्ग 'राजन्य' या 'क्षत्रिय' रूप में मान्य हुआ और विजित अनार्य 'दास' या 'शूद्र' बना लिए गए। कृषिजीवी तथा अभिजात अनार्यों को आर्य जाति में सम्मिलित कर लिया गया। अनार्य पुरोहितों को भी आर्य देवताओं और होमादि विधि स्वीकार कर लेने पर ब्राह्मण वर्ग में स्थान दिया गया। इस प्रकार विजित अनार्यों का भी आर्यीकरण कर दिया गया।

आर्यों के आने के पूर्व भारत में मानव-सदृश वानरों के निवास की संभावना की जाती है, क्योंकि कई स्थानों पर इन वानरों के अत्यन्त पुराने कंकालावशेष प्राप्त हुए हैं। भारत में आने वाले प्राचीनतम जन नेग्रिटो (Negrito) थे। इनके अलावा निषाद या आस्ट्रिक, द्रविड़ (दास-दस्यु-शूद्र) और किरात या मंगोलाकार (Mangol-oid) के सम्पर्क में भी आर्य आए। यह संभावना है कि जब आर्य आए तब उत्तरी भारत के मैदानों में द्रविड़ और निषाद जन रहते थे। द्रविड़ दास-दस्यु-शूद्र कहे जाते थे और पश्चिमोत्तर और पश्चिमी भारत में रहते थे। निषाद जन मध्य भारत तथा पूर्व में रहते थे। किरातों से आर्यों का सम्पर्क हिमालय के पाद प्रदेश और पूर्वी भारत के कुछ स्थानों पर हुआ।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि आर्यों के मुख्य समूह के साथ 12वीं तथा 13वीं शताब्दी ई० पू० में एशिया माइनर की कुछ प्रसिद्ध उप-

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 44
2. वही, पृ० 62

जातियाँ भी भारत आई। इनमे भारत-यूरोपीय अखइयन (Akhaians), शकर्ष या तुर्ष, वषाप (=वश) जन, पुरसति (पुलस्त्य), कर्पादिन् आदि लोग थे। इन लोगो का कालक्रम से आर्यीकरण हो गया था और ये आर्य जाति मे घुलमिल गई थी। क्रीट निवासी (Cretans) या केफ्तिउ लोगों को प्राचीन चित्रो में लम्बी वेडियो के साथ उरेहा गया है। 'आर्यो ने भारत मे आकर बस जाने के बाद भी पश्चिम सीमाद्वार मे अन्य जातियो के (फिर चाहे वे उनके कुटुम्बी जन भारत-यूरोपीय अथवा द्रविडो के भाई-बन्धु कोई भी रहे हो) प्रवेश का मार्ग खुला रखा, और अपनो ही भाँति जैसे-जैसे उनका आर्यीकरण या भारतीयकरण होता गया, वैसे-वैसे उनसे मैत्री या शत्रुता बढाते गए।'[1]

अनार्य जातियाँ और उनकी भूमिका

आर्यो के भारत में आने के पहले अनेक अनार्य जातियाँ इस देश मे निवास करती थी। इनमें चार का उल्लेख आवश्यक है—नेग्रिटो, आस्ट्रिक (आग्नेय) या निषाद, द्राविड़-दस्यु-दास और किरात। 'भारतीय सभ्यता का निर्माण केवल आर्यों ने ही नही किया, बल्कि अनार्यो का भी इसमे बड़ा भारी हिस्सा था। उन्होंने इसकी मूल प्रतिष्ठा भूमि तैयार की थी। देश के कई भागो मे उनकी ऐहिक सभ्यता आर्यों की अपेक्षा कितनी ही आगे बढ़ी हुई थी।'[2] उनके ही अनुसार हिन्दू सभ्यता के सभी उदात्त एव उच्च उपादान आर्यों की देन थे, तथा जो निकृष्ट तथा हीन उपादान थे वे अनार्य मानस की उच्छृंखलता के द्योतक थे। इससे यह प्रकट होता है कि अनार्यों ने आर्य सभ्यता-संस्कृति के साथ ही भाषिक परम्परा को भी प्रभावित किया, क्योंकि भाषा सस्कृति से जुड़ी होती है।

1. **नेग्रिटो**—नेग्रिटो जन मूलत. अफ्रीकावासी थे और दक्षिणी अरब-ईरान मार्ग से भारत मे आए थे। डॉ० बाहरी के अनुसार नेग्रिटो पश्चिमी समुद्र के तट-वर्ती प्रदेश मे वस गए थे। डॉ० भोलानाथ तिवारी के मत से ये पूरे भारत मे फैल गए थे। ये ठिगने कद के कृष्ण वर्ण ऊनी बालो वाले जन थे। इनकी सभ्यता प्रस्तर युग की थी। इन्हें खेती-बारी या पशु-पालन का ज्ञान नही था। इस समय इनके वशज अंडमान द्वीप समूह, फिलिपाइन, न्यूगिनी में मिलते है। असम और ब्रह्मदेश के रास्ते नेग्रिटो मलाया-सुमात्रा आदि द्वीपसमूहों मे भी बिखर गए। आसाम के नागा, भोट ब्रह्म जातियो मे अब भी उनके अवशेष पाए जाते है।

डॉ० चटर्जी के मत से आर्य सभ्यता के निर्माण मे इनका कुछ भी योगदान नही है, क्योकि ये आदिम अवस्था के जन थे। आर्यो के आगमन के पूर्व ही आस्ट्रिक,

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 68
2. वही, पृ० 45

किरात और द्रविड भाषा संस्कृतियों ने नेग्रिटो भाषा संस्कृति को बिल्कुल ढँक लिया था। इसीलिए वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख नहीं मिलता। डॉ० चटर्जी के अनुसार बंगला भाषा में प्रचलित 'बादुड़, शब्द नेग्रिटो लोगों की देन है।

2. आस्ट्रिक या निषाद—नेग्रिटो के बाद भूमध्य प्रदेश निवासी जनों की एक प्राचीन शाखा भारत भूमि पर आई। इन्हें आस्ट्रिक (आग्नेय) या निषाद कहा जाता था। संभवतः आस्ट्रिक भाषा कुल का प्रारम्भ इन्हीं की भाषा मे हुआ हो। आर्यों ने इन्हें निषाद नाम से अभिहित किया है। 'कोल'-'भील' नाम की जातियाँ भी निषादों की ही उपजातियाँ हैं। कहीं-कहीं इन्हें 'शबर' नाम से भी पुकारा गया है। ये चिपटी नाक वाले कृष्णकाय और लम्बशीर्ष होते थे।

निषाद या आस्ट्रिक लोग आसाम होते हुए भारत में आए। खासी लोग आस्ट्रिक जन ही है। निकोबारी, कोल, भील, मुण्डा, हो, संथाल, कोरवा, भूमिज, कुर्कू, शोरा या शबर तथा गदाबा जातियाँ आस्ट्रिक कुल की उपजातियाँ हैं। आस्ट्रेलिया के कृष्णवर्ण आदिवासी और लंका के वेद्दा इसी जाति के है।

आसाम की खासी, कोल और मुण्डा भाषाएँ, कोचीन-चीन की चाम, ब्रह्मदेश की वा और पलाउंग, निकोबारी, मोन, ख्मेर आदि भाषाएँ और बोलियाँ आस्ट्रिक कुल की है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि आस्ट्रिक लोगों का मूल स्थान अब भूमध्य सागर माना जाता है। ये ईराक-ईरान होते हुए भारत आए और इंडो-नेशिया होते हुए आस्ट्रेलिया पहुँच गए।[1]

इनकी संस्कृति नूतन प्रस्तर युग की थी। इन्होंने आदिम कृषि प्रणाली विकसित की। जोतने के लिए ये लकड़ी (लिंग्) का प्रयोग करते थे। इनकी भाषा को देखने से पता चलता है कि नारियल, केला, पान, सुपारी (गुवाक), हरिद्रा, अदरख (शृंगवेर), बैंगन (वातिंगण), लौकी, काशीफल (अलाबु) की खेती का प्रारम्भ और विकास इन्होंने ही किया। हाथी को पालतू बनाने और मुर्गी पालने का काम सबसे पहले इन्होंने ही प्रारंभ किया। 'बीसी' से गिनने की पद्धति (कोड़ी) चन्द्र की तिथियों के अनुसार समय गिनने की परम्परा आस्ट्रिकों की देन है।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'गंगा नदी का नाम 'गंगा' भी किसी केवल 'नदी' वाचक प्राचीन दक्षिण देशीय शब्द का संस्कृतीकृत रूप जान पड़ता है।'[2] गंगा शब्द गाग से है, जिसका इन्दोचीन मे खोग (Khong) और चीनी भाषा मे किआग (Kiang) रूप होता है। कांग का सामान्य अर्थ नदी है। गांग का अर्थ बंगला भाषा में 'कोई भी नदी या नाला' होता है, जो आज भी सुरक्षित है।

---

1. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 7
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 50

डॉ० चटर्जी कहते है कि मृत्यु के पश्चात् जीवन-विषयक आस्ट्रिक विचारों से ही ब्राह्मणो को पुनर्जन्म का सिद्धान्त सूझ पड़ा था ।[1]

जो निषाद या आस्ट्रिक आर्यो के दबाव के कारण पर्वतीय क्षेत्र मे चले गए, वे आज भी अविकसित है। पहले वे द्रविडो मे सम्मिलत हुए, बाद मे आर्योंमे। जब उन्होने आर्यभाषा को सामूहिक रूप मे स्वीकार कर लिया तो उनकी आर्यभाषा मे अपनी शब्दावली, ध्वनि, वाक्य-विन्यास आदि का प्रभाव एव प्रतिबिब प्रकट होने लगे। प्रत्यय-सयुक्त भारतोय आर्य भाषा और निषाद भाषावली अपने उपसर्गों, प्रत्ययो और अन्तःप्रत्ययो के साथ विशिष्टता लिए हुए है।

3 **किरात या मंगोलाकार**(*Mongoloid*)—किरात जन पूर्वचीन के आदिवासी थे। मूलत' याङ्त्सी-क्याग नदी के मुहाने के पास रहने वाले ये आदि मगोल थे। इन्होंने ही चीनी भाषा-सस्कृति का निर्माण किया। प्रागैतिहासिक युग मे ये लोग ब्रह्मपुत्र उपत्यका तथा तिब्बत की राह से भारत मे आये। समग्र आसाम, पूर्व और उत्तर बगाल, उत्तर बिहार, भोटान, नेपाल, कुमायूँ-गढ़वाल, सिन्ध, राजस्थान और मध्य भारत तक इनका प्रसार हुआ। उत्तर भारत मे ही इनका मुख्य निवास था।

यजुर्वेद मे इनका उल्लेख मिलता है। उसमे ज्ञात होता है कि ये आर्यो से बहुत पहले ही भारत मे आ गये थे। मेइथेइ, कचिन, नगा, गारो, बोडो, लो लो, कुकीचीन, लेप्चा, नेवारी आदि भाषाएँ किरात जनो की भाषाएँ है।

डॉ० हरदेव बाहरी के अनुसार किरात जन शीघ्र ही आर्यों के मित्र बन गये। 'यक्ष, गंधर्व, सिद्ध और किन्नर आदि पहाडी जातियो की संस्कृति परवर्ती आर्य साहित्य मे भरपूर मिलती है। पौराणिक साहित्य मे तो इनकी विशिष्ट महत्ता जान पड़ती है—इन्ही के देवताओ, इन्हीं की पूजा-विधि, इन्ही के विश्वासो और अधविश्वासो को सर्वप्रधान मान्यता दी गयी है।'[2] इनके प्रदेश को आर्यो ने स्वर्ग और इन्द्रलोक कहा। न जाने कितनी मणियों, फल-फूलों और अन्य उपजों को आर्य जाति ने इनसे ग्रहण कर लिया। भारतीय तन्त्रशास्त्र इनसे ही प्रभावित है। खोबा, फेटा (धोती का) आदि शब्द इनकी देन हैं।

4. **द्रविड़**—द्रविड़ों को आर्यो ने दास, दस्यु और शूद्र रूप मे स्वीकार किया है। वैदिक साहित्य मे इसी रूप मे उनका उल्लेख मिलता है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'द्रविड़ लोग भूमध्य जातियों की विभिन्न शाखाओ के प्रतिनिधि' थे।[3] डॉ० भोलानाथ तिवारी उन्हें अफ्रीका का मूल निवासी मानते हुए

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 51
2 हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 16
3. वही. पृ० 54

कहते हैं—'सभी बातों पर ध्यान देते हुए मेरे विचार में इनका मूलस्थान अफ्रीका है। वहाँ से ये लोग भूमध्य सागर आये और फिर ईरान-अफगानिस्तान से लेकर पूर्वी भारत (आसाम, बंगाल) तक फैल गये।'[1] डॉ० तिवारी और डॉ० चटर्जी की मान्यताओं में बहुत अंतर नहीं है। डॉ० तिवारी अफ्रीका से भूमध्य सागर में आया हुआ मानते हैं। किन्तु डॉ० चटर्जी कहते हैं कि अद्यतन मतों के अनुसार, मूल द्रविडभाषी लोग पश्चिम के निवासी थे। उनका मूल निवास पूर्वी भूमध्य सागर के कुछ अंचल, एशिया माइनर का लिकिया प्रदेश तथा क्रीट द्वीप-समूह था।

द्रविड़ों का एक प्राचीन नाम 'द्रमिड़' या 'द्रमिल' मिलता है, जिससे आर्य भाषा के द्रमिड, द्रविड, द्रमिल तथा तमिल भाषा का शब्द तमिल(तमिड़्) निकले है। प्राप्त द्रविड़ साहित्य की परीक्षा से ज्ञात होता है कि वह ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य का है। किन्तु आर्यों के भारत तथा भारत के बाहर के द्रविडों के सम्पर्क में आने का काल ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी का मध्य अनुमानित है।

हड़प्पा-मोहनजोदड़ो जनों के द्रविड होने का अनुमान किया गया है। द्रविड जनों के कारण संभवतः ई० पू० कुछ शताब्दियों में सिन्ध ओद्री, सौवीर और सकर जातियों का क्षेत्र माना जाता था। बिलोचिस्तान की ब्राहुई जाति भी द्रविड ही थी। दास-दस्यु और शूद्र कहे जाने वाले जनों के सिन्ध, पंजाब और पूर्वी ईरान में बसे होने की सम्भावना भी की जाती है। पंजाब में आर्यों की दास-दस्यु द्रविडों से मुलाकात हुई। डॉ० चटर्जी का अनुमान है कि आर्यों के आगमन के पूर्व द्रविडों ने ही पंजाब और सिन्ध की महान् नागरिक सभ्यताओं का निर्माण किया था।'[2] जब आर्य भारत में आये, भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेश में द्रविड रहते थे। निषाद जन पूर्व और मध्य भारत में रहते थे। निषाद उतने संगठित एवं दुर्धर्ष नहीं थे, जितने द्रविड़। अतः आर्यों ने पहले गंगा-यमुना के दोआबे को जीता। इसके बाद उन्होंने द्रविडों से लोहा लिया और उन्हें दक्षिण की ओर खदेड़ दिया।

द्रविड लोग पशुपालन और नगर-निर्माण में कुशल थे। कर्मकाण्ड और योग-साधना समेत रहस्यमार्गी पंथ द्रविड़ों की देन है। 16 के हिसाब से गिनने की प्राणाली भी द्रविडों की ही है। उमा और शिव—योगी पशुपति शिव के रूप में ईश्वर की कल्पना उनसे ही आर्यों ने ग्रहण की। घोड़ा द्रविडों का पालतू पशु था। कृषि, पशु-पालन और मछली पकड़ना उनका मुख्य कर्म था। उनकी सामाजिक व्यवस्था मातृनिष्ठ (matriarchal) थी, जबकि आर्यों की पितृनिष्ठ (Patriar-

1. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 7
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या पृ० 59

chal)। फूल, चन्दन तथा अन्य सुगन्धित विलेपन से पूजन-विधि द्रविड़ों की ही देन है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के मत से शिव-पार्वती, देवी, हनुमान, कार्तिकेय, गरुड़, मृत्यु के बाद का पिण्डदान सस्कार आदि मूलतः द्रविडो की देन है।[1] द्रविड भाषाओ का वैदिक ध्वनि, व्याकरण और शब्द पर प्रभूत प्रभाव पड़ा। 'ट' वर्गीय ध्वनि का विकास द्रविड-प्रभाव से ही है। सयुक्त क्रियाओं, परसर्गो तथा तुलनात्मक विशेषण भी द्रविड़ों की देन है। अणु, कला, गण, नाना (अनेक) पुष्प, बीज, रात्रि, साय, तंडुल, मर्कट, शव, श्रेष्ठिन्, झड़ी, झगड़ा, सीप, खूँटा, वेतस्, शख, कुंतल, वेणी, तुण्ड, दण्ड, पिण्ड, कुठार, कोट, मुकुट, मंच आदि शब्द द्रविड भाषा से आर्य भाषा मे आये है। अनुकरणात्मक शब्दावली भी उन्ही की देन है। डॉ० बाहरी के अनुसार समासो की योजना, भविष्यत् काल, दो वचन, दो लिंग, विभक्ति की जगह परसर्ग का प्रयोग, कर्मवाच्य मे अतिरिक्त क्रिया और वाक्य-योजना के तत्त्व द्रविड भाषा से आये है।

अन्य अनार्य प्रभाव

इनके अतिरिक्त पूर्वार्य काल और आर्यो के भारत में आगमन के बाद विभिन्न जनों का भारत में आवागमन हुआ। ऋग्वेद के वासिष्ठ सूक्त में तृत्सुवंशी राजा सुदास् के साथ आर्य-अनार्य उपजातियो के युद्ध-वर्णन मे निम्न उपजातियो का उल्लेख है—तुर्वश, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, अलिन, शिव, विषणिन्, वैकरण, अनु, अज, शिग्रु, यक्ष। वैदिक साहित्य में तुर, वश, मत्स्य आदि का उल्लेख मिलता है। आर्यो के मुख्य समूह के साथ अरवइयन, शकर्ष, तुर्ष, वषाष, पुरसति, कपर्दिन् आदि जन भारत मे आये थे। पुरसति लोगो को श्रीदेव यजुर्वेद में पुलस्त्य नाम से बतलाया गया है, जो मुक्तकेशित थे। कपर्दिन् लोग केशो को वेणीबद्ध रखते थे। 'इन्हीं मे वसिष्ठ का अपना गोत्र तृत्सु भी था।'[2] स्पष्ट है कि आर्यो ने पश्चिम का द्वार अन्य जातियो के लिए खुला रखा, जिससे समय-समय पर अनेक जातियो का भारत मे आगमन हुआ।

कालान्तर मे हूण, मंगोल, चीनी, तुर्क, अरब, शान (बर्मा से) आदि अनेक जातियाँ यहाँ आई। इनमे अधिकाश का आर्यीकरण-भारतीयकरण हो गया। इससे स्पष्ट है कि अनार्य जातियो का भारतीय सभ्यता, सस्कृति और भाषा के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्राचीन भारतीय इतिहास और दतकथाओ में निहित धार्मिक तथा सांस्कृतिक रीति-परिपाटी अनार्यो से प्रभावित वस्तु का आर्य भाषा में रूपान्तरण है। कर्म तथा

---

1. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 8
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पृ०67

परलोक के सिद्धान्त, योग-साधना, शिव, देवी तथा विष्णु के रूप में परमात्मा को मानना, वैदिक हवन पद्धति के साथ नयी पूजाविधि को अपनाना आदि अनार्यों की देन है। 'बहुत-सी पौराणिक तथा महाकाव्यों मे आई हुई कथाएँ, उपाख्यान और अर्ध ऐतिहासिक विवरण भी आर्यो से पहले के हैं।'[1] चावल, इमली, नारियल, शाक, फल की खेती, पूजन-अर्चन विधि, विवाह की रस्मे, जिसमे हल्दी और सिन्दूर का उपयोग करना, धार्मिक विश्वास, धोती-साड़ी पहनने का प्रचलन हमारे पूर्वार्य पुरखो की देन हैं। मतलब यह कि जिन जनों से ये कथाएँ-उपाख्यान, परपरा, रीति-नीति आदि विकसित हुई थी, उनके आर्यीकरण हो जाने पर इन कथाओ तथा आचार-विचार को भी वैदिक परम्परा मे स्वीकार कर लिया गया।

प्राचीन आर्य भाषा

आर्यों की विभिन्न शाखाएँ समय-समय पर भारत मे आईं। पूर्वार्य जनो को पराजित कर पूर्वागत आर्य पंजाब या सप्तसिधु मे बस गये थे। 'बाद मे आने वाले आर्यो ने आकर उनका स्थान ले लिया और पूर्वागतो को उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, पूरब ढकेल दिया।'[2] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और हॉर्नली यह मानते है कि ऋग्वेद और परवर्ती सस्कृत साहित्य से ज्ञात होता है कि आर्य दो बार भारत मे आये थे। 'पजाब मे उतरने पर इन नवागत आर्यो को अपने पुराने भाइयो का सामना करना पडा होगा, जो इतने दिनो तक इनसे अलग रहने के कारण भिन्न भाषा-भाषी हो गये होगे।'[3] ये नवागत आर्य सरस्वती नदी के किनारे बस गये। पूर्वागत और नवागत आर्यो के युद्ध का उल्लेख ऋग्वेद मे पंजाब के राजा सुदाम की विजयो के सदर्भ मे मिलता है। यमुना नदी के किनारे रहने वाली पुरु नाम की एक पूर्वागत आर्य जाति पर उन्होने विजय प्राप्त की थी। पश्चिम के ब्राह्मण वशिष्ठ और पूर्व के क्षत्रिय विश्वामित्र के मतभेद मे भी पूर्वागत और नवागत आर्यों के कलह की व्यजना है। कुरु-पाचालों का युद्ध, जो महाभारत मे वर्णित है, इसी तथ्य की ओर सकेत करता है।

धीरे-धीरे नवागत आर्यों का फैलाव विस्तृत हुआ। ज्यो-ज्यो उनका विस्तार होता गया, वे मध्यदेश मे फैलते गये। सस्कृत साहित्य मे मध्यदेश के अंतर्गत प्रारभ मे कुरु-पांचाल और उत्तरी हिमालय प्रदेश को ही सम्मिलित किया गया, क्योकि नवागत आर्य पजाब और मध्यदेश मे ही बस गये थे। पजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश को 'उदीच्य' कहा गया। उदीच्यों को अपनी शुद्धता का गर्व था। मध्यदेश

---

1 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 46
2. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 8
3 हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 43

को भी श्रेष्ठता प्रदान की गयी थी। नवागत आर्य जब कुरु-पांचाल प्रदेश से आगे बढ़े तो उन्होंने मध्यदेश का सीमाक्षेत्र विस्तृत कर दिया। हिमालय तथा विन्ध्य के बीच और सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक के क्षेत्र को परवर्ती संस्कृत साहित्य में मध्यदेश की संज्ञा दी गयी—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्य यत् प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।—मनुस्मृति।

कुरुक्षेत्र (विनशन) से पूर्व, प्रयाग से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण और विन्ध्य से उत्तर के प्रदेश को मनुस्मृति में मध्यदेश कहा गया है। स्पष्टतः इस क्षेत्र तक नवागत आर्यों के फैलाव के फलस्वरूप ही मध्यदेश की सीमा का विकास विस्तार किया गया था।

प्रयाग के पूर्व में 'व्रात्य' नामक अटनशील आर्यभाषी उपजातियाँ बस गयी थी। इन लोगों की वैदिक अग्निहोत्र या ब्राह्मणीय सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था में विशेष रुचि नहीं थी। प्राच्य या पूरब के लोगों को राक्षस, बर्बर, झगड़ालू और असुर कहा जाता था। नवागत आर्यों का इनसे कोई विशेष प्रेम भी न था। इससे स्पष्ट होता है कि नवागत आर्य उदीच्य और मध्यदेश में निवास करते थे और पूर्व में पूर्वागत आर्यों की उपजातियाँ बसी हुई थी। वैदिक धर्म-संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में उदीच्य अधिक शुद्ध और मध्यदेशीय शुद्ध माने जाते थे, जबकि पूर्वी आर्यों को हीन, नीच और असुर समझा जाता था। पालि तथा अन्य प्राचीन साहित्य में उल्लेख है कि उदीच्य अर्थात् उदीच्य ब्राह्मणों को हमेशा अपनी उच्चता का बड़ा अभिमानी पाया जाता था। ई० पू० तीसरी शताब्दी के अशोकी शिलालेखों में भी पंजाब की भाषा की विशुद्धता की चर्चा मिलती है। 'पंजाब भारतीय आर्यों के प्रसार का मुख्य केन्द्र स्थान रहा और उदीच्य या उत्तर देश के नाम से यहाँ के आर्य अपनी विशुद्ध भाषा और रक्त का बड़ा गर्व अनुभव करते थे।'[1]

प्राचीन आर्य भाषा

आर्यों की विभिन्न शाखाओं के समय-समय पर भारत में आने का उल्लेख किया गया है। कुछ विद्वानों ने आर्यों के दो बार भारत आने की भी चर्चा की है। जो हो, आर्यों की प्रत्येक शाखा की बोली एक-दूसरे से भिन्न थी। प्रारंभिक भिन्नता नाम मात्र की थी। 'आर्यों के पंजाब में प्रथम बार बसने के पश्चात् पंजाब से पश्चिम फारस तक के प्रदेश में एक प्रकार का भाषा-साम्य रहा होना बहुत संभव है।'[2] डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'आर्य जब भारत में आये, उस

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 62
2 वही पृ० 63

समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित अलग नही थी ।'[1] जैसे भारतीय-ईरानी भाषा का 'यजामधइ' वैदिक भाषा मे 'यजामहे' हो जाता है। इसी प्रकार भारतीय यूरोपीय का 'क्रॅइलो' आर्यभाषा मे 'श्री-ल' हो गया तथा भारतीय आर्य भाषा मे उसके तीन रूप 'श्री-र', 'श्री-ल' और 'श्लील' बने ।

आर्य लोग भारत मे आने के समय अपने साथ अनेक सूक्त-स्तव और अन्य काव्य रचनाएँ लेकर आये थे। सूक्त और स्तव रचना की परम्परा भारत मे भी अविच्छिन्न रूप से चलती रही । आर्येतर लोगो से मिश्रण, भौगोलिक दूरियो तथा कालक्रम के प्रभाव से भाषा रूप मे भी परिवर्तन होने लगा। एक स्थान की भाषा तथा एक काल की भाषा दूसरे मे भिन्न होती गयी ।

भारत मे आकर आर्यों ने यज्ञ के विधि-विधान मे विकास किया । आर्य ऋषियो ने विभिन्न क्षेत्रो और कालों मे देवताओं की प्रशंसा में सूक्त और मन्त्रो की रचना की । सूक्तो को ऋषि-परिवार मे कठस्थ कर सुरक्षित रखने की परम्परा थी। डॉ० चटर्जी की मान्यता है कि आर्यीकरण हो जाने के उपरान्त अनार्य कवियो ने भी सूक्तो और स्तवों की रचना के प्रयत्न किये होगे ।[2] इस प्रकार सूक्तो की, जिन्हे कठस्थ रखा जाता था, सख्या मे विस्तार होता चला गया। इसकी सुरक्षा के लिए पुरोहित वर्ग स्थापित हुआ । पुरोहितों ने गाँवो, वनो, सीमान्त के आश्रमो मे पाठशालाओ की स्थापना की, जिनमे कठस्थ मन्त्रों के शुद्ध पाठ की व्यवस्था की गयी थी । मंत्रपाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ और घन-पाठ के द्वारा अन्य भाषाओ के परिवर्तन या मिश्रण से वैदिक सूक्तो को सुरक्षित रखने के प्रयास भी किये गये । फिर भी डॉ० चटर्जी यह कहते हैं कि ईरान अथवा भारत मे रचे गये सूक्तों की भाषा मे परिवर्तन हुए होगे, क्योकि उनका आधार श्रौत था। लिखित रूप मे प्रस्तुत करने पर सैकड़ों वर्ष पहले तथा कुछ समय पूर्व रचित सूक्तों की भाषा में समानता आ गयी होगी ।

वेदो की रचना कब हुई और उनका संकलन कब हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है। कुछ लोग वेद का रचनाकाल 2000 ई० पू० से भी प्राचीन मानते हैं। डॉ० चटर्जी वैदिक भाषा का काल 2000 ई० पू० से प्राचीनतर नही मानते, क्योकि मेसोपोतामिया और एशिया माइनर में उपलब्ध प्रमाणो के अनुसार ईरानी और भारतीय आर्य शाखाएँ और आर्य भाषा विभाजित न होकर एक ही भाषा रही प्रतीत होती है। सुदास के साथ अन्य उपजातियो के युद्ध का उल्लेख वसिष्ठ के जिस सूक्त मे हुआ है, उसका रचनाकाल 1200 ई० पू० से प्राचीन नही हो

---

1. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 9
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 64

सकता। अत: ईरान मे भारतीय आर्यों द्वारा रचे गये मंत्रों को छोड़ दिया जाय तो भारत मे वैदिक सूक्तो का रचनाकाल 2000 ई० पू० माना जा सकता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ०उदयनारायण तिवारी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के इस मत से सहमत हैं कि 'हम 1500 ई० पू० को उनके प्रारंभिक समूहो के पंजाब मे आने का संभाव्य काल मान लेते है।'[1] अत: 1500 ई० को ही भारतीय आर्य भाषा के उद्‌भव का काल विद्वान् मान लेते हैं। इस काल के बाद से ही आर्यों ने यहाँ वैदिक सूक्तो और मंत्रों की रचना प्रारंभ की। 'आर्य भाषा के अतिरिक्त ये उपजातियाँ अपने साथ कुछ वैदिक सूक्तो तथा वैदिक पद्धतियो के धर्म तथा संस्कृति को भी अवश्य लाई थी।'[2] इन सूक्तो की रचना मेसोपोतामिया या ईरान मे हुई होगी। अत: वैदिक सूक्तो और मंत्रो का रचनाकाल 1500 ई० पू० को स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है।

विभिन्न आश्रमो मे स्मृति रूप में सुरक्षित भारत मे या भारत के बाहर रचे गये मंत्रो और सूक्तो को पुराणो के प्रसिद्ध रचनाकार पराशर-पुत्र कृष्ण द्वैपायन ने संपादित किया। विष्णु पुराण के साक्ष्य से इसके पूर्व वैदिक सूक्तो का विभाजन नही हो सका था। सम्पूर्ण ज्ञान-राशि एकत्र थी। कृष्ण द्वैपायन ने मंत्रों का संकलन-संपादन किया। अत: उनका नाम वेदव्यास हुआ—'वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरित:।' विष्णु पुराण मे 28 व्यासों की चर्चा है। जिन व्यास ने वेदो का संपादन किया, वे कौरव-पाण्डवो के समकालीन थे। डॉ०चटर्जी ने बताया है कि दसवी शताब्दी ई० पू० मे आर्य भाषा के लिए अनार्यो (द्रविडो) की सिन्धी-पंजाबी लिपि स्वीकार की गयी। किन्तु वे आगे कहते हैं कि 10वीं शती ई० पू० की आद्य भारतीय आर्य लिपि, जो एक प्रकार की 'प्राथमिक ब्राह्मी' ही थी, तत्कालीन बोलचाल की वैदिक ध्वनियो को व्यक्त करने का स्थूल प्रयास-मात्र प्रतीत होती है।'[3] उन्होने यह भी बताया है कि महाभारत के कुछ पात्र, राजा परीक्षित, ई० पू० 10वी शताब्दी मे हुए थे। अत: यह माना जा सकता है कि वेदव्यास ने वेदो का संकलन-संपादन 10वी शती ई० पू० में किया था। कंठस्थ वेदमंत्रो को इसी काल मे लेखबद्ध किया गया, क्योकि इसके पूर्व लिपि को लेखन-कार्य-हेतु स्वीकार किया जा चुका था। 'पर: सन्निकर्ष: संहिता' (अष्टाध्यायी) से प्रकट है कि संहिता ऐसे संग्रहात्मक ग्रंथ को कहा जाता है, जिसमे दृष्ट और निर्मित मंत्रो का संग्रह किया गया हो। इसीलिए वेदो को संहिता भी कहा गया है। 'वेद शब्द का प्रयोग वैसे तो संहिता के मंत्र भाग के लिए माना जाता है, पर वैदिक

---

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 31
2. वही, पृ० 42
3. वही, पृ० 65

विद्वानो ने वेद शब्द के अतर्गत, ब्राह्मण भाग को भी ग्रहण कर लिया है—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।'

भारतीय मनीषा ने प्रमुखतः अग्नि, इन्द्र और वरुण देवता के स्तोत्रो की भावात्मक अभिव्यजना की है। अन्य देवताओ मे उषा, सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, रुद्र, मरुत, पर्जन्य तथा सोम पवमान के सूक्त भी अधिक है। ब्राह्मण वर्ग ने ब्रह्म की व्याख्या की और उसके अनके आयामो का मनन-मंथन किया। मनन करने के कारण ही सूक्त या स्तोत्र मत्र कहे जाते है—मत्रो मननात् ।' छन्दोबद्ध मत्र को ऋचा कहते हैं—'अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेष: क्रियाविशेष: तत्साधन विशेषा: वा इत्यृक् शब्दव्युत्पत्तेः ।' ऋचाएँ द्युलोक तक बिखरी थी। इन्हें एकत्र कर ऋषियो ने अर्चना की। अत: इन्हे ऋचा कहते है।

वेदो के संकलन-संपादन के पश्चात् वैदिक भाषा का विकास प्रारंभ हुआ। वैदिक भाषा पूर्व की ओर अग्रसर हुई। वह धीरे-धीरे नेपाल, विदेह (बिहार), मगध मे फैल गयी। इसी बीच भाषा मे अनेकश: परिवर्तन लक्षित होने लगे। 1000 ई० पू० से 600 ई० पू० के काल में, जब ब्राह्मण ग्रंथो की रचना हो चुकी थी या हो रही थी, आर्य भाषा के तीन विभेद लक्षित होते हैं—1. उदीच्य (पश्चिमोत्तरीय), 2. मध्यदेशीय, 3. प्राच्य या पूरब की भाषा।

उदीच्य प्रदेश—पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा उत्तरी पजाब—की भाषा अत्यन्त विशुद्ध गिनी जाती थी, क्योकि वह प्राचीन आर्य भाषा के निकट और रूढिबद्ध थी। कौषीतकी ब्राह्मण मे उल्लेख है कि उदीच्य प्रदेश मे भाषा बडी जानकारी से बोली जाती है; भाषा सीखने के लिए लोग उदीच्य जनो के पास ही जाते है, जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोग इच्छा करते हैं—'तस्मात् उदीच्यां प्रज्ञाततरावाग् उद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितम्, योवातत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति ।[1]

प्राच्य भाषा का क्षेत्र आधुनिक अवध, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की भाषा थी। यह अटनशील आर्यभाषी व्रात्यो मे प्रचलित थी। व्रात्यो को आसुर्य, राक्षस, बर्बर और झगड़ालू प्रवृत्ति का कहा गया है। ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि व्रात्य लोग उच्चारण मे सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं, यद्यपि वे वैदिक धर्म मे दीक्षित नहीं है, फिर भी दीक्षा पाये हुओ की भाषा बोलते है—'अदुरुक्तवाक्यम् दुरुक्तम् आहु:, अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति ।'[2] इससे स्पष्ट होता है कि मध्यदेशीय और उदीच्य आर्यो की भाषा का उच्चारण व्रात्य या प्राच्य जन सरलता से नही कर सकते थे। मध्यदेशीय भाषा न तो उदीच्य

1. कौषीतकी ब्राह्मण, 7-6
2 ताण्ड्य ब्राह्मण- 17-4

की तरह रूढिबद्ध थी और न पूरब की तरह शिथिल तथा स्खलित। वह बीच के मार्ग का अनुसरण कर रही थी। पतजलि (2री शती ई० पू०) के अनुसार पूर्वी लोग 'अरयः' का उच्चारण 'अलयो' या 'अलवो' करते थे। प्राकृत-अपभ्रंश काल मे पूर्वी भाषा ने 'र' की जगह 'ल' हो जाने की प्रवृत्ति अधिक मुखर हो गयी।

भाषा विकास के दूसरे काल मे आर्य भाषा के प्रादेशिक रूप उभर रहे थे। अनार्यो को आर्य भाषा के अतर्गत ग्रहण करती आर्य भाषा बड़े वेग से अग्रसर हो रही थी। अटनशील आर्यो ने पूर्व और दक्षिण की ध्वनियो का अनुकरण कर अपने विचारो को सुबोध बनाया। डॉ० बाहरी के मत से 'पूर्व और पश्चिम के सान्निध्य से प्राचीन आर्य भाषा मे परिवर्तन हो रहे थे और भाषा मे तरह-तरह के सम्मिश्रणो का समावेश हो रहा था।'[1] उदीच्यो की भाषा प्राच्यो तक पहुँचते-पहुँचते बहुत भिन्न हो गयी थी।

वैदिक भाषा सपादित होकर बोलचाल की भाषा से भिन्न होकर काव्य-भाषा हो गयी। संहिताओं की 'गाथा' भाषा बोलचाल की भाषा के निकट थी। प्राच्यो की भाषा सहिता और ब्राह्मण ग्रथो की भाषा से बहुत दूर हो गयी। जब बुद्ध के शिष्यो ने छान्दस में बुद्धवचन को अनूदित करने का प्रस्ताव किया तो बुद्ध ने कहा था कि उनके उपदेश लोग अपनी मातृभाषा मे ही ग्रहण करे। धीरे-धीरे बौद्धों और जैनियो के प्रभाव से प्रादेशिक बोलियो मे साहित्य उभरने लगा। इस भाषा-परिवर्तन या विकास के पीछे कर्मकाड की भाषा छान्दस और संस्कृत का विरोध करना था। वैदिक भाषा सामान्य जन के लिए अत्यन्त दुरूह हो गयी थी तथा उसका प्रारभिक भाव तथा अर्थ लुप्त होता जा रहा था। इस काल मे ब्राह्मण, उच्चवर्ग तथा सुसस्कृत वर्ग वैदिक भाषा का प्रयोग कर रहा था। किन्तु 'बुद्ध से शताब्दियो पहले ब्राह्मण-द्वारा प्रयुक्त भाषा भी तीव्र गति से बदलती हुई लौकिक भाषाओ से प्रभावित होकर भिन्न रूप धारण करने लगी।'[2] फिर भी ब्राह्मण वर्ग के लिए वैदिक भाषा का जन्मस्थान उदीच्य प्रदेश भाषिक प्रेरणा का केन्द्र बना हुआ था।

वैदिक भाषा

वैदिक भाषा को वैदिकी, छान्दस, प्राचीन सस्कृत, वैदिक सस्कृत आदि नामो से अभिहित किया गया है। ऋचाओं की रचना छन्द मे होने से उसे छान्दस कहा गया है। किन्तु वेदों में गद्यांश भी प्रभूत मात्रा मे है। इसलिए छान्दस अभिधान समीचीन प्रतीत नही होता। वैदिक सूक्तो की रचना कुछ तो ईरान या मेसोपोता-

---

1. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 18-19
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 76

मिया में हुई, जिन्हें रिक्थ रूप मे आर्य लोग अपने साथ ले आए थे। शेष सूक्तो की रचना पंजाब या आसपास के क्षेत्रो मे विभिन्न ऋषियो द्वारा की गयी। वैदिक भाषा का प्राचीनतम रूप वेदो मे प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य के अंतर्गत वेदो, ब्राह्मण ग्रथो, आरण्यको और उपनिषदो की गणना की जाती है। वेदो की भाषा से ब्राह्मण ग्रथो की भाषा, ब्राह्मण ग्रथो से आरण्यक और उपनिषदों की भाषा मे क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है।

वेदो की रचना याज्ञिक अनुष्ठानो के उद्देश्य से की गई है। इसमे विभिन्न ऋषियो द्वारा समय-समय पर रचे गए मत्रो का सग्रह है। याज्ञिक अनुष्ठानो का कर्मकाण्ड (विधि-विधान) ब्राह्मण ग्रथो मे लिखित है—'ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणा च व्याख्यान ग्रथः।' ब्राह्मणो के अन्तिम भाग आरण्यक कहे जाते है। अरण्य मे पठनीय होने से आरण्यक नाम की सार्थकता सिद्ध है। ऐतरेय आरण्यक के सायण भाष्य मे इनकी पुष्टि मे कहा गया—'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीयते।' और भी कहा गया—'अरण्ये तदधीयीतेत्येव वाक्य प्रचक्षते।' प्राण विद्या और प्रतीक उपासना आरण्यकों का मुख्य विषय है। ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय आरण्यक प्रसिद्ध है।

उप+नि+सद् (षद्लृ) धातु में क्विप् प्रत्यय जोडने से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। उपनिषद् का अर्थ है पास में बैठना। षद्लृ धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण (विनाश होना), गति (प्राप्ति) और अवसादन (शिथिल होना)। उपनिषद् प्रोक्त विद्या ही ब्रह्मविद्या है। वेदो का साराश होने से इसे वेदान्त भी कहते है। इनकी सख्या 108 तक मानी गयी है किन्तु उनमे 11 उपनिषद् प्रधान है—ईश, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय श्वेताश्वतर। आत्मदर्शन ही उपनिषदो की ब्रह्मविद्या का रहस्य है। वैदिक साहित्य मे 6 वेदागों की गणना भी होती है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष।

आर्यो की आदिम भाषा को 'विरोस' कहा गया है। यही भोरोपीय परिवार की मूल भाषा थी। इससे यह प्रकट होता है कि 'विरोस' जन की भाषा से हो वैदिक भाषा का उद्‌भव हुआ। अटनशील होने के कारण आर्यो का सम्पूर्ण साहित्य कंठो मे ही सुरक्षित था। 10वीं शती ई० पू० के पर्याप्त पूर्व ही आर्यो ने सिन्ध-पंजाब लिपि से ब्राह्मीलिपि का विकास किया और उसे लेखन के लिए अपनाया। 'इससे यह सिद्ध होता है कि भारत के आर्यो ने लेखन-कला अपने समकालीन अनार्यो से सीखी।'[1] आर्यों ने भारत मे आरंभ से ही प्रचलित लेखन की अनार्य पद्धति को अपना लिया, क्योकि लेखन-प्रणाली की सहायता के बिना वैदिक

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 58

संहिताओं का संकलन संभव हो ही नहीं सकता था। लेखन-पद्धति का विकास होने पर वेदव्यास ने सहिताओ का सकलन-संपादन किया। वैदिक संहिताओ का सपादन-काल 1000 ई० पू० के लगभग है। वैदिक सूक्तो की रचना आर्यो की जनभाषा मे हुई, किन्तु सपादनोपरान्त सूक्तो का लिखित रूप लगभग एक-सा हो गया।

वेदो मे एक काल और एक स्थान की भाषा न होकर अनेक वैभापिक रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेद के गोत्र मडल (2 से 8 मडल) तक की भाषा अति प्राचीन है, जबकि प्रथम तथा दशम मंडल में भाषा का परवर्ती स्वरूप लक्षित होता है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि संपादन के उपरान्त वेदों की भाषा पुरोहितो और उच्चवर्ग की भाषा हो गयी। जनभाषा का स्वरूप तो अथर्ववेद मे मिलता है।

वैदिक भाषा मे कई वैभाषिक स्वरूप सुलभ है। आकारान्त. पुंल्लिग शब्दो के प्रथमा बहुवचन मे एक साथ देवा:, देवास: दो रूप और तृतीया ब० व० मे देवैं', देवेभि जैसे दो रूप मिलते है। वैदिक भाषा मे तीन या चार पदो से अधिक समासान्त पद नहीं मिलते। केवल तत्पुरुष, बहुव्रीहि, कर्मधारय और द्वन्द्व समास के ही उदाहरण मिलते हैं। अनार्यो के सम्पर्क से वैदिक भाषा मे भी परिवर्तन हुए है। क्षेत्रीय जनों, अनार्यो आदि को उच्चारणगत सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से याजुष प्रतिशाख्य और शिक्षाओ मे उच्चारण के वैकल्पिक विधान किये गये है। प्रतिशाख्य और शिक्षा गंथो मे 'ट' वर्ग रहित 'ष' का उच्चारण 'ख' स्वीकार किया गया है और पदादि 'य' का 'ज'। स्पष्ट है कि ये वैभाषिक प्रवृत्तियाँ वैदिक युग मे भी प्रकट हो गयी थी। यास्क ने निरुक्तो और निघटुओ मे भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। विद्वानो की मान्यता है कि वेदविरोधी पूर्व के आर्यो (व्रात्यो) की भापा उच्चारण की दृष्टि से विकृत हो गयी थी। शाकटायन, शाकल्य, स्फोटायन, इन्द्र आदि वैयाकरणो ने भी भाषा को सस्कार देने की चेष्टा की।

वैदिक साहित्य मे भाषागत विकास के स्वरूप स्पष्ट रूप से लक्षित है। ऋग्वेद की साधु या परिनिष्ठित भाषा में प्राचीनता के लक्षण स्पष्ट रूप से वर्तमान हैं। एक उदाहरण लें—

एषा शुभ्रानतन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।

अर्थात् यह शुभ्रवर्ण उषा अलंकृत युवती की तरह अपने अंगो को प्रकट करती है।

किन्तु उपनिषद् की भाषा संस्कृत के अधिक निकट दिखाई पड़ती है। उसमे वह दुरूहता नही है, जो वैदिक भाषा मे है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

जहाँ से मन के साथ वाणी उसे न पाकर लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को

जानने वाला किसी से भयभीत नहीं होता।

वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा का साहित्य है।[1] उसे लोक साहित्य भी कहा जा सकता है। वैदिक काव्य साहित्य अभिजात वर्ग का साहित्य है। वैदिक भाषा इस बात का प्रमाण है कि आर्य घुमक्कड़ी छोड़कर गाँवों में बस गए और कृषिकर्म तथा पशुपालन को अपना लिया था। वे नागरिक जीवन की ओर क्रमशः गतिशील थे। वैदिक भाषा, विशेषतः ब्राह्मणो और उपनिषदों की भाषा मध्यदेश के भाषिक स्वरूप को उजागर करती है। फिर भी पूरब में लोकभाषाएँ इस काल मे शक्ति ग्रहण कर विकसित हो रही थी।

लौकिक भाषा या लौकिक संस्कृत

आर्यों के भारत मे प्रसार के कारण नित्य नये परिवेश और प्रदेश, भौगोलिक विविधताओ, नये ऐतिहासिक सदर्भ, आर्येतर जातियों से साथ सम्पर्क और उनके द्वारा आर्य भाषा सीखने के प्रयत्न तथा आर्यो द्वारा भी अनार्यो की भाषा सीखने का प्रयत्न आदि कारणों से वैदिक भाषा का रूप निरन्तर विकास की ओर गतिशील रहा। लौकिक भाषा के साथ ही काव्य-भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। पश्चिम की ओर बसे आर्य पूर्व की ओर स्थापित होते जा रहे थे। मध्यदेश की भाषिक पहचान अलग हो चुकी थी। इस प्रकार उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य भाषागत स्वरूप उभर आये थे। उदीच्य भाषा मे भाषा का प्राचीनतम रूप अब भी सुरक्षित था। किन्तु मध्यदेशीय और प्राच्य भाषा रूप पर अनार्य प्रभाव अधिक था।

कुछ विद्वान यह मानते है कि मूल भाषा का नाम प्राकृत था और सस्कृत रूप उसके बाद का है।[2] कुछ विद्वानो के अनुसार सस्कृत का विकास वैदिक भाषा से न होकर किसी लोकभाषा से है। डॉ० ग्रियर्सन, वेबर, हार्नली आदि विद्वान् मानते है कि सस्कृत कभी बोलचाल की भाषा नही थी। डॉ० भडारकर और डॉ० गुणे इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सस्कृत का विकास निश्चित रूप से बोलचाल की भाषा से हुआ है। डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते हैं कि पाणिनि द्वारा 'भाषा' शब्द का प्रयोग, कात्यायन द्वारा भाषा को वार्तिक रचना से व्याकृत करने का प्रयत्न आदि से सिद्ध होता है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा अवश्य थी।[3] वैदिक भाषा की तरह लौकिक संस्कृत परिनिष्ठित नही थी। वैदिक भाषा की तरह लौकिक सस्कृत मे रूपाधिक्य नही है।

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—स० डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 148
2. हिन्दी शब्दानुशासन—पं० किशोरीदास वाजपेयी, पृ० 5
3. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 12

'भाषा' से पाणिनि का तात्पर्य उदीच्य वैदिक भाषा रूप से था। उदीच्य भाषा मूलत. पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा थी। पाणिनि भी तक्षशिला के निकट शालातुर के निवासी थे। वे उदीच्य भाषा से पूर्णत. परिचित थे। अतः पाणिनि के व्याकरण की आदर्श भाषा उदीच्य भाषा ही थी।[1] डॉ० हरदेव बाहरी का कहना है कि पाणिनि ने वैदिक संस्कृत को देवभाषा और इसको सस्कृत कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सस्कृत बोलचाल की भाषा थी।[2] इससे प्रकट होता है कि उदीच्य भाषा को ही पाणिनि ने संस्कार दिया। सम्कार के पूर्व वह लौकिक सस्कृत थी, जबकि सस्कार के बाद उसका नाम सस्कृत ग्राह्य हुआ।

आर्येतर भाषाओं के सम्पर्क के कारण उनसे अनके शब्द वैदिक भाषा मे ले लिये गये। आस्ट्रिक भाषाओ से सौ और द्रविड़ भाषाओं से एक हजार शब्द वैदिक भाषा मे लिये जाने के प्रमाण मिलते है। पिनाक, ताम्बूल, कपोल, नारिकेल, कपोत, काक, हलाहल, शृगार, कबरी, कवल (कौर), कदम्ब, निम्ब, जम्बु, उत्कल, पुलिद आदि शब्द आस्ट्रिक भाषा से वैदिक भाषा मे ग्रहण किये गये। इसी प्रकार अनल, उलूखल, कज्जल, कटु, कानन, कुटी, कुटिल, कुंतल, कुवलय, चन्दन, चुम्बन, चूड़ा, नीर, पंडित, मीन, मुकुल, वलय, शव, हरेम्ब (भैसा) आदि शब्द द्रविड़ भाषाओ के हैं। इसके बावजूद लौकिक सस्कृत वैदिक भाषा के अंतर्गत ही ग्राह्य है।

वैदिक भाषा की सामान्य विशेषताएँ

वैदिक भाषा मे निरन्तर परिवर्तन हो रहे थे, जिसमे उसका विकास स्पष्टतः लक्षित है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को ध्वनि और व्याकरण के सदर्भ मे रेखांकित किया जा सकता है। वैदिक भाषा की सामान्य विशेषताओं पर विचार कर लेना उचित होगा।

ध्वनि : स्वर : वैदिक भाषा की मूल ह्रस्व ध्वनियाँ—अ, इ, उ, ऋ, लृ। लृ का प्रयोग केवल क्लृप धातु मे होता था।

दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ, ॠ।

सयुक्त स्वर—ए (अ+इ), ओ (अ+उ), ऐ (आ+इ), औ (आ+उ)। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ए और ओ को भी मूल स्वर मानते हैं। फारसी मे 4 ही सयुक्त स्वर है। उनका उच्चारण भी यही है। प्रतिशाख्यो ने ह्रस्व और दीर्घ नौ स्वरो को समानाक्षर और सयुक्त स्वर को संध्यक्षर कहा है। ए ओ गुण स्वर और ऐ, औ वृद्धि स्वर है। इस आधार से ही गुण सधि और वृद्धि संधि

---

1 हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 55

2. हिन्दी : उद्‌भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 19

की योजना संभावित है। ऐ और औ के मूल रूप आइ, आउ है। वैदिक भाषा मे ऐ, औ का उच्चारण आइ—आउ होता था, जबकि अब इसका उच्चारण अइ, अउ हो गया है।

ऋक् प्रतिशाख्य मे ऋ को 'र' युक्त स्वर ध्वनि बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन ईरानी 'एँरे' के समान इसका उच्चारण होता था, किन्तु आज वह वैदिक उच्चारण लुप्त हो गया है। अब ऋ का उच्चारण 'रि' किया जाता है। लृ का उच्चारण भी इसी प्रकार भिन्न था।

वैदिक भाषा की प्रधान विशेषता स्वराघात (Accent) है। इसके अनुसार स्वर ध्वनियो का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण होता था। टर्नर के अनुसार वैदिक भाषा मे सगीतात्मक और बलात्मक दोनो ही स्वराघात था।

अपश्रुति भी वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है। स्वर-परिवर्तन के कारण पद की प्रकृति, प्रत्यय या विभक्ति मे स्वर-परिवर्तन अपश्रुति (ablant) है। जैसे पत् धातु से पताभि, अपप्तम्, अपाति आदि।

ऋक् सहिता मे छन्द की लय के लिए र से सयुक्त व्यजन के बीच अति ह्रस्व स्वर ध्वनि का उच्चारण आवश्यक होता था। इसे स्वर भक्ति कहते है। जैसे इन्द्र का उच्चारण इन्द्अर होता था।

व्यंजन व्यजन ध्वनियो मे मूर्धन्य 'ट' वर्ग का सन्निवेश हुआ। सभवत ट वर्ग की उत्पत्ति द्रविड प्रभाव के फलस्वरूप हुई।

विद्वानो के अनुसार 'च' वर्ग की उत्पत्ति भी वैदिक भाषा की उपलब्धि है। च, ज् ध्वनियो का विकास क् ग् से होने का प्रमाण यह है कि एक ध्वनि दूसरी के स्थान पर आ जाती है।[1] जैसे वाच्—वाक्, युज—युग। वैदिक भाषा मे शक् धातु से शुक्र और शुचि दोनो शब्द निष्पन्न हैं।

'छ' ध्वनि 'स्खय' (ग्रीक skia) से विकसित हुई। 'झ' द्रविड़ भाषा के अनुकरणात्मक शब्दों के साथ वैदिक भाषा मे आ गयी।

उत्क्षिप्त प्रतिवेष्ठित ळ और ळ्ह वैदिक भाषा की विशिष्ट ध्वनियाँ हैं। ऋक् सहिता मे ळ और ळ्ह क्रमशः स्वरोपहित ड और ढ का रूप ग्रहण कर लेते है। जैसे ईळे—ईडथ, मीळ्हुषे—मीढ्वान्।

वैदिक भाषा की जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ध्वनियाँ संस्कृत में लुप्त हो गयी।

वैदिक भाषा मे ङ ञ ण न म नासिक्य ध्वनियाँ थीं। इनमे न म ही स्वतन्त्र रूप मे सभी स्थान पर प्रयुक्त होते थे। शेष तीन नासिक्य पद के प्रारंभ मे नही आते। पदान्त अनुस्वार कभी न और कभी म का रूप ले लेता है।

---

1 ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—जयकुमार जलज पृ० 239

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का अर्थ स्वर 'र्' बहुधा ल के स्थान पर प्रयोग मे आया है। श्रीर, श्रील और श्लील एक ही शब्द के तीन रूपो से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

याजुष प्रतिशाख्य के अनुसार ट वर्ग रहित 'ष' का उच्चारण 'ख' और पदादि 'य' का उच्चारण 'ज' हो गया था—'ख्राष्टुभृते च'। ये वैभाषिक प्रवृत्तियाँ वैदिक भाषा मे ग्राह्य थी।

रूप तीन लिंग, तीन वचन और आठ कारकों का प्रयोग वैदिक संस्कृत मे मिलता है। वैदिक सस्कृत के अधिकाश विभक्ति रूप भारोपीय भाषा से विकसित है। वैदिक भाषा के कारकीय रूपो मे विविधता थी—'छन्दसि बहुलम्।' जैसे बहुवचन मे 'द्वा सुपर्णा' और 'द्वौ सुपर्णो' दोनो रूप प्रचलित थे। प्रथमा बहुवचन मे देवा. और देवासः दोनो चलते थे। देवैः और देवेभिः दोनो प्रचलित थे।

प्राचीन आर्य भाषा मे सर्वनामों के रूप जटिल थे। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में लिंगभेद नही था।

धातुओ के दस गण (भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्रियादि, चुरादि) तीन वाच्य (कर्तृ, कर्म, भाव), 6 काल (लट्, लिट्, लङ्, लुङ्, लुट्, लृट्)और 6 भाव(लोट् विधिलिङ्, आशीलिङ्, लृङ्, लेट्, लेङ्) थे। वैदिक संस्कृत (ऋग्वेद, अथर्ववेद) मे लेट् का प्रयोग अधिक मिलता है। वैदिक भाषा में भविष्यत् काल प्रायः नहीं था। उसकी जगह लङ्(अ—सम्पन्न) का प्रयोग होता था। अर्थात् वैदिक भाषा में 4 काल और 6 भाव थे, जिन्हे लकार कहते हैं। वैदिक में असमापिका क्रिया और क्रिया-विशेषण के भी विविध रूप थे।

वैदिक भाषा मे प्रत्ययों की संख्या कई सौ थी। वैदिक मे उपसर्ग क्रिया से अलग स्वतत्र शब्दों के रूप मे प्रयुक्त होते थे। जैसे 'परिद्यावा पृथिवी।'

वैदिक भाषा मे दो शब्दों के समास अधिक मिलते हैं। तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि और द्वन्द—चार समास ही वैदिक मे मिलते है।

शब्द . तत्सम और तद्भव शब्दों से अनेक शब्दो का विकास वैदिक काल मे हुआ। इह (यहाँ) का पूर्व रूप इध था। कृत से कट, एकदश से एकादश आदि शब्दो का विकास इसी क्रम मे हुआ। वैदिक भाषा में अनेक आर्येतर शब्दो का गगमन हुआ। वार, कम्बल, बाण, कोसल, अग आदि शब्द आस्ट्रिक के हैं। अणु, अरणि, कपि, काल, गण, नाना, पुष्कर, पुष्प, मयूर, अटवी, तंडुल, मर्कट आदि शब्द द्रविड़ भाषा से लिये गये हैं।

संस्कृत भाषा और साहित्य

आर्य भाषा धीरे-धीरे संस्कृत होकर धार्मिक तथा उच्च बौधिक जीवन मे भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो गयी। प्रादेशिक भाषाओ के अव्यवस्थामूलक वातावरण मे व्यवस्थित सुसस्कृत आर्य भाषा का क्रमशः विकास होता गया। उसने व्याकरण और शब्द रूप की प्राचीनता को अक्षुण्ण रखकर तथा जनभाषा के वाक्य-विन्यास और शब्दावली को अपनाकर अपने स्वरूप को अधिक विस्तृत और गहन रूप मे प्रतिष्ठित किया। प्राचीन संस्कृत नाटको मे निम्न और नारी पात्रो के प्राकृत में बोलने की परिपाटी से यह प्रमाणित होता है। बौद्धों और जैनो के लोकभाषा के आग्रह से भी सस्कृत का महत्त्व कम नही हुआ। उसने अनार्य भाषाओ की रीतियों और शब्दावली को भी आत्मसात् कर लिया। 'आर्य भाषा विभिन्न अनार्यभाषियों तथा आर्यभाषियो के बीच एकता का अमोघ शक्तिशाली बन्धन सिद्ध हुई।' इस प्रकार संस्कृत के माध्यम से सांस्कृतिक और भाषिक आर्यीकरण तीव्रगति से हुआ।

वैदिक भाषा के प्रवहणशील परिवर्तन के कारण वैदिक भाषा के कई रूप प्रचलित थे, जिससे वह दुर्बोध हो गयी थी। यास्क ने अपने निरुक्त-निघटु से एक रूप और सुबोध बनाने की चेष्टा की। अनन्तर पाणिनि के अष्टाध्यायी मे चार हजार सूत्रों को समाविष्ट कर साहित्यिक सस्कृत की वज्रशिला स्थापित की। पाणिनीय सस्कृत को ही सस्कृत स्वीकार किया गया। हिन्दू संस्कृति मे समावेश हो जाने से धर्म-दर्शन, ऐतिहासिक परम्परा, दन्तकथा तथा आख्यान साहित्य आदि मे संस्कृत भारतीय संस्कृति का प्रतीक बन गयी।

रामायण और महाभारत जैसी काव्यकृतियाँ आर्षग्रंथ की पक्ति मे हैं। वह ग्राम्य और नगर सभ्यता के सधि का साहित्य है। कालान्तर मे संस्कृत राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित हुई। शुग, उज्जैनी के महाक्षत्रप, नाग-भारशिक, वाकाटक, गुप्त, पुष्यभूति आदि राजवशो के आश्रय से सस्कृत का प्रभूत विकास हुआ। कान्यकुब्ज और वल्लभी (गुजरात) भी संस्कृत के पीठ रहे। बाण, मयूर, वाक्पति-राज, भवभूति, राजशेखर आदि कवियो ने राज्याश्रय मे काव्य-रचना की। हर्ष के बाद सस्कृत साहित्य ह्रास को प्राप्त होने लगा। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, आदि ने सस्कृत साहित्य को चमकाया। इसमे महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, दृश्यकाव्य आदि रचे गये।

रचनात्मक पक्ष के साथ ही आलोचनात्मक पक्ष का भी संस्कृत साहित्य मे विकास हुआ। अलकार, रीति, गुण, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य पर मनन हुआ और काव्य की रमणीयता का अनुशीलन हुआ। भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि

आचार्यों ने काव्यानुशीलन के क्रम मे मानक आलोचनात्मक मानदण्ड प्रस्तुत किये ।

संस्कृत का प्रचार-प्रसार भारत के बाहर बर्मा, मध्य एशिया, चीन, जापान तथा पश्चिमी देशों मे भी हुआ । इन देशों की भाषाओं पर संस्कृत के प्रभाव को डॉ० चटर्जी ने रेखांकित किया है ।

कुछ विद्वानो के अनुसार संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा नही थी । वह केवल ब्राह्मणो-पुरोहितो की भाषा थी । वास्तव मे जब वह काव्य की भाषा हो गयी तो जनसाधारण की भाषा रूप में उसकी मान्यता जाती रही । यह लौकिक संस्कृत ही संस्कार के बाद संस्कृत नाम से जानी गयी ।

मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ

वैदिक भाषा में परिवर्तन और विकास— वैदिक भाषा काल या प्राचीन आर्य भाषा काल के उपरात मध्यकालीन आर्य भाषा काल आता है । वैदिक भाषा से इस विकास का भेद करने के लिए इसे मध्य भारतीय आर्य भाषा कहते है । अनार्यो (द्रविड, निषाद, किरात) के सम्पर्क के फलस्वरूप वैदिक भाषा मे अनेक परिवर्तन आये । 'भारत में आगमन के पश्चात्' सात-आठ शताब्दियो के भीतर ही जैसे-जैसे भारतीय आर्य भाषा अनार्य जनों द्वारा अपनाई जाने लगी, उसमे कई नये परिवर्तन आने लगे ।'[1] ब्राह्मण तथा उपनिषद् में ही नहीं, वैदिक मंत्रो मे भी वैभाषिक प्रवृत्तियो का सन्निवेश हो गया था । विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, √पढ, √वट, क्षुल्ल, जैसे वैभाषिक रूप, जो देश्य थे, वैदिक भाषा मे खप गये थे। 'वैदिक भाषा पर यह प्राच्य भाषा का प्रभाव था । X X वैदिक भाषा मे 'ल' वाली विभाषा पाई जाती है, जो प्राच्य प्रभाव ही है ।'[2] परवर्ती काल मे वैदिक भाषा के तीन रूप विकसित हो गये थे—उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य । उदीच्य मानक भाषा थी । उसमें ही ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रथो की रचना हो रही थी । उदीच्यो के उच्चारण की प्रशंसा की गयी है —'तस्मादुदीच्या प्रज्ञाततरा वा गुद्यते । मध्य-देशीय को सामग्री के अभाव मे विश्लेषित करना सभव नही है । फिर भी वह उदीच्य की तरह रूढिबद्ध नही थी । प्राच्य भाषा असंस्कृत और विकृत विभाषा थी । वास्तव में देशभेद से एक ही ध्वनि के विभिन्न रूप प्रत्यक्ष हो जाते है । 'उदीच्य की ध्वनि-विज्ञान-सम्बन्धी रूढ़िबद्धता की तुलना में पूर्व की भाषाओं का ध्वनि-वैज्ञानिक क्षय (अथवा विकास) बहुत अधिक शीघ्रतर हुआ ।'[3] ताण्ड्य

---

1 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 94
2. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-1—सं०डॉ०राजबली पांडेय, पृ० 197
3. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या- पृ० 96

ब्राह्मण में कहा गया है कि प्राच्य जन ऐसे वाक्य का उच्चारण भी कठिन बताते है, जिसका उच्चारण अत्यन्त सरल है—'अदुरुक्त वाक्य दुरुक्तमाहुः ।'

यह विचारणीय है कि जिस समय आर्य आये उस समय कौन भाषा बोलते थे ? जाहिर है कि वैदिक भाषा बोलते थे । किन्तु उसका नाम वैदिक भाषा या छान्दस तब पड़ा जब वेदव्यास ने ई० पू० दसवी शताब्दी मे वेदों का संपादन किया । अत' आद्यवैदिक भाषा को हम आर्यों की जनभाषा कहे तो अनुचित नहीं होगा, क्योंकि वही उस समय की बोलचाल की भाषा थी । उसी में मंत्रो की रचना ऋषियो ने विभिन्न आश्रमो मे की । क्षेत्रीय एवं अन्य प्रभाव से वैदिक मत्रो की भाषा मे एकरूपता नहीं थी । वेदव्यास ने उसे सम्पादित किया और भाषा को एकरूपता प्रदान करने की चेष्टा की । फिर भी ऋग्वेद के 2रे से 8वें मण्डल तक की भाषा और पहले तथा दसवें मडल की भाषा मे अतर है । 'वैदिक लेख पद्धति (Orthography, जो बहुत बाद में प्रतिष्ठित हुई) तथा वैदिक उच्चारण-पद्धति (Orthoepy) के बीच उसके इतिहास के प्रारभिक काल मे आये हुए भेद को विद्वानो ने लक्षित किया है ।'[1] सकलन काल के चार-पाँच सौ वर्ष पहले रचे गये पाठ तथा उनके आज के उपलब्ध पाठ मे अवश्य ही अंतर रहा होगा। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि 'छान्दस या अर्थ या प्राचीन वैदिक कविता की भाषा, जो प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा का साहित्यिक रूप थी, और जिसका ब्राह्मण लोग पाठशालाओं मे अध्ययन करते थे ।'[2] इससे स्पष्ट होता है कि जो भाषा वेदो की है, वह काव्य भाषा, साहित्य की भाषा थी । बोलचाल की भाषा उससे भिन्न थी । 'यास्क के समय में वैदिक भाषा तथा बोलचाल की देश्य भाषा में पर्याप्त अंतर हो चुका था ।'[3]

गौतम बुद्ध ने अपनी भाषा मे धर्म सीखने की अनुमति प्रदान की थी । इससे यह अनुमान लगाना अनुचित नही होगा कि वैदिक भाषा के अतिरिक्त एक अन्य भाषा भी थी, जिसका प्रयोग जन-साधारण करता था । यह अनुमान्य है कि बुद्ध और महावीर ने जिस भाषा मे धर्मोपदेश किया, वह जनभाषा (बोलचाल की भाषा) के रूप में प्रचलित थी । इसी भाषा का विकास प्राकृत रूप मे हुआ । डॉ० भगीरथ मिश्र के मत से 'भगवान बुद्ध और महावीर के समय तक प्राच्य प्रदेश की लोकभाषा उदीच्य प्रदेश की भाषा संस्कृत से भिन्न हो चुकी थी । प्राच्य प्रदेश मे उस समय संस्कृत केवल विद्वानो की भाषा रह गई थी । अतः गौतम बुद्ध

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 71
2. वही पृ० 75
3. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, प्रथम भाग—स० डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 197

और महावीर ने उसके विरुद्ध विद्रोह करके अपनी-अपनी मातृभाषाओं को ही अपने उपदेशों के प्रसार एवं प्रचार का साधन बताया और इसी के फलस्वरूप मध्यभारतीय भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

कुछ विद्वान् यह मानते है कि सस्कृत भाषा से प्राकृत की उत्पत्ति हुई। मार्कण्डेय, हेमचन्द्र, लक्ष्मीधर वासुदेव आदि यह मानते है कि प्रकृति या मूल सस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई। चण्ड, दण्डी, वाग्भट्ट, सिंहदेव मणि आदि भी यह मानते हैं कि सस्कृत मे ही रूप-परिवर्तन होने से प्राकृत का जन्म हुआ।

प्राकृत से सस्कृत के उत्पन्न होने का अनुमान काव्यालकार के टीकाकार नमिसाधु तथा गउडवहो के रचनाकार वाक्पतिराज आदि ने किया है। इन विद्वानो के अनुसार प्राकृत ही आदिभाषा है। उसी का संस्कार करके प्राकृत भाषा बनी।

अध्यापक वेबर के मत से प्राचीन वैदिक भाषा ही क्रमशः भ्रष्ट होकर जन-साधारण की प्राकृत भाषा हो गई है। इस प्रकार वेबर लौकिक संस्कृत और प्राकृत की उत्पत्ति वैदिक सस्कृत से प्रतिपादित करते है।

ऑफ्रेक्ट के अनुसार अनार्यों के ससर्ग के कारण आर्यभाषा विकृत होकर प्राकृत रूप मे प्रचलित हुई।

लासेन का मत है कि एक समय मे ही प्राकृत और संस्कृत भाषाएँ प्रचलित नही थी। हिन्दू आर्यो के भारत मे फैलने के बाद प्राकृत की उत्पत्ति हुई। अशोक के समय लिखित प्राकृत भाषा का रूप प्रकट हुआ।

बेनफाई के अनुसार अशोक के समय दो भाषाएँ प्रचलित थी—गुजरात मे और मगध मे। जिस संस्कृत भाषा का वहाँ प्रचार था, वही क्रमशः प्राकृत भाषा मे परिणत हो गई।

ग्रियर्सन के मत मे वैदिक भाषा काल मे कोई-न-कोई प्रादेशिक भाषा रही होगी, जो जनसाधारण के निकट होगी। इसी भाषा को उन्होने आदि प्राकृत या प्राकृत का प्रथम स्तर माना।

इन तथ्यो के आलोक मे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक काल मे शिष्ट जन की भाषा संस्कृत और जनसाधारण की भाषा प्राकृत थी। ऋग्वेद के समय मे जो भाषा प्रचलित थी वह प्राकृत ही थी और ऋग्वेद के सूत्रो की रचना आदि प्राकृत मे हुई, जिसका सम्पादित रूप वेदव्यास ने वेदो में प्रस्तुत किया। स्पष्ट है कि 'वेद से पहले भी प्राकृते थी जिनमे से एक ने उठकर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया।'[2] वेदो मे अनेक प्राकृत या प्रादेशिक

1. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 317
2. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी पृ० 28

भाषा के शब्द मिलते है। उच्चा, नीचा, पश्चा, भोतु (भवतु), वेस (वेष), दूलभ (दुर्लभ), सुवर्ग (स्वर्ग), इन्दर (इन्द्र), जर्भरी, तुर्फरी, फरफरिका आदि शब्द प्राकृत भाषा के ही हैं, सस्कृत के नही। बाद मे जनभाषा के एक बहुप्रचलित रूप, पालि ने संस्कृत के समानान्तर साहित्य-रचना प्रारम्भ की। इस तरह अनेक युक्तियों और प्रमाणों से यह प्रमाणित होता है कि प्राकृत की उत्पत्ति वैदिक या लौकिक संस्कृत से नही, बल्कि वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति जिस प्रथम स्तर की प्राकृत भाषा से हुई है।[1] प० किशोरीदास वाजपेयी ने प्रथम प्राकृत को वैदिक युग की जनभाषा बताया, जबकि प्रथम सस्कृत या वैदिक संस्कृत को साहित्यिक भाषा कहा है।[2] डॉ० भोलानाथ तिवारी के मत से प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक संस्कृत से उद्भूत नही है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है।

प्राकृत : परिभाषा

प्राकृत की उत्पत्ति जनभाषा से हुई। वैदिक युग मे जनभाषा का जो स्वरूप था, वह परिमार्जित और सम्पादित होकर वेदों की भाषा मे प्रकट है। विद्वान् यह मानते है कि वैदिक भाषा का आदि रूप (सम्पादित भाषा नही) जनभाषा का ही था। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग मे वैदिक भाषा के साथ ही जन-भाषा भी प्रचलित रही है। प्राकृत के वैयाकरणों और संस्कृत पंडितों ने प्राकृत की उत्पत्ति सस्कृत से ही मानी है। ऐसे अनेक मतो का सग्रह पिशेल ने 'ग्रामेतिक देर प्राकृत स्प्राखेन' मे किया है। हेमचन्द्र कहते हैं—

प्रकृति: सस्कृतम्। तत्र भव तत आगतम् वा प्राकृतम्।[3]

अर्थात् प्रकृति ही संस्कृत है। उसमे जो उत्पन्न हुई, वह प्राकृत है।

मार्कण्डेय के अनुसार प्रकृति या मूल सस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत कहते है—'प्रकृति. संस्कृतम्। तत्र भव प्राकृत मुच्यते।'[4]

धनिक—प्रकृतेरागतं प्राकृतं संस्कृतम्।

प्राकृत चन्द्रिका—प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।

वासुदेव—प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः।

प्राकृत चन्द्रिका की भूमिका मे कहा गया है—प्रकृतेः सस्कृतायास्तु विकृतिः

---

1. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति—डॉ० अम्बादत्त पन्त, पृ० 62
2. हिन्दी शब्दानुशासन—पं० किशोरीदास वाजपेयी, पृ० 75
3. शब्दानुशासन—हेमचन्द्र, अ० 8, सूत्र प्रथम
4. प्राकृत सर्वस्व—मार्कण्डेय पृ० 1

प्राकृती मता ।[1]

ऊपर के अवतरणो का तात्पर्य यह है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति प्रकृति से है और प्रकृति का अर्थ है संस्कृत । डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और चिन्तामणि विनायक वैद्य का भी यही मत है। चण्ड, दण्डी, वाग्भट्ट, सिंहदेवमणि आदि भी यही मानते हैं।

इसके विपरीत दूसरा मत है कि प्राकृत प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक भाषा है। इसलिए इसकी व्युत्पत्ति प्राक्+कृत है । अर्थात् प्राकृत ही मूलभाषा है । उसका संस्कार किया हुआ रूप संस्कृत है । इस सन्दर्भ मे काव्यालंकार की टीका से नमिसाधु और गउडबहो से वाक्पतिराज के मत उद्धृत किये जाते हैं। नमिसाधु का वचन है कि सहज वचन-व्यापार ही प्रकृति है और प्रकृति से उत्पन्न भाषा प्राकृत है—'प्राकृतेति, सकल जगज्जन्तूनाम् व्याकरणादिभिरनाहत संस्कारः, सहजो वचन-व्यापार. प्रकृतिः तत्र भव सैव वा प्राकृतम् ।'

वाक्पतिराज ने गउडबहो मे लिखा है—

सयलाओ इमं बाया विसति एत्तो या णेंति वायाओ।
एति समुद्ध चिहूणेंति सायराओच्चियजलाइ।

अर्थात् जैसे जल सागर मे प्रवेश करता है और सागर से ही निकलता है, उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत मे ही प्रवेश करती है और प्राकृत से ही निकलती हैं।

इसी आधार पर प्राकृत की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—

(1) प्राकृत—प्र = प्रकृष्टं + अकृतम = अकार्यम्, अर्थात् जिसके अकार्य प्रकृष्ट हो।

(2) प्रकृत्या—स्वभावन सिद्ध प्राकृतम्।

(3) प्रकृतीनाम् साधारणजनानामिदम् प्राकृतम्।

(4) प्राकृत जनाना भाषा प्राकृतम्।

उपर्युक्त उद्धरणो के अनुसार 'प्रकृति' जनसाधारण की भाषात्मक विशेषता है। प्राकृत वह भाषा है जो स्वतः स्वभावसिद्ध है। जयवल्लभ ने 'वज्जालग्ग' मे घोषित किया कि जब ललित युवतियो का शृंगाररसपूर्ण प्राकृत काव्य उपलब्ध है तो संस्कृत कौन पढ़े? राजशेखर ने आगे बढ़कर कहा कि संस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार है।

ग्रियर्सन ने 'प्राइमरी प्राकृत' कहकर संभवतः इसी ओर संकेत किया है। पिशल का भी यही मत है।[2]

---

1. षड्भाषा चन्द्रिका—लक्ष्मीधर
2. प्राकृत भाषाओ का व्याकरण—अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी पृ० 8-9

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के रचनाकाल से पाणिनि की अष्टाध्यायी के रचनाकाल तक अर्थात् 1500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक सस्कृत साहित्य भाषा के रूप मे प्रचलित थी। उस समय जनसामान्य की कथ्य-भाषा प्राकृत थी। प्राकृत ने वैदिक या लौकिक सस्कृत को प्रभावित किया। वेदो मे प्राकृत के अनेक शब्द प्राकृत भाषा के हैं। यास्क भी 'जर्फरी', 'तुर्फरी' जैसे शब्दो का निर्वचन नहीं कर पाये थे। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'लौकिक या साहित्यिक संस्कृत पर मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। म भा आ के बहुत-से शब्दो को अपनाने के साथ-साथ, सस्कृत मे धातुओं और क्रिया मूलो के समूचे गणो के गण, थोड़े से हेरफेर के बाद ज्यो-के-त्यो अपना लिए गए। इनके अतिरिक्त, अदृष्ट रूप से वाक्य-विन्यास और मुहावरों मे म भा आ से सन्निकटता तो पहले से थी ही। इस प्रकार बाहरी रूप मे नही तो भी भीतरी गठन मे तो सस्कृत और म भा आ अधिकाशत: एक सदृश ही दृष्टिगोचर होती थी।'[1] इससे प्रकट होता है कि सस्कृत भाषा भी प्राकृत से प्रभावित रही है।

जिस भाषा मे महावीर ने अपने उपदेशों को प्रवर्तित किया उसे जैन लोगो ने प्राकृत कहा है। अनुयोग द्वार सूत्र में कहा गया है—'सक्कया पायथा चेव भणिइओ होंति दोशिणवा।' वृहत् कल्प भाष्य मे उल्लेख है कि 'सक्कय पायथ वयणाण विभासा जत्थ जुज्जते जंतु।' तात्पर्य कि जैन धर्मशास्त्रों के अनुसार दो प्रकार की भाषा थी, एक प्राकृत और दूसरी सस्कृत। ऋषिभाषित होने से प्राकृत को प्रशस्त स्वीकार किया गया है।

डॉ० हरदेव बाहरी भी मानते है कि वैदिककाल मे प्रचलित जनभाषाओ मे से एक वैदिक भाषा हो गयी और दूसरी प्राकृत। दोनो भाषाएँ एक-दूसरे प्रभावित होती रही और प्रभावित करती रहीं। डॉ० चटर्जी ने ठीक ही कहा है कि विद्वानों को इस बात का अनुभव हुआ था कि संस्कृत प्राकृत का एक परिवर्तित आद्यतर एव पूर्णतर पाठ-मात्र थी।[2]

प्राकृत साहित्य का उदय

भारतीय भाषा के विकास का मध्यकाल बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल मे नवीन परिवर्तनो के फलस्वरूप आर्यभाषा विकसित होकर नये रूप मे अभिव्यक्त होती है। 600 ई० पू० से 1000 ई० तक मध्यकालीन आर्यभाषा पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध होकर आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप मे

1. भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 108
2. वही

परिवर्तित हो गयी। यही आर्यभाषा का मध्य युग है।

आर्यों ने 1500 ई० पू० से 600 ई० पू० तक उत्तर-पश्चिम में गांधार से लेकर विदेह—मगध तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस काल मे समस्त अनार्य भाषाओं का आर्यीकरण हो चुका था अथवा वे आर्यभाषा को अपना चुकी थी। आर्यभाषा के उच्चारण अनार्यो के लिए कठिन सिद्ध हुए। इस कारण उनके मुख से उच्चरित आर्यभाषा विकृत होकर प्रकट हुई—'अदुरुक्त वाक्य दुरुक्तमाहु:।' ताण्ड्य ब्राह्मण मे उल्लेख है कि संस्कृत के व्यंजन समुदाय को सरल बनाने का प्रयत्न प्राय: ईसा के आठवी शताब्दी पूर्व ही प्रारंभ हो गया था और यह प्रवृत्ति सर्वप्रथम मगध के आसपास के देशों मे अधिक स्पष्ट हुई।[1] ऐसे मागध आर्यों-अनार्यों को 'व्रात्य' कहकर तिरस्कृत किया गया है।

भाषा के ऐतिहासिक विश्लेषण से प्रकट होता है कि भाषा में परिवर्तन की प्रक्रिया मगध से प्रारंभ होती है। यह भी कहा जा सकता है कि प्राच्यो, व्रात्यो अथवा मागधो ने भाषिक रूढ़िबद्धता के प्रति विद्रोह किया। इस विद्रोह को कालान्तर मे धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय प्राप्त हुआ। आर्यो, मिश्रित आर्यो, अनार्यो तथा आर्यीभूत अनार्यो मे प्रचलित गाथाएँ, वीरकाव्य और लोकगीत, आर्यभाषा के प्रचलित लौकिक रूपों में कहे या गाये जाते थे। इसी प्राच्य भाषा को या जनभाषा को लोकपरक, सुधारवादी वैचारिक क्रांति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया। ब्राह्मणों की भाषा के विरोध मे जैन और बौद्ध धर्म ने पाँचवी-छठी शती ई० पू० मे जनता की बोलियो को अपने उपदेश का माध्यम बनाया। 'यह वैचारिक क्रांति पूर्व में हुई थी, अत: पूर्व की बोलियों को नया जीवन मिला।'[2] यहीं से प्राकृत साहित्य की रचना का श्रीगणेश हुआ।

प्राकृत भाषा को प्रियदर्शी अशोक ने सर्वप्रथम राजाश्रय प्रदान कर महत्त्व दिया। उन्होने प्राकृत भाषा—लोकभाषा मे अपनी धर्मलिपियो को उत्कीर्ण कराया। कलिंग के जैन राजाओ ने भी लोकभाषा को प्रधानता दी और उसे राजभाषा बनाया। खारवेल के हाथीगुंफा के शिलालेख इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। वैदिक धर्मावलंबी आन्ध्रवंशी राजा शातवाहन ने स्वयं प्राकृत की रचनाओ का संग्रह किया है। आन्ध्र के अन्य परवर्ती राजाओं ने भी प्राकृत कवियो को आश्रय प्रदान किया। इस प्रकार आन्ध्र साम्राज्य प्राकृत साहित्य का गढ़ बन गया। काश्मीर के राजा प्रवरसेन ने प्राकृत में रचनाएँ की। यशोधर्मन् ने 'गउड-

1. ओरिजिन ऐण्ड डेवेलॉपमेन्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 47
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग—सं० डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 202

बहो' के रचयिता वाक्पतिराज को अपनी सभा मे आश्रय प्रदान किया था। कन्नौज के एक राजा के यहाँ यायावर महाकवि राजशेखर ने प्राकृत रचना को पल्लवित किया और घोषित किया कि प्राकृत भाषा सस्कृत से अधिक कोमल है। सस्कृत और प्राकृत काव्य के भेद को रेखाकित करते हुए उन्होंने कहा कि जो भेद पुरुष तथा रमणी मे है, वही भेद सस्कृत और प्राकृत मे है। एक मे परुषता है तो दूसरी में कोमलता—

परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो विहोइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाण जेत्तिअ मिहतर मिमाणं।[1]

जैनो और बौद्धो के लोकभाषा के प्रति आग्रह के बावजूद सस्कृत भाषा मे सतत विकास परिलक्षित होता है। अपने शब्दो और व्याकरण के बाहरी रूप मे प्राचीन बनाये रखकर उसने वाक्य-विन्यास और शब्दावली मे प्राकृत का अनुसरण किया। बौद्धों और जैनो की सस्कृत के प्रति उदासीनता, ब्राह्मणो के समान सस्कृत के प्रति श्रद्धा न होने के बावजूद बौद्धो ने 'गाथा' नामक एक मिश्रित सस्कृत का विकास किया, जिसमें प्राकृत का कृत्रिम सस्कृतीकरण दिखाई पडता है।

प्राच्य भाषा रूप मे प्राकृत साहित्य के उदय से ऐसा समझा जाता है कि पूरब (मगध आदि) में भाषागत परिवर्तन शीघ्रतर हुए, जबकि उदीच्य और मध्यदेशीय भाषाओ मे परिवर्तन की गति अत्यन्त धीमी थी। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि 'बुद्ध क कुछ पहले, लगभग 600 ई० पू० तक पूर्वी भारत मे भारतीय आर्यभाषा का म भा आ काल पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था, जबकि पश्चिमोत्तर भारत—उदीच्य—तथा सभवत: मध्यदेश मे भी, जहाँ तक ध्वनि-विज्ञान का प्रश्न था, वैदिक (या आ० भा० आ०) रूप ही चल रहा था, परन्तु रूप तत्त्व मे यहाँ की भाषा भी अन्य प्रादेशिक बोलियो के समान हो गयी थी। उदीच्य भाषा के मध्य एशिया मे प्रचलित म भा आ प्रादेशिक रूप के उदाहरणो से पता चलता है कि उदीच्य मे अन्य बोलियो के किंचित् पहले से ही कुछ विशेष वाक्यवैन्यासिक तथा रूपतात्त्विक नवीनताएँ आ गयी थी।'[2] इससे स्पष्ट होता है कि उदीच्य मध्यदेशीय और प्राच्य तीनो मे मध्यकालीन आर्यभाषा की वैभाषिक प्रवृत्तियाँ एक साथ ही विकसित हुई। प्रादेशिकता के कारण मात्रा में अंतर हो सकता है। ध्वनि वैज्ञानिक परिवर्तन ही पूर्वी भाषा मे उदीच्य भाषा से पहले और शीघ्र हुए।

बुद्ध के उपदेशो की भाषा आज जिस रूप मे उपलब्ध है, वह कई परिवर्तनो

---

1. कर्पूरमंजरी, 1.8
2. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 95-96

से गुजर कर हमारे सामने आई है। फिर भी उसमें मागधी के तत्त्व खोजे जा सकते हैं। अशोक के शिलालेखो की भाषा मे भी वैभाषिक प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्राकृत की देश्य विशेषताएँ पाणिनि के भी पूर्व से उजागर हैं। कालान्तर मे वररुचि, हेमचन्द ने प्राकृत के परिनिष्ठित रूप को व्याकरणिक नियमों मे बाँधने का प्रयास किया। व्याकरण-सम्मत प्राकृत का रूढ साहित्यिक रूप ही आज हमारे सामने विवेचन के लिए उपलब्ध है।

काल-विभाजन

मध्य भारतीय आर्यभाषा काल 500 ई० पू० से एक हजार ईस्वी तक माना जाता है। मध्यकालीन आर्यभाषाओ की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार वे निम्नांकित हैं—

1. पाली तथा अशोक की धर्मलिपियाँ—500 ई० पू० से 1 ई० पू०
2. साहित्यिक प्राकृत—1 ई० से 500 ई०
3. अपभ्रंश भाषाएँ—500 ई० से 1000 ई०

डॉ० भोलाशंकर व्यास म भा आ की दो ही अवस्थाएँ मानते हैं—1. प्राकृत काल—600 वि० पू० से 600 वि० तथा 2. अपभ्रंश काल—600 वि० से 1200 वि०।[1]

डॉ० भगीरथ मिश्र और डॉ० भोलानाथ तिवारी ने प्रथम प्राकृत, द्वितीय और तृतीय प्राकृत नाम से अवस्थाओ का उल्लेख किया है, किन्तु कालावधि के संदर्भ मे वे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा से सहमत हैं।

डॉ० हरदेव बाहरी ने साहित्यिक प्राकृत काल प्रथम शती से 6ठी शती तक और अपभ्रंश काल 6ठी से 11वी शती तक माना है।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने तीन अवस्थाओं को पर्व की संज्ञा दी है। प्रथम पर्व—200 ई० पू० से 200 ई०, द्वितीय पर्व—200 ई० से 600 ई०, तृतीय पर्व—600 ई० से 1000 ई०। उन्होने मध्यकालीन आर्यभाषा काल की व्याप्ति 1600 वर्षो तक मानी है।[2] किन्तु अन्य विद्वान् इसका पूर्णकाल 1500 वर्षों का ही मानते हैं।

पालि काल

पालि काल का विस्तार 500 ई० पू० से 1 ई० पू० तक माना गया है।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, प्रथम भाग—सं० डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 198
2. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 60

इसके अन्तर्गत दो भाषाएँ परिगणित हैं—पालि और शिलालेखीय प्राकृत। पालि बुद्ध के धार्मिक उपदेशों की भाषा है। प्राचीन आर्यभाषा और आधुनिक आर्य-भाषा के बीच के विकास या परिवर्तन को समझने के लिए पालि का अध्ययन आवश्यक है। वैदिक संस्कृत से हिन्दी की दिशा में हुए विकास का प्रथम सोपान पालि ही है।

पालि भाषा के अध्ययन के प्रमुख आधार निम्नांकित है—त्रिपिटक (बुद्ध वचन), टीका (अट्ठकथा) साहित्य, बंस (ऐतिहासिक साहित्य)। त्रिपिटक मे तीन पिटक है—सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक।

पालि के अंतर्गत ही शिलालेखीय प्राकृत भी है, जिसमें अशोक के शिलालेख के अतिरिक्त ब्राह्मी और खरोष्ठी मे उपलब्ध शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि हैं।

पालि : नाम

'पालि' किस प्राकृत का नाम है तथा यह कहाँ की भाषा थी आदि के सम्बन्ध मे विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इस शब्द का प्रयोग बौद्ध धार्मिक ग्रंथो की प्राकृत के लिए किया जाता है, फिर भी किसी भाषा-विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग नही किया गया। बौद्धधर्मावलंबियो के अनुसार 'पालि' मागधी है और यही वह मूल भाषा है, जिसमे भगवान बुद्ध ने जनकल्याण के लिए विश्वधर्म का प्रवर्तन किया।

सर्वप्रथम 'पालि' शब्द का व्यापक प्रयोग बुद्धघोष मे मिलता है। मूल त्रिपिटक पर बुद्धघोष ने अर्थकथा (अट्ठ कथा) लिखी। 'पालि' शब्द दो सदर्भो में प्रयुक्त है—(1) बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए तथा (2) अट्ठ कथा से बुद्धवचन (त्रिपिटक) को अलग करने के निमित्त। प्रयोग मिलते हैं—'नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति।' अर्थात् न तो पालि मे और न अर्थकथा मे ही देखा जाता है। 'नेव पालिय न अट्ठकथाय अगत' अर्थात् न यह पालि मे है और न अर्थकथा मे आया है। इन प्रयोगो से स्पष्ट है कि 'पालि' शब्द मूल त्रिपिटक-वाचक था। बाद मे 'पालि' शब्द उस भाषा का वाचक बन गया, जिसमे मूल त्रिपिटक या बुद्ध वचन लिखित हैं।

अभिधान प्पदीपिका में पालि शब्द की निरुक्ति 'पा' धातु से की गयी है। 'पा-रक्षणे; पा पालेति रक्खतीति पालि।' पाल् धातु से पालि शब्द बना, जिसका अर्थ है रक्षण करना या पालन करना। जिस पक्ति (पन्ति) अथवा भाषा के द्वारा बुद्ध-वचन की रक्षा हुई, वह पालि है—'पालयति रक्षतीति तस्मात् पालि।'

भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुसार पालि शब्द का विकास 'परियाय' या 'पलियाय' से हुआ है। परियाय का संस्कृत रूप पर्याय है। प्राचीन काल मे बुद्ध के उपदेशो के लिए पर्याय शब्द प्रयोग में आता था—पर्याय>परियाय>पलियाय>

पलियाय>पालि। डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार यह निरुक्ति काल्पनिक अधिक है और यथार्थ कम, क्योंकि मागधी मे 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग होता था। अतः पर्याय का पलियाय रूप सभव दीखता है, परियाय नही। वैसे विद्वानो ने काश्यप के मत को अधिक प्रामाणिक स्वीकार किया है।

भिक्षु सिद्धार्थ 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'पाठ' शब्द से मानते हैं—(बुद्ध) पाठ>पाल>पालि।

आचार्य मोग्गल्लान ने 'पा' धातु से पालि की व्युत्पत्ति निर्धारित की है। 'पा' धातु मे उणादि के 'लि' प्रत्यय के योग से 'पालि' सिद्ध होती है। इसका अर्थ उन्होंने पंक्ति या श्रेणी बताया—'अत्थान् पाति रक्खतीति तस्मा पालि।' अर्थात् जो अर्थों की रक्षा करती है, वह पालि है।

प० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पक्ति' से पालि की व्युत्पत्ति स्वीकार की है—पङ्क्ति>पत्ति>पति>पट्टि>पालि। बुद्धघोष ने पक्ति के संदर्भ मे पालि का प्रयोग किया है—'तन्ति बुद्धवचन पक्ति पालि।' अत भट्टाचार्य महोदय ने पक्ति से पालि का निर्वचन कर दिया है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस निर्वचन का खण्डन किया है। पति से पट्ट और उससे पालि का विकास नियमानुकूल नही है।

कोसम्बी नामक बौद्ध विद्वान् ने 'पाल्' (रक्षा करना) धातु से पालि की व्युत्पत्ति सिद्ध की है।

प्राकृत शब्द से भी कुछ विद्वान् पालि की व्युत्पत्ति मानते है—प्राकृत>पाकट>पाअड़>पाअल>पाल>पालि। प्राकृत का जो विकास यहाँ निर्दिष्ट है, वह नियमान्तर्गत नही है।

कुछ विद्वान् पल्लि (गाँव) शब्द से पालि की निष्पत्ति सिद्ध करते हैं। पल्लि अर्थात् गाँव की भाषा। तर्क के आधार पर यह निष्पत्ति भी ग्राह्य नही है।

मैक्सवालेसर ने 'पाटलि' शब्द से पालि का निर्वचन किया है। उनके अनुसार भाषिक विकास के क्रम मे मध्यवर्ती 'ट' का लोप हो जाने से 'पालि' शब्द निष्पन्न हुआ। किन्तु पालि पाटलिपुत्र की भाषा नही है, अतः यह निर्वचन समीचीन नही है।

श्री जगदीश प्रसाद कौशिक का मत है कि प्रारंभिक काल मे मूल त्रिपिटक के लिए पालि शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता था जैसे वेदों के लिए सहिता का। बौद्ध साहित्य मे पालि शब्द का प्रयोग हुआ है—'पालि मत्त इध आनीत, नत्थि अट्ठकथा इध।' अर्थात् यहाँ पालि लाई गई है, यहाँ अर्थकथा नही है। अतः मूलग्रंथो की भाषा के लिए 'पालि' नाम प्रचलित हो गया होगा। 'परिणामतः इसका नाम मध्यदेश की बोली का जो कुछ नाम, उस समय रहा हो—जो अब काल कवलित हो गया—के स्थान पर पालि अर्थात् पंक्ति या 'जमायत' की भाषा

रख दिया गया होगा।'[1]

इन मतों के आलोक मे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि पालि शब्द की व्युत्पत्ति किस पर आधारित है? किन्तु 'पारक्खतीति बुद्धवचनं इति पालि' अर्थात् जिसमे बुद्धवचनों की रक्षा की गयी हो, वह पालि है, यह मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस प्रकार पालि से बौद्ध धर्मशास्त्र की पक्ति या मूल त्रिपिटक का बोध होता था और कालान्तर मे पालि समस्त बौद्ध साहित्य की भाषा मान ली गई।[2]

पालि भाषा का क्षेत्र

पालि किस प्रदेश की भाषा रही है, इस सदर्भ मे काफी मतभेद है। बौद्ध धर्मानुयायियो के अनुसार पालि मगध की भाषा है। मैक्सवेलेसर, चाइल्डस, जेम्स, आल्विस, जार्ज ग्रियर्सन, श्रीमती डेविड्स, विन्टरनित्ज आदि विद्वान उसे मगध की भाषा मानते है। किन्तु मागधी के साथ उसकी तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि पालि भाषा से मागधी का साम्य नही है। मागधी प्राकृत में र का ल और स का श हो जाता है। पालि मे यह विशेषता नही मिलती।

फ्रेच विद्वान् सिल्वाँ लेवी के अनुसार पालि त्रिपिटक मूल बुद्धवचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी का अनूदित रूप है, जिसमे पालि की अपेक्षा ध्वनि-परिवर्तन अधिक विकसित अवस्था मे था। स्पष्टत. वे पालि को एक त्रिविध रूप-वती भाषा मानने का सकेत करते है। डॉ० कीथ, प्रो० टर्नर आदि इसे मध्यदेशीय भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा मानते है।

डॉ० मैक्समूलर और ओल्डनवर्ग इसे कलिग की बोली के आधार पर विकसित भाषा मानते हैं।

डॉ० स्टेनकोनो तथा आर०ओ० फ्रैंक पालि और पैशाची को विन्ध्याचल क्षेत्र की भाषा बताते हैं। प्रो० रायस डेविड्स इसे कोशल प्रदेश की बोली मानकर चलते है।

वेस्टर गार्ड तथा ई० कुह्न पालि का उद्गम स्थान उज्जैन बताते हैं।

प्रो० लूडर्स ने पालि को प्राचीन अर्धमागधी का रूप माना है।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'पालि का मगध प्रदेश से कोई सम्बन्ध नही है, यद्यपि उसका एक वैकल्पिक नाम 'मागधी भाषा' भी है। पालि वास्तव मे शौरसेनी से सम्बन्धित एक मध्यदेशीय भाषा है।'[3]

---

1. भारतीय आर्यभाषाओ का इतिहास—जगदीश प्रसाद कौशिक, पृ० 75-76
2. इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत—वूलनर, पृ० 84
3. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 109

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी इसी मत को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'मध्यदेश की भाषा ही पालि का आधार है।'[1]

डॉ० बाबूराम सक्सेना और डॉ० धीरेन्द्र के मत से 'गठन पर विचार करते हुए यह किसी पूर्वी प्रान्त की नही ठहरती। प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पश्चिमी प्रदेश(मध्यदेश) की भाषा सिद्ध होती है और ऐसा समझा जाता है कि यद्यपि बुद्ध भगवान ने किसी प्राच्य भाषा मे उपदेश किया होगा, तथापि उनके निर्वाण के साल-दो साल बाद समस्त ग्रथो का अनुवाद किसी ऐसी मध्यदेशीय भाषा में हुआ जो संस्कृत के समकक्ष परिनिष्ठित हो चुकी थी।'[2]

डॉ० रामविलास शर्मा ने सभी मान्यताओ को अप्रामाणिक घोषित कर दिया है। उनके अनुसार 'भगवान बुद्ध ने पालि मे उपदेश दिए—पहले तो इसी का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। फिर पालि को मागधी प्राकृत नही कहा जा सकता। जिस हद तक वह प्राकृत भाषा है—कृत्रिम प्राकृत नही—उस हद तक उसका सम्बन्ध मध्यदेश से है।'[3] डॉ० शर्मा प्राकृतो का रूप, उनका क्षेत्र और उनका अभ्युदय काल प्रामाणिक नही मानते।

भिक्षु जगदीश काश्यप पालि को वैदिक संस्कृत के अधिक निकट मानते है।

डॉ० सुकुमारसेन के अनुसार पालि केवल एक साहित्यिक भाषा है, जिसमे संस्कृत से पर्याप्त रूप-साम्य है।[4]

पालि डिक्शनरी मे पालि को कोशल की भाषा माना गया है, क्योंकि बुद्ध अपने को 'कोशल खत्तिय' कहते थे और उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु थी।

निश्चयपूर्वक पालि भाषा का क्षेत्र निर्धारित करना कठिन है। किसी एक प्राकृत से उसे सम्बद्ध करना समीचीन नही होगा। बुद्ध ने चाहे जिस प्राकृत मे उपदेश दिये हो, किन्तु अनुमान है कि उन्होने अपनी मातृभाषा मे ही उपदेश दिये। उनके उपदेशो का विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचार से अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के शब्द भी इसमे मिश्रित हो गए। अतः उपलब्ध पालि भाषा एक मिश्रित भाषा है, जिसमे अनेक बोलियों का सम्मिश्रण हो गया है।

पालि साहित्य

बौद्ध धार्मिक साहित्य—पालि भाषा मे पर्याप्त साहित्य सुलभ है। बौद्ध धर्म के मूल ग्रथ, टीकाएँ, कथा साहित्य, काव्य, कोश, व्याकरण आदि इस भाषा के

1. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ०66
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, द्वितीय भाग, प्रस्तावना, पृ० 13
3. भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 152
4. कम्परेटिव ग्रामर ऑफ मिडिल इण्डोआर्यन—डॉ० सुकुमार सेन, पृ० 14

सुलभ साहित्य हैं । अभिलेखीय प्राकृत मे भी पालि भाषा का स्वरूप सुरक्षित है ।

भगवान बुद्ध के वचनों का संग्रह त्रिपिटिक (तिपिटक) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे 'सुत्त', 'विनय' और 'अभिधम्म' नामक तीन पिटक आते है । सुत्त (सूत्र) पिटक मे बुद्ध का धर्मोपदेश, विनयपिटक मे सचालन के नियम और शिक्षाएँ और अभिधम्म पिटक मे विज्ञान, सस्कार, वेदना आदि के सम्बन्ध मे बुद्ध दार्शनिक विवेचन सकलित हैं । सुत्त पिटक में सारिपुत्र और मोग्गल्लान के कुछ सूत्र भी हैं, जिनका बुद्ध ने अनुमोदन कर दिया था । पालि साहित्य का प्रमुख अश त्रिपिटक साहित्य है ।

इन पिटकों पर लिखी गई टीकाओं को अनुपिटक या अनुपालि कहते है । जातक साहित्य में भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं । जातक का अर्थ है जन्म से सम्बन्ध रखने वाला । जातकों में उपलब्ध रूप गद्य-पद्य मिश्रित है । अनुपालि या अनुपिटक की रचना सिहल मे हुई, किन्तु मिलिदपञ्हों मे राजा मिलिन्द और भिक्षु नागसेन के सवाद हैं । धम्मपद बौद्धो की 'गीता' है । बुद्धघोष की अट्ठकथा तथा इतिहास (दीपबंस तथा महाबंस) के अतिरिक्त छन्दशास्त्र, कोश और व्याकरण ग्रंथ भी पालि मे लिखे गए हैं ।

अशोककालीन पालि—268 ई० पू० में अशोक का राज्याभिषेक और 272 ई०पू० में राज्यारोहण हुआ । चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमी राजसत्ताओ को पराजित कर मगध का प्रभुत्व उन पर स्थापित किया । किन्तु पश्चिमी क्षेत्र पर मगध का सांस्कृतिक और भाषिक वर्चस्व स्थापित करने का श्रेय अशोक महान को ही है । गौतम बुद्ध और महावीर द्वारा चलाया गया जनभाषा का सास्कृतिक आदोलन धर्माश्रय के प्रभाव से जनवाणी और जनमानस से जुड गया था, किन्तु उसे राज्या-श्रय से देश के सुदूर भागो मे प्रचलित करने का कार्य अशोक ने पूरा किया। उन्होने धर्म और शासन सम्बन्धी अपने आदेश शिलाओं, स्तम्भों और भित्तियो पर देश के विभिन्न भागो में उत्कीर्ण कराए । 'जिस भाषानीति को धर्म सफलतापूर्वक अग्र-सर नही कर सका, उसे अशोक ने राजसत्ता द्वारा आगे बढ़ाया ।'[1] उसके 14 बृहत शिलालेख, सात स्तभ लेख तथा कई फुटकर लेख प्राप्त तथा प्रकाशित हैं । पेशावर से उत्तर-पूर्व शाहबाजगढ़ी और पजाब के मनसेरा और शिकोट के शिला-लेखो की लिपि खरोष्ठी है । अन्य सभी लेख ब्राह्मी लिपि मे उत्कीर्ण हैं। इन अभिलेखों की विशेषता है कि ये जनसाधारण के बोध के लिए उरेहे गए हैं तथा जिस क्षेत्र में स्थापित हैं, उनकी स्थानीय बोलियो मे इन्हे प्रस्तुत किया गया है ।

इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर भारत का शिकोट अभिलेख, ग्वालियर का बेसनगर स्तंभ लेख, मध्य भारत का जोगीमारा गुफालेख, बिहार का सोहगौरा ताम्रलेख आदि भी भाषिक वैशिष्ट्य को उजागर करते हैं । कलिगराज खारवेल का

1. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 27

हाथीगुम्फा एव यवन राजदूत हेलियो दोरस बेसनगर वाला गुफालेख भी महत्त्व-पूर्ण माने जाते है। इस काल के कुछ अभिलेख लका मे भी प्राप्त हुए है।

प्राचीन और नवीन आर्यभाषा के विकास को समझने के लिए पालि भाषा क महत्त्व निर्विवाद है। पालि भाषा मे तत्कालीन जनभाषा (प्राकृत) का सामान्य रूप तथा वैदिक भाषा का सरलीकृत रूप समन्वित है। देश के बाहर भी पालि भाषा का प्रचार सस्कृत के समान ही हुआ। सारा बौद्ध जगत् बर्मा, लका, तिब्बत, चीन, पालि भाषा और साहित्य से अनुप्राणित है। डॉ० सुकुमार सेन भी मानते हैं कि पालि केवल एक साहित्यिक भाषा है जिसमें सस्कृत से पर्याप्त रूप मे साम्य है।[1] भिक्षु जगदीश काश्यप की मान्यता है कि पालि वैदिक सस्कृत के अधिक निकट है।[2]

पालिभाषा को मगध, उज्जैनी, विन्ध्यप्रदेश, कलिंग, कोसल, अर्धमगध, सूरसेन आदि प्रदेशो से सम्बद्ध किया जाता है तथा मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी पैशाची आदि भाषाओ से इसे जोड़ने के प्रयास हुए हैं। तुलनात्मक अध्ययन करके विद्वानो ने यह सिद्ध किया है कि त्रिपिटक की भाषा में मागधी के मूल लक्षणो का अभाव है। उसमें भाषा के जो रूप मिलते हैं, उससे वह मध्यदेश की बोली ही सिद्ध होती है। ऐसा अनुमान है कि मागधी का मध्यदेशीय भाषा (शौर-सेनी) मे अनुवाद हुआ होगा। राजकुमार महेन्द्र मध्यदेशीय भाषा मे अनूदित त्रिपिटक के साथ लंका मे धर्म-प्रचार के लिए गए थे। इतिहासकारो का मत है कि बिन्दुसार ने अशोक को अवन्ति का राष्ट्रप्रमुख नियुक्त किया था। अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी में अशोक ने महादेवी नामक कन्या से विवाह कर लिया था। महेन्द्र और संघमित्रा महादेवी की सतान थी।[3] अन. महेन्द्र की भाषा शौरसेनी ही ठहरती है। डॉ० चटर्जी कहते हैं कि एक प्राकृत भाषा ई० पू० छठी शताब्दी के मध्य मे गुजरात मे सीलोन या लंका पहुँचाई गई। यह कार्य सीहपुर के राजकुमार विजय के साहसपूर्ण सैन्य-प्रस्थान के पश्चात् हुआ।[4]

बौद्ध ग्रथो मे पालि का विकसित भाषिक रूप दिखाई पड़ता है। त्रिपिटक के पद्य भाग की भाषा प्राचीनतम है। उसमे वैदिक सस्कृत की अनेक भाषिक परम्पराएँ सुरक्षित है। गद्य भाग की भाषा अधिक विकसित और नवीन है। मिलिन्दपण्हो और अट्ठकथा की भाषा अधिक विकसित रूप मे दिखाई पड़ती है। महावस की भाषा सस्कृतीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित है। यह भाषा लौकिक

1. कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ मिडिल इडो आर्यन—सुकुमार सेन, पृ० 14
2. पालि महाव्याकरण, भूमिका—जगदीश काश्यप, पृ० 28-29
3. प्राचीन भारत का इतिहास—बी० डी० महाजन, पृ० 241
4 भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृ० 8

संस्कृति के अधिक निकट है। उसमे मागधी की अपेक्षा आर्ष प्रयोग बहुलता से मिलते है।

पालि मे व्याकरण, कोश, छन्द आदि के ग्रथ भी मिलते हैं। पालि का प्राचीनतम व्याकरण कच्चान व्याकरण (कात्यायन व्याकरण) है। यह विक्रम की सातवी-आठवी शती मे पूर्व का माना जाता है। उस पर पाणिनि व्याकरण और वामन की काशिकावृत्ति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। मोग्गलायन व्याकरण 13वी विक्रमी शती का है। पालि कोशो मे मोग्गलायन का 'अभिधान प्पदीपिका' और बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति का 'एकक्खरकोश' उल्लेखनीय है। अभिधान प्पदीपिका का आदर्श संस्कृत का अमरकोश है। सिंहली भिक्षु सघरक्खित ने 'वृत्तोदय' नामक छन्द ग्रथ की रचना की थी। संघरक्खित ने ही 'सुबोधालंकार' नामक काव्यशास्त्र ग्रथ की भी रचना की थी।

एक प्रकार से शिलालेखी प्राकृत में ही प्राकृत का प्राचीनतम रूप उपलब्ध है।[1] इन शिलालेखो की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी है। शाहबाजगढ़ी और मानसेरा वाले लेख खरोष्ठी मे है और अन्य ब्रह्मलिपि मे। शिलालेखो की भाषा के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि उक्तकाल मे तीन प्रादेशिक जनभाषाएँ प्रचलित थी—1. पश्चिमोत्तरी जनभाषा, जो शाहबाजगढी और मानसेरा के अभिलेखो मे प्राप्त है। 2. दक्षिणी-पश्चिमी जनभाषा—इसमे गिरनार, कालसी आदि के शिलालेख आते हैं। 3. पूर्वी जनभाषा—इसमे उड़ीसा के धौली, जौगड, जोगीमारा आदि पूर्वी प्रदेश के उत्कीर्ण शिलालेख आते है। कुछ विद्वान् उत्तरी-पश्चिमी, पश्चिमी, मध्यदेशी और पूर्वी शिलालेखों के आधार पर चार जनभाषाओं का आख्यान करते हैं।

इन शिलालेखों की भाषा के सम्बन्ध मे अनुमान लगाया गया है कि मागधी के किसी रूप मे ये सभी प्रान्तो मे भेजे जाते थे और उनका अनुवाद क्षेत्रीय जनभाषा में किया जाता था। राजधानी से सुदूर स्थित प्रान्तो में परिवर्तन की मात्रा अधिक मिलती है। डॉ० भगीरथ मिश्र का अनुमान है कि अशोक ने विभिन्न प्रदेशों की बोलियो मे ही शिलालेख खुदवाए होगे।[2] किन्तु डॉ० बाहरी कहते हैं कि वास्तव मे सर्वत्र पाटलिपुत्र की भाषा का रूप छाया हुआ है।[3] किन्तु ये यह भी कहते हैं कि पूर्व की अभिलेखीय भाषा का प्रभाव पश्चिम की जनभाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर नही है। 'गिरनार के लेख संस्कृत भाषा और शौर-

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, प्रथम भाग—सं० डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 204
2. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 326
3. हिन्दी : उद्भव- विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी- पृ० 27

सेनी के अधिक निकट है।[1] मूलत. अभिलेखीय प्राकृत पर मध्यदेशीय शौरसेनी का प्रभाव दिखाई पड़ता है, किन्तु उन पर स्थानीय बोलियों का प्रभाव भी प्रभूत मात्रा मे लक्षित होता है।

पालि भाषा की विशेषताएँ

ध्वनि : (1) वैदिक संस्कृत मे 55 और लौकिक संस्कृत मे 52 ध्वनियो का प्रयोग हुआ है। पालि वैयाकरण मोग्गल्लान के अनुसार वर्णों की संख्या 43 ही रह गई—'अआदयो तितालीस वण्णा।' इसमें अनुस्वार भी परिगणित है। जबकि कच्चायन के अनुसार पालि में 41 ध्वनियाँ थी—'अक्खरापादयो इकचत्तालीस।

(2) मोग्गल्लान ने स्वरो की कुल सख्या दस बताई—'दसादो सरा।' ये स्वर हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, एँ, ए, ओँ, ओ। यहाँ एँ और ओँ दो स्वरों का विकास दिखाई पडता है। अत: पालि भाषा मे ऐ, औ, ऋ, ॠ, ऌ का लोप हो गया।

(3) व्यजनों में वैदिक ळ और ळ्ह ध्वनियाँ पालि मे भी सुरक्षित रहीं, जबकि लौकिक सस्कृत मे इनका लोप हो गया था। श, ष के स्थान पर स ध्वनि ही मिलती है।

(4) पालि मे विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का लोप हो गया। अनुस्वार स्वतन्त्र ध्वनि रूप मे ग्राह्य हुआ।

(5) ऋ और ॠ के स्थान पर अ, इ या उ मिलते हैं। जैसे नृत्य>नच्च, तृण>तिण, वृद्ध>वुड्ढो। कभी-कभी रि उच्चारण भी होता था—ऋक्ष> रिच्छ।

(6) ऐ और औ की जगह ए और ओ का विकास हुआ—शैल>सेल, कैवर्त>केवट्टो, चौर>चोरो, गौतम>गोतम, वैदेह>वेदेह।

(7) म् सर्वत्र अनुस्वार मे बदल गया। पदान्त 'न्' 'म्' में बदल गया।

(8) ध्वनि-परिवर्तन की अनेक प्रवृत्तियाँ इस काल मे प्रकट हुईं, जिनका परवर्ती काल मे अधिक विकास हुआ :

समीकरण : दुर्लभ>दुल्लभ, सर्व>सब्ब, मार्ग>मग्ग, धर्म>धम्म, कर्म>कम्म, आर्य>अय्य, कुर्बन्ति>कुब्बन्ति, सप्त>सत्त, कर्क>कक्क, अश्व>अस्स।

घोषीकरण : शाकल>सागल, उताहो>उदाहु।

अघोषीकरण : यह पैशाची प्राकृत की प्रवृत्ति थी। कुसीद>कुसीत, पाजेति>पाचेति, मृदंग>मुतिंग।

महाप्राणीकरण : कील>खील, परशु>फरसु, सुकुमार>सुखुमाल, पल>

1 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग दो प्रस्तावना, पृ० 14-15

फल । अल्पप्राणीकरण : भगिनी>बहिणी ।

सघोष महाप्राण काह् में परिवर्तन —लघु>लहु, रुधिर>रुहिर, भवति>होति, अन्त्यव्यंजन का लोप—विद्युत्>विज्जु, सुमेधस्>सुमेध, कही स्वरागम होने पर—शरत्>शरद, सुमेधस्>सुमेधस ।

(9) स्वराघात के सम्बन्ध में मतभेद है । टर्नर के अनुसार पालि में संगीतात्मक और बलात्मक दोनों स्वराघात था । जूल ब्लॉक के अनुसार पालि कोई स्वराघात नही था । ग्रियर्सन उसमे बलात्मक स्वराघात मानते हैं । अधिकाश विद्वान् मानते हैं कि पालि में कलात्मक स्वराघात था ।

(10) पालि में तीन लिंग किन्तु वचन दो ही है । द्विवचन का काम बहुवचन से लिया जाता था ।

(11) पालि में आत्मनेपद प्रायः लुप्त हो गया । परस्मैपद का ही प्रयोग अधिक मिलता है ।

(12) धातुओं का विभाजन दस की जगह सात गणो में किया गया ।

(13) पालि मे लकारों की संख्या दस मे घटकर आठ हो गई ।

(14) उपसर्ग और निपात के प्रयोग भी पालि मे मिलते हैं ।

(15) पालि में व्याकरण के सरलीकरण की प्रवृत्ति मिलती है ।

(16) पालि मे तत्सम, तद्भव और अनार्य भाषाओं के शब्द ग्रहण किए गए हैं ।

अन्य प्राकृत : विद्वानों ने पालि और अभिलेखीय प्राकृत के अनन्तर प्रथम प्राकृत काल में ही कुछ अन्य प्राकृतो का भी उल्लेख किया है । ये प्राकृतें साहित्यिक प्राकृत (द्वितीय प्राकृत) के पूर्व की मानी जाती हैं। इनमें अश्वघोष के नाटको की प्राकृत (पहली सदी), धम्मपद की प्राकृत (दूसरी सदी), निय प्राकृत (तीसरी सदी) और महायान शाखा के ग्रथों की संस्कृत प्रभावित प्राकृत (पहली सदी) उल्लेखनीय हैं ।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत 1911 ई० में प्रो० एच० लूडर्स के उल्लेख से प्रकाश मे आई । उन्हें अश्वघोष के नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' में प्राकृत अंश मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान पर ताड़पत्र की पाडुलिपियो में प्राप्त हुए । अश्वघोष के नाटको में तीन प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है—1. दुष्ट की भाषा, 2. गणिका या विदूषक की भाषा, 3. गोभम् की भाषा । इन विभिन्न प्राकृतों का रूप अशोक के अभिलेखों की प्राकृत के समान है, कारण कि इन पर सस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है । दुष्ट की भाषा मागधी, गणिका और विदूषक की शौरसेनी सदृश और गोभम् की भाषा अर्धमागधी है ।

मध्य चीनी तुर्किस्तान के निय नामक स्थान पर खरोष्ठी लिपि मे लिखे कुछ लेखो की जानकारी आरेल स्टेन ने दी है । इस प्राकृत की भाषा उत्तर-पश्चिम

की भाषा की तरह है।

फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइलदर्रा के लेखो से खरोष्ठी लिपि में लिखे धम्मपद की जानकारी प्राप्त हुई। यह खोतान मे प्राप्त हुआ था। धम्मपद की भाषा सहित्यिक है। प्राचीन रूपो की प्रधानता है।

महायान शाखा के ग्रथ ललितविस्तर और दिव्यावदान की भाषा संस्कृत-गर्भित है। ऐसा लगता है कि सस्कृत की ओर लौटने की चेष्टा से संस्कृत के निकट की प्राकृत भाषा का प्रयोग इनमे हुआ है।

प्राकृत (1 ई०—500 ई०)

भारतीय आर्यभाषा के विकास को तीन कालो मे विभाजित किया गया है—1. प्राचीन या आद्य, 2. मध्य, और 3. आधुनिक। मध्यकालीन आर्यभाषा काल को प्राकृत काल के नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि म० आ० भा० काल की मुख्य भाषा का नाम प्राकृत है। प्राकृत के दो अर्थ विद्वानों द्वारा किये गए हैं—एक तो जनभाषा (प्राकृत जनानां भाषा प्राकृतम्) और दूसरा प्रकृति अथवा मूल से उत्पन्न अर्थात् संस्कृत भाषा की पुत्री। 'प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोग मे नही आ गई। अपने नैसर्गिक रूप मे यह वैदिक काल के पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषा को स्वयं उस काल मे प्रचलित प्राकृत बोलियों का साहित्यिक रूप माना जाता है।[1] अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक काल की जन-भाषा, जिसे प्राकृत कहा गया है, ने साहित्य भाषा प्राकृत के रूप में स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार प्राचीन या आद्य आर्यभाषा काल के बाद प्राकृत काल आया, जिसे मध्यकालीन आर्य भाषा काल कहते हैं।

अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि प्राकृत काल की व्याप्ति 500 ई० पू० से 1000 ई० तक है। इसका तीन पर्वों या प्राकृतों मे विभाजन किया गया। प्रथम प्राकृत या पर्व को पालि नाम से अभिहित किया गया। इस काल का विस्तार 500 ई० पूर्व से 1 ई० तक है। द्वितीय प्राकृत को साहित्यिक प्राकृत भी कहते हैं। इसकी कालावधि 1 ई० से 500 ई० तक मानी गई है। तीसरी प्राकृत को ही अपभ्रंश काल कहा गया है। 500 ई० से 1000 ई० तक अपभ्रंश का प्रभाव रहा, वैसे अपभ्रंश में 1600 ई० के आसपास तक रचना की गई। 'व्यापक अर्थ के अनुसार प्राकृत का प्रारम्भिक रूप पालि, मध्यकालीन रूप प्राकृत और उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश कहा गया है।'[2]

प्राकृत की व्युत्पत्ति तथा उसका मूल्याकन पिछले अध्याय मे किया जा चुका

1. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 492
2. वही

है। प्राकृत जनसामान्य की वैचारिक क्रांति के साथ उदित होती है। धार्मिक पुनरुत्थान के फलस्वरूप प्राकृत भाषा का प्रथम रूप पालि शिक्षित-अभिजात वर्ग के प्रयोग मे आई। पालि भाषा मे जिन विभिन्नताओं या नवीनताओं का स्फुरण हुआ, वे द्वितीय प्राकृत काल में अधिक विकसित हो गयीं। भाषिक विकास के फलस्वरूप मध्यकालीन रूप के अन्तर्गत साहित्यिक प्राकृत एक विशिष्ट रूप है। साहित्यिक प्राकृत का उद्भव काल 100 ई० से 600 ई० तक माना जाता है।

भारतीय आर्यभाषा के विकास की द्वितीय अवस्था, मध्यकालीन आर्य-भाषा काल सर्वप्रथम पूर्व में विकसित हुई। न केवल पूर्व, बल्कि अन्य क्षेत्रों मे भी भाषा के प्रादेशिक रूप बड़ी तेजी से विकसित हो रहे थे। गौतम बुद्ध ने, समस्त जन अपनी मातृभाषा मे ही उपदेश ग्रहण करें, की दृढ़ स्थापना के द्वारा क्षेत्रीय बोलियो के विकास को बल प्रदान किया। बौद्ध और जैन मत के प्रभाव से विभिन्न प्रादेशिक बोलियो मे साहित्य खड़ा हो गया। डॉ० चटर्जी कहते है कि 'इस आन्दोलन के पीछे सम्भवत. कुछ ऐसी भावना थी कि लौकिक भाषा को छान्दस या ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत के विरोध मे खडा किया जाय, क्योंकि यह कट्टरपंथी ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड पर आधारित थी।'[1] दूसरे सस्कृत भाषा सामान्य जन के लिए दुरूह होती जा रही थी। तीसरे, उसका प्रारम्भ अर्थ और भाव भी लुप्त होता जा रहा था। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत का सघर्ष विभिन्न आदर्शों के टकराव के रूप मे प्रकट हुआ। सामाजिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक आदर्शो को जनभाषा प्राकृत के माध्यम से ऊपर उठने और विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। ब्राह्मण वर्ग लौकिक भाषाओ और लौकिक आदर्शो के प्रभाव से बच नही सका।

गौतम बुद्ध तथा महावीर द्वारा प्रचारित दार्शनिक पंथ की भाषा मध्ययुगीन आर्यभाषा का पूर्वी रूप थी। इससे पूर्वी भाषा रूप में साहित्यिक सौष्ठव एवं गौरव आ गया। सम्राट अशोक ने भी इस पूर्वी भाषा रूप को राजभाषा का महत्त्व प्रदान किया। सिल्वा लेवी और ल्यूडर्स ने यह प्रमाणित किया है कि पूर्वी भाषा का ही अनुवाद मध्य देश की प्राचीन साहित्यिक भाषा मे किया जो पालि नाम से प्रख्यात हुई। जैन लेखकों और आचार्यो ने भी पूर्वी भाषा को परिवर्तित-परिवर्धित किया। जैन दिगम्बर नियमादेशों की भाषा अर्धमागधी, द्वितीय म भा आ या प्राकृत थी।

उत्तर भारतीय भाषा के इतिहास में मध्यदेश या पश्चिमी भाषा का महत्त्व रहा है। 'ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों मे मध्यदेश की भाषा (पालि) एक बार पुनः सर्वोपरि प्रतिष्ठित हो गई।'[2] शौरसेनी प्राकृत का सौष्ठव एव लालित्य

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 76
2 वही, पृ० 190

संस्कृत नाटकों में प्रत्यक्ष है। महाराष्ट्री प्राकृत को भी महत्त्व दिया गया है; जिसे विद्वानों ने शौरसेनी प्राकृत का एक रूप घोषित किया है। मध्यदेश का प्रभुत्व पालि, शौरसेनी प्राकृत या प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के रूप में सदा अविच्छिन्न रहा है। मध्यदेश भारत का हृदय तथा जीवन-सचालन का केन्द्र रहा है। राजशेखर की उक्ति है कि 'यो मध्ये मध्यदेश निवसति, स कवि. सर्वभाषा निषराणः।'

इस तरह यह पालि भाषा, जो धार्मिक भाषा के रूप में ख्यात थी, के समकक्ष अन्य जनभाषाओं में भी साहित्य का विकास हो रहा था। उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य प्राकृत रूपों को साहित्यिकों और वैयाकरणों ने प्रश्रय दिया और उसमे साहित्य रचना प्रारम्भ की। धर्मोपदेश की भाषा के रूप ख्यात पूर्वी प्राकृत था प्रभुत्व स्थायी नहीं रह सका। फिर भी शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी प्राकृत का विकास होता रहा। सेतुबन्ध, गउडवहो, गाथासप्तशती, वज्जालग्ग आदि ग्रन्थों ने प्राकृत को साहित्य रूप में प्रतिष्ठित किया। जयवल्लभ ने वज्जालग्ग मे कहा कि जब ललित युवतियों का शृंगाररसपूर्ण प्राकृत काव्य उपलब्ध है, तो संस्कृत कौन पढ़े। राजशेखर ने तो यहा तक कह दिया कि सस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार है। इस प्रकार पालि काल में जो भाषिक रूप विकसित हुआ था, वह प्राकृत काल मे स्थिर हो गया।

साहित्यिक प्राकृत का परिनिष्ठित रूप महाराष्ट्री प्राकृत ही मानी जाती रही है। 'महाराष्ट्री प्राकृत उस काल में समस्त आविंध्य हिमाचल भारत की राष्ट्र-भाषा-सी मानी जा सकती है।'[1] दण्डी ने महाराष्ट्री को ही प्रकृष्ट प्राकृत कहा है—'महाराष्ट्राश्रयां भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'[2] प्रायः उपलब्ध सभी कृतियाँ महाराष्ट्री प्राकृत की ही है। 'शौरसेनी तथा मागधी की किसी स्वतन्त्र शुद्ध साहित्यिक कृति का नाम नहीं सुना जाता।'[3] इसीलिए हार्नले की मान्यता है कि 'महाराष्ट्र का आशय महान् राष्ट्र से लेना चाहिए।' मनमोहन घोष महाराष्ट्री की महत्ता को घोषित करते हुए कहते है कि 'यह भाषा केवल महाराष्ट्र (मराठा देश) की भाषा नहीं थी, बल्कि पूरे (महा) राष्ट्र की भाषा थी और इसका विकास शौरसेनी प्राकृत से हुआ था।' इससे स्पष्ट है कि साहित्यिक प्राकृत से विद्वानों और वैयाकरणों का तात्पर्य स्टैण्डर्ड महाराष्ट्री प्राकृत से है।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग—डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 218
2. काव्यादर्श, 1/34
3. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० 218

साहित्यिक प्राकृत के भेद

साहित्यिक प्राकृतो की सख्या के सम्बन्ध मे विद्वान् एकमत नही हैं। यह सख्या 5 से 18 तक चली गई है। प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृतो की चर्चा की है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। हेमचन्द्र ने प्राकृतो के सात भेद किए—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, आर्ष या अर्धमागधी, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। जैन ऋषियों ने अर्धमागधी मे शास्त्रों की रचना की। अतः उसे आर्ष या अर्धमागधी कहा गया है। हेमचन्द्र के समय तक प्राकृत भाषा का अपभ्रश रूप प्रयोग मे आने लगा था और प्राकृत से उस समय समस्त जनभाषाओ का बोध होता था, इसलिए उन्होंने अपभ्रंश को भी प्राकृत का एक भेद बताया। चूलिका पैशाची प्राकृत की एक उपबोली है। अतः अपभ्रश और चूलिका पैशाची को निकाल देने पर हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृतों की सख्या पाँच हो जाती है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, मागधी, अर्धमागधी।

प्राकृत सर्वस्व के रचनाकार और वररुचि के अनुयायी मार्कण्डेय (17वी सदी) ने 16 प्राकृतों की चर्चा की है। प्रथमतः वे प्राकृत के चार भेद करते हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। भाषा के पांच भेद—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी, विभाषा के पांच भेद—शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और ढक्की, अपभ्रश के तीन भेद—नागर, व्राचड और उपनागर तथा पैशाच के तीन भेद—कैकेय, शौरसेन और पाचाल, किए हैं। आभीरिका, आवन्ती और प्राच्या को शौरसेनी के अन्तर्गत, शाकारी, चाण्डाली, शाबरी और ढक्की को मागधी के अन्तर्गत और कैकेय, शौरसेनी और पाचाल को पैशाची की उपबोली मान लेने पर मार्कण्डेय निर्देशित प्राकृतो की संख्या तीन ही रह जाती है। उसमे अर्धमागधी और पैशाची को समाविष्ट कर दिया जाय तो वररुचि और हेमचन्द्र द्वारा निर्देशित पाँच प्राकृते ही उल्लेख योग्य ठहरती है।

शूद्रक के मृच्छकटिक में शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शाकारी, चाण्डाली और ढक्की प्राकृतों का प्रयोग विभिन्न पात्रों द्वारा किया गया है। किन्तु डॉ० कीथ इन सभी प्राकृतों को दो मे ही वर्गीकृत कर देते है।[1] भरत ने भी अपने विभिन्न पात्रों के लिए प्राच्या, मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और आवन्ती नामक स्थानीय बोलियो के प्रयोग का निर्देश किया है।[2] परवर्ती काल मे शौरसेनी और महाराष्ट्री (शौरसेनी का ही विकसित रूप) का प्रयोग ही नाटको मे किया गया। कर्पूर मजरी (राजशेखर) सपूर्ण प्राकृत की रचना है। कानो के अनुसार उसका गद्य भाग शौरसेनी और पद्य भाग महाराष्ट्री में है।

---

1. दी संस्कृत ड्रामा, पृ० 142
2. नाट्यशास्त्र, 18/37, 38, 39

पर डॉ० मनमोहन घोष उसे पूर्णत: शौरसेनी प्राकृत की रचना मानते है।

भरत ने नाट्यशास्त्र मे सात प्राकृतों का उल्लेख किया है—शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, दक्षिणात्या, बाह्लीकी, आवन्ती तथा प्राच्या। प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने 'प्राकृत लक्षण' ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश का वर्णन किया है। साहित्य दर्पण में 12 प्राकृतों के नाम गिनाये गए है। इनमे शाकरी, द्राविडी, आभीरी और चाडाली का भी उल्लेख है। प्राकृत लकेश्वर मे 16 और प्राकृत चद्रिका में 27 प्राकृतों का उल्लेख किया गया है।

प्राकृत के जिन भेदोपभेद की चर्चा की गई है, उनमे साहित्य नही था। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी और पैशाची ही उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक प्राकृत के सामान्य लक्षण

प्रथम प्राकृत काल (पालि साहित्य) मे जो वैभाषिक विभिन्नताएँ और नवीनताएँ प्रकट हुई थो, वे साहित्यिक प्राकृत (द्वितीय प्राकृत) काल मे अधिक विकसित हो गईं। इस काल की भाषिक विशिष्टताओं का यहाँ विवेचन आवश्यक होगा।

1. प्राकृत भाषाएँ सयोगात्मक हैं। पालि में यह प्रवृत्ति प्रारंभ हो गई थी। किन्तु प्राकृत भाषाओ मे कारक चिह्नो या परसर्गों, कृदत रूपो और सहायक क्रियाओं का प्रयोग होने लगा था, जिससे भाषा मे वियोगात्मकता के तत्त्व उजागर हो गए। उदिस (के लिए), किद (के लिए), होन्तउ (से) केलक (का), करको (का), मज्झे (मे) आदि प्राकृत परसर्गो का प्रचलन इसी काल मे प्रारभ हुआ।

2. प्राकृत ने पालि के ध्वनिगत परिवर्तनो को दृढता से आगे बढ़ाया। ऋ, ॠ, ऐ, औ, श, ष और संयुक्त व्यंजन परिवर्तित होते रहे। जैसे घृणा>घिणा, कीदृश>कीइस, मातृ>माइ, गृध्र>गिद्ध, जृम्भा>जंभा, ऐरण्ड>एरण्ड, तैल>तेल्ल, राशि>रासि, शीर्ष>सीस, अक्षि>अक्खि, स्नान>ण्हाण, स्फोट>फोड, पश्चात>पच्छा आदि।

3. प्राकृत मे मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित है—त्रसर>टसर, ग्रथित>गठिय, दोला>डोला आदि।

4. स्वभक्ति भी इस काल में दिखाई पड़ती है—वर्ष>बरिस।

5. वर्णन-विपर्यय—लघु>हलु, वाराणसी>वाणारसी।

6. प्राकृत मे ट का ड और ठ का ढ हो गया—घट>घड, जटित>जडिअ, पठ>पढ, मठिका>मढ़िआ। प का व मे परिवर्तन—ताप>ताव, लेप>लेव, अपर>अवर।

7. मध्यवर्ती ख, घ, थ, ध और भ के स्थान पर केवल ह का प्रयोग रह

गया—मुख>मुह, श्लाघा>सलाहा, कथन>कहण, साधु>साहु, गभीर> गहिर, लघु>लहु, बधिर>बहिर।

8. स्वर सुरक्षित रहे, किन्तु सयुक्त व्यंजन से पूर्व या बलाघातहीनता के कारण परिवर्तन हुए है—शय्या>सेज्जा, तुण्ड>तोंड, कुन्दुक>गेन्दुअ, नूपुर> णेडर।

9. संस्कृत मे दस गण और पालि में 6 गण थे, किन्तु प्राकृत मे केवल एक गण रह गया—भ्वादिगण।

10. अकारांत धातुओं को छोड़कर शेष मे आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद समाप्त हो गया।

11. प्राकृत में केवल दो वचन और दो लिंग रह गए। वाच्यो की सख्या दो रह गई—कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य।

12. सस्कृत मे लकारों की संख्या दस थी। पालि मे वह आठ रह गई थी। प्राकृत में लकारों की संख्या छह रह गई—वर्तमान, भूत, भविष्यत्, विधि, आज्ञा और क्रियातिपत्ति। डॉ० बाहरी के अनुसार लकारो की सख्या प्राकृत मे चार ही रह गई।

13. सुराघात समाप्त हो गया और बलाघात का प्रभाव ही रह गया।

14 शब्दो का तद्भवीकरण बड़े जोर-शोर के साथ प्राकृत मे प्रारंभ हुआ।

15. प्राकृत मे संधि के नियम शिथिल हो गए। व्यजन और विसर्ग सधि व्यजनान्त और विसर्गान्त शब्दो के न रहने से केवल स्वर सधि ही प्रचलन मे रह गई।

16. करण-अपादान, सप्रदान और सबध तथा कर्ता-कर्म समरूप हो गए। इस प्रकार प्राकृत में केवल चार विभक्तियाँ रह गई।

17. आख्यात की जगह कृदंत का प्रयोग होने लगा, जैसा आधुनिक हिंदी भाषाओ मे होता है।

प्राकृत के विभिन्न भेदों की विशेषताएँ

जैसा कि बताया गया, प्राकृत के पाँच भेदो का उल्लेख करना अपेक्षा होगा। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी और पैशाची की भाषागत विशेषताओ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

महाराष्ट्री

सामान्यतः महाराष्ट्री से मराठा क्षेत्र की प्राकृत का अनुमान लगाया जाता है। जूल ब्लाक के अनुसार मराठी का विकास महाराष्ट्री प्राकृत के बोलचाल के रूप से हुआ है डॉ० मनमोहन घोष शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में प्रदेशगत

अतर न मानकर कालगत अतर मानते हैं। उनके अनुसार शौरसेनी प्राकृत का ही विकसित रूप महाराष्ट्री प्राकृत है। कुछ विद्वान् दक्षिणवर्ती आर्यों की बोलचाल की भाषा का साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृत है। दडी ने 'महाराष्ट्राश्रया भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदु' कहकर महाराष्ट्री प्राकृत की महत्ता का उल्लेख किया है।

डॉ० घोष के विश्लेषण के आधार पर डॉ० चटर्जी का मत है कि 'उपर्युक्त दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत, एक प्रकार से शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की अवस्था का नाम है।'[1] डॉ० सुकुमार सेन का भी यही मत है। महाराष्ट्री प्राकृत 'महान् राष्ट्र' अर्थात् उत्तरी भारत की भाषा थी। आगे चलकर प्राकृत के रूप मे महाराष्ट्री प्राकृत का ही उल्लेख होता रहा है। डॉ० चटर्जी और घोष का मत समीचीन है, क्योंकि प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत के विवेचनक्रम मे महाराष्ट्री प्राकृत का ही विवेचन किया है। शेष के लिए उन्होने कह दिया—'शेष महाराष्ट्रीवत्।'

1. यह स्वर बहुल भाषा थी। इसलिए इसमें सगीतात्मकता सबसे अधिक मिलती है।

2. इसमें ऊष्म व्यंजन ध्वनि के स्थान पर 'ह' हो गया है। यथा, पाषाण>पाहाण, दश>दह, दिवस>दिअह।

3. दो स्वरो के बीच के व्यंजन का लोप हो जाता है। जैसे, नूपुर>णेउर, रिपु>रिऊ।

4. कुछ महाप्राण वर्णो का 'ह' मे परिवर्तन हो गया है—नाथ>नाहो, मघ>मेहो, कथा>कहा, सुभग>सुहवो, क्रोधः>कोहो, कथ्यताम>कहिज्जउ।

5. पूर्वकालिक क्रिया बनाने में 'ऊण' प्रत्यय का प्रयोग होता है—पृष्ट्वा>पुच्छिऊण।

शौरसेनी

शूरसेन (मथुरा) प्रदेश की भाषा होने से इसका नाम शौरसेनी हुआ है। शौरसेनी का क्षेत्र मध्यदेश है। मध्यदेश सस्कृत का केंद्र रहा। इसलिए शौरसेनी को सस्कृत ने निरतर प्रभावित किया। इस प्रभाव के कारण शौरसेनी का वैसा स्वाभाविक विकास नही हो सका, जैसा मागधी या महाराष्ट्री का हुआ। डॉ० मनमोहन घोष के अनुसार कर्पूर मंजरी शौरसेनी की रचना है। अनेक जैन ग्रथों की भाषा शौरसेनी है।

कुछ विद्वानो के अनुसार इसका उद्भव पालि भाषा से हुआ और महाराष्ट्री

1 भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृ० 104

प्राकृत इसी का विकसित रूप है।

1. शौरसेनी मे दो स्वरो के बीच स्थित त का द और थ का ध हो जाता है। जैसे, भवति>होदि, मातरम्>मादरं, आगतः>आवदो, कौतूहल>कोदूहलं। नाथ >णाधो, राजपथ >राजपधो।

2. स्वर मध्य ग, द, घ (त, थ के परिवर्तित रूप) सुरक्षित रहते है। जैसे, जानाति>जानादि, कीदृश>कीदिस, अथ>अध, तथा>तधा।

3. क्ष का क्ख हो गया है—कुक्षि>कुक्खि, वृक्षः>रुक्खो, क्षीरं>खीरं, इक्षु>इक्खु, क्षणः>खणो।

4. आत्मनेपद प्रयोग शिथिल हो गए और परस्मैपद प्रयोग प्रचलित हुए।

5 'य' प्रत्यय का शौरसेनी रूप 'इअ' हो जाता है।

6. ऋ का विकास इ हो गया—गृद्ध>गिद्ध।

7. आदरार्थ आज्ञा रूप संस्कृत की तरह हैं—वर्तते>बट्टे।

8. शौरसेनी पर सस्कृत का प्रभाव अधिक है। अत यह सस्कृत के भाषिक विधान का अनुगमन करती है।

मागधी

मागधी को मगध राज्य की भाषा माना गया है। लास्सन महाराष्ट्री और मागधी को एक ही मानते हैं। 'सिंहल आदि देशों में पालि को ही मागधी कहते और जानते हैं। पर इस मागधी प्राकृत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'[1] वररुचि इसे शौरसेनी से निकली मानते हैं। इसे गौड़ी नाम से भी पुकारा गया है। वाह्लीकी, ढक्की, शावरी तथा चाडाली इसके जातीय रूप तथा शाकारी इसकी उपबोली थी।

भरत का निर्देश है कि अन्त.पुर के रक्षक मागधी बोलें। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है।

1. इसमें र का ल हो जाता है—राजा>लाजा, परिचयः>पलिचये।

2. असयुक्त ष, स का श हो जाता है—पुरुषः>पुलिशे, हंस.>हंशे।

3. प्रथमा एकवचन मे अः के स्थान पर 'ए' का प्रयोग मिलता है—देव.>देवे।

4. त के स्थान पर द हो जाता है—गच्छति>गच्छदि।

अर्धमागधी

अर्धमागधी, शौरसेनी और मागधी के मध्यक्षेत्र की भाषा मानी जाती है जैन ग्रंथो मे आर्ष के नाम से इसका आख्यान किया गया है। इसमें मागधी और

---

1 हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, द्वितीय भाग, प्रस्तावना, पृ० 16

शौरसेनी दोनो की प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, किन्तु शौरसेनी का प्रभाव अधिक है।

इसमें श्वेताम्बर जैन साहित्य उपलब्ध है। इसी आधार पर याकोबी ने इसे जैन प्राकृत भी कहा है। अश्वघोष के नाटको, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस तथा कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय मे इसके प्रयोग मिलते हैं। जैन महाराष्ट्री पर अर्धमागधी का प्रभाव है। अशोक के शिलालेखों पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट है। इसे ही गौतम बुद्ध और महावीर की मातृभाषा माना गया है।

1. इसमें ष, श के स्थान पर स मिलता है—वर्ष>बरिस, श्रावक>सावग, शकुन>सउण।

2. इसमे र और ल दोनो के प्रयोग मिलते हैं—चरण>चलण, सुकुमार>सुकुमाल, आकर>आगर, दारक>दारग, वाराणसी>वाणारसी।

3. स्वर मध्यम क प्रायः ग में परिवर्तित हो जाता है—आकाश>आगास, लोक>लोग, आकर>आगर, प्राकार>पागार।

4. य प्राय ज में परिवर्तित हो गया है—युगल>जुगल, याति>जाइ, युग्म>जुग्म, सयोग>संजोग, अपयश>अपजस।

5. दत्य ध्वनियो के मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति इसमें है—दशति>डसइ, दंभ>डंभ।

6. अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन मे दो रूप—देव>देवे, देवो।

7. कहीं-कही स्पर्श ध्वनि का लोप हो जाने पर 'य' ध्वनि मिलती है—सागर>सायर, स्थित>ठिय।

पैशाची

पैशाची किस प्रदेश की बोली थी, इस सबंध मे विद्वान एकमत नही है। किंतु इसे पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा माना गया है। ग्रियर्सन इसे दरद से प्रभावित मानते हैं। हार्नले इसे द्रविड परिवार की भाषा मानते हैं। इसे पिशाचो की भाषा भी कहा गया है। पिशाच पश्चिमोत्तर प्रदेश के उन अनार्यों को कहा जाता था, जिन्होने आर्यभाषा को पूरी तरह नही अपनाया। इसके अवशेष चीन, तुर्किस्तान, गाधार आदि मे पाये जाने वाले अभिलेखों मे पाये जाते है।

पैशाची प्राकृत मे गुणाढ्य ने वृहत्कथा (बड्डकहा) की रचना की थी। आज वृहत्कथा के तीन रूपान्तर मिलते है—बुद्धस्वामीकृत, क्षेमेन्द्रकृत और सोमदेव-कृत। शायद इसका साहित्य नष्ट हो गया। प्राकृत वैयाकरणो द्वारा इसकी विशेषताओ का कथन भी उतना प्रामाणिक नही है।

1. सघोष स्पर्श व्यंजन का अघोष मे परिवर्तन—मेघः>मेखो, राजा>राचा, दशवदनः>दसवत्तनो, माधव.>माथवो। अघोषीकरण पैशाची प्राकृत की सर्वथा निजी विशेषता है।

2. स्वर मध्य ग स्पर्श व्यंजन सुरक्षित हैं—गगनं>गकनं, राजा>राचा।

3. ऋ>इ : यादृशः>यातिसो, तादृशः>तातिसो, हृदयकम्>हितअक।

4. ल्>ळ : सळिळं<सलिलं, कमलं>कमळ।

5. ञ् ध्वनि का प्रयोग मिलता है—प्राज्ञा>पञ्ञा, सर्वज्ञः>सव्वञ्ञो, कन्यका>कञ्ञका, पुण्यकर्म>पुञ्ञकम्मो।

तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश

अपभ्रंश: नाम—ज्यों-ज्यों प्राकृत भाषा साहित्यिक रूप में परिनिष्ठित होती गई, त्यों-त्यों देशी भाषा के स्वरूप उसमें विरल होने लगे। साहित्यिक प्राकृत और देशी भाषा में स्वरूपगत भेद आने से देशी भाषा को एक अलग संज्ञा देने की आवश्यकता हुई। वैयाकरणों ने साहित्यिक भाषा को ही सम्मान और मर्यादा प्रदान की और देशी भाषा को अपभ्रंश या अपभ्रंष्ट नाम दिया। इस प्रकार प्राकृत भाषा के अन्तिम विकसित रूप को अपभ्रंश नाम से अभिहित किया गया।

'विभिन्न कोशों में अपभ्रंश शब्द का अर्थ देखने तथा उसकी निरुति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यह 'भ्रंशु' धातु में 'अप' उपसर्ग के योग से बनता है। 'अप' उपसर्ग और 'भ्रंशु' धातु दोनों अधःपतन, गिरना, विकृत होना आदि के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।'[1] सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार 'भृशु भ्रंशु अधः-पतन इति दिवादौ। भृशु-भ्रंशु-अधःपतने।' आप्टे के संस्कृत कोश में कहा गया है—A Corrupt language, one of the lowest forms of Prakrit dialect used by Cowhrds efcetra (in Kavyas), in shashtras any language other than Sanskrit प्रारम्भ में अपभ्रंश शब्द अपशब्द के लिए प्रचलित हुआ, जो कालान्तर में भाषा विशेष का वाचक बन गया।

अपभ्रंश को कई नामों से संबोधित किया गया है। अपभ्रंश शब्द के ही अवहंस, अवब्भंस, अवहट्ट, अवहत्थ आदि प्राकृत रूप मिलते हैं। देसी भाषा, देसी, आभीरी, आभीरोक्ति, ग्रामीण भाषा आदि नामों से भी अभिहित किया गया है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी अपभ्रंश को तीसरी प्राकृत कहना अधिक उचित मानते हैं। उनके अनुसार 'इन तीसरी प्राकृतों को या प्राकृत की तीसरी अवस्था के रूपों को, लोग अपभ्रंश कहते हैं, जो ठीक नहीं। तीसरी प्राकृत कहना ठीक है। कली खिलकर फूल बन जाए, तो कहा जायेगा—कली खिल गई, कली फूल बन गई। यह न कहा जाएगा कि कली बिगड़ गई—या कली का बिगड़ा रूप फूल है।'[2]

---

1. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति—डॉ० अम्बादत्त पंत, पृ० 18
2. हिन्दी शब्दानुशासन—आ० किशोरीदास वाजपेयी, पृ० 9

प्राकृत-अपभ्रंश ग्रथों में संस्कृत के लिए सक्कय और प्राकृत के लिए पाइय, पाउँअ शब्दो के प्रयोग मिलते है। अपभ्रंश के लिए 8वी शती ई० में उद्योतन सूरि ने 'कुवलय माला कहा मे अवब्भस तथा अवहस रूप मिलते हैं—'किं चि अवब्भस-कआवा····' तथा 'ता किं अवहसं होहिइ।' पुष्पदंत के महापुराण मे भी ये दोनो प्रयोग दिखाई पड़ते हैं—'सक्कय पायउ पुण अवहसउ।' स्वयभू ने अपनी रामायण मे अवहत्थ का प्रयोग किया है—'अवहत्थे वि खल-यणु णिरवसेसु।' अब्दुलरहमान (अद्दहमाण) के संदेश रासक मे अवहट प्रयोग मिलता है—'अवहट्ट्य सक्कय पाइयामि पेसाइयंमि भासाए।' ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम् की वंशीधरकृत टीक में भी अवहठ तथा अवहट् शब्दो के प्रयोग अपभ्रंश के लिए किये गये हैं। विद्यापति ने कीर्तिलता मे अवहट्ठ शब्द का प्रयोग किया है—'देसिलवयना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा।' इन सभी प्रयोगो से यह प्रकट होता है कि इस भाषा के लिए सस्कृत की अपभ्रंश सज्ञा ही प्रचलित रही है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि 'भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द—रूपच्युत हों, वे अपभ्रंश हैं।'[1]

अपभ्रंश शब्द का इतिहास

अपभ्रश शब्द का सटीक अर्थ जानने के लिए उसके ऐतिहासिक विकास पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि ने सग्रहकार व्याडि के मत का उल्लेख करते हुए कहा है—'शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति सग्रहकारो।' अर्थात् अपभ्रश की प्रकृति शब्द है। शब्द का अर्थ सस्कृत है। पतजलि के महाभाष्य मे भी संग्रहकार व्याडि का उल्लेख किया है। व्याडि पतजलि के पूर्व हुए थे। पतजलि का काल 150 ई० पूर्व या 200 ई० पूर्व माना गया है। अतः व्याडि का काल इसके पूर्व ही माना जायेगा। डॉ० कीथ के अनुसार व्याडि तथा उनका ग्रथ 'संग्रह' अनुमान का विषय है। अतः अनुमान या परोक्ष प्रमाण के आधार पर यह कहना उपयुक्त नहीं है कि व्याडि के समय में अपभ्रंश शब्द और भाषा का प्रचलन हो गया था।

पतजति ने अपने महाभाष्य मे अपभ्रश शब्द का प्रयोग किया है—भूयां सोऽपशब्दा', अल्पीयासः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रशाः।'[2] अर्थात् अपशब्द बहुत से हैं और शब्द थोड़े हैं। एक-एक शब्द के बहुत-से अपभ्रंश पाये जाते हैं, जैसे गौ शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं।

---

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 22
2. महाभाष्य, 1, 1.1

वास्तव में पतजलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषावैज्ञानिक संदर्भ में नहीं किया है, बल्कि अपाणिनीय देशी शब्दों के संदर्भ में किया है।' 'पतजलि के समय तक अपभ्रंश भाषा की प्रवृत्तियाँ देश्य भाषाओं में नही आई थी।'[1] डॉ० नामवर सिंह के मत में पंतजलि ने संस्कृत के तत्कालीन आचार्यों की मान्यताओं को इसके द्वारा संकेतित किया है। अपशब्द या अपभ्रंश शब्द से पतंजलि ने घृणा नहीं, वरन् प्रचलित दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की है।[2]

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत पाठ्य का निर्देश करते हुए कहा है—'समान शब्द विभ्रष्टं देशीगतमथापिच।' तात्पर्य कि प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(1) संस्कृत के समान शब्द, (2) संस्कृत के विकृत शब्द, और (3) देशी भाषा के शब्द।

प्राकृत के विभ्रष्ट शब्द वे ही हैं, जिन्हें पतजलि ने अपभ्रंश कहा है। 'भरत का यह प्रयोग भाषा के लिए न होकर उस कोटि के शब्दों के लिए हुआ है, जिन्हे हम तद्भव कहते हैं।'[3] किन्तु भरत ने एक ऐसी भाषा की विशेषता का उल्लेख किया है जो उकार बहुला है—

हिमवत् सिन्धु सौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकार बहुलां तेपुनित्य भाषां नियोजयेत्।—नाट्यशास्त्र, 18/48

उकार बहुलता अपभ्रंश की विशेषता बताई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के काल में हिमालय के पर्वतीय प्रदेश, सिन्धु, सौवीर आदि प्रदेश में रहने वाले जनों की भाषिक विशेषता उकार बहुलता थी। भरत का समय पहली या दूसरी शती ई०माना जाता है। उक्त काल में अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में प्रचलित थी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ईसा की छठी शताब्दी में भामह ने काव्य के भेद का निर्देश करते हुए कहा है—'संस्कृतं प्राकृत चान्यपभ्रंश इति त्रिधा।' यहाँ अपभ्रंश का प्रयोग एक काव्य-विशेष के अर्थ में हुआ है

ईसा की सातवी शताब्दी में दण्डी ने काव्यादर्श में लिखा है—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यपभ्रंशतयोदितम्।

अर्थात् शास्त्रों में संस्कृत से इतर भाषा अपभ्रंश कही जाती हैं और काव्यों से आभीरादि की बोलियाँ। इससे स्पष्ट होता है कि दण्डी के समय तक अपभ्रंश एक

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग—डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 232
2. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 23
3. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 232

भाषा का द्योतक हो गया था।

वल्लभी (सौराष्ट्र) के राजा धरसेन द्वितीय के संवत् 400 के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि उनके पिता गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश की प्रबध रचना मे निपुण थे। प्रो० ब्यूलर इस लेख को प्रामाणिक नही मानते। संवत् 835 मे उद्योतन सूरि के कुवलय माला मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश को साहित्यिक भाषा स्वीकार किया गया है।

9वी शती में रुद्रट ने भाषा के छः भेदों में अपभ्रंश की भी गणना की है—'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः।'

राजशेखर (10वी शती) ने शब्दार्थ को शरीर, संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु और अपभ्रश को सरस्वती देवी का जघन कहा है—'जघनमपभ्रंशः।'

1069 ई० मे नमिसाधु नामक जैन विद्वान् ने कहा है कि प्राकृत ही अपभ्रश है—'प्राकृत मेवापभ्रंशः।' इस प्रकार नमिसाधु ने प्राकृत और अपभ्रश का अभेद घोषित किया।

11वी शताब्दी मे पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश को शिष्ट प्रयोग की भाषा मानते हुए कहा—'शेषं शिष्ट प्रयोगात्।'

हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को व्याकरण-सम्मत परिनिष्ठित रूप देना चाहा था। उन्होने अपभ्रश के उदाहरणो से अपने नियमो को पुष्ट किया।

देसी भाषा

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के लेखक दामोदर पंडित ने उस काल की अवहट्ट भाषा को 'पतिता ब्राह्मणी' कहा था—'पतिता ब्राह्मणीकृत प्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमितिचेति।'[1] जनभाषा के उपासक दामोदर पंडित की यह उक्ति आश्चर्यकारी है। वास्तव मे उन्होंने अपनी लोकभाषा को देसी भाषा कहा, क्योकि अपभ्रंश या अपभ्रष्ट कहने से उसका निरादर होता था तथा उसकी मर्यादा कम हो जाती थी।

डॉ० हीरालाल जैन ने पाहुड़ दोहा की भूमिका मे लिखा है कि स्वयभू पद्मदेव, लक्ष्मणदेव, पादलिप्त आदि ने भी अपभ्रश को देसी भाषा ही कहा है—

1. देसी भाषा उभय तडुज्जल। —स्वयभू—पउमचरिउ।
2. वायरणु देसीसद्दत्थगाढ। —पद्मदेव—पासाणाहचरिउ।
3. णउ सक्कउ पाउअ देस-भास। —लक्ष्मणदेव— णेमिणाहचरिउ।

---

1. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, कारिका 6 की वृत्ति, पृ० 3

4. तहव देसिवयणेहि ।   —पादलिप्त—तरंगवती कथा ।[1]

विद्यापति की कीर्तिलता में देसिल बयना को सर्वत्र मधुर कहा गया—

देसिल बअना सब सन मिट्ठा । त तैसन जंप्पिआ अवहट्ठा ।

इससे जाहिर होता है कि विद्यापति ने अवहट्ट और देसिल बयना को एक ही माना और उसके माधुर्य का उद्‌घोष किया ।

इससे प्रकट होता है कि संस्कृत के आचार्यो ने तो अपभ्रंश को देशभाषा कहा ही, स्वयं अपभ्रंश के कवियों ने भी अपनी भाषा को देशभाषा कहा । प्राप्त प्रमाणों से यह विदित होता है कि गौतम बुद्ध ने अपना उपदेश देशभाषा (पालि) में ही किया था और उसी भाषा में उसे सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था । 'अपभ्रंश से पहले प्राकृत को देसी कहने की प्रथा थी ।'[2] पाणिनि ने भी संस्कृत को भाषा कहा था । डॉ०नामवर सिंह की यह मान्यता है कि प्रत्येक युग में साहित्य-रूढ़ भाषा के समानान्तर कोई देशी भाषा होती है जो साहित्य भाषा को जीवन प्रदान करती है और उसे विकसित करती रहती है ।[3]

डॉ० ग्रियर्सन, पिशेल, भण्डारकर, बुलनर, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी आदि विद्वान् अपभ्रंश को देशभाषा मानते हैं, जबकि याकोबी, कीथ, ज्यूलब्लाख, अल्सफोर्ड आदि विद्वान् अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानते । 'याकोबी अपभ्रंश में कुछ देसी तत्त्वों का मिश्रण तो स्वीकार करते है, किन्तु अपभ्रंश को पूर्णतः देशभाषा नहीमानते ।'[4] पिशेल ने वाग्भट के इस कथन से अपने मत का समर्थन किया है कि 'अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तदेशेषु भाषितम् ।' इसका अर्थ पिशेल ने लिया कि अपभ्रंश भिन्न देशों अथवा प्रदेशों की शुद्ध की हुई भाषा है, किन्तु याकोबी ने यह अर्थ लिया कि अपभ्रंश वह है जो एक-एक देश में शुद्ध रूप से बोली जाती है । आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने यह प्रमाणित किया था कि अपभ्रंश एक जीवित बोलचाल की भाषा के कितनी निकट है । इतनी बात तय है कि जिन विद्वानों ने अपभ्रंश के देशी भाषा मानने से इनकार किया है, उन्होंने इतना तो माना ही है कि अपभ्रंश में देशी भाषा के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं ।

अपभ्रंश का काल-निर्धारण

सामान्यतः अपभ्रंश का काल 500 ई० से 1000 ई० तक माना जाता है । डॉ० अम्बादत्त पंत 600 से 1200 ई० तक अपभ्रंश का समय मानते हैं ।

---

1. पाहुड़दोहा की भूमिका—डॉ० हीरालाल जैन, पृ० 41-42
2. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 26
3. वही, पृ० 27
4 हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ०नामवर सिंह, पृ० 28

किन्तु उपलब्ध साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि 800 से 1400 ई० तक अपभ्रंश साहित्य का प्रचार विशेष रहा। वैसे अपभ्रंश मे 1600 ई० तक रचनाएँ होती रहीं।

डॉ० नामवर सिंह की मान्यता है कि 'भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठी शती ईस्वी के आसपास मिलता है।' चण्ड के 'न लोपोऽपभ्रंशेऽधो रेफस्य' कथन, आलंकारिको के उल्लेख तथा धरसेन के शिलालेख (जिनका समय छठी शती के आसपास माना जाता है) के आधार पर डॉ० सिंह ने यह निष्कर्ष दिया है।

डॉ० कौशिक की मान्यता है कि अपभ्रंश भाषा तीसरी शताब्दी मे अस्तित्व में आ चुकी थी और उसका काव्य ग्रथो मे प्रयोग आरम्भ हो गया था।[1]

डॉ० भोलाशंकर व्यास कहते हैं कि 'अपभ्रंश के स्पष्ट चिह्न कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक की उन्मादोक्तियो मे देखे जाते है, जिन्हे हम अपभ्रंश साहित्य का आदि रूप मान सकते हैं।'[2]

डॉ० भगीरथ मिश्र डॉ० नामवर सिंह के मत से सहमत होते हुए कहते हैं कि 'तीसरी शताब्दी मे भी अपभ्रंश का अस्तित्व था, किन्तु वह एक बोली के रूप मे ही थी।'[3]

डॉ० विंटरनिट्ज ने अपभ्रंश का प्रयोग 8वी शती ई० में बौद्धों द्वारा माना है। डॉ० भंडारकर ने अपभ्रंश को प्राकृत तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य की कडी माना है। डॉ० तगारे के मत से अपभ्रंश शब्द पाँचवी से 12वीं शती ई० तक साहित्यिक भाषा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

डॉ० हरिवंश कोछड कहते हैं कि अपभ्रंश भाषा के जो लक्षण वैयाकरणों ने निर्दिष्ट किये हैं उनके कुछ उदाहरण हमे अशोक के शिलालेखों मे मिलते है। धम्मपद के अनेक शब्दो मे भी अपभ्रंश रूप दिखाई पड़ते हैं।

डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० उदयनारायण तिवारी आदि ने प्राकृत भाषा के अंतिम सोपान को अपभ्रंश कहा है।

यद्यपि पतंजलि और भरत ने अपभ्रंश शब्द का उल्लेख किया है, किन्तु सामग्री उपलब्ध न होने से उतनी दूर तक अपभ्रंश का विस्तार दिखाना संभव नही है। उक्त काल में अपाणिनीय शब्दो—संस्कृत शब्दो के विकृत रूपों के लिए इसका प्रयोग किया गया। नाट्यशास्त्रकार के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि उक्त काल में अपभ्रंश उकार बहुला भाषा थी, जिसका प्रयोग विभाषा या

1. भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास—कौशिक, पृ० 117
2. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 244
3. हिन्दी भाषादर्श—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० 333

बोली के रूप मे हिमवत्, सिन्धु या सौवीर के लोग करते थे।' दण्डी ने आभीरे की भाषा को अपभ्रश कहा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जिसे भरत ने 'आभीरोक्ति:' कहा था, वह अपभ्रंश ही है।

पतजलि भरत आदि के उल्लेखो के बावजूद अपभ्रंश का काल 500 ई० से 1200 ई० तक मानना ही समीचीन होगा। अपभ्रश में 17वी शती तक रचनाएँ हुई। आठवीं शती मे आभीर आदि की भाषा अपभ्रश को मानना बन्द हो गया और उसकी महत्ता साहित्य-भाषा के रूप मे स्वीकार कर ली गई। 'कालिदास के समय ही लोकभाषाओ मे अपभ्रश की प्रवृत्तियाँ जड़ पकड़ चुकी थी, पर साहित्य मे बद्धमूल होने के लिए उसे कुछ शतियो तक प्रतीक्षा करनी थी। दण्डी के समय (7वी शती) अपभ्रंश का साहित्य पल्लवित हो चुका था। आठवी शती के उत्तरार्ध में रचित उद्योतन सूरि की कुवलयमाला मे तो अपभ्रश का उल्लेख ही नही, अपभ्रंश गद्य-पद्य का स्वरूप भी दिखाई पड़ता है।'[1]

अपभ्रंश का ऐतिहासिक विकास

भाषाविज्ञान से यह तथ्य प्रमाणित है कि राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक केन्द्रमुखता के फलस्वरूप स्थानीय बोलियाँ राष्ट्र की विशाल साहित्य-भाषा का रूप ग्रहण कर लेती हैं। पौराणिक वर्णाश्रम धर्म के पडितो ने देश भाषा को प्रश्रय देना तो दूर रहा, उसे अत्यन्त उपेक्षित समझा और उसका घोर तिरस्कार किया। किन्तु इस अवमानना के बावजूद शूद्रक जैसे नाटककार ने प्राकृत के शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी रूपो के अतिरिक्त देशी भाषाओ के प्रयोग किये हैं। उकार बहुला होने के कारण इसी देशी भाषा को अपभ्रंश कहा गया है।

प्राकृत—जनभाषा को पंडितों का तिरस्कार भले मिला हो, महात्मा बुद्ध और महावीर ने देश्य भाषाओ को अपने सद्धर्म का उपदेश करने के लिए अपनाया। उपदेश को सरल बनाने के लिए जनभाषा का प्रयोग आवश्यक था। जैनों ने देशभाषा को प्रश्रय देकर अपभ्रंश मे अपूर्व साहित्य रचना की। बौद्धो और जैनों के धर्माश्रय के बावजूद देशी भाषा या अपभ्रश को राज्याश्रय की अपेक्षा थी। किसी भी भाषा को महान् या हेय बना देने की शक्ति राजा मे नही होती। भाषा का मूल स्रोत समाज है, लोक है। लोक-समाज के द्वारा ही भाषा को यथेष्ट स्वरूप प्रदान किया जाता है। फिर भी राजकीय और धार्मिक सरक्षण से भाषा को केन्द्राभिमुख होने का अवसर प्राप्त होता है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियो के निर्माण मे राजसत्ता की प्रमुख भूमिका होती है। इन परिस्थितियों का भाषा के निर्माण मे

1 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 245

अपूर्व योगदान रहता है। अतः राज्याश्रय पर विचार कर लेना अनुचित नही कहा जायेगा।

हर्ष के बाद उत्तरी भारत मे कान्यकुब्ज साहित्य का प्रमुख केन्द्रस्थल रहा। कान्यकुब्ज के राजेश्वर वर्णाश्रम धर्म के पक्के अनुयायी थे। भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का वर्चस्व सर्वत्र व्याप्त था। उनके अधीन अनेक सामन्त थे। राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत के कान्यकुब्ज एक सूत्र मे बँधे हुए थे। वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव के कारण कान्यकुब्ज में संस्कृत को राजकीय सम्मान प्राप्त था। कान्यकुब्ज के प्रतिहारों को हराकर महाप्रतापी गाहडवाल राजसिंहासन पर आसीन हुए। 1093 से 1134 ई० तक गोविन्दचन्द्र और 1170 से 1193 ई० तक उनके पौत्र जयचन्द्र जैसे चक्रवर्ती राजाओ का शासन कान्यकुब्ज पर रहा।

प्रतिहारो और गाहडवालो के दरबार मे संस्कृत को उच्चतर सम्मान प्राप्त था। श्रीहर्ष जैसे वेदान्ती और संस्कृत कवि को गाहड़वालो के दरबार मे आश्रय प्राप्त था। सस्कृत अलकरण समन्वित राजदरबार मे लोकभाषा को कहाँ प्रश्रय मिलता ? फलतः कान्यकुब्ज मे देशभाषा, लोकभाषा या अपभ्रंश की पैठ नही हो सकी। इसके कारण का निर्देश करते हुए डॉ० नामवर सिह कहते हैं कि 'गाहड़वाल राजाओ ने नि.सदेह महान सास्कृतिक कार्य किये, लेकिन उन्होंने अपने समय की जीवन्त लोकभाषा को छोड़कर साहित्य-रूढ़, परम परिणत और विकासरुद्ध सस्कृत भाषा को प्रोत्साहन दिया, या यो कहे कि उसे अपने अलंकरण का साधन बनाया। शायद ब्राह्मण धर्म के प्रबल समर्थक होने के कारण गाहड़वालो ने जैनो के द्वारा प्रवर्द्धित अपभ्रंश को प्रश्रय देना उचित नही समझा।'[1] इससे प्रकट होता है कि गाहड़वाल राजाओ ने लोकभाषा को राज्याश्रय नही प्रदान किया।

परवर्ती गाहड़वाल राजा अपभ्रंश की महत्ता को अस्वीकार न कर सके। जयचन्द्र का महामंत्री विद्याधर लोकभाषा का प्रसिद्ध कवि था। डॉ० मोतीचन्द के अनुसार काशी के दामोदर पंडित ने 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक ग्रंथ की रचना गाहड़वाल राजाओ को लोकभाषा के माध्यम से सस्कृत पढ़ाने के लिए की थी। कहते हैं कि गोविन्दचन्द्र की तीसरी रानी जैन धर्मावलम्बी थी। उसने काशी मे जैन मुनियों के लिए उपासना गृह का निर्माण कराया था। 'अनुमान यहाँ तक किया जाता है कि उक्ति व्यक्ति प्रकरण के लेखक दामोदर भी जैन पंडित थे और इसी रानी के आश्रित थे।'[2] गाहडवालो ने अपभ्रंश को राजकीय सम्मान

---

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग—डॉ० नामवर सिह, पृ० 51
2. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, प्रथम भाग- पृ० 246

तब दिया जब अपभ्रंश का भाषिक विकास संपूर्ण हो चला था और आधुनिक देश्य-भाषाएँ अंकुरित रही थी। इस प्रकार मध्यदेश या अतर्वेद मे अपभ्रश को सम्मान एवं प्रश्रय नही मिला। इसलिए इस प्रदेश में अपभ्रंश साहित्य विरल रहा।

अपभ्रश को मान्यखेट (बरार), गुजरात और बंगाल में राजाश्रय मिला। 'इसलिए उस समय सांस्कृतिक केन्द्र कान्यकुब्ज न होकर पाटण रहा, क्योकि वह उभरती हुई नयी संस्कृति—लोक-सस्कृति और लोकभापा अपभ्रश का केन्द्र था।'[1] मान्यखेट के राष्ट्रकूटो को डॉ० नामवर सिंह ने जैन मतावलम्बी कहा है। किन्तु डॉ० भोलाशंकर व्यास के अनुसार 'मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा स्वय जैन नही थे, वे वैष्णव थे। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि मुरारि, त्रिविक्रम भट्ट, सोमदेव सूरि, इलायुध मान्यखेट के राजाओ के आश्रित थे। इन्ही राष्ट्रकूट राजाओ के मंत्री जैन थे और उन्होने कई जैन साधुओं और कवियों को आश्रय दिया था।'[2]

जो हो, मान्यखेट और गुजरात उस समय जैन वैश्यो का केन्द्र था और गुजरात, बरार, मालव आदि प्रदेश का वाणिज्य-व्यापार उनके ही हाथ में था। इन जैन वैश्यों ने संस्कृत की अपेक्षा लोकभापा या देश्यभाषा अपभ्रंश को प्रश्रय दिया और उसे पल्लवित-पुष्पित किया। 10वी शती मे राष्ट्रकूटो का पतन हो गया। गुजरात में सोलकी राजा सिंहासनासीन हुए। अब मान्यखेट का केन्द्र हटकर गुजरात मे चला आया। पाटण के सोलकी राजाओं ने भी अपभ्रश भाषा और साहित्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। सोलकियों के राजत्व काल मे गुजरात का वैभव पराकाष्ठा पर था। वह सम्पूर्ण भारत का सिरमौर हो गया था। अतः पाटण की राजभाषा को लगभग सपूर्ण भारत के राष्ट्रभाषा के रूप मे अपना लिया।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र और कान्यकुब्ज तक पर धावा बोलते रहते थे। राहुलजी ने बताया है कि दिल्ली के पास से पुष्पदत्त को तथा कोसल से स्वयंभू को अपने यहाँ ले जाने का श्रेय राष्ट्रकूटो के आक्रमण को है।[3] चहुमुहु स्वयभू (चतुर्मुख स्वयंभू) राष्ट्रकूट राजा ध्रुव (वि० स० 837-851) के अमात्य रयडाधनुज्जय के आश्रित थे और पुष्पदत्त कृष्ण तृतीय (वि० स० 996-1025) के मंत्री भरत के। 'इसलिए आरभ में तत्कालीन बोलियों को अपभ्रंश के रूप मे केन्द्रित करने और इस तरह से उसे विकसित करने का श्रेय मुख्यतः राष्ट्रकूटो को है।'[4]

---

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 52
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 246
3. हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, अवतरणिका, पृ० 25-27
4. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग डॉ० नामवर सिंह, पृ० 50

राष्ट्रकूटो के गतश्री हो जाने के बाद सोलंकी चालुक्यों का राजाश्रय अपभ्रंश के विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह स्वय जैन नही थे, किन्तु जैन मंत्रियो के प्रभाव मे थे। उन्होने कलिकाल सर्वज्ञ जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि को सरक्षण दिया। धन-जन की अभूतपूर्व सुविधाएँ हेमचन्द्र को प्राप्त थी। कुमारपाल को हेमचन्द्र ने जैनमत में दीक्षित किया था। सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल ने अपभ्रंश को यथेष्ट संरक्षण प्रदान किया था।

बगाल के पालवशी राजाओ के दरबार मे भी देश्यभाषा अपभ्रश को पर्याप्त समादर प्राप्त हुआ। बगाल में बौद्धों का प्रभाव रहा। बगाल मे बौद्धतान्त्रिको के अनेक केन्द्र स्थापित हो गये थे। पालवशी राजा स्वयं बौद्ध थे। इसलिए उनके राजत्वकाल मे अपभ्रंश को विकसित होने के अवसर प्राप्त हुए। पालवश के बाद सेनो के हाथ मे बगाल का शासन चला गया। सेन राजा ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। सेनो ने सस्कृत को प्रश्रय दिया। अतः अपभ्रंश का वह विकास जो पालों के समय प्रारभ हुआ था, विच्छिन्न हो गया। 'किन्तु बौद्धों की तान्त्रिक परम्परा ने ब्राह्मणधर्म को प्रभावित कर बंगाल मे नये धार्मिक अंकुरो को उत्पन्न किया। शैव-शाक्त-तंत्र तथा राधाकृष्ण की शृंगारी भक्ति के विकास मे बौद्धतान्त्रिको का ही हाथ है।'[1]

सेनों के शासनकाल मे अपभ्रश काव्य-धारा नाथ-सिद्धों की वाणियो मे प्रस्फुटित होकर विकसित हुई। उस समय अपभ्रंश का इतना अधिक प्रभाव था कि कुछ विद्वानो के मत से जयदेव के पद अपभ्रश से प्रभावित हैं। डॉ० भोलाशकर व्यास का अनुमान है कि जयदेव ने पहले अपभ्रश में पदो की रचना की, बाद मे उनका संस्कृत मे अनुवाद किया गया। 'कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि बौद्ध सिद्धो की वाणियों के बाद भी यह परम्परा पूर्णतया सूखी नहीं थी और अंतःसलिला की तरह कही कुछ प्रकट होती, कही छिपती अखण्ड रूप से बहती रही है और कबीर मे आकर उसका प्रबलतम उत्स परिलक्षित होता है।'[2]

इस प्रकार यह प्रकट है कि राजाश्रय प्राप्त होने के कारण अपभ्रंश का विकास तथा उत्थान बगाल और गुजरात मे ही हुआ। मध्यदेश (कान्यकुब्ज) मे राजाश्रय प्राप्त न होने से अपभ्रंश के विकास मे कान्यकुब्ज की कोई विशिष्ट भूमिका नहीं लक्षित होती। परवर्ती काल मे गाहड़वालों का अपभ्रंश-प्रेम भाषा के उन्नयन एवं विकास मे उतना अधिक सहायक नही हो सका, क्योंकि तब तक अपभ्रश एक परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। मान्यखेट और बंगाल मे राजाश्रय, धर्माश्रय और लोकाश्रय प्राप्त होने से अपभ्रश का पर्याप्त

3. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 246
4. वही, पृ० 247

विकास हुआ।

अपभ्रंश और आभीरोक्ति

भरत ने अपभ्रश भाषा की ओर सकेत करते हुए कहा था कि वह आभीरो की भाषा है—'आभीरोक्तिः शाबरी स्याद्, द्राविडी द्रविडादिषु।' पुनः छठी-सातवी शती में दण्डी ने अपने काव्यादर्शन में कहा—'आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता.।' अर्थात् काव्यों मे आभीर आदि की भाषा को अपभ्रश नाम से स्मरण किया जाता है। इससे कुछ विद्वानो ने सिद्ध किया है कि अपभ्रंश भाषा मूलतः आभीरो की भाषा थी।

आभीर जाति का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। महाभारत के अनुसार ईसा पूर्व दूसरी शती में भारत के परिश्चमोत्तर प्रदेश मे अहीरो का निवास था। आभीर और गुर्जर गोपालक जातियाँ थी। नकुल के प्रतीची-विजय-प्रसग मे आभीरो को सिन्धु के किनारे रहनेवाली जाति बताया गया है। सरस्वती के नष्ट होने वाले प्रदेश को विनशन कहा गया है। शल्य पर्व में कहा गया है कि शूद्र आभीरो के कारण ही सरस्वती नष्ट हो गई। आभीर दस्युओ ने वृष्णियों की विधवाओ को अर्जुन से पंचनद प्रदेश मे छीन लिया था। द्रोणाचार्य के सुपर्ण व्यूह मे भी आभीरो का उल्लेख मिलता है।

दूसरी शताब्दी ई० मे आभीरो के काठियावाड़ मे रहने का उल्लेख महा-क्षत्रप रुद्रदामन् के एक अभिलेख मे मिलता है, जिसमे आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान की चर्चा है। कठियावाड़ मे आभीरो के रहने का संकेत 300 ई० मे उत्कीर्ण नासिक अभिलेख से एन्थोवेन ने किया है। समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तभ लेख (360 ई०) के अनुसार आभीर जाति राजस्थान, मालवा, दक्षिण-पश्चिम तथा पश्चिमी प्रदेशों मे फैली हुई थी। पुराणो के अनुसार दकन आभीरो के हाथ मे था, जो छठी शताब्दी मे उनके हाथ से निकल गया।

अनुमान किया जाता है कि आभीर जाति पश्चिमोत्तर भारत मे अपना प्रभाव एव प्रभुत्व स्थापित करने के बाद पूरे भारत मे फैलने और उसे अपने प्रभाव मे लेने का प्रयत्न करती रही। 'स्वाभाविक है कि सरस्वती के पास विनशन और पंचनद मे आ बसने वाली इस दुर्धर्ष आभीर जाति ने अपनी बोली का भी प्रभाव प्रकट किया हो।'[1] लेकिन बाहरी जाति ने पूर्ववर्ती भाषा को मिटाकर अपनी भाषा चला दी हो, यह सभव प्रतीत नही होता। किन्तु आभीर और गुर्जर जातियाँ गोपालक थी। इन जातियों मे ही गौ शब्द के वे विभिन्न रूप गावी, गोपी, गोपोतलिका आदि—प्रचलित रहे होगे, जिनका

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 45

उल्लेख पतंजलि ने किया है। भरत और दण्डी की उक्तियाँ भी इसी ओर सकेत करती है। दुर्धर्ष आभीर जाति ने बडी तेजी से उत्तर भारत मे फैलने का प्रयास किया। डॉ० नामवर सिंह कहते हैं कि 'संभव है दण्डी जैसे आचार्य ने इस जाति के आतक और प्रभाव को देखकर ही समस्त ग्रामीण बोली के लिए आभीरादि-गिरा सज्ञा का प्रयोग किया हो।'[1] डॉ० सिंह एक और अनुमान लगाते है कि इसका मतलब इतना ही हो सकता है अपभ्रश बोलने वालो मे आभीरो की बहुलता थी। किन्तु पतजलि और भरत की उक्तियो के सदर्भ मे उठे प्रश्न का समाधान उन्होने नही दिया है।

डॉ० याकोबी ने अपभ्रंश को आभीरी बोली मानने का विरोध किया है। उन्होने नमि साधु के कथन को उद्धृत करते हुए कहा है कि आभीरी भाषा अपभ्रश नहीं थी। आभीरी भाषा के कुछ तत्त्व ही उसमे मिश्रित हुए थे—'आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता, क्वचिन्मागध्यामपि दृष्टा।' वास्तव मे आभीर जाति बाहर तो अवश्य आई थी, किन्तु उसने वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार कर लिया था। उसने यहाँ की स्थानीय बोली को भी अपना लिया था। इतना जरूर है कि आभीर जाति ने अपने निवास के क्षेत्र की बोलियो को ध्वनि और रूप दोनो दृष्टियो से प्रभावित किया और उनकी भाषा के कुछ शब्द अपभ्रश मे अन्तर्भूत हो गये थे। बाद मे 9वी शताब्दी में अपभ्रश को आभीरी बोली मानने की परम्परा समाप्त हो गयी।

अपभ्रश की प्रकृति

ऐसा माना जाता है कि साहित्यिक प्राकृत ही देश्य भाषाओ के सयोग से प्राकृत रूप मे विकसित हो गई। नमि साधु ने कहा है कि प्राकृत ही अपभ्रश है—'प्राकृत-मेवापभ्रशः।' इससे प्राकृत और अपभ्रश की अभेदता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। नमि साधु ने प्राकृत के अन्य भेदो के साथ अपभ्रश को भी प्राकृत का एक भेद बताया। डॉ० नामवर सिंह कहते है कि 'अन्य प्राकृतो की भाँति अप-भ्रंश की प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है।'[2]

हेमचन्द्र ने भी नमि साधु का समर्थन किया है। उनके अनुसार अपभ्रश मे कहीं महाराष्ट्री और कही शौरसेनी प्राकृत जैसे प्रयोग मिलते हैं। मार्कण्डेय कहते है कि नागर अपभ्रश महाराष्ट्री और शौरसेनी पर प्रतिष्ठित है। जिस अर्थ मे प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है, उसी अर्थ मे अपभ्रंश की प्रकृति प्राकृत है—प्राकृत

---

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 46
2. वही, पृ० 31

अर्थात् शौरसेनी आदि भेदों से युक्त मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत ।'[1]

वैयाकरणों ने अपभ्रंश को स्वतन्त्र भाषा माना । संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई है—'संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा'—(भामह—काव्यालंकार)। अपभ्रंश संस्कृत, प्राकृत के बाद तीसरी भाषा है जो आर्यभाषा के मौलिक परिवर्तन को रेखांकित करती है ।

जैसाकि कहा गया है, प्राकृत (महाराष्ट्री प्राकृत) में देश्य भाषाओं के संयोग से अपभ्रंश भाषा विकसित हुई । अतः अपभ्रंश की प्रकृति मूलतः प्राकृत मान लेने पर भी क्षेत्रीय प्रयोग की विशेषता को ध्यान में रखना होगा । ऐसा माना जाता है कि अपभ्रंश पश्चिमोत्तर भारत की भाषा थी । भाषावैज्ञानिकों ने अपभ्रंश से गुजराती और राजस्थानी का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाया है । इन क्षेत्रों में रचे साहित्य की भाषा का स्थानीय बोलियों से प्रभावित होना स्वाभाविक है । धनपाल, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, हरिभद्र, जिनदत्त ने गुजरात में, देवसेन ने मालवा में, रामसिंह ने राजपूताना और अब्दुल रहमान ने मुलतान में अपभ्रंश साहित्य की रचना की । इसीलिए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश की भाषा प्रारम्भ ही से किसी खास प्रान्त की अधिकृत या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अंतर्वेद तथा पंजाब में प्रचलित अपभ्रंश बोलियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या शैली ही थी ।'[2]

अपभ्रंश बोलने वालों में चाहे आभीरों की प्रधानता हो या गुर्जरों की, पर भौगोलिक दृष्टि से वह पश्चिमी भारत की बोली थी । नागर अपभ्रंश इसी बोली का परिनिष्ठित रूप था । 'साहित्यिक अपभ्रंश मूलतः पश्चिमी भारत की बोली होती हुई भी 8वीं से 13वीं शताब्दी तक समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी ।'[3] समग्रतः याकोबी का कथन ध्यातव्य है कि अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा थी, जिसने अपने शब्दकोश का अधिकांश साहित्यिक प्राकृतों से ग्रहण किया था और अपना व्याकरणिक गठन देशभाषाओं से ।'[4]

अपभ्रंश के विभिन्न रूप

अपभ्रंश मुख्यतः पश्चिमी भारत की बोली होने पर भी 8वीं से 13वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बन गई थी । 'दस कोस पर बानी बदले चार कोस पर पानी' की जनश्रुति के आधार पर यह कहना अनुचित होगा

---

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 34
2. राजस्थानी भाषा—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० 35
3. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 49
4. भविस्सयत्त कहा, पृ० 68

कि सम्पूर्ण भारत मे साहित्यिक अपभ्रश ही लेखन और सभापण मे प्रचलित थी। प्रत्येक क्षेत्र की अपभ्रश भापा मे स्थानीय बोलियो का पुट रहना स्वाभाविक है। इस आधार पर अपभ्रंश के कई रूपों की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

प्राकृत काल मे मुख्यत: महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची प्राकृतो के सकेत मिलते हैं। किन्तु वैयाकरणों ने कहीं भी महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची अपभ्रंश का उल्लेख नही किया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण मे कहा गया है कि देश-भेद से अपभ्रश के अनेक भेद होते हैं—'देशभापा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते। ग्यारहवीं शती मे नमि साधु ने अपभ्रंश के तीन भेद—उपनागर, आभीर और ग्राम्य—बताये—'स चान्यैरुपनागराभीरग्रामत्वभेदेन।'

राजशेखर के अनुसार टक्क, भारानक मरुभूमि अर्थात् पजाब, राजस्थान आदि की भाषा अपभ्रंश है—'सापभ्रंशप्रयोगा: सकल मरुभुवष्टक्क भादानकाश्य।' सत्रहवी शताब्दी मे मार्कण्डेय ने अपभ्रश के स्वय केवल तीन भेद बताये—'नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेतिते त्रय:।' उनके द्वारा निर्देशित भेद है—नागर, व्राचड और उपनागर। उन्होने यह भी बताया है कि कुछ विद्वान् अपभ्रश के 27 भेद मानते हैं जिनके नाम इस प्रकार है—व्राचड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, बार्बर, आवन्त्य, पाचाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, औढ्र, पाश्चात्य, पाण्ड्य, कौतिल, सैहल, कालिंग्य, प्राच्य, कार्णाट, कांच्य, द्राविड़, गौर्जर, आभीर, मध्य-देशीय, वैताल आदि। किन्तु अन्य आचार्यों ने इस वर्गीकरण का खण्डन किया है।

महामहोपाध्याय पडित गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने कहा है कि अपभ्रश का प्रचार लाट (गुजरात), सुराष्ट्र, त्रवण (मारवाड़), दक्षिण पजाब, राजपूताना, अवन्ती, मन्दसोर आदि मे था, किन्तु इसका प्रयोग भारत के दूर-दूर के विद्वान् करते थे।'[1]

डॉ० याकोबी ने 'सनत्कुमार चरिउ' की भूमिका मे अपभ्रश को क्षेत्रीय आधार पर चार भागो मे विभक्त किया है—पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी, उत्तरी। सम्भवत: ग्रथो के रचना-स्थान के आधार पर यह विभाजन उन्होने प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त वर्गीकरण का कोई भाषावैज्ञानिक आधार प्रस्तुत नही किया गया है।

डॉ० याकोबी के वर्गीकरण की त्रुटियो की ओर संकेत करते हुए डॉ० तगारे ने कहा है कि उत्तरी और पूर्वी दोनों अपभ्रंशो के आधार ठोस प्रमाणित नही होते।[2] उत्तरी अपभ्रंश मे तो कोई रचना ही उपलब्ध नही है। डॉ० तगारे के

1. मध्यकालीन भारतीय सस्कृति—पं० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, पृ० 110
2 हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रश—डॉ० तगारे, भूमिका पृ० 66

अनुसार अपभ्रंश के पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी।[1] उनके वर्गीकरण का आधार भी रचना-स्थान ही है। फिर भी उन्होंने इन अपभ्रंशो के भाषा-व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। डॉ० तगारे ने निम्नलिखित रचनाओं और उनके रचना-स्थान के आधार पर वर्गीकरण किया है—

1. पूर्वी अपभ्रंश—सरह तथा कह्ण के दोहाकोश तथा चर्यापदो की भाषा
2. पश्चिमी अपभ्रंश—कालिदास, जोइन्दु, रामसिंह, धनपाल, हेमचन्द्र आदि की रचनाओं की भाषा।
3. दक्षिणी अपभ्रंश—पुष्पदंतकृत महापुराण, णमिकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, करकंडु चरिउ की भाषा।

पूर्वी अपभ्रंश—सरहपाद (शरहस्तपाद) एवं कह्ण (कृष्णचार्य) के दोहा-कोशों एवं चर्यापदो की भाषा के सम्बन्ध मे विद्वान एकमत नही है। डॉ० शहीदुल्ला ने दोहाकोश की भाषा को पूर्वी अपभ्रंश तो कहा है, किन्तु तिब्बती परम्परा के आधार पर उसे बौद्ध अपभ्रंश कहना ज्यादा उचित समझते हैं।[2] उन्होने उसकी शब्द-सम्पत्ति तथा मुहावरो को बगला के निकट माना है। दोहा-कोश पर मैथिली और भोजपुरी के प्रभाव को भी विद्वानो ने लक्षित किया है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत से अपभ्रंश काल मे पूर्व के कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया है और अपनी विभाषा का बहिष्कार किया है। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार दोहाकोश की भाषा मे अधिक पश्चिमीपन है तथा चर्या-पदो की भाषा मे पूर्वीपन अधिक है। हेमचन्द्र के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र, पुष्पदन्त तथा दोहाकोशो की भाषा एक ही अपभ्रंश है। यह कहा जा सकता है कि दोहाकोश की भाषा मे शौरसेनी अपभ्रंश के परवर्ती लक्षण अधिक दिखाई पडते है।

डॉ० याकोबी के मत से पूर्वी अपभ्रंश ने साहित्य और व्याकरण के आधार पर 'पूर्वी अपभ्रंश' का समर्थन किया और उसे बिहार मे प्रचलित बताया। प्रो० ज्यूल ब्लाख ने याकोबी के मत का खण्डन किया और कहा कि अपभ्रंश सज्ञा साहित्यिक भाषा के अर्थ तक ही सीमित है। श्री एस० एन० घोषाल तथा ग्रियर्सन के मत से 'मार्कण्डेय तथा रामशर्मा द्वारा लिखित ओड्री, प्राच्या और गौडी अपभ्रंश वस्तुतः उन प्रदेशो मे प्रचलित शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश ही है।'[3] प्रो० अल्फ्रेड मास्टर के अनुसार पूर्वी अपभ्रंश के वर्गीकरण का आधार बहुत स्वल्प है।

---

1. हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश—डॉ० तगारे, भूमिका, पृ० 16
2. लेशॉं द मिस्ती—डॉ० शहीदुल्ला, पृ० 55
3. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 57

पश्चिमी अपभ्रंश—डॉ० चटर्जी का मत है कि भारत की तत्कालीन साहित्यिक भाषा पश्चिमी अपभ्रश मूलत: शौरसेनी का वह परिवर्तित रूप है, जो गुजरात और राजस्थान मे बोली जाने वाली बोलियो से मिश्रित हो गया था।[1] इसे ही वैयाकरणों ने नागर अपभ्रंश कहा है। इसका आदिम रूप कालिदास के विक्रमोर्वशीय के अपभ्रश पदों में मिलता है तो उसका परिनिष्ठित रूप हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत दोहो मे मिलता है। सदेशरासक (अछहमाण) की भाषा परिनिष्ठित रूप की ओर उन्मुख है। शौरसेनी या नागर अपभ्रश को ही गुर्जर, आवन्त्य और शौरसेनी मे विभाजित किया जाता है। इस प्रकार पश्चिमी अपभ्रश, नागर अपभ्रंश या शौरसेनी अपभ्रंश को एक ही माना गया है। हेमचन्द्र ने 'शेष शौरसेनीवत्' कहकर शौरसेनी की भाषिक विशेषताओं और उसके वर्चस्व का उल्लेख किया है।

दक्षिणी अपभ्रश—डॉ० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रश के अतर्गत बरार मे लिखी गयी रचनाओ को रखा है। किन्तु उनकी यह कल्पना ठोस भाषावैज्ञानिक आधार पर स्थित नही है। उन्होने स्वयं कोई भाषावैज्ञानिक आधार प्रस्तुत नही किया है। पुष्पदन्त और कनकामर की भाषा मूलत: परिनिष्ठित शौरसेनी अपभ्रश है। 'यह निश्चित है कि 12वी शती तक साहित्य मे केवल एक ही भाषा का माध्यम चुना जाता रहा है, वह थी शौरसेनी या नागर अपभ्रश।[2] पश्चिमी अपभ्रश उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी।

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार डॉ० तगारे द्वारा निर्दिष्ट दक्षिणी अपभ्रश की विशेषताएँ वस्तुत: प्राकृत-प्रभाव है। पश्चिमी अपभ्रश की 'भविस्सयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश में रचित महापुराण की भाषा मे मौलिक अंतर नही है। जो भी अंतर है, वह शैली सम्बन्धी और रचयिता-भेद के कारण है।

जाहिर है कि डॉ० तगारे के वर्गीकरण में दक्षिणी अपभ्रश नामक भेद काल्पनिक है। दक्षिणी अपभ्रश की काल्पनिक स्थित का बोध हो जाने पर अपभ्रश के दो ही भेद बच जाते हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी अपभ्रंश परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा थी, जब कि पूर्वी अपभ्रश उसकी विभाषा मात्र। प्राकृतकाल में उदित पूरब और पश्चिम का भाषिक भेद अपभ्रशकाल मे भी कायम रहा। इसलिए अपभ्रंश उक्त काल मे पश्चिमी और पूर्वी भाषिक रूपो में ही साहित्य-रचना की दिशा मे अग्रसर थी।

डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते है कि प्राकृतो के 6-7 भेद मानने ही पड़ेंगे।

---

1. ओरिजिन एण्ड डेवेलॉपमेन्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 161
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 236

नामवर सिंह द्वारा किये गये दो भेदों को वे साहित्य में प्रयुक्त भाषा के आधार पर किया गया भेद मानते है।[1]

डॉ० उदयनारायण तिवारी मानते हैं कि अपभ्रंश साहित्य में भाषागत भेद बहुत कम है। 'अपभ्रश साहित्य मे एक ही परिनिष्ठित अपभ्रश मिलती है, परन्तु उसमे स्थानीय रूपों की कुछ न कुछ झलक तो मिल ही जाती है।'[2]

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने यह दर्शाते हुए कि वैयाकरणो ने तीन साहित्यिक अपभ्रंशो की ही चर्चा की है कहा है कि 'प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि।'[3]

विद्वानो की मान्यता है कि प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रश रूप रहा होगा। जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी प्राकृतों से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी अपभ्रश की कल्पना की जाती है। डॉ० बाहरी के अनुसार यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है।[4] भरत, चण्ड, हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को प्राकृतों में गिना है। अपभ्रश भी एक प्रदेश विशेष की बोली थी। बाद में वह साहित्य भाषा रूप मे विकसित हुई। इसीलिए वैयाकरणों ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी अपभ्रश की चर्चा कही नहीं की है। उन्होने नागर, उपनागर और व्राचड़ भेद ही बताये हैं।

डॉ० चटर्जी शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि बोलियों को कृत्रिम या नाटकीय रूप मानते है। इनमे भाषा का कल्पित रूप ही मिलता है। 'बगाल के कवियो तथा लगभग सारे उत्तरी भारत के प्रदेश के कवियो द्वारा इस भाषा (पश्चिमी अपभ्रश) में प्रस्तुत रचनाएँ उपलब्ध हुई है।'[5]

अपभ्रंश साहित्य का विकास

भरत के अनुसार हिमवत्, सिन्धु, सौवीर मे उकार बहुला भाषा का प्रयोग होता था—

हिमवत् सिन्धु सौवीरान् योऽन्यदेशान् समाश्रिता।
उकार बहुलातेषु नित्य भाषां प्रयोजयेत।

इस उकार बहुला भाषा को विद्वानो ने आभीरी या अपभ्रश कहा है। डॉ० पी० एल० वैद्य ने बताया है कि उकार की प्रवृत्ति प्राकृत धम्मपद, ललित विस्तर

1. भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 21
2. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 127
3. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 48
4. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 33
5. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० 192

और सद्धम, पुण्डरीक जैसे बौद्ध ग्रंथों में भी मिलती है। अतः उकार अकेले अप-भ्रंश की ही प्रवृत्ति नहीं है। ईसा की पहली शताब्दी पूर्व रचित धम्मपद के प्राकृत रूपान्तर का उदाहरण प्रस्तुत है—

उजओ नाम सो मगु अभय नमु स दिश।

यहाँ मगु और नमु मे उकार है जो पालि मग्गो और नाम के रूपान्तर है।

ललित विस्तर में भी जगह-जगह उकारान्त प्रवृत्ति मिल जाती है—

पुरि तुम नरवर सुतु नृपुजदभू, नरुतव अभिमुख इसगिरमवची।

तीसरी शती ई० मे विमल सूरिकृत 'पउमचरिअ' में भी उकार बहुलता मिलती है। छठी शताब्दी मे लिखित 'वसुदेव हिण्डी' में भी यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। भरत ने नाट्यशास्त्र मे कुछ उद्धरण दिये हैं, जिनमे अपभ्रंश की उकार प्रवृत्ति दीख पड़ती है—'मोरुल्लउ नचन्तउ। महगमे संभतउ।' अपभ्रंश का अन्य उदाहरण कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में मिलता है। सभव है, यह कोई लोकगीत रहा हो, जिसे कवि ने माधुर्य-लोभ से उद्धृत कर लिया हो—

मइं जाणिउँ मिअ-लोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ।

जाव ण णव तडिसामलो धाराहरु बरिसेइ।

'मैंने तो समझा था कि मृगलोचनी उर्वशी को कोई राक्षस हरण कर ले जा रहा है, पर मेरी यह धारणा भ्रांत थी। मुझे अपनी भ्रांति का पता तब तक न चला जब तक नवीन विद्युत् से सुशोभित श्यामल मेघ न बरसने लगा।'

कई विद्वान् इस अश को प्रक्षिप्त मानते है। डॉ० पी० एल० वैद्य इसे उस काल के लोक साहित्य का रूप मानते है, जिसका उपयोग नाटक मे कर लिया गया है।

उद्योतन सूरि (आठवीं शती) के कुवलयमाला में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची का उल्लेख मिलता है। अपभ्रंश के अश द्रष्टव्य हैं—

ताव इम गीयं गीयं गामनडीए,

जने जसु माणुसु वल्लहउ तंजइ अणु रमेइ।

जइसो जाणइ जीवइ वि तो तहु पाण लएइ। (कुवलय माला)

'ग्रामनटी ने यह गीत गाया। यदि कोई अन्य व्यक्ति किसी व्यक्ति के प्रिय मनुष्य के साथ रमण करता है और यदि वह इसे जान जाता है और वह व्यक्ति जीवित हो, तो वह उस अन्य व्यक्ति के प्राणों का अपहरण कर ले।'

इसी प्रकार जिनदास महत्तर कृत 'नन्दिसूत्र' की चूर्णि (676 ई०) और शीलांक कृत 'सूत्रकृतागवृत्ति' में भी अपभ्रंश साहित्य-रचना के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। प्रारंभिक अपभ्रंश के ये बिखरे उद्धरण ईसा की तीसरी शती से 10वीं शती तक के है। इनसे स्पष्ट होता है कि उक्त काल तक ध्वनियों और पदों के रूप

स्थिर नहीं हो सके थे। प्राकृत की परिपाटी और सरलीकरण की प्रवृत्ति इन उद्धरणों की खास विशेषता है। शूरसेन में रचित ये उद्धरण शौरसेनी प्राकृत के हैं।

आठवीं शती से 16वीं शती तक अपभ्रंश साहित्य रचा गया। इस साहित्य को हम सुविधा के लिए चार भागों में बाँट सकते हैं—1. जैन प्रबन्ध काव्य, 2. जैन आध्यात्मिक काव्य, 3. बौद्ध दोहा और चर्यापद तथा 4. प्रणय और शौर्य के मुक्तक।

1. **जैन प्रबन्ध काव्य**—जैन प्रबन्ध काव्य में जैन कवियों ने राम, कृष्ण, पाण्डव आदि को जैन मान्यताओं के अनुरूप प्रस्तुत किया है। एक प्रकार से ये ब्राह्मण पुराणों की नकल ही हैं। इस कोटि में स्वयंभू का पउमचरिउ (पद्मचरित) और हरिवंश पुराण, पुष्पदन्त का महापुराण, यशःकीर्ति का पाण्डव पुराण और रइधू का पद्मपुराण और हरिवंश पुराण प्रसिद्ध हैं।

स्वयंभू ने पद्मपुराण में रामकथा और हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमि चरिउ) में महाभारत और कृष्ण की कथा की व्यंजना जैन मान्यता के अनुसार की है। डॉ० भयाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास कहा है। जैन पंडितों ने स्वयंभू को जल-विहार-वर्णन में सिद्धहस्त माना है—

जलकीलाए स्वयंभू चउमुह पवंग गोग्ग हकहाए।

पुष्पदन्त ने भरत के कहने पर महापुराण की रचना की। डॉ० भयाणी ने पुष्पदन्त को भवभूति की कोटि में रखा है। स्वयंभू की अपेक्षा उनकी रचना अधिक अलंकृत और रसपूर्ण है। स्वयंभू हृदय के कवि हैं और पुष्पदन्त बुद्धि के।

यशःकीर्ति और रइधू की रचनाएँ भी अपभ्रंश में हुई हैं, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

चरितकाव्यों की रचना तीर्थंकरों तथा अन्य महापुरुषों की जीवन-कथा को लेकर हुई है। पुष्पदन्त ने णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित) और जसहर चरिउ (यशोधर चरित) नामक चरित काव्यों की रचना की है। मुनि कनकामर ने करकंड चरिउ, नयनंदिमुनि ने सुदंसणचरिउ, हरिभद्र सूरि ने णेमिणाहचरिउ (नेमिनाथचरित), विनयचन्द्र सूरि ने 'नेमिनाथचउपइ और धनपाल ने भविस्स-यत्त कहा की रचना से अपभ्रंश साहित्य का भण्डार समृद्ध किया है।

2. **जैन अध्यात्मवादी काव्य**—इस कोटि की रचनाओं में योगीन्द्र या जोइन्दु के परमात्मप्रकाश, योगसार तथा सावयधम्म दोहा और मुनि रामसिंह का पाहुड़ दोहा विशेष उल्लेखनीय हैं।

3. **बौद्ध दोहा एवं चर्यापद**—कण्ह तथा सरह के दोहों को 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से संकलित किया गया है। इन दोहों में बौद्ध संतों ने परमानन्द स्थिति का, उस मार्ग की साधना का योगपरक वर्णन प्रतीकात्मक भाषा में किया

है जिसे संध्या भाषा भी कहा गया है। दूसरी शैली मे समाज की कुरीतियों और नैतिक सामाजिक रूढियो की निन्दा तथा ब्राह्मण धर्म के पाखण्ड का भण्डाफोड़ किया गया है।

कन्ह, कान्ह या कृष्णपाद मत्स्येन्द्रनाथ और ततिपा के गुरु भाई थे। इनके अधिकाश दोहो का कथ्य बौद्धतंत्र तथा योग है। इनका एक दोहा द्रष्टव्य है—

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणि लइचित्त।

समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते सम चित्त।

यदि साधक समरसता को प्राप्त करना चाहता है तो अपने चित्त को गृहिणी (महामुद्रा) मे उसी तरह घुलामिला दे जैसे पानी मे नमक घुल जाता है।

सरह या सरहस्तपाद नालंदा विश्वविद्यालय मे कुछ काल तक रहे थे। वे बाण (शर) बनाने वाली एक नीच जाति की स्त्री के साथ रहते थे। सरह की उक्तियाँ कण्ह की अपेक्षा अधिक तीखी है। कुरीतियो, रूढियो और अंधविश्वासो पर उन्होने गहरा आघात किया है—

पडिअ सअल सत्थ बक्खाणइ, देहहि बुद्ध बसन्तण जाणइ।

गमणागमण णनेण बिखंडिअ, तोबि णिलज्ज भणइहउ पंडिअ।

जो सारे शास्त्रो को जानने का दावा करता है, पर अपने ही शरीर मे निवसित आत्मा (बुद्ध) को नही जानता। उसने 'पुनरपि जननं पुनरपि मरण' को भी नही रोका, फिर भी निर्लज्ज पडित होने की गर्व से घोषणा करता है।

दोहो के अतिरिक्त कण्ह और सरह के पद (चर्या) भी मिलते है। चर्यापदो मे भी योग-साधना और पाखण्डो की आलोचना की व्यजना की गयी है। डोम्बी के प्रतीक द्वारा उन्होने सुषुम्ना के मूलाधार मे स्थित कुडलिनी का वर्णन किया है—'नगर बाहिर रे डोम्बि, तोहिर कुडिआ। छोइ-छोइ जासि बाह्म नाडिआ।' इनके अतिरिक्त मुसुक्क, कुक्कुरि, लुइ, शबर, शाति, कम्बलाम्बरपाद आदि के चर्यापद उपलब्ध हुए हैं, जो कण्ह और सरह के अनुरूप ही हैं।

4. प्रणय और शौर्य के मुक्तक—विक्रमोर्वशीय मे पुरुखा की उन्मादोक्तियो मे प्रणय के जो रूप दिखाई पड़ते हैं, उसका विकास हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत दोहो मे दिखाई पड़ता है। इनमे प्रेमियो के उल्लास, वेदना आदि के दुर्लभ बिम्ब प्रस्तुत किये गये है। ऐसा अनुमान है कि ये दोहे शताब्दियो पूर्व रचे गये होगे। लोक कंठ और मानस मे सुरक्षित इन दोहो को उन्होने अपने व्याकरण मे उदाहृत किया है। एक दोहा देखिये—

भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणि महाराकतु।

लज्जेज्जं तुवअसिहु जइ भग्गा घर एन्तु।

अच्छा हुआ जो मेरा पति युद्ध मे मारा गया। वह युद्ध से त्रस्त होकर भाग आता तो मैं समवयस्काओ के बीच लज्जित होती।

अब्दुल रहमान (अछहमाण) का संदेश रासक भी इसी कोटि का काव्य है इसे मेघदूत की तरह का गीतिकाव्य कह सकते हैं। इसकी भाषा में अपभ्रंश की प्रवृत्तियों के साथ प्राकृत की परम्परा भी वर्तमान है।

अपभ्रंश की विशेषताएँ

अपभ्रंश भाषा विकास की पहचान है। प्राकृत की प्रवृत्तियों से अलग हटकर अपभ्रंश मे भाषिक विशेषताएँ मुखर हुई और उसकी अलग पहचान बनी। अपभ्रंश की भाषावैज्ञानिक विशषताएँ निम्नांकित हैं—

ध्वनि :

अपभ्रंश मे महाराष्ट्री प्राकृत की सभी ध्वनियाँ वर्तमान हैं।

स्वर :

1. अपभ्रंश मे अ, इ, उ, एँ, ओँ ह्रस्व स्वर ध्वनियाँ और आ, ई, ऊ, ए, ओ दीर्घ स्वर ध्वनियाँ मिलती हैं। पिशेल ने बताया है ए, ऐ, ओ, औ के बाद संयुक्त व्यंजन होने पर स्वर ह्रस्व हो जाते है—एँ, ओँ।

2. हेमचन्द्र के अनुसार ऋ स्वर सुरक्षित रहता है। जैसे तृणु, सुकृदु। किन्तु काव्यो मे ऋ का अस्तित्व नही मिलता। ऋ का कही-कही रि लेख मिलता है—ऋषभ > रिसह, ऋद्धि > रिधि। प्राकृत की तरह ऋ का अ, इ, उ रूप मिलता है— नृत्य > नच्च, तृण > तिणु, शृंगार > सिंगा, वृद्ध > वुड्ढ आदि।

3. अंत्य स्वर का ह्स्वीकरण अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता है। जैसे रजनी > रयणि, शोभा > सोह आदि। कभी अन्त्य स्वर का लोप भी मिलता है—वरयात्रा > बर-आत।

4. अपभ्रंश मे उकार की बहुलता मिलती है; जैसे एषः > एहु, इहु, वचनम् > वयणु, कस्य > कासु आदि।

5. आद्यक्षर पर सुराघात होने पर उसे सुरक्षित रखा गया, जैसे खादित > खात, ध्यान > झाण, कीटक > कीड। सुराघात रहित आद्यक्षर परिवर्तित भी हुआ है—आत्मन् > अप्पाण, त्रीणि > तिण्ण, अरण्य > रण्य, आभ्यंतर > भीतर।

6. अपभ्रंश की अन्य विशेषता 'य' श्रुति का प्रयोग है। हेमचन्द्र का कथन है—'श्रवणो यश्रुति।' हार्नली ने अ को 'य' के रूप मे परिवर्तित माना है। जैसे योजनम् > योयण। 'व' श्रुति के उदाहरण भी अपभ्रंश में मिलते हैं—रुदन्ति > रुवन्ति, सुभग > सुहव आदि।

व्यंजन :

अपभ्रंश सभी प्राकृत व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती है।

1. अपभ्रंश मे स्वर मध्य ग क, त, प का ग, द, ब और ख, थ, फ का घ, ध, भ हो जाता है। हेमचन्द्र कहते हैं—अनादौ स्वर संयुक्तानां क ख त थ पफा ग घ द ध—बभा'।' किन्तु इस नियम का अपभ्रंश मे सर्वत्र पालन नही किया जाता।

2. स्वर मध्यग म ध्वनि वँ मे बदल गयी है—कमल>कवँल, आमलक> आवँलक, पचमम्>पचवँ। कहीं-कहीं म सुरक्षित भी रहता है।

3. य ध्वनि ज मे परिवर्तित हो जाती है—यमुना>जउण, यौवन> जोव्वण।

4. अल्प प्राण स्पर्श व्यंजन लुप्त हो गये—योगिन> जोइ, केतकी>केवइ, पाद>पाअ। कही महाप्राण स्वर मध्यग ह के रूप मे शेष रह गयी—कथा> कहा, मुक्ताफल> मुक्ताहल, दशन्> दह।

5. क्षतिपूर्ति के लिए सानुनासिकता की प्रवृत्ति—वक्र> वँक, पक्षिन्> पखि, अहकम्>हउँ, स्वय>मइँ।

6. सुराघात समाप्त हो गया। इसके स्थान पर बलाघात विकसित होकर प्रचलित हुआ।

7. व्यंजनो मे ळ, ळ्ह, ण्ह, न्ह, म्ह, र्ह और ल्ह उल्लेख्य है।

8. पूर्वी अप्रभ्रंश मे ष की जगह श और पश्चिमी अपभ्रंश में स हो गया।

9. सयुक्त व्यजन का समीकरण होकर द्वित्व हो गया। पुनः व्यजन द्वित्व के स्थान पर क्षतिपूरक दीर्घीकरण हुआ—कर्म>कम्म> कामु, तस्य> तस्स>तासु।

10. अपभ्रश मे कही-कही व का ब, ट का ड, ड का र और र का ल, क्ष का क्ख रूप-परिवर्तन मिलता है।

11. ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से लोप, आगम, विपर्यय, महाप्राणीकरण आदि की प्रवृत्तियो का विकास अपभ्रश काल मे हुआ।

रूप :

रूप-रचना अपभ्रंश की निजी विशेषता है। प्राकृत मे रूप-रचना की दिशा मे एकरूपीकरण और सरलीकरण की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी, उसे अपभ्रश ने न केवल विकसित किया, बल्कि अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था भी स्थापित की।

1. सस्कृत मे अजन्त और हलन्त दो प्रकार के शब्द होते हैं। अपभ्रश मे संस्कृत का हलन्त या तो लुप्त हो गया या 'अ' जोडकर अकारान्त बना दिया गया। जैसे—मनस्>मण, जगत्>जग, आयुष्>आउस, आत्मन्>अप्पण।

2. संस्कृत और पालि संश्लिष्ट भाषाएँ थीं। प्राकृत में विश्लिष्टता की प्रवृत्ति का उद्भव हुआ। अपभ्रंश में विश्लिष्टता (वियोगात्मकता) की प्रवृत्ति प्रमुख और महत्त्वपूर्ण हो गई। कारकीय विभक्तियो के लिए परसर्गों का विकास वियोगात्मकता की उल्लेखनीय पहचान है। सहुँ, तण, केहि, रेसि, करेअ, करे कर, मज्झ, महँ, महि आदि परसर्गों का प्रयोग कारकीय विभक्तियों के लिए किया जाने लगा।

3. धातुओ मे भी विश्लिष्टता की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

4. अपभ्रंश में कारकीय रूप कम हो गये। संस्कृत में 24 तथा प्राकृत मे 12 शब्द-रूप थे। अपभ्रंश में उनकी सख्या 6 रह गई। ऐसा द्विवचन के लोप और कुछ कारकों के रूप एक हो जाने के कारण हुआ। वास्तव मे अब तीन ही कारकीय रूप रह गये—अ—कर्ता, कर्म, सम्बोधन, आ—करण, अधिकरण, इ—सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध। इन तीन कारको के एकवचन और बहुवचन मे कुल 6 रूप होते हैं।

अपभ्रंश में कभी-कभी कर्म और सम्प्रदान के रूप भी एक जैसे मिलते हैं।

5. सर्वनाम रूपो में अस्मत् शब्द का कर्ता एकवचन रूप हउँ, मइ-मई मिलते है। इसके सप्तमी-तृतीया रूप मए-मइ, पचमी-षष्ठी रूप महु-मज्झु पाये जाते हैं। युष्मत् के तुहु-तुहुँ, पइ-पइं, तइँ, तुह-तुज्झ रूप मिलते है। डॉ० बाहरी के अनुसार सर्वनाम के हौ, अम्हे, मोर, अम्हार, तू, तुम्हें, तोर, तुम्हार, ओइ, एइ, जो, सो, को, कोउ, अपाण रूप भी इस काल मे विकसित हो गये थे।

6. परसर्गों का उदय अपभ्रंश की प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है। वैसे *तो अपभ्रंश मे परसर्गों के प्रयोग कम हैं, किन्तु परवर्ती काल मे—हिन्दी में—* परसर्गों का बहुलता से प्रयोग होने लगा। दर-अस्ल, विभक्ति प्रत्ययो के घिस जाने और अत्यल्प सख्या मे अवशिष्ट रहने के कारण अर्थबोध मे कठिनाई आने लगी। अतः अर्थबोध के लिए अपभ्रश मे परसर्गो या अनुसर्गों का विधान किया गया। परसर्ग को Post position कहते हैं, क्योंकि वे शब्द के बाद लगते हैं, जसे राम के लिए। अंग्रेजी में कारकीय विभक्ति पहले लगती है, अतः उसे Preposition कहते है।

रूप की दृष्टि से परसर्ग स्वतन्त्र शब्द थे। इनका प्रयोग कारकीय सम्बन्ध प्रकट करने के लिए पदों के साथ किया जाने लगा। विभक्ति प्रत्यय और परसर्ग भिन्न हैं। दोनो को एक समझ लेना भूल होगी। शब्द रूपों मे परिवर्तन होने पर भी इनमे परिवर्तन नही होता।

अपभ्रश मे पंचमी, षष्ठी और सप्तमी के परसर्गो का प्रयोग प्रचुर रूप में हुआ है। पंचमी तथा तृतीया के परसर्गों का प्रयोग कम दिखाई पड़ता है। संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम में परसर्गो का अधिक प्रयोग देखा जाता है। सर्वनामो

का प्रयोग अधिक होने से विभक्तियाँ घिसकर क्षीण हो गईं। तब अर्थबोधक के लिए परसर्गों का प्रयोग किया जाने लगा। परसर्गों का प्रयोग हेमचन्द्र के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। पिशेल के अनुसार अपभ्रंश के परसर्ग हैं—होन्त-होन्तउ-होन्ति, ठिउ, केरअ-केर और तण। किन्तु करण मे तण के साथ सहु, सम्प्रदान मे केहि, रेसि, अपादान मे थिउ आदि परसर्गों का प्रचलन भी अपभ्रंश मे देखा जाता है।

होन्त-होन्तउ-होन्ति का विकास संस्कृत 'भू' (हू) के वर्तमानकालिक कृदन्त रूप से माना गया है। ठिउ-थिउ का विकास 'स्था' धातु से हुआ है। केर-केरअ-कर परसर्ग सम्बन्ध-सूचक है। डॉ० तगारे के अनुसार 1000 ई० तक पूर्वी अपभ्रंश में इसका प्रयोग दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु पश्चिमी अपभ्रंश मे इसका चलन पुराना है। जसहर चरिउ और महापुराण मे इसके प्रयोग देखे जा सकते हैं—'रामहो केरी' और 'रावण रामहु केरउ।' तृतीया में तण का प्रयोग मिलता है। तण से ही 'ड' स्वार्थिक प्रत्यय का विकास माना गया है।

7. अपभ्रंश में लकारों की संख्या चार रह गई—लट्, लोट्, लिङ्, लृट्। अन्य लकारो के रूप कृदन्तज होने लगे।

8. अपभ्रंश मे नपुंसक लिंग समाप्त हो गया। स्त्रीलिंग प्रातिपदिक कम रह गये। हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश में लिंग अतंत्र (अनियमित) था—'लिंगमतन्त्रम्।'

धातु रूप :

अपभ्रंश मे धातुओं के एकीकरण और सरलीकरण की प्रवृत्ति बहुत आगे बढ़ गई।

1. आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद समाप्त हो गया और परस्मैपद ही प्रचलित हुआ।

2. गणभेद की जटिलता समाप्त हो गई और धातु प्रायः भ्वादिगण का अनुसरण करने लगे।

3. व्यंजनान्त धातुएँ अपभ्रंश मे स्वरान्त हो गईं। 'अ' विकरण जोड़कर उनका रूप स्वरान्त बनाया गया; यथा चल्+अ=चल।

4 अपभ्रंश मे अनेक धातुओं को उनके उपसर्ग और प्रत्यय के साथ ही ग्रहण किया गया। यथा—उपविष्ट>विट्ठह्>वइसइ।

5. अनुरणात्मक धातुओं का प्रचलन प्रारंभ हुआ, यथा धुड़क्कइ, खुसखुसइ।

6. अपभ्रंश में काल-रचना के लिए तिङन्त रूपों की जगह कृदन्त रूपो का प्रयोग होने लगा। तिङन्त रूप केवल वर्तमान और भविष्यत् मे चलते रहे।

7. अपभ्रंश में संयुक्त क्रिया का निर्माण बहुत तेजी से होने लगा—भग्गा-

एन्तु, भज्जिउजंति।

8. सहायक क्रियाओं का प्रयोग कृदन्त क्रिया के साथ होने लगा। वर्तमान कृदन्त अंत, माण, अंती के योग मे पवसंत, जोअंती, वड्ढमाण क्रियारूप बनाये गये। भूतकालिक कृदन्तों में इअ, इउ, इय, इयो, इओ आदि प्रमुख है—किय, मणिय, हुअ, गय आदि। भविष्यत् या विधि कृदन्त इएव्वउं, एव्वउं, एवा, एव्व जोड़कर मरेव्वउं, सोएवा आदि क्रिया रूप बनाये गये। पूर्वकालिक कृदन्त इ, इउ, इवि, अवि जोड़कर पूर्वकालिक क्रिया के रूप प्रचलित थे—करि, करिउ, करिवि आदि। धातु का प्रेरणार्थक रूप 'अव' विवरण के योग से बनाया गया—दावइ, चितवइ।

8. क्रियार्थक संज्ञा के निर्माण के लिए 'अण' का प्रयोग होने लगा।

शब्द :

1. अपभ्रंश मे तद्भव शब्दो की बहुलता है। किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में पुनर्जागरण की भावना के कारण तत्सम शब्दों के पर्याप्त मात्रा मे प्रयोग किये गये।

2. अपभ्रंश-शब्दकोश मे देशी शब्दों की सख्या भी पर्याप्त है, यथा निच्चट्ट, दड़बड़, छुड्डु आदि। देशज क्रियाएँ भी प्रचलन में आ गईं—छोल्लइ, घुडुक्कइ, खुडुक्कइ आदि।

3. पदान्त अनुनासिक के लोप की प्रवृत्ति बढ़ गई। विभक्तियाँ भी निरनुनासिक रूपो का प्रयोग अधिक बढ गई।

4. इ का अ में परिवर्तन हो गया—विरहिणी>विरहणी, धरित्री> धरत्ति।

5. स्वर संकोच की प्रवृत्ति का विकास हुआ। अ आ का आ में इ य का ई में संकोच हो गया; यथा स्वर्णकार> सुन्नार, तुट्टिय>तुट्टी।

6. द्वित्व या संयुक्त व्यंजन मे एक व्यंजन सुरक्षित रखकर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति विकसित हुई—उच्छ्वास>ऊसास, दृश्यते>दीसइ।

7. अन्त्य स्वरो के सकोच के कारण पदान्त मे दीर्घ स्वर मिलने लगे, जैसे दोधक>दोहा, गाथा>गाहा, त्व>तूँ।

8 विभक्ति प्रत्ययो के घिस जाने मे परसर्गो का प्रयोग बहुलता मे होने लगा।

9. पूर्वकालिक क्रिया का रूप विकास यह सिद्ध करता है कि अपभ्रंश आधुनिक आर्यभाषाओं के निकट बढ़ रही थी—दहेविकरि (जलाकर)।

10. प्रातिपदिकों के प्रयोग से यह प्रकट होने लगा कि अपभ्रंश आधुनिक आर्यभाषा के रूप को विकसित कर रही है—णेवर चरण विलग्गिवि (नूपुरः चरणे विलग्य)।

11. लिंग-व्यत्यय के उदाहरण भी अपभ्रंश मे मिलते हैं।

अवहट्ट

अवहट्ट एक भाषा विशेष का नाम है। इस नाम का संस्कृत अनुवाद अपभ्रष्ट है। यह भाषा अपभ्रंश से भिन्न थी या यह अपभ्रश का ही दूसरा नाम है, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोग इसे वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओ का पूर्व रूप तथा अन्य इसे अपभ्रश ही मानते है।[1]

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार अपभ्रश और आधुनिक भाषाओ के बीच की कड़ी अवहट्ट है। नव्य भारतीय आर्यभाषा मिश्रित अपभ्रंश का पूर्वी रूप अवहट्ट (अपभ्रष्ट) कहलाता था।

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि 'अपभ्रंश और अवहट्ट मेरे विचार से एक ही भाषा के दो नाम हैं।'[2]

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के मत से 'शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है।'[3]

डॉ० हरदेव बाहरी कहते है कि 'अपभ्रश के उत्तर काल मे और आधुनिक आर्यभाषाओ के उदय काल से पहले की, अर्थात् उस संधिकाल या सक्रान्ति काल की भाषा अवहट्ट थी।'[4]

डॉ० उदयनारायण तिवारी अवहट्ट के क्षेत्र-विशेष को रेखांकित करने मे असमर्थता जाहिर करते हुए कहते है कि 'उस समय लोकभाषा 'अवहट्ट' नाम से पुकारी जाती थी, चाहे वह मध्यदेश की हो या कोसल की या मिथिला की।'[5]

डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन ने 'अपभ्रश काव्य परम्परा और विद्यापति' (पृ० 95) मे कहा है कि 'इन सब प्रयोगो के आधार पर हमारा यही निष्कर्ष है कि अवहट्ट अपभ्रश का ही रूप है।'

अवहट्ट शब्द का जहाँ भी प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ अपभ्रंश ही है। सबसे पहले 12वी शती मे अद्दहमाण ने अपने सन्देश रासक में भाषात्रयी और उसके रचनाकारो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्ठय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए
लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहि।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 70
2. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 22
3. विद्यापति—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 221
4. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 35
5. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 160

अद्दहमाण अवहट्ट कवियों की परम्परा में ही आते हैं। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत के साथ अवहट्ट का भी उल्लेख किया है।

अवहट्ट का प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्ण रत्नाकर' मे किया है, जिसकी रचना 1325 ई० में की गई है। भाट द्वारा छः भाषाओं के नाम गिनाये गए हैं जिनमें अवहट्ट भी है—'पुनु कइसन भाट, सस्कृत पराकृत, अवहट पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषा व तत्वज्ञ ''।' सम्कृत के आचार्यों—रुद्रट आदि ने भी उन्ही छः भाषाओं का उल्लेख किया है, जिनका संकेत वर्ण रत्नाकर मे है।

विद्यापति ने कीर्तिलता (1406 ई०) की भाषा को अवहट्ट कहा है—

देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठ।

देशी भाषा सब लोगों को मीठी लगती है। इससे अवहट्ट मे रचना करता हूँ। 'अपभ्रंश और अवहट्ट दोनो का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ट का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है।'[1]

प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ट को प्राकृत पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा प्राकृत मानी गई है, किन्तु वंशीधर प्राकृत न कहकर अवहट्ठ कहता है—

प्रथमा भाषा तरंडः प्रथम आद्य भाषा अवहट्ठ भाषा।

13वी शती मे लिखित प्राकृत पैंगलम् की भाषा को 17वीं शती के टीकाकार ने अवहट्ठ क्यों कहा, यह विचारणीय होगा। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से वंशीधर का अवहट्ठ अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

अपभ्रंश मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास का अन्तिम सोपान है। एक समय अपभ्रंश समस्त उत्तरापथ की भाषा रही है। अपभ्रंश मे निहित तिरस्कार और अवमानना को लक्ष्य कर इस भाषा के प्रेमी लेखकों ने इसे देशी भाषा या लोकभाषा नाम से अभिहित किया। स्वयंभू और पुष्पदन्त भी इसे 'देसी' कहना पसन्द करते थे, क्योंकि अपभ्रंश का उन्होंने कम-से-कम प्रयोग किया है। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुआ और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद मे अवहट्ट कहा जाने लगा। 'पूर्ववर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों—अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिल वचना' के स्तर पर उतारकर लोक प्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया। इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नही, अवहट्ठ यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा।'[2]

---

1. विद्यापति—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 222
2. कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, विद्यापति—शिवप्रसाद सिंह, पृ० 224

विद्यापति के समय मे निर्विवाद रूप से अपभ्रश साहित्य भाषा के रूप मे प्रचलित थी और जनभाषा अपने विकास के अग्रिम सोपान पर स्थापित हो चुकी थी। देशभाषा मिश्रित परवर्ती अपभ्रश को ही अद्दहमाण और विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है। विद्यापति का अवहट्ठ वास्तव मे अपभ्रंश का ही परवर्ती रूप है जो प्राच्य प्रभाव से संयुक्त है। जैन लेखकों की रूढ़ शौरसेनी अपभ्रश के साहित्यिक रूप मे प्राच्य जनभाषा का मिश्रण ही अवहट्ठ भाषा है। यह शौरसेनी का परवर्ती रूप है। अवहट्ट का मूल ढाँचा परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश का है, किन्तु उसमें क्षेत्रीय विशेषताएँ—क्षेत्रीय जनभाषा की विशेषताएँ भी समाविष्ट हैं।

कीर्तिलता के आधार पर अवहट्ठ की विशेषताएँ निम्नलिखित है—

1. अवहट्ठ मे अपभ्रश के सभी स्वर और व्यजन सुरक्षित है। ञ पश्चिमी अपभ्रश मे नहीं है, किन्तु अवहट्ठ में सुरक्षित है।

2. व्यंजन द्वित्व की उच्चारण-दुरूहता को दूर करने के लिए क्षतिपूरक दीर्घीकरण अर्थात् पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घ हो गया—कर्म>कम्म>काम, मित्र> मित्त>मीत, दृश्यते>दिस्सइ>दीसई, भक्त>भत्त>भात, पक्व>पक्क> पाक।

3. प्राकृत मे अनुनासिकता का प्रयोग अधिक होता था। अवहट्ट में अनुस्वार को हल्का कर दिया गया, जैसे रिपुम>रिउँ, इत्थं>हउ, अश्रु>आंसु।

4. अकारण ही अनुनासिकता की प्रवृत्ति, कच्चु>काँच।

5. एक साथ ही चार-चार स्वरो का प्रयोग; पर उपकार> पर उअआर।

6. स्वर गुच्छों में संकोच हो गया; उपाध्याय>ओझा>झा, स्वर्णकार> सुन्नआर>सुनार, गोपुर>गोउर>गोबर, धरित्री>धरती, नुपुर>णेउर।

7. परसर्गों का प्रयोग—तृतीया—सन्, सथ्थ, समान, सहित, सउं, बिना, सरिस, चतुर्थी—लग्गि, लागे, प्रति, कारण, पंचमी—हुते, हुन्ते, सिउं, षष्ठी—कर, को, करेउ, की, करेओ, सप्तमी—मांझ, ऊप्पर, माँहि आदि।

8. सर्वनाम रूप—हयो, मारे, मरेहु, मो, मेरा, मई, तोरा, तोहार, जेन्हे, ई, एहि, कमन, कवणे, कोण, केण, अपने, अपनेहु, अप्पा, सओ (स्वयं) आदि सर्वनाम रूप प्रयोग में थे।

9. क्रियापदों में विकास दिखाई पड़ता है। भूतकाल के कृदन्त प्रयोग की प्रचुरता है। 'इज' रूप शौरसेनी अपभ्रश का प्रभाव प्रकट करता है। 'इअ' का कर्मणि प्रयोग कीर्तिलता मे है। 'ल' प्रत्यय कीर्तिलता की विशेषता है, जो आगे चलकर मैथिली की विशेषता बन गई—मेल, गेल, लेल। सहायक क्रियाओं के प्रयोग बढ़ गए थे।

10. निर्विभक्तिक प्रयोग अवहट्ट में मिलते हैं—भुवन जागर तुम्ह परताप।

11. अवहट्ठ में तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी शब्दों के प्रयोग हुए हैं।

परवर्ती अपभ्रंश और देशी बोलियाँ

लगभग 1000 ई० के आसपास आर्यभाषा के इतिहास में एक नया अध्याय—आधुनिक आर्यभाषा काल प्रारम्भ होता है। भाषा गतिशील होती है। गति ही परिवर्तन है। अतः निरन्तर विकासमान रूप ही भाषा का जीवन है। इसलिए परिनिष्ठित अपभ्रंश में देशी बोलियों का मिश्रण हेमचन्द्र के लगभग सौ वर्ष पहले ही प्रारम्भ हो गया था। तभी प्रचलित देशी शब्दों को उन्होंने 'देशी नाम माला' में निबद्ध किया। उनके शब्दानुशासन में उद्धृत दोहों की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है, बोलचाल की अपभ्रंश नहीं। उन्होंने व्याकरण की रचना भी पण्डितों के लिए की थी, जनसामान्य के लिए नहीं। इस परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न एक ग्राम्य अपभ्रंश का अस्तित्व स्वीकार किया है। ग्राम्य अपभ्रंश साहित्यिक अपभ्रंश का वह रूप है जिसमें क्षेत्रीय बोलियों का मिश्रण हो गया था। इससे सिद्ध होता है कि हेमचन्द्र के समय तक अपभ्रंश का प्रचलित साहित्य रूप स्थिर हो चुका था। उसका व्याकरण लिखकर उन्होंने उसे और अधिक परिनिष्ठित रूप दे दिया। इस परिनिष्ठित, साहित्यिक या शिष्ट अपभ्रंश से अलग एक अपभ्रंश की और धारा प्रवाहित थी, जिसमें लोक प्रचलित भाषा के शब्दों का मिश्रण अधिक था। यह अपभ्रंश लोक-व्यवहार की भाषा थी। उसमें व्याकरण के नियमों की जकड़बन्दी उतनी नहीं थी।

परवर्ती अपभ्रंश : हेमचन्द्र के बाद अपभ्रंश भाषा का जो प्रवाह चल निकला, वह उनके व्याकरण की भाषा से भिन्न है, परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग है। देश्य भाषा की ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताओं से मण्डित इस भाषा ने विकास का अग्रिम सोपान प्रस्तुत किया। इसे ही डॉ० नामवर सिंह सच्चे अर्थों में परवर्ती अपभ्रंश कहते हैं।[1] आर्यभाषा के इतिहास अथवा विकास को विश्लेषित करने के लिए इसका मनन-मूल्यांकन महत्त्व का है। डॉ० भोलाशंकर व्यास इस परवर्ती अपभ्रंश को अवहट्ट कहते हैं—'हेमचन्द्रोत्तर काल की अपभ्रंश, जिसे परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग करने के लिए 'अवहट्ट' नाम देना अधिक ठीक होगा, मोटे तौर पर 11वीं शती से विकसित मानी जा सकती है।'[2] वास्तव में प्रारम्भिक हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को डॉ० व्यास ने अवहट्ट नाम दिया है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इसे सक्रान्ति काल कहा है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'अपभ्रंश का नभाआ से मिश्रित या प्रभावित एक पश्च रूप 1400 ई० के लगभग

---

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 68
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 271

पूर्वी भारत में प्रचलित था, यह अवहट्ट (अपभ्रष्ट) कहलाता था।'[1]

परवर्ती अपभ्रंश के भेद

कहा गया है कि अपभ्रश भाषा संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्य-भाषा थी। इतने बड़े क्षेत्र मे प्रचलित भाषा का विभिन्न क्षेत्रों मे एक रूप रहना सभव नही था। स्थानीय विशेषताओं के उभार के कारण उनमे भाषिक विभिन्नता आने लगी थी। डॉ० नामवर सिह की मान्यता है कि पूर्वी और पश्चिमी का भेद तो हेमचन्द्र के पूर्व भी था, किन्तु परवर्ती अपभ्रश में वह अधिक गहरा हो गया। 'यह देश-भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशो ने अपनी बोलियो का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया।'[2] भाषिक विकास को रेखाकित करने मे इस विशेषता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार डॉ० नामवर सिह के अनुसार अपभ्रंश के दो भेद है—पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रश। परवर्ती काल मे पश्चिमी अपभ्रश मे भी स्थानीय विशिष्टता आ गयी। प्राकृत पैगलम की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है, जबकि सदेशरासक की भाषा मे ब्रजभाषा के बीज अपेक्षाकृत कम है। पूर्वी अपभ्रश मे देशी बोलियो का मिश्रण पश्चिम की अपेक्षा अधिक है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी अपभ्रश साहित्यिक अपभ्रश के प्रभाव से मुक्त नही हो सकी थी, जबकि पूर्वी अपभ्रश जन-भाषा से प्रभावित थी। इसलिए पूर्वी अपभ्रश मे देशी बोलियो का उभार बहुत तेजी से हुआ।

डॉ० नामवर सिह के अनुसार 'परवर्ती काल की पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रशो के बीच एक मध्यदेशी अपभ्रश का भी अस्तित्व प्रमाणित होता है।'[3] 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' मे पायी जाने वाली देशभाषा यही मध्यदेशीय अपभ्रश है। चर्यापदो, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता आदि की भाषा से उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा अलग है। कीर्तिलता आदि मे मागधी के तत्त्व है, जबकि उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे अवधी के बीज है। डॉ० चटर्जी ने उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को प्राचीन कोसली कहा है। इससे भी प्रमाणित है कि वह अवधी के अधिक निकट है। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की भाषा परवर्ती पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रश के बीच की मध्यदेशीय या मध्यवर्ती अपभ्रंश के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। देशीय बोली को साहित्य रूप मे उजागर करने वाला यह प्राचीनतम और सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है।

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 117
2. हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग—डॉ० नामवर सिह, पृ० 68
3. वही, पृ० 79

संदेशरासक और प्राकृत पैंगलम की भाषा के आधार पर परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश की भाषिक विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं। वर्ण रत्नाकर और कीर्तिलता मे परवर्ती पूर्वी अपभ्रश की प्रवृत्तियाँ रेखांकित की जा सकती है। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में इन दोनो अपभ्रंशो के मध्य की भाषिक विशेषताएँ उजागर हैं। इनके द्वारा पश्चिमी, पूर्वी और मध्यवर्ती अपभ्रश के भेदों को भाषा के स्तर पर समझा जा सकता है। इसके साथ ही इन रचनाओं के अनुशीलन मे परवर्ती अपभ्रश मे देशी बोलियो के मिश्रण और उनकी ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं।

देशी बोलियों का उदय

इस तरह साहित्यिक अपभ्रश(शौरसेनी अपभ्रश) मे देशी बोलियो का मिश्रण धीरे-धीरे इतना बढ़ गया कि देश-भेद से अनेक क्षेत्रीय बोलियों का उदय हुआ। साहित्य-भाषा की रूढ़िवादी परम्परा को देशी भाषाओ के नवीन भाषिक रूपो और प्रयोगो ने ढँक दिया। पश्चिमी अपभ्रश में गुजराती और महाराष्ट्री तथा पूर्वी अपभ्रश में बगला आदि भाषाओ का स्वतत्र अस्तित्व परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ट पर हावी हो गया। परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ट मे देशी बोलियो के मिश्रण से आधुनिक आर्यभाषाओ का आरभिक रूप मुखर हो गया था। धीरे-धीरे देशी बोलियो का प्रभाव बढ़ता गया और परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ट की पीठिका पर क्षेत्रीय भाषाओं का अस्तित्व उजागर हो गया। इन भाषाओ में साहित्य-रचना होने लगी। इस प्रकार पंडितों और जन-मानस दोनो ने लोकभाषाओ या देशी बोलियो के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार कर लिया। मध्यदेश की राजस्थानी, व्रजभाषा, अवधी आदि बोलियो की निजी विशेषताएँ भी साहित्य मे मुखर होने लगी।

आधुनिक भाषाओ का उदय एकाएक नही हो गया। देशी भाषाओ या आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का बीज अपभ्रंश के गर्भ मे पड़ चुका था। परवर्ती अपभ्रश मे क्षेत्रीय भाषाओ का स्वरूप और प्रखरता से विकसित हुआ। देशी भाषाओ या आधुनिक आर्यभाषा के उदय के बाद से साहित्यिक अपभ्रश के रूप धीरे-धीरे अप्रचलित होते गये और आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप प्रयोग मे आने लगे। 'क्रमश. प्राचीन रूपो के ह्रास और नवीन रूपो के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओ का उदय हुआ। आधुनिक भाषाओ के ये नये रूप निश्चय ही उनकी प्रादेशिक बोलियों से आते रहे हैं।'[1]

डॉ० उदयनारायण तिवारी कहते हैं कि 13वी शती के प्रारभ से 15वी शती

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 100

के पूर्व तक का काल सक्रान्ति काल था, जिसमें आधुनिक आर्यभाषा धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओ से युक्त होती जा रही थी।[1] इस तरह परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ट या सक्राति काल की भाषा मे शौरसेनी अपभ्रश की रूढिवादी परम्परा के साथ ही देशी भाषा की नवीन प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ भी प्रकट हो चुकी थी और इस नवीन प्रवृत्ति का निरतर विकास हो रहा था। इस प्रकार अपभ्रश की भाषिक परम्पराओं का ह्रास और आधुनिक आर्यभाषाओ का उदय हो रहा था। आधुनिक आर्यभाषाओ का उदय देशी भाषाओ के रूप मे हुआ। अपभ्रंश की स्थिति को छोडकर देश-भेद मे गुजराती, मराठी, बंगला, राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि देशी भाषाएँ अपनी निजी विशेषताओं के साथ प्रकट होने लगी।

देशी भाषाओं के उदय के कारण

देशी भाषाओं या आधुनिक आर्यभाषाओं के उदय के संदर्भ में डॉ० नामवर सिह की मान्यता है कि गुजराती, मराठी और बगला जनपदीय बोलियो का विकास साहित्यिक भाषा के रूप मे शीघ्र हुआ। विकास के कारणो पर विचार करते हुए उन्होने कहा है कि भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल स्वतत्र इकाई हो गये थे। इसलिए यहाँ की भाषाओ को राजाश्रय तथा अन्य कारणो से तीव्रगति से विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। 'अपभ्रश काल से ही ये प्रदेश आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक दृष्टि से स्वतंत्र इकाई के रूप मे संगठित होने लगे थे। गुजरात के सोलकी, देवगिरि के यादव और बगाल के पाल राजाओं ने अपने-अपने भूखण्डो मे स्वतंत्र शासनसत्ता स्थापित करने के साथ ही, अनेक लोकप्रिय सास्कृतिक कार्यो द्वारा जातीय इकाइयो को सगठित होने का अवसर प्रदान किया।'[2] इन क्षेत्रो मे भौगोलिक सीमाओं और राजसत्ता में परिवर्तन भी नगण्य ही हुए। राजाओं ने लोकभाषाओ को प्रश्रय दिया। इस प्रकार जातीय संगठन ने भाषा का उत्थान किया और भाषा ने जातीय सगठन को बल दिया। फिर भी वाणिज्य-व्यापार की निजी विशेषता जुड जाने से गुजराती और सिन्धी का विकास हुआ। बंगला और मराठी का उत्थान राजकीय और सांस्कृतिक कारणो से हुआ। तुर्को के आक्रमण से वाणिज्य-व्यापार मे आने वाले ठहराव को सिन्ध और गुजरात ने दूर किया और स्वतत्र संगठन के माध्यम से लोकभाषा को विकसित किया। केन्द्र से स्वतत्र रहने तथा भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से मराठी भाषा का विकास हुआ। बगाल की बगला भाषा भी क्षेत्रीय राज-

1. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० 144
2. हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 100

नैतिक स्वतन्त्रता तथा धार्मिक जागरण के कारण तीव्रगति से विकसित हुई।

मध्यदेश में लोकभाषाओं का उदय दूसरे ढंग से हुआ। इस क्षेत्र में सभी बोलियों का विकास एक साथ नहीं हुआ। इसलिए यहाँ अनेक क्षेत्रीय बोलियाँ उभर आईं। सबसे पहले मैथिली का विकास हुआ। इसके बाद अवधी का उदय हुआ। ब्रजभाषा और खड़ीबोली का उदय साथ-साथ ही हुआ। ब्रजभाषा का विकास तीव्रगति से हुआ, जबकि खड़ीबोली का मन्दगति से। ब्रजभाषा का विकास इसलिए जल्दी हुआ क्योंकि उसे वैष्णव भक्ति के प्रसार-प्रचार का माध्यम बनाया गया। कृष्णभक्त तथा अन्य कवियों ने इस भाषा में भक्ति काव्य की रचना कर इसे गौरव दिया। इस क्रम में ब्रजभाषा ने संस्कृत भाषा की विशाल सम्पदा का मुक्त रूप से उपयोग किया। खड़ीबोली के विकास में बाधा उत्पन्न हो गयी। वह विदेशी भाषा-भाषियों के हाथ पड़ी और अपनी जन्मभूमि से निर्वासित होकर दक्षिण में चली गयी। उसे विजातीय धर्म-प्रचार का माध्यम भी बनना पड़ा। इन कारणों से उसका विकास अवरुद्ध हो गया और वह ब्रजभाषा के उतार के बाद ही विकास कर सकी। इसी प्रकार अन्य देशी भाषाओं अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, राजस्थानी आदि की भी उत्पत्ति हुई; जिसे आगे विस्तार से बताया जायेगा।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी लोकभाषाओं के उदय का कारण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उपादानों के संरक्षण का प्रयत्न बताते हैं। उनके अनुसार तुर्कों की विजय के साथ देश में एक नूतन परिस्थिति उत्पन्न हुई। वे इस्लाम को ही सच्चा धर्म मानते थे। बुतपरस्त काफिरों को इस्लाम की छत्रछाया में बलपूर्वक ले आना और विरोध करने वालों को लूटना और मौत के घाट उतार देना उनका मुख्य कर्त्तव्य था। बलपूर्वक अपने ही सदृश हिन्दुओं को भी बना देने की प्रवृत्ति से भारतीय संस्कृति को अपूर्व खतरे का सामना करना पड़ा। 'अधिकांश भारतीय विचारधारा के नियामक तो विदेशी म्लेच्छों के इस नूतन प्रकार के बर्बर आक्रमण की आकस्मिकता तथा हिंसात्मकता के समक्ष किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये, और जो सँभले रह सके, उन्होंने इस आक्रमण से अपनी सभ्यता के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उपादानों के संरक्षण करने के प्रयत्न आरंभ कर दिये। जनता में अपने उच्च आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विचारों के प्रसार के लिए उन्होंने लोकभाषा को अपना माध्यम बनाया।'[1] अपने जीवन, धर्म और साहित्य की सुरक्षा के लिए अटनशील धर्मप्रचारक सक्रिय हुए। राम, कृष्ण, शिव के विभिन्न रूपों में उन्होंने हिन्दू धर्म के प्राचीन एकेश्वरवाद की स्थापना की। आधुनिक

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 118-119

भारतीय आर्यभाषाओ मे इस सदर्भ मे भक्ति के गीत एव पदावलियाँ रची गईं और रामायण, महाभारत तथा पुराणो के विविध प्रसगो की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की गयी। 'इसलिए भारतीय साहित्य का प्रवाह हिन्दू पौराणिक कथाओ के वर्णन तथा हिन्दू धार्मिक विषयो के काव्यमय आलेखन की ओर प्रवर्द्धित शक्ति के साथ बह चला।'[1] 12वी शती के लगभग अपभ्रंश और लोकभाषा में हिन्दू देवों और अवतारो के संदर्भ मे काव्यमय रचनाएँ बहुलता से हुईं। इस प्रकार बंगला, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं ने लोकभाषा और साहित्य के माध्यम से मुसलमानी तुर्कों के बर्बर आक्रमण का सामना किया।

डॉ० चटर्जी ने लोकभाषाओ के उदय और उनके विकास की ओर अभिमुख होने के कारणों का उल्लेख किया है और डॉ० नामवर सिंह ने देशी बोलियो के विकास के आंतरिक कारणो का आख्यान किया है। इन ऐतिहासिक परिस्थितियो मे लोकभाषा या देशी भाषाओ का उदय हुआ, जो आधुनिक आर्यभाषा के विकास का प्रथम चरण है। 'एक ओर ये आर्थिक और राजनीतिक आधार निर्मित होते रहे और दूसरी ओर भक्ति आन्दोलन के द्वारा सम्पूर्ण मध्यदेश मे सांस्कृतिक एकता की लहर फैल रही थी। इन दुहरे प्रयत्नो ने जातीय भाषा के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया।'[2]

आधुनिक आर्यभाषाएँ

आधुनिक आर्यभाषाओ का उदय अपभ्रंश से हुआ है। यह माना जाता है कि अपभ्रंश मुलतान से बंगाल तक और सूरसेन मे मान्यखेट तक फैली हुई थी। 'शौरसेनी प्राकृत राजपूताना की बोलियो के साथ मिश्रित होकर शौरसेनी अप-भ्रंश बन गयी, जिसका साम्राज्य भारतीय आर्य प्रादेशिक भाषाओ पर कई शता-ब्दियों तक छाया रहा। तुर्की विजय के पहले भारतीय चालू या कथ्य बोलियो मे सबसे अधिक प्रचलित यही शौरसेनी अपभ्रंश थी।'[3] हेमचन्द्र के पूर्व से ही शौरसेनी अपभ्रश मे देश-भेद प्रत्यक्ष हो गया था, जो परवर्ती अपभ्रंश में गहरा होता गया। पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश का स्थान आजकल की हिन्दुस्तानी का-सा था। इसे ही आधार रूप मानकर विभिन्न बोलियो का निर्माण हुआ। विभिन्न बोलियो का स्थानीय उपादान या भाषा-तत्त्व उसमे मुखर होता गया और विभिन्न प्रादेशिक या क्षेत्रीय बोलियो का उदय हुआ। धीरे-धीरे शौरसेनी अपभ्रंश के प्राचीन रूपो

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 119
2. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवरसिंह, पृ० 103
3. भारतीय आर्यभाषाएं और हिन्दी—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, पृष्ठ 202

का ह्रास होता रहा और देशी बोलियो के नवीन रूप का विकास होता रहा। इस प्रक्रिया से ही 'आधुनिक भाषाओं के ये नये रूप निश्चय ही उनकी प्रादेशिक बोलियो से आते रहे हैं।'[1] इस प्रकार प्रादेशिक लोकभाषाओ के विकास के रूप मे आधुनिक आर्यभाषा का उदय हुआ। इन्ही जनपदीय बोलियों का साहित्य-भाषा के रूप मे विकास हुआ। मध्यदेश की ब्रजभाषा और खड़ी बोली की सम्मिलित भाषा से आधुनिक खड़ी हिन्दी का जन्म हुआ।

पश्चिमी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी कुछ अंशों में ब्रजभाषा हुई। कुछ हद तक खड़ीबोली को भी पश्चिमी अपभ्रश का उत्तराधिकार मिला। भौगोलिक और राजनीतिक कारणो से तथा जातीय संगठन की सुदीर्घ परम्परा के फलस्वरूप मैथिली पूर्वी अपभ्रश के गर्भ से उदित हुई। कालान्तर मे मैथिली के विकास की गति मथर हो गई। पूर्वी राजस्थानी ब्रजभाषा से लगी सटी होने से ब्रजभाषा के आगे-पीछे प्रचलित हुई। पश्चिमी राजस्थानी का सम्बन्ध गुजराती के साथ होने मे उसका विकास उसके साथ ही हुआ। अवधी भाषा को विद्वान कोसली कहना अधिक समीचीन समझते हैं। अवधी पश्चिमी अपभ्रंश या शौरसेनी के पूर्व मे तथा मागधी के पश्चिम मे स्थित है। मागधी और शौरसेनी की विशेषताओं के कारण लोग कोसली या अवधी की उत्पत्ति अर्ध मागधी से मानते हैं, किन्तु यह भ्राति है। 'उच्चारण और ध्वनि विकार सम्बन्धी छोटे-मोटे स्थानीय भेदो के बावजूद अवधी ब्रजभाषा और खडीबोली एक ही हिन्दी के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।'[2]

मध्यदेश की भाषाओं का विकास पूरी तरह नही हो सका, क्योंकि मध्यदेश का राजनीतिक, जातीय सगठन आदि अन्य क्षेत्रो की तुलना में अधिक अव्यवस्थित रहा। अकबर के शासनकाल मे मध्यदेश एक सशक्त केन्द्र के प्रभाव मे आया। इससे ब्रजभाषा और अवधी के सम्मिलित रूप से एक मिश्रित कथ्य भाषा का विकास हुआ। उसके साथ ही नगरों में खड़ी बोली का अभ्युदय दिखाई पडा। इसी प्रकार पजाबी, लहँदा, महाराष्ट्री, बँगला, उड़िया, असमी आदि भाषाएँ भी अपभ्रंश के क्रोड से उभर कर प्रकट हुईं और उनमें साहित्य रचना होने लगी।

कुछ लोग आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव किसी-न-किसी अपभ्रश से मानते है। इसके लिए उन्होने अनुमानित अपभ्रशो की कल्पना की है। इस संदर्भ मे डॉ० चटर्जी कहते हैं कि 'वास्तव मे वैयाकरणों द्वारा शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि जिस प्रकार की बोलियाँ होनी चाहिए, इस दृष्टि से कल्पित किया हुआ रूप है। प्राकृत पैंगलम संदेशरासक से पश्चिमी अपभ्रश के विभिन्न क्षेत्रीय स्वरूपों का परिचय मिल जाता है, वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता से पूर्वी अपभ्रश

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 100
2. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 103

के स्वरूप का पता चल जाता है और उक्ति व्यक्ति प्रकरण से इससे भिन्न एक मध्यदेशीय अपभ्रंश का पता चल जाता है, किन्तु यह सामग्री इतनी परिपाटी विहित है कि इनसे उक्त काल की लोक बोलियों के संदर्भ में कुछ निश्चित राय स्थिर करना कठिन प्रतीत होता है। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे लोक बोली के तत्त्व अधिक मिलते हैं, किन्तु इस पर अवधी और भोजपुरी की खींचतान वर्तमान है। ब्रजभाषा में कोई ऐसा ग्रंथ सुलभ नहीं है, जिसमे उसके प्राचीन रूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा बनाई जा सके।

वास्तव में शौरसेनी अपभ्रंश और अवहट्ट मे कैसा कुछ सुलभ नहीं है जिससे खड़ीबोली के साथ उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। दक्खिनी हिन्दी मे प्राचीन खड़ीबोली का रूप दिखाई पड़ता है। डॉ० नामवर सिंह दक्षिणी हिन्दी को भी अवहट्ट कहने का सुझाव प्रस्तुत करते है। डॉ० सिंह के अनुसार दक्षिणी हिन्दी में अवधी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पजाबी, राजस्थानी आदि का मिश्रण पाया जाता है। फिर भी खड़ीबोली का आदि रूप जिसमे पर्याप्त अन-गढता और अस्थिरता वर्तमान है, दक्षिणी हिन्दी मे दिखाई पडता है। यह काल 16वीं शती ई० के आसपास का है।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत से हिन्दू लोग जब भी कुछ लिखते तो राजस्थान मे डिंगल एवं पिंगल, मथुरा तथा उसके पूर्व मे ब्रजभाषा का तथा अवध मे अवधी तथा पूर्व में भोजपुरी और उत्तरी बिहार में मैथिली का प्रचलन था। पंजाबी ब्रजभाषा मिश्रित पंजाबी का प्रयोग करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश के बाद आधुनिक आर्यभाषाओं का प्रथम सोपान देशी भाषाओं का है। इन्हीं देशी भाषाओं का विकास आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप मे हुआ।

आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों ने किया है, जिनमें हार्नले, वेबर, डॉ० ग्रियर्सन, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० उदयनारायण तिवारी और डॉ० हरदेव बाहरी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम डॉ० ए० एफ० आर० हार्नले ने अपने वर्गीकरण द्वारा आधुनिक आर्यभाषाओं के वर्गीकरण का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

आधुनिक आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर डॉ० ए० एफ० आर० हार्नले ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि भारत में आर्यों का आगमन दो बार हुआ। पूर्वागत आर्य आकर पजाब मे बस गए थे। दूसरी बार जो आर्य भारत में आए वे गिलगित एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश मे आए। नवागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को अपना स्थान छोड़ने के लिए बाध्य किया। पूर्वागत आर्य पूरब, दक्षिण

और पश्चिम की ओर फैल गए। नवागत आर्यों ने मध्यदेश को अपना निवास स्थान बनाया और सरस्वती गंगा और यमुना के तट पर यज्ञपरायण संस्कृति का पल्लवन किया। मध्यदेश में निवास करने वाले आर्यों को केन्द्रीय या भीतरी शाखा तथा पूर्वागत आर्यों को बाहरी शाखा के नाम से अभिहित किया गया। इस आधार पर उन्होंने आधुनिक आर्यभाषाओं के चार विभाग किए—1. पूर्वी गौडियन—पूर्वी हिन्दी, बिहारी, बंगला, असमी, उड़िया; 2. पश्चिमी गौडियन—पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी; 3. उत्तरी गौडियन—गढ़वाली, नेपाली, आदि पहाड़ी, 4. दक्षिणी गौडियन—मराठी।

डॉ० ग्रियर्सन ने डॉ० हार्नले के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने लिंग्विस्टिक सर्वे, भाग 1, खण्ड 1, पृष्ठ 116 तथा बाद में बुलेटिन ऑफ द स्कूल ऑफ ओरियन्टल स्टडीज, लंदन इन्स्टीट्यूट भाग 1, खण्ड 3, 1930 ई० में इसका समर्थन किया। अन्य भाषागत मान्यताओं के सम्बन्ध में अपना मतभेद प्रकट करते हुए भी उन्होंने भीतरी और बाहरी भाषाओं के वर्गीकरण को मान लिया। मध्यदेश को केन्द्र मानकर बाहरी शाखा के पूर्वी, दक्षिणी और उत्तर-पश्चिमी भेद किए। पूर्वी और केन्द्रीय शाखा के बीच उन्होंने एक मध्यवर्ती शाखा का भी विधान किया। उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

1. बहिरंग :

(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय : 1. सिन्धी, 2. लहँदा
(ख) दक्षिणी समुदाय : मराठी
(ग) पूर्वी समुदाय : 1. उड़िया, 2. बिहारी, 3. बंगला, 4. असमिया

2. मध्यदेशीय शाखा :

बीच का समुदाय : पूर्वी हिन्दी

3. अन्तरंग शाखा :

(क) केन्द्रीय शाखा : 1. पश्चिमी हिन्दी, 2. गुजराती, 3. राजस्थानी, 4. पंजाबी, 5. भीली, 6. खानदेशी।
(ख) पहाड़ी समुदाय : 1. पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली 2. मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी, 3. पश्चिमी पहाड़ी।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा कि डॉ० ग्रियर्सन का वर्गीकरण भाषा-वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। अतः उन्होंने इसका खंडन किया और नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया। डॉ० चटर्जी का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) उदीच्य (उत्तरी) भाषाएँ : सिन्धी लहँदा, पंजाबी
(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) भाषाएँ : गुजराती, राजस्थानी

(ग) मध्य देशीय भाषा : पश्चिमी हिन्दी
(घ) प्रतीच्य भाषाएँ : पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगला, असमिया
(ङ) दक्षिणात्य भाषा : मराठी

डॉ० चटर्जी ने पहाडी को दरदी और राजस्थानी को सम्मिलित भाषा कहा है। उन्होने भीली और खानदेशी को भी स्वतंत्र भाषा नही माना है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने चटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है :

1. उदीच्य : सिन्धी, लहँदा, पंजाबी
2. प्रतीच्य : गुजराती
3. मध्यदेशीय : राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी
4. प्राच्य . उडिया, असमी, बँगला
5. दक्षिणात्य : मराठी

डॉ० वर्मा ने हिन्दी की प्रमुख चारों बोलियो को मध्यदेशीय के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है।

डॉ० सीताराम चतुर्वेदी ने सम्बन्ध-सूचक परसर्ग के आधार पर का (पहाड़ी, हिन्दी, जयपुरी, भोजपुरी), दा (पंजाबी, लहँदा), जो (सिन्धी, कच्छी), एक (बंगाली, उड़िया, आसामी) वर्ग बनाए है। डॉ० भोलानाथ तिवारी का कहना है कि यह कोई वर्गीकरण नही है, क्योकि ऐसे तो ल, र या स, श ध्वनियो के आधार पर वर्ग बनाए जा सकते है।[1]

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने विभाजन की दिक्कतो का जिक्र करते हुए उसकी आवश्यकता को महत्व देते हुए निम्नांकित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—

1. मध्यवर्ती : पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पहाडी
2. पूर्वी हिन्दी : बिहारी, बंगाली, असमी, उड़िया
3. मध्य पूर्व वर्ग : पूर्वी हिन्दी
4. महाराष्ट्री : मराठी
5. पश्चिमोत्तरी वर्ग . सिन्धी, लहँदा, पंजाबी

डॉ० हरदेव बाहरी ने अपने विभाजन मे दो वर्गो का विधान किया—हिन्दी वर्ग और हिन्दीतर वर्ग। हिन्दी वर्ग : 1. राजस्थानी 2. पश्चिमी हिन्दी, 3. पूर्वी हिन्दी, 4. बिहारी की उपभाषाएँ, 5. मध्य पहाड़ी उपभाषाएँ। हिन्दीतर वर्ग . 1. पूर्वी वर्ग, 2. उत्तरी वर्ग, 3. पश्चिमी वर्ग, 4. दक्षिणी वर्ग।

1. पूर्वी वर्ग : उड़िया, बँगला, असमिया

---

1. भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 28

2. उत्तरी वर्ग : नेपाली

3. पश्चिमी वर्ग : पजाबी, सिन्धी, गुजराती

4. दक्षिणी—सिंहली, मराठी

ऊपर जो वर्गीकरण विद्वानो द्वारा दिये गये है, उनकी भाषावैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यकता ज्ञात नही होती। डॉ० ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्यभाषाओ का वर्गीकरण किया, तो वर्गीकरण की एक परम्परा चल पड़ी। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी भाषा एक वर्ग मे नही रखी जा सकती। यह तर्क दिया जा सकता है कि एक वर्गीय भाषाओ मे मूलभूत विशेषताएँ वर्तमान है। किन्तु किसी भी भाषा वर्ग में मूलभूत ऐसी विशेषता खोजना दुष्कर है, जिनके आधार पर उन्हें एक वर्ग मे समेटा जा सके।

आधुनिक आर्यभाषाओ की वैदिक>संस्कृत>पालि>प्राकृत>अपभ्रंश>अवहट्ट>देशी भाषाएँ>आधुनिक आर्यभाषाएँ>हिन्दी की परम्परा मिलती है। देश-भेद के बावजूद इन सभी आर्यभाषाओ में वैदिक, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश की परम्परा अवश्य ही वर्तमान रहेगी। ऐसी दशा मे मूलभूत विशेषताएँ सभी आर्यभाषाओ मे लगभग एक समान ही होने का अनुमान किया जा सकता है।

बाहरी और भीतरी समुदाय की जो कल्पना हार्नले ने प्रतिपादित की है, उसे अनेक भाषावैज्ञानिकों ने अस्वीकार कर दिया है। डॉ० चटर्जी के अनुसार 'इस सिद्धान्त मे भाषाशास्त्री लोग सहमत नही हैं।'[1] डॉ० भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि 'प्रवृत्तियो के आधार पर इन भाषाओ मे इतना वैभिन्य है कि सभी बातो का ठीक तरह से विचार करते हुए वर्गीकरण हो ही नही सकता।'[2] अपभ्रश के आधार पर वर्गीकरण करने पर भी इस प्रकार के वर्गो मे ध्वनि और रूपात्मक सगठन सम्बन्धी साम्य बहुत कम दृष्टियों से मिल सकता है। इसलिए यह उचित है कि सभी आधुनिक भाषाओ को अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रश से उदित मानकर उनको प्रवृत्तियो का अलग-अलग विवेचन किया जाय। ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से कुछ-न-कुछ साम्य इन भाषाओ मे तो रहेगा ही, क्योंकि इनकी उत्पत्ति अपभ्रश से देश-भेद के प्रभाव से हुई है।

वैसे डॉ० बाहरी का वर्गीकरण अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होने हिन्दी और हिन्दीतर वर्ग के आधार पर विभाजन किया है। डॉ० चटर्जी भी कहते हैं कि 'महाप्राणों के उपयोग में भीतरी भाषाएँ(पश्चिमी हिन्दी)तथा एक अतर्मध्य भाषा(पूर्वी हिंदी) औरों से भिन्न अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व रखती है।'[3]

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 131
2. भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 28
3. भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० 131

डॉ० भगीरथ मिश्र भी डॉ० बाहरी का वर्गीकरण ही समुचित मानते हैं।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज' नामक अपनी पुस्तक मे डॉ० ग्रियर्सन की स्थापनाओ और वर्गीकरण का खण्डन किया। उन्होंने पुस्तक के परिशिष्ट 'ए' मे ग्रियर्सन के मत की साधार आलोचना प्रस्तुत की है। दोनों विद्वानो के मत यहाँ सुविधा के लिए दिये जाते हैं।

ध्वनि तत्त्व

डॉ० ग्रियर्सन के निष्कर्ष के ध्वन्यात्मक आधार लगभग 15 है।

(क) उन्होंने कहा कि बाहरी भाषाओं मे र का ल या ड़ उच्चारण होता है, जबकि भीतरी भाषाओ मे ऐसा नही होता।

डॉ० चटर्जी ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि पश्चिमी हिन्दी मे भी र के स्थान पर ल तथा ड़ के स्थान पर ड का उच्चारण होता है। सूर, बिहारी की ब्रजभाषा मे इसके उदाहरण भरे पडे है। जैसे, बर (बल), गर (गल), जरै (जलै), लरिहौ (लडूँगा), बीरा (बीड़ा), किवार (किवाड़), सार (श्याल), स्यार शृगाल) आदि।

(ख) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में द का ड में परिवर्तन हो जाता है। डॉ० चटर्जी ने कहा कि ब्रजभाषा मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिससे ग्रियर्सन के मत का खण्डन हो जाता है, जैसे डीठि (दृष्टि), ड्योढी (देहली), डेढ़ (द्वयर्ध), डाभ (दर्भ), डाढ़ा (दग्ध), डोली (दोलिका), डोरा (दोरक), डँसना (दंश) आदि।

(ग) ग्रियर्सन के मत से बाहरी शाखा में 'म्ब' का 'म' में तथा भीतरी शाखा म्ब का ब मे परिवर्तन हो गया है।

डॉ० चटर्जी ने बाहरी शाखा के बंगला तथा भीतरी शाखा की पश्चिमी हिन्दी के उदाहरणों से इस स्थापना को खंडित किया है; यथा, जम्बु>जामुन, निम्ब> नीम आदि रूप भीतरी शाखा मे होते है। बाहरी शाखा की बँगला में नीबू का लेमू या लेबू रूप मिलता है।

(घ) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा में अंतिम इ-ए (उ) स्वर वर्तमान हैं, जैसे आँखि, चलु आदि। भीतरी शाखा में ये स्वर लुप्त हैं।

डॉ० चटर्जी कहते हैं कि सभी भारतीय भाषाओं में किसी-न-किसी समय अंतिम स्वर वर्तमान थे। उड़िया, पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में ये रूप आज भी विद्यमान है। मानस में इसके अनेक उदाहरण मिलते है—साँचु, झुठु, हाथु, लखनु, दिनु, अगहनु आदि।

(ङ) ग्रियर्सन कहते हैं कि बाहरी वर्ग मे र का लोप हो जाता है।

डॉ० चटर्जी के अनुसार भीतरी भाषाओं मे भी र का लोप हो जाता है; जैसे

और का औ, पर का पै ।

(च) ग्रियर्सन के मत से बाहरी वर्ग में स का ह हो जाता है।

डॉ० चटर्जी कहते हैं कि भीतरी वर्ग मे भी स का ह हो जाता है; जैसे, केसरी>केहरि, एकदश>ग्यारह, द्वादश>बारह, तस्य>ताह-ताहि, करिष्यति>करिहइ ।

(छ) ग्रियर्सन—बाहरी वर्ग मे इ से ए और उ से ओ हो जाने के उदाहरण मिलते है। जैसे, बिल्व>बेल, पुष्कर>पोखर ।

चटर्जी—ब्रजभाषा मे मोहि का मुहि, और तोहि का तुहि प्रयोग मिलते हैं।

(ज) डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा (बंगला, उडिया, असमी) मे वर्तमान अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है।

डॉ० चटर्जी—प्राचीन बंगला मे अपनिहिति का अभाव है। मैथिली, पंजाबी और कश्मीरी मे भी अपिनिहिति का विकास बहुत बाद में हुआ।

(झ) ग्रियर्सन— बाहरी वर्ग में ई प्रत्यय स्त्रीवाची है।

चटर्जी—भारत की सभी भाषाओं मे 'ई' स्त्रीवाची प्रत्यय है ।

(ञ) ग्रियर्सन—बाहरी वर्ग की भाषाएँ अभी भी संयोगात्मक हैं—रामेर।

चटर्जी—इने-गिने मुहावरो को छोड़कर सामान्यतः सभी भाषाएँ परसर्गो का प्रयोग करती हैं। विभक्ति रूपो के अवशिष्ट सभी भाषाओं मे थोड़े-बहुत मिलते हैं।

(2) ग्रियर्सन 'ल' प्रत्यय को केवल बाहरी भाषा की विशेषता मानते हैं जबकि भीतरी वर्ग मे 'ल' प्रत्यय का प्रयोग होता है: जैसे, रँगीला, कटीला, छबीला, चमकीला, गठीला।

इस प्रकार ग्रियर्सन ने जो आधार बाहरी और भीतरी भाषा के वर्गीकरण के निर्धारित किये हैं, वे सपुष्ट नही हैं। उन्होंने सिद्ध करना चाहा है कि जो भाषिक प्रवृत्तियाँ बहिरंग मे है, वे अंतरंग में नहीं हैं। इसका खण्डन करते हुए डॉ० चटर्जी ने सिद्ध किया कि ग्रियर्सन का वर्गीकरण युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि बहिरंग की प्रवृत्तियाँ अंतरग मे भी मिलती है।

आधुनिक आर्य भाषाओं का संक्षिप्त परिचय

हिन्दीतर वर्ग

1. **सिन्धी :** सिन्धु शब्द सिन्धु से बना है। सिन्धु नदी के क्षेत्र मे अवस्थित होने के कारण यह सिन्धु या सिन्ध देश कहा गया। इस क्षेत्र की भाषा सिन्धी है। सिन्ध पाकिस्तान देश में चला गया है। अतः सिन्धी-भाषी अधिकतर पाकिस्तान में है, किन्तु दिल्ली, बम्बई, अजमेर आदि मे भी सिन्धी बोलने वाले है।

सिन्ध और मुलतान पहले एक प्रान्त थे। सिन्ध पहले बम्बई का भी एक भाग था। सिन्धी बोलने वाले अधिकतर मुसलमान हैं। इसलिए उनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य है। फिर सम्पूर्ण शब्द-भण्डार का 75 प्रतिशत संस्कृत शब्दों से भरपूर है। सिन्धी भाषा में ग, ज, ड, ब विशेष अंतर्मुखी ध्वनियाँ हैं। सिन्धी की विचौली, सिराइकी, थरेली, लासी, लाड़ी तथा कच्छी मुख्य बोलियाँ हैं। सिन्धी की लिपि फारसी है। कहीं-कहीं भारतीय सिन्धी देवनागरी लिपि का भी प्रयोग करते हैं। सिन्धी में प्राचीन साहित्य उतना नहीं है। आधुनिक साहित्य इस समय अधिक लिखा जा रहा है।

2. **लहँदा** · लहँदा का शाब्दिक अर्थ है पश्चिम। पश्चिमी पंजाब में बोली जाने वाली बोली को 'लहँदे दी बोली' (सूर्यास्त दिशा की भाषा) कहा जाता है। लहँदा पंजाबी की ही एक उपभाषा है। मुलतानी, डेरावाली, पोठोवारी, अवाण-कारी आदि इसकी कई बोलियाँ हैं।

पंजाबी की अपेक्षा लहँदा कर्कश एवं बलयुक्त भाषा है। लहँदा में ळ ध्वनि मिलती है। इस पर व्राचड़, पैशाची और टक्क का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसका शब्द-भण्डार फारसी-अरबी शब्दों से भरा पड़ा है, क्योंकि इसके बोलने वाले अधिकतर मुसलमान हैं। पहले इसकी लिपि लंडा थी, किन्तु अब फारसी का प्रयोग होता है। इसकी बोलियाँ जटकी, मुलतानी, जागली हैं। इसमें साहित्य नहीं के बराबर है।

3. **पंजाबी** पंजाब फारसी शब्द है। इसका अर्थ है पाँच नदियों का देश। पंजाब की भाषा पंजाबी है। इसका विकास टक्क प्राकृत से माना गया है। किन्तु शौरसेनी, कैकय और कुछ सीमा तक पैशाची का प्रभाव भी पंजाबी पर लक्षित होता है। पंजाबी मुख्यतः शौरसेनी की आधार भूमि पर स्थित भाषा है। पंजाबी की पुरानी लिपि लंडा थी, किन्तु गुरु अंगद ने देवनागरी लिपि में सुधार कर गुरुमुखी लिपि प्रचलित की, जो अब पंजाबी की लिपि है।

पंजाबी में घ, झ, ढ, ध, भ का उच्चारण क्ह, च्ह, ट्ह, त्ह, प्ह जैसा होता है। इसकी मुख्य बोलियाँ माँझी, डोगरी, दोआबी, राठी आदि हैं। पंजाबी में प्राचीन साहित्य कम है, किन्तु आधुनिक साहित्य प्रभूत मात्रा में लिखा गया है।

4. **गुजराती**—गुजरात का नामकरण गुर्जर जाति के नाम पर हुआ है। इसका विकास इस प्रकार है—गुर्जर + त्रा > गुज्जरत्ता > गुजरात। तेसितोरी के अनुसार गुजराती और राजस्थानी एक ही भाषा के दो देशीय भेद थे। इस प्रकार इसका सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश रूप से है। शौरसेनी के गुजराती मिश्रित रूप को बहुत-से विद्वानों ने लाटी प्राकृत अथवा नागर अपभ्रंश भी कहा है। गुजराती की अपनी लिपि है, जिसमें शिरोरेखा नहीं होती। इसकी मुख्य बोलियाँ काठिया-वाड़ी, पट्टनी, सुरती आदि हैं। गुजराती प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की दृष्टि

से अत्यन्त सम्पन्न भाषा है।

5. **मराठी**—महाराष्ट्र का तद्भव रूप मराठा है। महाराष्ट्र शब्द 'माहाराष्ट्रीय' से विकसित है। आर्यभाषाओं के दक्षिणी देशभेद में महाराष्ट्री का उल्लेख अपरिहार्य रहा है। गुजरात में प्राकृत-अपभ्रंश लोकभाषाओं का वर्चस्व रहा है। गुजरात और राजस्थान से सम्बद्ध होने के कारण महाराष्ट्री एक ओर गुजराती से तो दूसरी ओर राजस्थानी से प्रभावित रही है। कहते हैं कि महाराष्ट्री से तात्पर्य मराठों की बोली से न होकर उस समय सम्पूर्ण राष्ट्र या महाराष्ट्र की भाषा से था। इसीलिए वैयाकरणों ने 'शेष महाराष्ट्रीवत' कहकर महाराष्ट्री के वर्चस्व को स्वीकार किया है। अपभ्रंश काल में महाराष्ट्री शौरसेनी के परिनिष्ठित रूप में प्रचलित रही है। महाराष्ट्री की मुख्य बोलियाँ कोंकणी, नागपुरी, कोष्ठी, माह्यरी आदि। इसकी लिपि देवनागरी है, किन्तु कुछ लोग मोड़ी का भी प्रयोग करते हैं। महाराष्ट्री साहित्य सम्पन्न है।

6. **बँगला**—बँगला शब्द बंग में 'आल' प्रत्यय के योग से बना है। बंगाल की भाषा बँगला है। मागधी प्राकृत से बँगला भाषा की उत्पत्ति हुई है। वैसे शौरसेनी अपभ्रंश बँगला में प्रचलित रही है। चर्यापदों और बौद्ध दोहों में उसका रूप देखा जा सकता है। इसकी मुख्य बोलियाँ पश्चिमी, दक्षिणी-पश्चिमी, उत्तरी, पूर्वी और राजबंगशी हैं। बँगला की अपनी लिपि है। बँगला साहित्य अत्यन्त सम्पन्न है।

7. **असमी**—आसाम की भाषा असमी है। यह भी मागधी प्राकृत से उद्भूत है। इस पर प्राचीन बँगला का बहुत अधिक प्रभाव है। असमी लिपि बँगला से मिलती-जुलती है। इसकी मुख्य बोली विश्नुपुरिया है। असमी में साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

8. **उड़िया**—उड़िया उड़ीसा की भाषा है। उड़ीसा 'ओड्र' शब्द से विकसित है। 'ओड' द्रविड़ शब्द है। यह मागधी प्राकृत की भाषा है। उड़िया की अपनी लिपि है, किन्तु वह ब्राह्मी की उत्तरी शैली और तमिल लिपि से प्रभावित है। उड़िया की मुख्य बोलियाँ, गंजामी, संभलपुरी, भत्री आदि हैं।

9. **सिंहली**—सिंहली और जिप्सी डॉ० भोलानाथ तिवारी और डॉ० हरदेव बाहरी के अनुसार आर्यभाषाएँ हैं। इनके बोलने वाले भारत के बाहर निवास करते हैं।

10. **नेपाली**—नेपाली पूर्वी पहाड़ी का रूप है। इसका मुख्य क्षेत्र नेपाल है। डॉ० ग्रियर्सन ने भीली और खानदेशी को भी आधुनिक आर्यभाषाओं में परिगणित किया है। किन्तु, अब इन्हें अलग भाषा नहीं माना जाता।

हिन्दी और उसकी उपभाषाएँ

हिन्दी—हिन्दी शब्द उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान- मध्य प्रदेश

हिमाचल प्रदेश तथा पंजाब के हिन्दी-भाषी क्षेत्रों की भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सिन्ध से हिन्द और उससे हिन्दू शब्द बना है। हिन्दी हिन्द की भाषा है।

सिन्ध शब्द ऋग्वेद में नदी और देश विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'सप्तसिन्धव:' का अवेस्ता में 'ह्प्तहिन्दव:' उच्चारण और लेख मिलता है। जाहिर है कि आर्य ध्वनि 'स' का ईरानी में उच्चारण 'ह' होता है। ईरानियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तक 'दसातीर'(200 ई० पू०) में हिन्दी शब्द हिन्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'चूं व्यास हिन्दी बलख आमद। गुस्तास्पजरदुश्ताबखवांद।' प्राचीन पहलवी में हिन्द, हिन्दुक्, हिन्दुश शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'हिन्द' में ईरानी 'ईक्' प्रत्यय जोड़कर हिन्दीक् और हिन्दीग् शब्द बना।[1] बाद में अन्तिम व्यंजन का लोप हो गया और हिन्दी शब्द हिन्द के विशेषण रूप में प्रचलित हुआ। जिस समय भारत में प्राकृत, अपभ्रंश काल रहा होगा उस समय ईरान में हिन्दी शब्द का निर्माण हो चुका था।[2]

कुछ भाषावैज्ञानिक हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति सिंध से मानते हैं, किन्तु प्राचीन साहित्य में सिन्धी शब्द नहीं मिलता। देवल (कराची) से आने वाले अरब यात्री सिन्ध प्रान्त की भाषा को 8वीं, नवीं, दसवीं शताब्दी में सिन्धी कहते थे। अरबी में 'स' का उच्चारण 'स' ही होता है। अत: यह मान्यता सही नहीं है। ईरान से ही हिन्दी और हिन्दी शब्द अरब, मिस्र, सीरिया आदि देशों में प्रचलित हुआ। प्राचीन तथा मध्य अरबी तथा फारसी साहित्य में 'जबाने हिन्दी' भारत की समस्त भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश—के लिए मिलता है। पंचतन्त्र के अरबी अनुवाद में भी उसकी भाषा को 'जबाने हिन्दी' कहा गया है।

'संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि किसी भी प्राचीन आर्यभाषा में 'हिन्दी' शब्द नहीं मिलता है।'[3] जैन महाराष्ट्री में लिखित कालकाचार्य की कथा में 'हिन्दुग्' शब्द मिलता है—'जेण हिन्दूग् देसम् वच्चामो।' भारत में रहने वाले मुसलमान देशी भाषा के लिए 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग करते थे। 13वीं-14वीं शताब्दी में औफी, अबुलहसन, अमीरखुसरो आदि ने देशी भाषाओं के लिए हिंदवी शब्द का ही प्रयोग किया है। खुसरो गयासुद्दीन तुगलक के पुत्रों का शिक्षक था। उन्हें शिक्षा देने के लिए उसने फारसी-अरबी कोश 'खालिकबारी' की रचना की। खालिकबारी में हिन्दवी शब्द 30 बार और हिन्दी 5 बार आया है। उसने कुछ नज्में हिन्दी में भी लिखीं—'जुज बै चन्द नज्म हिन्दी नीज नज्जर देस्तान करदा शुदा अस्त।'

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० 887
2. वही
3 वही- पृ० 888

पंद्रहवी शताब्दी मे जायसी ने देशी भाषा के संदर्भ मे हिंदवी शब्द का प्रयोग किया है—'तुर्की अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि। जामे मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि।' इसमे जाहिर होता है कि मुसलमानी परम्परा के कवियो द्वारा देशी भाषा के लिए हिन्दवी शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा है। भारतीय परम्परा मे देशी भाषा को भाषा या भाखा ही कहा गया है। कबीर ने कहा—'संसकिरत है कूपजल भासा बहता नीर।' तुलसी ने भी 'का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच' कहा।

दक्खिनी हिन्दी मुसलमानो के साथ दक्षिण मे प्रचलित हुई। तेरहवी-चौदहवी शताब्दी मे दक्खिन मे जाकर उत्तर की जिस बोली मे साहित्य रचा गया उस बोली को परवर्ती युग की अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ ही समझना चाहिए।[1] दक्खिनी हिन्दी मे पर्याप्त साहित्य रचना हुई है।

सन् 1666 में जयसिंह और रामसिंह एक पत्र को 'हिन्दवी परवाना' कहा गया है—सो ऐसी भाति कागज एक हिन्दवी परवानो श्री महाराज जयसिंह को श्री महाराज कवार जे के ताई आए वणवायो है। प्राणनाथ और लालदास ने भी हिन्दवी मे औरंगजेब को पत्र लिखे थे। इस प्रकार 17वीं शती तक हिन्दी और हिन्दवी शब्द समानार्थी थे। 'किन्तु उत्तरी भारत में संभवतः लिपि-भेद के कारण भाषा अत्यधिक रूप से एक ही होने के कारण भी हिन्दुओ मे हिन्दवी नाम का और मुसलमानो मे हिन्दी नाम का प्रचार अधिक हुआ।'[2] सोलहवी शती के आस-पास खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप निकल आया था, यद्यपि उसमें पंजाबी, ब्रज-भाषा, अवधी और राजस्थानी बोलियो का भी मिश्रण था। 'सोलहवी शती के अंत तक सभी भारतीय मुसलमान फारसी को एक विदेशी भाषा के रूप मे अनुभव करने लगे थे, और देशज भाषाओं को पूर्णतः स्वीकार कर चुके थे।'[3] बाबर ने एक दोहा हिन्दी मे रचा था और अकबर ने ब्रजभाषा में दोहे लिखे थे—

जाको जस है जगत में जगत सराहै जाहि।
ताको जनम सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

औरंगजेब ने भी देशज पद्य-पंक्तियाँ लिखी थी—'टोपी लेन्दे, बावरी देन्दे, खरे निज्ज'''।'

विद्वानो का कहना है कि 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग हिन्दू लोग 'जबान उर्दूए मुअल्लम' के समकक्ष भाषा के लिए करते थे जिसमे विदेशी तत्त्व कम और देश्य भाषा तत्त्व अधिक रहता था।

---

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ॰ नामवर सिंह, पृ॰ 105
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पृ॰ 889
3. भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी—डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ॰ 209

गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तान की भाषा के लिए हिन्दुस्तानी नाम हिन्दी, हिन्दवी के समकक्ष (या अर्थ मे) स्थापित किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, गिलक्राइस्ट को यह अनुमान हो गया कि हिन्दुस्तानी नही, बल्कि हिन्दी ही देश की बहुप्रचलित भाषा है। अतः सभवतः प्रथम बार कैप्टन टेलर ने हिन्दी शब्द का प्रयोग 1912 ई० में फोर्ट विलियम कालेज की रिपोर्ट में किया था। इसके बाद विलियम प्राइस ने पहली बार अपने को हिन्दी प्रोफेसर लिखा। 1925 ई० मे वार्षिक अधिवेशन मे लार्ड एमहर्स्ट ने हिन्दी को भाषा के सामान्य अर्थ में मान्यता दी। आज इसी रूप में हिन्दी भारतीय सघ की राजभाषा है।

तात्पर्य यह है कि तेरहवी शती के बाद मध्यप्रदेश की भाषा को मुसलमानों ने हिन्दी नाम से अभिहित किया। डॉ० ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिन्दी की आठ बोलियों—पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली) और पूर्वी हिन्दी (अवधी, छत्तीसगढ़ी, बघेली)—को हिन्दी के अन्तर्गत परिगणित किया। डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी को भी हिन्दी क्षेत्र की उपभाषाएँ मानते है। इससे जाहिर है कि मध्यदेश ही हिन्दी का क्षेत्र है और वह दिल्ली से लेकर बिहार तक विस्तृत है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि ग्रियर्सन ने पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी नाम क्षेत्रीय आधार पर दिया है, जो बहुत हद तक काल्पनिक है।

कुछ लोग अपभ्रंश के अनेक भेद प्राकृत की परम्परा के आधार पर करते है और उनसे आधुनिक भाषाओ का सम्बन्ध जोड़कर उनका आविर्भाव दिखाने का प्रयत्न करते है। जो सामग्री इस समय प्राप्त है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पहले से ही एक निश्चित धारणा के अनुसार अपर्याप्त तथ्यों को जब अनुमान के साँचे मे ढालने की चेष्टा की जाती है अथवा कुछ अनुमानित अपभ्रंशों की कल्पना की जाती है तो यह कार्य वैज्ञानिक विचार की सीमा के बाहर जा पड़ता है।'[1]

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी नाम डॉ० ग्रियर्सन ने दिया है। हिन्दी क्षेत्र की आठ बोलियों से पाँच—खड़ीबोली, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली और बाँगरू या हरियाणवी—को भी उन्होंने पश्चिमी हिन्दी मे परिगणित किया। उनके अनुसार इन पाँचों की भाषिक विशेषताओ में, कुछ देश-भेद छोड़कर, साम्य है। किन्तु डॉ० ग्रियर्सन का यह मत भ्रमपूर्ण है। हरियाणवी और कौरवी (खड़ीबोली) आकार बहुला है, जबकि शेष ओकार बहुला। डॉ०हरदेव बाहरी के अनुसार बुन्देली और कन्नौजी ब्रजभाषा की

---

1. हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 104

उपबोलियाँ हैं। हरियाणवी भी कौरवी की उपबोली है।

ध्वनि :

1. पश्चिमी हिन्दी मे उच्चारगत खड़ापन है, किन्तु ब्रजभाषा में ओकार की प्रधानता है।

2. अ विवृत है। ऐ, औ मूल स्वर हैं।

3. ण और श का उच्चारण स्पष्ट होता है। किन्तु ओकार बहुला मे ण का न और श का स उच्चारण होता है।

4. ख, ग, ज, फ़ का उच्चारण भी प्रचलित है।

5. ड़ की अपेक्षा ड और न की अपेक्षा ण का उच्चारण अधिक होता है। ओकार बहुला मे ड की जगह र पाया जाता है।

6. य और व ध्वनियाँ दोनो मे पाई जाती हैं।

7. महाप्राण ध्वनियो की महाप्राणता दब जाती है—भूख>भूक, धधा> धंदा।

8. कौरवी, बाँगरू तथा निमाड़ी मे ळ ध्वनि भी है।

रूप :

1. पश्चिमी हिन्दी में कर्ता मे ने, नैं, न, कर्म-सम्प्रदान में को, कौ, कू, कूँ, करण—मे अपादान मे से, सी, सूँ, तैं, सैं, सो, सम्बन्ध मे का, के, की, कौ, को, अधिकरण में मे, मैं, पर, पै, माँहि आदि परसर्ग लगाए जाते हैं।

2. आ/ओकारान्त पुंल्लिग संज्ञाओं का तिर्यक रूप प्रचलित है। तिर्यक बहुवचन में आकार बहुला मे ओ ओकार बहुला मे अन हो हो जाता है।

3. ओकारान्त और अकारान्त संज्ञाएँ विशेषण, क्रिया, लिंग, वचन आदि के अनुसार बदलती रहती हैं—बड़ो छोरो गयो—बडा छोरा गया।

4. पश्चिमी हिन्दी मे शब्दो का मूल रूप एक ही होता है—घोड़ा, लड़का, बड़ा।

5. पश्चिमी हिन्दी मे मैं, में, हों, हउँ, मेरा, तेरा, मेरो, तेरो, हमारा, हमारो म्हारो, तुम्हारा, तुम्हारो, तिहारो आदि सार्वनामिक रूप चलते है।

क्रिया :

1. क्रियार्थक संज्ञा मे न, ण वाले रूप चलते है—चलना, चलनो, चलणा।

2. भविष्यकाल का प्रत्यय 'ग' पश्चिमी हिन्दी मे है—चलेगा, चलैगा, चलैगो।

3. पश्चिमी हिन्दी मे वर्तमान काल का प्रत्यय 'ह' है—है, हैं, हो, हो।

4. पश्चिमी हिन्दी का भूतकाल संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त के कर्मवाच्य

के रूप से विकसित है—मारित>मारिदो>मार्यो।

पूर्वी हिंदी

डॉ० ग्रियर्सन ने उत्तर कोसल तथा दक्षिण कोसल की भाषा को पूर्वी हिन्दी नाम से अभिहित किया। यह नाम क्षेत्रीय आधार पर उन्होंने कल्पना के आधार पर दिया। उत्तरी कोसल की बोली अवधी और दक्षिण कोसल की छत्तीसगढ़ी है। डॉ० ग्रियर्सन इसे कोसली कहते है, क्योकि इससे पूरे क्षेत्र का अभिधान हो जाता है। पूर्वी हिन्दी बोलियो मे अवधी प्रधान है। छत्तीसगढ़ी और बघेली इसकी उपबोलियाँ हैं। पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र एक ओर पश्चिमी हिन्दी से सटा हुआ है तो दूसरी ओर बिहारी भाषा की भोजपुरी से। अतः इन क्षेत्रो की बोलियो का प्रभाव पूर्वी हिन्दी पर पर्याप्त मात्रा मे दिखाई पड़ता है।

ध्वनि :

1 पूर्वी हिन्दी मे 'ण' की जगह 'न' और श, ष की जगह स का प्रयोग प्रचलित है।
2 ड और ड़ सहस्वन हैं। किन्तु शब्द के मध्य या अंत मे ड नहीं होता।
3 ल का र मे परिवर्तन हो जाता है—फल>फर, थाली>थारी।
4 पूर्वी हिन्दी मे अ का उच्चारण ओ के निकट होता है। अतः अ का उच्चार सवृत होता है।
5. पूर्वी हिन्दी में सयुक्त स्वर पृथक् हो जाते है—दुइ, कउन, अउर।
6 य, व का उच्चारण जाए और ब/उ होता है—जेह/एह, बकील>उकील।

रूप :

1. सज्ञा का रूप तिर्यक एकवचन मे तथा अविकृत एकवचन में मूल एकवचन वाला बना रहता है।
2. पूर्वी हिन्दी मे ने परसर्ग नही है। कर्म मे के, सम्बन्ध मे के, केर, सम्प्रदान मे के, करे, अपादान मे से और अधिकरण मे माँ परसर्ग लगते हैं।
3 सर्वनामो में हम-तुम, जउन, तउन, के, कउन रूप प्रचलित हैं।
4. इनमे क्रियारूप कुछ जटिल हैं। भूतकाल मे ह—ब दोनों रूप चलते हैं। भूतकाल मे देहिस और देहलसि रूप प्रचलित हैं। वर्तमान मे त प्रत्यय के साथ सहायक क्रिया भी लगती है—खातह, जातह आदि।

हिन्दी की उपभाषाएँ

हिन्दी भाषा क्षत्र हिमालय प्रदेश, पजाब का भारतीय भाग, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार तक फैला हुआ है। इसे

हिंदी भाषी प्रदेश कहते हैं जाहिर है कि इतने बड़े क्षेत्र में हिंदी का एक ही रूप प्रचलित नहीं है। देश-भेद से हिन्दी के साथ ही कई क्षेत्रीय भाषा-रूप भी प्रचलित हैं। ये भाषा-रूप हिन्दी के प्रभाव-क्षेत्र में है। इन्हें हिन्दी की उपभाषाएँ या बोलियाँ कहा जाता है। सही अर्थ में ये हिन्दी की लोक भाषाएँ है, जिनके प्रभाव से हिन्दी भी समृद्ध होती रही है।

डॉ० ग्रियर्सन ने केवल आठ बोलियों को हिन्दी के अंतर्गत गणित किया—कौरवी (खडीबोली), ब्रजभाषा, बाँगरू (हरियाणी), कन्नौजी और बुन्देली। इन्हे उन्होने पूर्वी हिन्दी की बोली कहा। आज भी सभी भाषावैज्ञानिक पश्चिमी हिन्दी वर्ग की काल्पनिक अवस्था स्वीकार करते है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी पश्चिमी हिन्दी को मध्यदेशीय कहते हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा मध्यदेशीय का अस्तित्व मानते है, किन्तु उसमे पश्चिमी हिन्दी के साथ पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और बिहारी को भी सम्मिलित कर लेते है। डॉ० बाहरी पश्चिमी खण्ड मे पश्चिमी हिन्दी (दक्खिनी भी), राजस्थानी और पहाड़ी को समेट लेते है। पूर्व हिन्दी मे वे बिहारी को भी सम्मिलित कर लेते है। इस प्रकार डॉ० बाहरी हिन्दी वर्ग मे 18, डॉ० भोलानाथ तिवारी 19 तथा अन्य विद्वान् 17 उपभाषाएँ मानते है।

1. पश्चिमी हिन्दी—1. कौरवी (खड़ीबोली)
   2. ब्रजभाषा
   3. हरियाणी
   4. बुन्देली
   5. कन्नौजी
   6. दक्खिनी (डॉ० बाहरी)

2. पूर्वी हिन्दी —1. अवधी
   2. बघेली
   3. छत्तीसगढ़ी

3. राजस्थानी —1. मारवाड़ी
   2. जयपुरी
   3. मेवाती
   4. मालवी

4. पहाड़ी —1. पश्चिमी पहाड़ी
   2. मध्यवर्ती पहाड़ी (कुमायूँनी—गढ़वाली)

5. बिहारी —1. भोजपुरी
   2. मैथिली
   3. मगही

डॉ० भोलानाथ तिवारी ताजुज्बेकी और निमाड़ी को भी हिन्दी वर्ग की भाषा मानते हैं, किन्तु दक्खिनी के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

1. **खड़ीबोली :** खड़ीबोली शब्द का प्रयोग भाषाशास्त्र की दृष्टि से दिल्ली-मेरठ के समीपस्थ ग्रामीण समुदाय की बोली के लिए होता है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी तथा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने जनपदीय हिन्दुस्तानी कहा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से खड़ीबोली हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी की मूलाधार बोली है। अन्य भाषाओं से अलगाव जाहिर करने के लिए इसे खड़ीबोली कहा जाता है।

खड़ी बोली के नामकरण के संदर्भ में मतभेद है।

क. चंद्रधर विद्यालंकार, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और कामताप्रसाद गुरु आदि 'खड़ी' शब्द से कर्कशता, खरापन, खड़ापन, कटुता आदि अर्थ लेते हैं। ब्रजभाषा की मधुर मिठास की तुलना में लल्लूलाल जी (1803 ई०) के पूर्व इस भाषा को खड़ीबोली कहा जाने लगा। इसी से स्टैण्डर्ड हिन्दी का विकास हुआ।

ख. कुछ लोग इसे उर्दू-सापेक्ष मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्राकृत शुद्ध ग्रामीण ठेठ बोली मानते हैं। तासी तथा चन्द्रबली पाण्डेय की यही मान्यता है।

ग. डॉ० ग्राहमबेली के अनुसार खड़ी का अर्थ सुस्थिर, सुप्रचलित, सुसंस्कृत, परिष्कृत या परिपक्व से मानते हैं।

घ. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ब्रजभाषा आदि को पड़ी बोली और इसे खड़ी बोली मानकर इसका नामकरण करते हैं।

ङ. कुछ लोग रेखता शैली को पड़ी और इसे खड़ी बोली मानते है।

च. कुछ लोगों के अनुसार उर्दू-फारसी शब्दों को निकालकर शुद्ध भारतीय परम्परा में लिखी जाने वाली भाषा खरी बोली है। उनके अनुसार खरी का अर्थ है शुद्ध।

छ. खड़ी बोली आकारान्त प्रधान भाषा है और ब्रज ओकारान्त बहुल। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार आकारान्तता की खड़ी पाई (ा) के कारण ही इस भाषा का नाम खड़ी बोली हुआ।

ज. अब्दुल हक खड़ी का अर्थ गँवारू मानकर खड़ी बोली को गँवारू बोली कहते है।

वास्तव में खड़ी शब्द गुणबोधक विशेषण है। इसके नामकरण के इतिहास को जानना आवश्यक है। मध्यकाल में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। 19वीं शती के प्रथम दशाब्द मे खड़ी बोली का प्रयोग लल्लूलाल जी ने दो बार, सदल मिश्र ने दो बार और गिलक्राइस्ट ने 6 बार किया है। इन विद्वानों के प्रयोगो से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ब्रजभाषा के माधुर्य के विरोध में कर्कश भाषा को खड़ी बोली कहा गया। 'वास्तव में खड़ी बोली के लिए कर्कश,

कटु आदि अर्थ भाग्ते हु युग की देन है, जबकि हिन्दी कविता के लिए ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों मे प्रतियोगिता हो रही थी। संभवत. ब्रजभाषा पक्ष वालो ने उसी युग में खडी बोली का इस प्रकार अर्थ किया होगा।'[1]

ग्राहमबेली महोदय के अनुसार खड़ी ही मूल शब्द है (खरी नहीं), जो खडा का स्त्रीलिंग रूप है। उनके मत से खड़ी का अर्थ है उठी हुई, प्रचलित। अतः खड़ी का अर्थ है परिपक्व, प्रचलित या सुस्थिर।

खड़ी बोली के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग 1523 ई० के बाद हुआ। 1942 ई० मे प्रेमसागर के सस्करण पर हिन्दी शब्द ही मुद्रित है। अब इसका नाम हिन्दी ही प्रचलित हो गया है, जबकि खड़ी बोली प्रयोग भी कहीं-कहो मिलने है। डॉ० राहुल सांकृत्यायन इसे कौरवी नाम मे सबोधित करते थे। डॉ० बाहरी को भी जनपदीयता की दृष्टि से कौरवी नाम पसन्द है।

1. खड़ी बोली आकारान्त प्रधान भाषा है—करता, किया, गया, जायेगा, लड़का, घोड़ा, बड़ा, छोटा, मोटा, खोटा।
2. ए, औ का उच्चारण संवृत होता है जो ए / ओ सुनाई पड़ता है—बेठ, पेर, ओर, होर, दोग आदि।
3. ह के पहले अ का उच्चारण ए की तरह सुना जाता है—केह्या, रेह (रह)।
4. ठेठ खड़ी बोली मे न के स्थान पर ण, ल के स्थान पर ळ और ड़ के स्थान पर ड का उच्चारण होता है—जाणा, रहणा, बाळक, माळ, बडा आदि।
5. स्वर मध्यग द्वित्त व्यंजन भी दीर्घ स्वर के बाद भी उच्चरित होता है—बेट्टा, राण्णी, लोट्टा, पूच्छा आदि।
6. खड़ी बोली मे ऐ, औ मूल स्वर हो गये हैं।
7. डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार हिन्दी मे भ्रौ, म्ह, न्ह, ण्ह, रह आदि महाप्राण व्यजन ध्वनियाँ है।

व्याकरण : 1. कौरवी में इन की जगह अन स्त्री प्रत्यय है—मालन, धोबन, जनादारन आदि।

2. परसर्ग—कर्ता-शून्य, नै, णँ, नैं, कर्म-सम्प्रदान—कू, नूं, ने, करण-अपादान—से, सू, सँ, तें, सेती, अधिकरण—मे, पैं, प, पर।

3. कौरवी के विकारी रूप में बहुत अंतर है—मरद, मरदूं, बेटियें, लड़कियें आदि।

4. सर्वनाम रूप—मैं, मे, मुज, हम, मजे, मेरा, म्हारा, हमारा, तू, तुम, तमे, तेरा, थारा, तुम्हारा, ऊ, ओ, ओह, वे, वै, उस, विस, उस्का, विन्का, किस, किन, किण, किनी. कुछ।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० 250

5. क्रिया—सहायक क्रिया मानक हिन्दी की तरह हूँ, है, हो, है, है। भूतकाल एकवचन मे था, ह्या, ता, और बहुवचन में थे, हे, ते, वर्तमानकाल में कृदन्तीय रूप खाता, जाता तथा भूतकालिक रूप रिह्या, बैठ्या आदि; भविष्यत्काल के रूप होगा, हूँगा, होगे आदि है। देशभेद मे मारता हूँ के स्थान पर मारूँ, मारते के स्थान पर मारैं आदि प्रयोग भी चलते हैं। जा रहा हूँ के स्थान पर 'जार्या' आदि भी बोलचाल मे प्रचलित हैं।

6 क्रिया-विशेषण—अब, तब, जब, इधर, उधर, जिधर, तिधर, इदर, उदर, किदर आदि रूप प्रचलित है। नही के स्थान पर नई, नी रूप चलते है—मैं नी गया। मैंने नई खाया आदि। खड़ी बोली या कौरवी की मुख्य उपबोलियाँ, पश्चिमी, पूर्वी, पहाडताली और बिजनौरी है।

ब्रजभाषा का उद्भव और विकास

ब्रज का अर्थ 'पशुओं या गौओ का समूह' या चारागाह है। पशुपालन और गोचर भूमि के संदर्भ से मथुरा-वृन्दावन के क्षेत्र को ब्रज की संज्ञा प्राचीन काल से ही प्राप्त है। बोलियों में केवल इसी क्षेत्र की बोली को ब्रजभाषा कहा गया है। ब्रजभाषा भाषा कही गयी, किन्तु अन्य क्षेत्रीय बोलियो को बोली की ही संज्ञा प्राप्त हुई। शौरसेनी प्राकृत से ही ब्रजभाषा का उद्भव हुआ है। कुछ लोग शौरसेनी अपभ्रश मे इसकी उत्पत्ति मानते है, किन्तु यह भ्रामक है, क्योंकि शौरसेनी अपभ्रंश नाम से अपभ्रंश का वर्गीकरण ही नही किया गया। शूरसेन का ही दूसरा नाम ब्रजमण्डल है—'ब्रज चौरासी कोस में मथुरा मंडल धाम'।

दसवीं से चौदहवीं शती तक ब्रजभाषा की क्या स्थिति थी, इसका अध्ययन संभव नही है, क्योंकि मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप साहित्य-सामग्री नष्ट हो गई। परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट तथा डिंगल साहित्य मे ब्रजभाषा का जो थोडा-बहुत साहित्य एवं भाषा रूप उपलब्ध है, उससे उसके स्वरूप का अनुमान लगाया जाता रहा है और उसकी प्रवृत्तियों का निर्देश किया जाता रहा है। हेमचन्द्र के दोहों में शौरसेनी प्राकृत या अपभ्रंश का स्पष्ट स्वरूप लक्षित होता है। शौरसेनी अपभ्रंश अपभ्रश काल मे सम्पूर्ण देश की साहित्य भाषा कुछ देश-भेद के साथ प्रचलित रही है। अत श्रीधर व्यास के रणमल्ल छन्द, प्राकृत पैंगलम्, कीर्तिलता और उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे भी शौरसेनी अपभ्रश के रूप दिखाई पड़ते है। मध्य काल में भी जब अधिकाश देशी भाषाओं का विकास हो चुका था और उनमे साहित्य रचना हो रही थी, ब्रजभाषा पूरे देश की साहित्य-भाषा थी। डॉ० बाहरी के अनुसार नाथो और सतों की बानियो में ब्रजभाषा का व्यापक व्यवहार हुआ है।

लगभग 1350 ई० से ब्रजभाषा का स्वतंत्र साहित्य उपलब्ध होता है।

अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित्र (1354 ई०), विष्णुदास (15वीं शती का पूर्वार्ध) की महाभारत कथा, रुक्मिणी मंगल, स्वर्गारोहण, स्नेह लीला, मानि कवि की बैतालपचीसी (1489 ई०), छिताई वार्ता, वैघनाथ की गीताभाषा आदि रचनाएँ प्राप्त होती है, जिनमे ब्रजभाषा का रूप निखरने लगा था। डूँगर कवि, ठकुरसी, चतरूमल, धर्मदास आदि कवियों ने भी ब्रजभाषा के निर्माण मे योगदान किया।

सूरदास से पूर्व का काल ब्रजभाषा का निर्माण काल था। गुरु ग्रंथ साहब मे भी ब्रजभाषा की कुछ बानियाँ सगृहीत है। 'इससे जान पड़ता है कि तब तक ब्रज की यह बोली अपने क्षेत्र से बाहर भी साहित्य का माध्यम बन चली थी और बोली मात्र न रहकर भाषा बन रही थी।'[1] इससे प्रमाणित है कि ब्रजभाषा अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हो चुकी थी और अपने परिनिष्ठित रूप का विकास कर रही थी। सूरदास, नन्ददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियो ने इसे परिनिष्ठित और साहित्यिक रूप प्रदान किया।

ब्रजभाषा की सामान्य विशेषताएँ

ध्वनि :

1. ब्रजभाषा मे 12 स्वर ध्वनियो का प्रयोग मिलता है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, एँ, ए, ऑ, ओ, ऐ, औ।

2 अ का प्रयोग ब्रजभाषा में उदासीन रूप में मिलता है—बहुअ, बढअ।

3. इ उ के जपित-फुसफुसाहट वाले रूप प्रयोग में आते हैं—राति, ग्यारइ।

4. ए औ का उच्चारण अएँ अओं जैसा होता है।

5. ए ओ के ह्रस्व रूप भी प्रचलन मे है।

6. उदासीन और जपित स्वरो के अतिरिक्त सभी स्वर व्यंजनो के अनुनासिक रूप भी होते है—सेंदुर, मोकों, आंगन, क्यों।

7. ऋ लिखा जाता है, किन्तु उच्चारण र या रि होता है।

8. सभी व्यजनो का उच्चारण ब्रजभाषा मे है, किन्तु ञ और ण का शुद्ध उच्चारण विवादास्पद है। ञ का यँ और ण का डँ उच्चारण सुनाई पड़ता है।

9. महाप्राण ह का लोप अधिकांशतः दिखाई पड़ता है—बारह>बारा, बहू>बऊ।

10 'ड' का 'र', र का ल उच्चारण होता है—थोड़ा>थोरा, रज्जु> ऐजु।

1. हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, पृ० 75

रूप

1. पुल्लिंग एकवचन में उ और स्त्रीलिंग में इ प्रयोग मिलता है—करमु, धरमु, मरमु, कालि, दूरि।

2. बहुवचन में न, नि, अन, अ प्रयोग लगते हैं—सखियन, बातन, बीथिन्ह आदि।

3. ब्रजभाषा मे परसर्गो के प्रयोग होते हैं। कर्ता—ने, नें, नैं, नै, नू।
कर्म-सम्प्रदान—कू, कूँ, कु, कुँ, को, कौ, ए, ऐ, कौ, कैं, कें।
करण-अपादान—ते, तें, तैं, सू, सूँ, सौ, सों, से, सैं, तैं, सें।
अधिकरण—मे, मैं, महूँ, माँहि, महि, म, प, पै, पे, मे से, के काजे, के, ते, मारे, नाई, ढिग, पाछे, ताइ लौं आदि।

4. कारकों के विकारी रूप अनेक होते है।

5. विशेष रूप खड़ी बोली की तरह होते हैं, केवल बहुवचन मे दूजो, दूजै, उल्टे, उल्टी आदि।

6. सर्वनाम—उत्तम पुरुष—मैं, हौं, मो के-हम, हमन, हमैं, हमरो, हमहिं।
मध्यम पुरुष—तू, तूँ, तैं, तो (को)—तुम, तुमहिं, तुम्हे, तुम्हारो, तिहारो।
अन्य पुरुष—वो, वह, वा (को)—वाहि, वै, वे, उन, उन्हे ए, यह, या (को)—याहि, ये, इन, इन्हे जो, जे, जो, जौन, जाहि, जा को, को, का, काहि, कोइ, कोउ, काहू, कछु आदि।

7. अव्यय—अजो, पुनि, ह्या, इत, इतै, मनो, मनु, जनु, नैकु, जिमि, किमि आदि।

8. सहायक क्रिया—वर्तमान—हौं, भूतकाल—हो, हुतो, हतो, तो, भयो, भो आदि।
भविष्यत् काल—ह्वै है, हौंहि, होऊँ आदि।

9. क्रिया रूप—वर्तमान—मारौं, मारै, मारूँ, मारहिं।
भविष्यत—मारिहौं, मारिहैं, मारौंगो, मारैगे।
आज्ञार्थ—सुन, सुनि, सुनो, सुनिये आदि।

हरियाणी

अम्बाला के दक्षिण-पश्चिम भूभाग को हरियाणा कहते हैं। ग्रियर्सन ने इस क्षेत्र की बोली को बाँगरू कहा है। प्राचीन काल में इसे कुरु जांगल, कुरुक्षेत्र या ब्रह्मावर्त कहते थे। बागर केवल जिला करनाल के आसपास का क्षेत्र है, अतः ग्रियर्सन का बाँगरू नाम उचित नहीं है। इस क्षेत्र की भाषा का नाम हरियाणी

ही उचित है। हरियाणा की व्युत्पत्ति हरियान (कृष्ण का यान इसी क्षेत्र से होकर द्वारका गया था) से करते हैं हरि+अरण्य (हरावन), हरिण+अरण्य (हरिनो का जंगल) व्युत्पत्तियाँ भी दी जाती हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी और डॉ० बाहरी अहीर+आना (राजपुताना की तरह) से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं। हरियाणा में अहीर-जाटों का निवास भी है। खड़ी बोली, मारवाड़ी, पंजाबी, शौरसेनी से घिरी यह बोली इनके प्रभाव से ग्रस्त है। इसका क्षेत्र पंजाब, हरियाणा और दिल्ली का कुछ देहाती भाग है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

1. अनेक स्थानों पर ल का प्रयोग हरियाणी में सुरक्षित है।

2. इसमें न का ण और ड़ का ड उच्चारण होता है—जाणा, खाणा, बडा, लडका, आदि।

3. सहायक क्रिया में सूं, सँ, सै, सो का प्रयोग होता है।

4. के के स्थान पर ने का प्रयोग हरियाणी की मुख्य विशेषता है—मैंणे खाणा है।

5. परसर्ग—कर्ता—ने, नैं, नै, न्नै, कर्म-सम्प्रदान—ने, नैं, नँ, ते, तैं, ती, कै, रै।

करण-अपादान—तै, ते, ती, तैं घोरेते, सिते, कानीती (अपादान)।

सम्बन्ध—का, के, कै, की। अधिकरण—मे, मैं, म्हा, महँ, पँ, पअ, आँ।

6. एक व्यंजन के स्थान द्वित्व व्यंजन का प्रयोग हरियाणी की विशेषता है—बेट्टा, गाड्डी, भीत्तर आदि।

7. कारक रूपों में विकारी और अविकारी दोनों रूप मिलते हैं—छोरा, छोरे। विकारी बहुवचन में आँ उकरान्त और इकारान्त दोनों में जोड़ा जाता है—छोरी—छोर्याँ, छोहरियाँ।

8. पूर्वकालिक क्रिया 'कै' तथा सज्ञार्थ क्रिया मारण, मारणा उल्लेख्य हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से हरियाणी पंजाबी और कौरवी के बीच की स्थिति में है। हरियाणी और कौरवी में बहुत कम अंतर है।

बुन्देली

बुन्देलखण्ड के अंतर्गत बाँदा का पश्चिमी भाग, उरई, हमीरपुर, जालौन, झाँसी तथा मध्यप्रदेश का ग्वालियर (पूर्वी भाग), ओड़छा, पन्ना, दतिया, सागर टीकमगढ़, नृसिंहपुर, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद तक का क्षेत्र बुन्देलखण्ड कहलाता है। यहाँ चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ से बुन्देल राजाओं का राज्य था। इसलिए इसे बुन्देलखण्ड कहा जाता है। इस क्षेत्र में दाशार्णी (धसान) नदी के होने से इसका दाशार्णी नाम भी सुझाया गया है। किन्तु बुन्देली नाम अधिक प्रचलित हुआ।

बुन्देली ब्रजभाषा की एक बोली रूप में मान्य है। किन्तु ब्रजभाषा की तरह इसमें उकारान्त-इकारान्त संज्ञाएँ नहीं हैं— घर (ब्रज० घरु), सौत (ब्रज० सौति)। ब्रजभाषा के परसर्ग बुन्देली में भी चलते हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त के लाने, के काजें, खों (को), खो (का) आदि विशिष्ट परसर्ग भी बुन्देली में प्रचलित हैं। 'ह' का लोप करके अऊँ (हूँ), आयँ (है), औ/आव (हो), तो, ते, ती सहायक क्रियाएँ बुन्देली में चलती हैं।

भविष्यत् काल में ह, ग, नै का प्रयोग होता है—होगो, हुहौ, होनै (कभी-कभी मुख्य क्रिया और सहायक क्रिया के संयोग से विचित्र रूप विकसित हो जाते हैं—नई ऑय—नइयाँ आदि। संज्ञार्थ क्रियाओं के मारबौ, मारनै जैसे दो रूप प्रचलित हैं।

बुन्देली में ऐसे शब्द और प्रयोग मिलते हैं, जो हिन्दी की अन्य बोलियों में नहीं मिलते।

कन्नौजी

कान्यकुब्ज ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्य रहा है। कान्यकुब्जेश्वरों की सम्पूर्ण भारत में कभी बड़ी महत्ता थी। कान्यकुब्ज को ही कन्नौज कहा जाता है। कन्नौज की भाषा कन्नौजी है। कन्नौजी का केन्द्र फ़र्रुखाबाद है। पूर्वी कानपुर, हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत आदि में कन्नौजी बोली जाती है।

कन्नौजी को ब्रजभाषा की एक उपबोली माना जाता है। ब्रजभाषा की तुलना में इसमें ऐ, औ की अपेक्षा ए, ओ का प्रयोग अधिक होता है। ऐ औ का उच्चारण अइ, अउ होता है—कउ, कउन। 'व' श्रुति का कन्नौजी में अभाव है। इसमें कर्म में का, कौ, सम्बन्ध में कर, अधिकरण में माँ, महँ परसर्गों का ब्रजभाषा के अतिरिक्त भी होता है। ये परसर्ग अवधी में भी हैं।

ई और ऊ सर्वनाम कन्नौजी में अवधी से आये हैं। संज्ञार्थ क्रियाओं में मारनु, मारनो, मारिबो आदि रूप प्रचलित हैं। भविष्यत् काल में हुइहो, चलिहैं आदि पूर्वी रूप चलते हैं। बहुवचन में लोग के स्थान में 'ह्वार' का प्रयोग होता है— हम ह्वार (हम लोग)।

शेष रूप-रचना ब्रजभाषा के अनुरूप है।

अवधी का उद्भव और विकास

पूर्वी हिन्दी में परिगणित बोलियों में अवधी का स्थान सर्वोपरि है। अवधी का विकास अर्धमागधी प्राकृत से माना जाता है।

अयोध्या से औध और अवध बना है। कुछ विद्वान् इसे कोसली भी कहते हैं। इसे पूर्वी और बैसवाड़ी भी कहा जाता है। कोसल के दो भाग हैं—उत्तरी

कोसल जिसमें अयोध्या के आसपास का क्षेत्र है और दक्षिण कोसल म रीवा और जबलपुर का क्षेत्र पड़ता है। इस प्रकार दोनो मिलाकर महाकोसल मे अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ आती हैं। यदि बघेली और छत्तीसगढ़ी को अवधी के अतर्गत मान लिया जाय तो कोसली नाम सार्थक हो सकता है। किन्तु बघेली और छत्तीसगढ़ी अलग बोलियाँ हैं। अतः इसे कोसली कहना उचित नहीं है।

कोसली का सर्वप्रथम प्रयोग कुवलयमाला में मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के दोहों में भी प्राकृत के जो नमूने दिये गये है, वे अवधी से मिलते-जुलते हैं। प्राकृत पैंगलम् मे भी अवधी का एक छन्द उद्धृत है—

पडव बंसहि जम्मधरीजै । सम्पन्न अजिअ धम्मक दीज्जै ।

14वीं शती से अवधी का स्वरूप विकसित होने लगता है। उस काल तक अवहट्ट या अपभ्रंश से अवधी अलग नही हो पाई थी। 13:0 ई०मे मुल्लादाउदका लोरिकहा या चंदायन अवधी का प्रथम काव्य है। इसके बाद जायसी ने पद्मावत की रचना करके और तुलसी ने रामचरितमानस के प्रणयन से अवधी को बहुत अधिक विकसित किया।

अवधी की विशेषताएँ

1. खड़ी बोली की तुलना में अवधी में स्वरों की मात्रा कम होती है।
2. श और ष का उच्चारण स होता है—रिसि, बिस्वामित्र।
3. ण का उच्चारण ड़ या न होता है—भूसड़ या भूसन, लखन।
4. ष का उच्चारण ख होता है—दोख (दोष), बरखा (वर्षा), लखन।
5 शब्दान्त अ का उच्चारण होता है—कान (काना), मीठा (मीठा)।
6. ऐ, औ संध्यक्षर का उच्चारण अइ, अउ होता है—जइसे, अउरत।
7. व को व्यंजन रूप मे ब और स्वर मे उ/ओ बोलते हैं—बाहन, उकील, ओकील।
8. महाप्राण ध्वनियों में शुद्ध महाप्राणता होती है।
9. संज्ञा शब्द के तीन रूप मिलते हैं—बेटा, बेटवा, बेटवना।
10. अवधी में विविध साहित्यिक क्रियापद होते हैं :

    वर्तमान—आटे, बाटे, है, अहै, आहि, आय।

    भूतकाल—भये, रहे।
11. विशेषण के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते है—दुइ, तीनि, छा, ग्यारा, पहिल, दोसर, दूजा, तीसरे—
12. सर्वनाम—प्रथम : मैं, मइँ, मो, मोहि, मोर, हम, हमलोग, हमहि, हमार

    मध्यम : तू तैं, तइँ तो तोहि, तोर

अन्य - वह, ओ, ओहि, ओकर, वेइ, तेइ, उन, उन्ह, तिन्ह,
उन्हहि, उन्हकर, यह, ये, येहि, एव, जे, जेइ, जवन,
के, कवन आदि।

13. परसर्गों का विवरण—अवधी में कर्ता मे कोई विभक्ति नही लगती।
कर्म-सम्प्रदान—क, का, काँ, कहुँ
कर्ण-अपादान—से, सेनी, सेन, सउँ, सौ, ते, सेति, हुति
सम्प्रदान—करे, बदे
सम्बन्ध—के, कर, केर, क, की, कँ
अधिकरण—मे, म, पर, प

साहित्यिक अवधी में परसर्ग रहित प्रयोग भी प्रचलित हैं।

अन्य परसर्ग—संग, लगि, लागि, पाहि, पास, तांई, बीच, लइ।

14. अवधी में अकाल क्रिया प्रायः 'ब' होती है—देखब (देखना)।
15. वर्तमान कृदन्त—ते, ति, त, भविष्यत्—सुनु, सुन, सुनग, सुनहु, सुनब, भूतकालिक कृदन्त—एउँ, एन, इस—सुनेउँ, सुना, सुनीस आदि।
16. अव्यय : कालि, भोरि, बेगि आदि।
17. प्रेरणार्थक क्रिया 'आव' से बनती है।

बघेली

यह बघेलखण्ड मे बोली जाती है। सोलंकी राजा व्याघ्रदेव के नाम पर इस क्षेत्र का नाम बघलखण्ड पड़ा। यह अवधी की दक्षिणी शाखा है। डॉ० उदयनारायण तिवारी बघेली तथा अवधी में नाममात्र का अंतर स्वीकार करते हैं। दमोह, मिर्जापुर, बिलासपुर आदि में बघेली बोली जाती है।

1. व>ब—आवा>आबा, आया>आबा।
2. आद्य स्वर का लोप—घोडा>घ्वाड़, मोर>म्वार।
3. म्वाँ, मोही, त्वा, तोहीं, वहि, यहि इसके विशिष्ट सर्वनाम हैं।
4. विशेषण में हा प्रत्यय लगाया जाता है—निकहा, अधिकहा।

इसकी शब्दावली में आदिवासियों की भाषा के तत्त्व भी पाये जाते है।

छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढ़ की भाषा छत्तीसगढ़ी है। यह मध्यप्रदेश में है। कहा जाता है कि कभी इस क्षेत्र मे 36 गढ़ थे, जो पलामू से बस्तर तक और बघेलखण्ड की सीमा से लेकर उड़ीसा की सीमा तक फैले हुए थे। 36 गढो के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ था। इतिहास मे इस क्षेत्र को दक्षिण कोसल, दण्डकारण्य और गोंडवाना कहा जाता था।

कुछ विद्वानों के अनुसार चेदि राजाओं के नाम पर इसका नाम चेदीशगढ़ था, जो बाद मे छत्तीसगढ़ के नाम से लोक मे प्रचलित हुआ। इस क्षेत्र मे लाखो आदिवासियों का अधिवास है।

यह भाषा मुख्यत: ब्रज, अवधी और आदिवासी भाषा से प्रभावित है।

1. इसमे महाप्राण ध्वनियो की आवृत्ति है—जन>झन

2. स का उच्चारण छ कही-कही मिलता है—सीता>छीता, सीखना> छीखना।

बिहारी बोली

बिहारी नाम की किसी बोली का उल्लेख प्राचीन साहित्य में नही है। मागधी और अर्धमागधी प्राकृत का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनके आधार पर बिहारी नामकरण करना समीचीन नहीं जान पड़ता। डॉ० ग्रियर्सन ने बिहार प्रदेश की बोली को बिहारी नाम दिया है, जो सर्वथा कल्पित है, क्योंकि बिहार जैसे पूरे क्षेत्र में भोजपुरी, मैथिली और मगही भाषाएँ तथा आदिवासी क्षेत्र में सथाली, मुंडारी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। भोजपुरी और मैथिली की भाषिक विशेषताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। अत: ग्रियर्सन का दिया हुआ 'बिहारी' नाम सर्वथा अनुपयुक्त है। डॉ० बाहरी की मान्यता है—बिहारी, राजस्थानी, पहाड़ी नाम की कोई बोली नही है।

मैथिली साहित्य के इतिहास लेखक डॉ० जयकान्त मिश्र भोजपुरी को हिन्दी क्षेत्र की उपभाषा और मैथिली को अहिन्दी भाषा मानते हैं। उन्होंने एक चमत्कार और किया है कि भोजपुरी को मैथिली की बोली घोषित किया है।[1] डॉ० रामविलास शर्मा ने अनेक तर्कों के द्वारा यह प्रमाणित किया है कि भोजपुरी, मैथिली आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं।[2] डॉ० बाहरी तथा डॉ० सुनीतकुमार चटर्जी के मत से सविधान में राजस्थानी, पहाड़ी या बिहारी नाम की कोई बोली नही गिनाई गयी है।[3]

बिहारी के अंतर्गत डॉ० ग्रियर्सन तथा अन्य विद्वानों ने तीन बोलियों की गणना की है—भोजपुरी, मैथिली और मगही। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भोजपुरी अवधी मे सम्बद्ध है, जबकि मगही मैथिली मे। भोजपुरी का क्षेत्र उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग—गोरखपुर, मिर्जापुर, बनारस, गाजीपुर, बलिया, देवरिया आदि हैं। अत: भोजपुरी को बिहारी भाषा के अंतर्गत मानना उचित नहीं है।

---

1 भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 395

2. वही, पृ० 412

3. ग्रामीण हिन्दी बोलियाँ—डॉ० बाहरी पृ० 27

भोजपुरी

राजा भोज के वंशजों ने मल जनपद में नया राज्य स्थापित किया। अपनी राजधानी का नाम उन्होंने भोजपुर रखा। इसी नाम पर इस प्रदेश का नाम भोजपुर पड़ा। इस प्रदेश की भाषा का नाम भोजपुरी पड़ा। यह भाषा उत्तर प्रदेश के बलिया, गाजीपुर, देवरिया, गोरखपुर, आजमगढ़, मिर्जापुर, जौनपुर, बनारस, बस्ती आदि जिलों में और बिहार के सारन, भोजपुर, रोहतास, चम्पारन, राँची, पलामू तथा मध्यप्रदेश रीवाँ आदि क्षेत्रों में बोली जाती है।

हिन्दी प्रदेश की सबसे बड़ी उपभाषा भोजपुरी है। यह एक जीवन्त भाषा है। हिन्दी प्रदेश के हृदय स्थान में स्थित होने से सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह के अनुसार भोजपुरी भाषा मगध संस्कृति की अक्षय निधि है। मारीशस, मलयदेश, इण्डोनेशिया, फिजी, नेपाल आदि देशों में भी भोजपुरी भाषा बोली जाती है।

दसवीं शती से आज तक भोजपुरी में जन साहित्य की रचना होती रही है। लोक-गाथाएँ, गीत, नौटंकियाँ तथा लोक जीवन एवं मांगलिक अवसरों के काव्य भोजपुरी में प्रचुर मात्रा में लिखे गये हैं। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' (दामोदर पंडित) को भोजपुरी भाषा की रचना माना जाता है। कबीरदास, गोरखनाथ, धरनीदास, परमानन्ददास, बुलाकीदास, दरिया साहब (बिहार वाले), शिवनारायण आदि ने भोजपुरी के भण्डार की भी वृद्धि की है। बिसराम के बिरहे और भिखारी ठाकुर के नाटक भोजपुरी की अक्षय निधि हैं। भोजपुरी में फिल्मों का निर्माण भी हुआ है। इधर भोजपुरी भाषा में प्रभूत साहित्य-रचना हो रही है। साहित्य के विविध अंगों को समृद्ध करने की दिशा में रचनाकार संलग्न हैं।

भोजपुरी का सर्वप्रथम प्रयोग भाषा के अर्थ में सर्वप्रथम 1789 ई० में रेमण्ड ने 'शेरमुताखरी' के अनुवाद की भूमिका में किया। कबीर ने भोजपुरी की जगह 'पूरबी' शब्द का व्यवहार किया है।

भोजपुरी की चार प्रधान उपबोलियाँ हैं—उत्तरी भोजपुरी, दक्षिणी भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी और नागपुरिया। दक्षिणी भोजपुरी (भोजपुर ग्राम के आसपास की भाषा) भोजपुरी की परिनिष्ठित भाषा है। थारू जातियों में भी भोजपुरी प्रचलित है, जिसे थारू भोजपुरी कहते हैं। इनके अतिरिक्त मधेसी, बँगरही, सरवरिया, सारन बोली, गोरखपुरी, खारवारी, छपरहिया, सोनपारी आदि भी उसकी उपबोलियाँ हैं।

भोजपुरी भाषा और उसके बोलने वालों ने हिन्दी के लिए अपूर्व त्याग किया है। हिन्दी के महत्तर मूल्य की रक्षा और उन्नति के लिए उन्होंने भोजपुरी भाषा की अभूतपूर्व उपेक्षा की है। यही कारण है कि भोजपुरी भाषा में साहित्य-रचना

की उपेक्षा होती रही आज भी हिन्दी के लिए भोजपुरी भाषी अपनी भाषा का बलिदान करने मे सन्नद्ध है।

भोजपुरी मैथिली और मगही से छिनगी हुई भाषा है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, स्वय डॉ० ग्रियर्सन, डॉ० भोलानाथ तिवारी आदि भोजपुरी को मैथिली और मगही के साथ बिहारी वर्ग में रखने के पक्ष में नही हैं। भाषाशास्त्री भोजपुरी की उत्पत्ति अर्धमागधी प्राकृत के इसी नाम के कल्पित अपभ्रश से मानते है। डॉ० नामवर सिह भोजपुरी की उत्पत्ति पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश के मध्यवर्ती अपभ्रंश रूप से मानते हैं। इतना तो निश्चित है कि भोजपुरी को बिहारी भाषा के अंतर्गत रखना समीचीन नही है। इसकी उत्पत्ति अर्धमागधी अपभ्रंश से भी नही हुई है, क्योंकि किसी ने इस नाम के अपभ्रंश का उल्लेख नही किया है। अर्धमागधी अपभ्रंश की मात्र काल्पनिक सत्ता है।

ध्वनि :

1. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, स्वर ध्वनियाँ भोजपुरी मे हैं। अ का उच्चारण वृत्तमुखी होता हैं। इन स्वरों के उच्चारण भी विशिष्ट भगिमाओ के साथ उच्चरित होते हैं। स्वरों का उच्चारण ह्रस्व, ह्रस्व विलम्बित, दीर्घ विलम्बित तथा उदासीन होता है। डॉ० शुकदेव सिंह कहते हैं कि आ के उच्चारण ह्रस्व तथा दीर्घ ही होते है।

3. संयुक्त स्वरो का उच्चारण अ इ (ऐ) और अ उ (औ) होता है—कइसा, कउन, अउरत, तस्मइ आदि।

3 क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग और प वर्ग की ध्वनियो के साथ य, र, ल, व, स, ह विशिष्ट व्यंजन ध्वनियाँ हैं। श और ष ध्वनियाँ भोजपुरी में नही है।

4. ड़ और ढ़ मूर्धन्य उक्षिप्त ध्वनियाँ भोजपुरी मे है।

5. न् न्ह, वर्त्स्य व्यजन ध्वनियाँ हैं। म, म्ह द्वयोष्ठ्यघोष व्यजन है।

6. ङ, ङ्‌ह, या, न् न्ह, म, म्ह अनुनासिक कंठ्य ध्वनियाँ हैं।

7, क्षतिपूरक दीर्घीकरण, घोषीकरण, दन्त्यीकरण, आगमन, स्वरभक्ति महाप्राणीकरण आदि स्वर परिवर्तन के नियम भोजपुरी मे प्रचलित है।

रूप-रचना : व्याकरणिक स्वर :

1. अवधी की तरह इसमें भी सामान्य, दीर्घ और दीर्घतर संज्ञा रूप होते हैं, चमार, चमरा, चमरका आदि। कभी ऊ भी लगाया जाता है—सोनरऊ।

2. भोजपुरी के शब्द रूप अकारान्त होते है—मीठ, नीक, हलुक, नील, तीत, खट आदि।

3. परसर्ग—भोजपुरी में कर्ता मे कोई परसर्ग नही लगता।

कर्म-सम्प्रदान—के, कें, को, ला, ले, लागि, लाग, खातिर, वास्ते।

करण-अपादान—से, सें, सो, सन्ती करते।

सम्बन्ध—क, के, के, कर, कै, कि, का।

अधिकरण—में, मों, पर, परि, प, म्मे (एम्में)।

4. सर्वनाम—उत्तम पुरुष—मे, मै, हम, मों—हमन, हमरन, हम लोग, हम लोगन, हमहन, हमनीका।

मध्यम पुरुष—ते, तू, तू, तै—तोहनीका, तोहरन, तू लोग, तू लोगन, तू ममन, तोहन।

अन्य पुरुष—ऊ, ओहि, उहाँ, उ, उन्हि—उन्हुका, ओकरन, उहाँका, उन्हन, हुन्हि, हऊ, उन्हली, हुन्हन, ऊलोग, हउलोग

अन्य—ए, एहि, ए, इहाँ, हई, एह—इन्हिका, एकरन, इहाँ का, ई सब, ई लोग।

अइसन, कइसन, जइसन, तइसन, जे, मे, के, कवन, केकरा।

आदरार्थ—रउँवा, रावा, राउर, रउरा सम, रउआ लोग।

5. सहायक क्रिया—बाटो, बाडी, बानी, हई, हवे, आनी, बाट, बाड, बाटन, हउवे आदि।

6. विशेषण—इहाँ, उहाँ, कहाँ, तहाँ, जहाँ, हियाँ, एहिजा, ओहिजा, केहिजा, जे, जवन, आदि।

7. अव्यय—अब, तब, कब, जब, कबहीं, तबही, परसो, तरसों आदि।

8. ड़ ढ>र—परल, परब, र>ल—फर, गारी आदि।

9. मध्यम र का लोप—लरिका>लरिका, परि>पइ, करि>कई आदि।

10. न्द>न—सुन्दर>सुनर, चान्द>चान, बून्दी>बूनी आदि।

11. न्ध>न्ह—बान्ध>बान्ह, कान्धा>कान्ह आदि।

13. क्रियापद: वर्तमान—हम चली, तू चल, राम खाता, भोला पानी पीअता।

भूत—ल की प्रधानता—चलली, गइली, गइल, खइल आदि।

भविष्यत्—ब की प्रधानता—देखब, देखबि, देखब, देखलसि, बोललसि, हगलसि।

अन्य—इहे की प्रधानता—देखिहे, जइहें।

13. क्रियार्थ संज्ञा—देखल, सूतल, भूतल

भूत कृदन्त—ल, लस।

वर्तमान कृदन्त—त, तिया, ला (देखेला), सूरज उगेला।

मैथिली

मिथिला क्षेत्र की बोली को मैथिली कहा गया है। मैथिली को कई कारणो से अपेक्षित सम्मान प्राप्त हो गया है। राष्ट्रभाषा, अकादमी और पठन-पाठन मे इसे स्थान देकर गौरवान्वित होने का अवसर प्राप्त हुआ है। 'अवहट्ट भाषी सस्कृत: हिन्दी कवि को अपना कवि मानकर मैथिली क्षेत्र के पडितो ने मैथिली भाषा की नीव डाली है।'[1] विद्यापति की भाषा सस्कृत और अवहट्ट होने के साथ ही प्राचीन हिन्दी भाषा का उत्कृष्टतम नमूना है। किन्तु व्याकरणिक समानताओ और आधुनिक पाठ-प्रक्षेपो के ताल-मेल से विद्यापति की भाषा को मैथिली कहा गया है।

मिथिला की उत्पत्ति के सदर्भ में अनेक मत है—

1. कहते है कि 'मिथि' नामक किसी राजा के नाम पर इसका नाम मिथिला पड़ा।
2. उणादि सूत्रकार के अनुसार मथ धातु से मिथिला का निर्माण हुआ, क्योकि समुद्र-मंथन यही हुआ था।
3. मिथिला के किसी ऋषि विशेष के नाम पर इसका नाम मिथिला हुआ।
4. आधुनिक मत से मित का अर्थ है एक साथ मिला हुआ। विदेह, वैशाली और अंग नाम के तीन राज्यो के एक साथ मिलने से इसका नाम मिथिला रखा गया।
5. शाक्ययन के अनुसार जिस देश मे शत्रुओ का दमन हो उसे मिथिला कहते हैं। इसमे से कोई मत सर्वमान्य नही है, क्योकि इनका कोई ठोस प्रमाण नही है। याज्ञवल्क्य स्मृति और वाल्मीकि रामायण में मिथिला नाम का उल्लेख मिलता है। इसका आधुनिक उल्लेख 1771 ई० मे 'तिरुलियन' रूप मे मिलता है। मैथिली नाम अधिक अर्वाचीन है। सर्वप्रथम कोलब्रुक ने 1801 ई० मे इसका उल्लेख किया। ग्रियर्सन ने अपने भाषासर्वेक्षण मे इसका उल्लेख किया है।

मैथिली बोलने वाले मुजफ्फरपुर, दरभंगा, भागलपुर, पूर्णिया, मुगेर, संथाल परगना मे हैं। मालदह और दिनाजपुर जिले में भी मैथिली बोली जाती है। मिथिला से सटे नेपाल क्षेत्र मे भी मैथिली भाषा का प्रचार है।

मैथिली की निम्नलिखित उपबोलियाँ है—उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी, छिकाछिकी तथा जोलहा बोली। उत्तरी मैथिली ही मैथिली भाषा की परिनिष्ठित बोली है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर, विद्यापति, उमापति, नन्दीपति, रमापति, महीपति मैथिली के प्राचीन कवि है। इधर मैथिली भाषा-साहित्य का तेजी से विकास हो रहा है। मैथिली-भाषी भी हिन्दी का प्रयोग करते है।

---

1. भोजपुरी और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण—डॉ० शुकदेवसिंह, पृ० 115

मैथिली मे बगला से मिलती-जुलती मैथिली लिपि कैथी लिपि और नागरी लिपि का प्रयोग होता है अब नागरी का प्रयोग अधिक होता है

मैथिली की उत्पत्ति पूर्वी प्राकृत के पूर्वी रूप मग-विदेह की प्राकृत से हुई है।

मैथिली की विशेषताएँ

ध्वनि :

1. मैथिली मे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ स्वर पाए जाते है। इनमे अ, ए और औ की एकाधिक भंगिमाएँ प्राप्त होती हैं।

2. क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, और प वर्ग के अतिरिक्त य, र, ल, व, श, स, ड, ढ, रह्, ल्ह, ड्ह, न्ह, म्ह, जैसी व्यजन ध्वनियाँ भी प्रचलित है। ट वर्गीय 'ण' और 'ष' का उच्चारण मैथिली में लुप्त हो चुका है। बगला के प्रभाव से 'श' का एक विशेष उच्चारण मैथिली मे होता है।

3. इ, ई, की आठ, 'अ' की सात उ, ओ ए की तीन उच्चारण पद्धतियाँ इसमे हैं।

4. र, ड़, ल की भिन्न उच्चारण स्थितियाँ भी मिलती हैं।

5. ड़ और र का भी एक विशेष शैली मे उच्चारण होता है।

6 मैथिली में ल-न परस्पर विनिमेय है—लवण>नून, नोट>लोट, नम्बर >लम्बर, नग्न>लंगा आदि।

रूप-व्याकरणिक विशेषताएँ

1. मैथिली मे सज्ञा के चार रूप मिलते हैं—सामान्य, दीर्घ, दीर्घतर, कभी-कभी अनावश्यक। घोड, घोड़ा, घोडवा, घोडउआ।

सभी संज्ञा रूपो में भी इसी प्रकार के चार रूप दृष्टिगत हैं।

2. विशेषण में सामान्य, दीर्घ और अनावश्यक रूप उपलब्ध होते है—मीठ, मिठका, मिठक्का, मिठकवा।

3. मैथिली मे पुंल्लिग के लिए पुल्लिग और स्त्रीलिंग के लिए स्त्रीलिंग शब्द रूप मिलते है। सामान्यत. स्त्रीलिंग मे ई प्रत्यय का प्रयोग प्रयोग प्रचलित है।

4. मैथिली मे पुंल्लिग विशेपणो मे आ, का, खा, हा, बा और स्त्रीलिंग मे ई, खी, ही, की, बी प्रत्यय व्यवहार मे आते हैं। इया, ई और इवा, आइन, आइनि प्रत्यय लगाकर स्त्रीवाची शब्द बनाए जाते हैं।

5. मैथिली में बहुवचन बनाने के लिए अन्हि और न्हि प्रत्ययो का प्रयोग होता है। कभी-कभी प्रयोगो से भी बहुवचन रूप प्रकट हो जाता है।

6. कारक

कर्ता—कर्ता मे कोई विभक्ति या परसर्ग नही लगाया जाता।

कर्म—के, कें, सइँ।

करण-अपादान—से, स, सँ।

सम्प्रदान—के, कअँ, ला, लेल ल, लागि।

सम्बन्ध—क, केर, केरा।

अधिकरण—मैं, मेँ मा।

इनके अतिरिक्त कारकीय रूप प्रकट करने के लिए अन्तरे, अन्दर, अपेक्षा, अलावे, आगु, आगा, आगे, उपरा, ऊपर, आतो, एत्ता, काने, कारने, खातिर, गुने आदि अनेक परसर्गीय पदावली का प्रयोग होता है।[1]

7. सर्वनाम—उत्तम पुरुष—हम, हम, मो, हमनी, हमसम, हमरासम।

मध्यम पुरुष—तो तू, तो, तोह, तुहु, तुहुँ—तोहनी, तोहसम, तूसम, तोहरासम।

अन्य पुरुष—ऊ, उ, उअँ, ओ, औ, हऊ, ओहहुन, बै, बोहि—उन, उन्ह, हुन्हि, उहैसम।

8. क्रिया—मैथिली क्रियारूपों मे वचन भेद प्रायः कम है।

वर्तमान—तू चलै छै—तो सब चलै छै।

भविष्यत्—तों चलिहे। तों सब चलिअह।

वर्तमान मे सहायक क्रिया मे छ, अछ, थिक आदि

9. प, श, स की जगह ह—पुष्प>पुहुप, मास्टर>माहटर आदि।

मैथिली की भाषिक प्रवृत्तियाँ अवहट्ट और बँगला से प्रभावित है।

मगही

मगही भाषा पटना, गया, हजारीबाग, पलामू के पश्चिमी हिन्दी तथा भागलपुर के थोड़े से हिस्से में बोली जाती है। इसका नाम मगही, मागी या मागधी है। मागधी का नाम प्राचीनकाल मे भी मिलता है। इसे डॉ० ग्रियर्सन और डॉ० शुकदेवसिंह मैथिली की ही एक बोली मानते हैं। करमदास, मोहनदास और हेमनाथ इसके प्रसिद्ध कवियों मे हैं।

इसकी लिपि मुख्यतः कैथी और नागरी है।

इसके मुख्य भेद आदर्श मगही, शुद्ध मगही, श्लहा मगही, सोनतटिया मगही और जंगली मगही है।

मगही एक ओर भोजपुरी से प्रभावित है तो दूसरी ओर मैथिली से।

ध्वनि :

1. मगही मे मैथिली की तरह ही 10 स्वर ध्वनियाँ है तथा उनकी स्वर भगिमाएँ भी तदनुकूल हैं।

---

1. फॉरमेशन ऑफ दी मैथिली लैंग्वेज, पृ० 350

2. व्यंजन ध्वनियाँ मैथिली की तरह ही हैं जिनमें ण और ष का उच्चारण लुप्त है।

3. काव्य भाषा मे अ का उच्चारण होता है।

4. सयुक्त स्वरो का प्रयोग होता है—लोइआ, किन्तु उनका अइ, और अउ उच्चारण भी होता है।

5. सभी स्वरों का सानुनासिक प्रयोग मिलता है—इगुर, काटू, धोकडी।

6. ङ और ञ मगही की विशिष्ट ध्वनियाँ है—तङ, टांङ्, कइञा आदि।

7. हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह मगही में ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया भी लागू होती है। जैसे घोषीकरण, विपर्यय, समीकरण, महाप्राणीकरण आदि।

8. ल>र—हल>हर, कलेज>करेजा, मछली>मछरी आदि।

व्याकरणिक रूप :

1. मगही मे संज्ञा के ह्रस्व, निर्बल, सबल, दीर्घ और अनावश्यक प्रयोग मैथिली की तरह होते हैं।

2. दो लिंग मगही मे हैं। आइन, इन, इ, इया, नी, ऐनी प्रत्यय से स्त्री रूप बनाए जाते हैं।

3. न, वन, सब और लोग लगाकर बहुवचन रूप बनाए जाते है।

4. परसर्ग—कर्ता—×, कर्म-के, करण-अपादान—से, सें, सती। सम्प्रदान—के, ला, लेल, लगि, लागी, बदे, वास्ते। सम्बन्ध—क, के, केर, केरा, केरी, अधिकरण—मे, मेर, मो, पर।

5. सर्वनाम—उत्तम—मोरा, हमरा—हमनी, हमरनी।
मध्यम—तू, तों—तोहनी, तोहरनी
अन्य—ऊ, ओह, ओकरा—ऊ, उन्हकनि, ओकरी
ई, उ, जे, केऊ, केहू से तौन, का, की, कौची, अपने, अपने सब।

6. विशेषण—अतेक, आतना, आतेक, ओतना, जतेक, जतेना, कतेक केतना, अइसन, ओइसन छव, एकहन्तर, बहन्तर।

7. सहायक क्रिया—हे, हुइ, हइ आदि।

8. अव्यय—कहाँ, तहाँ, पाछ, पछारू, भीत्तर, तन्ने, तेन्ने, दरसूं, बिहने, मोरउए, नीमन, तलक, अस्ते-अस्ते आदि।

राजस्थानी

राजस्थानी को अपभ्रंश की जेठी बेटी की संज्ञा दी गई है। अपभ्रंश की जितनी विशेषताएँ राजस्थानी में सुलभ है, उतनी अन्य बोलियो मे नही। इसका

एक ओर ब्रजभाषा या शौरसेनी से सम्ब ध है ता दूसरी ओर गुजराती से पहो राजस्थानी को सोरठ, मारू या डिंगल कहा जाता था।

राजस्थानी मे मुख्यतः तीस बोलियाँ हैं, जिनमे मारवाड़ी, मालवी, जयपुरी और मेवाती प्रधान है।

मारवाड़ी

शुद्ध मारवाड़ी जोधपुर या उसके आसपास बोली जाती है। इसकी लगभग 12 उपबोलियाँ हैं। यह प्राचीन डिंगल का विकसित रूप है। इसमे चन्द, दुरसाजी, मुरारीदीन, पृथ्वीराज, सूर्यमल, मोरा, दादू, चरणदास आदि का नाम उल्लेखनीय है।

1. इसमे दो क्लिक ध्वनियाँ धृ और स है। धृ का उच्चारण द और ध के बीच मे होता है।
2. स का स और ह के बीच मे उच्चारण होता है—जास्यो।
3. स का उच्चारण श होता है।

मालवी

मालवा की बोली मालवी है। प्रतापगढ़, रतलाम, इन्दौर, भोपाल, होशगा-बाद, झालवाड़, टोंक तथा चित्तौरगढ़ में यह भाषा बोली जाती है। शुद्ध मालवी उज्जैन, इन्दौर और देवास में बोली जाती है। इसमें बुन्देली और मारवाड़ी के बीच की स्थिति है।

1. इसमे 'ण' का उच्चारण नही है।
2. ड़ का उच्चारण ड होता है।
3. ऐ का उच्चारण ए और औ का ओ होता है।

जयपुरी

जयपुरी को ढूँढाड़ी भी कहते हैं। इसकी पश्चिमी सीमा पर ढूँढ या अभीटा है, जहाँ कभी अनेक यज्ञो की योजना की गई थी। इसे जंगली बोली भी कहा जाता है। जयपुर नगर के 50 मील के क्षेत्र में यह भाषा बोली जाती है।

मेवाती

मेओ जाति के नाम पर इस क्षेत्र का नाम मेवात पड़ा। इस क्षेत्र की बोली मेवाती है। इस पर जयपुरी का अत्यधिक प्रभाव है।

पहाड़ी हिन्दी

कुमाउँनी—कुमायूँ का पूर्व नाम कूर्मांचल था। इसके अन्तर्गत नैनीताल,

अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ जिले हैं। इसकी 12 उपबोलियाँ हैं।

इस पर दरद, खस, राजस्थानी, खड़ी बोली आदि के अतिरिक्त किरात और मोटा जाति तथा तिब्बती-चीनी परिवार की भाषाओं का प्रभाव है।

गढ़वाली

ठाकुरो की 52 गढियो के कारण इसका नाम गढवाल या बावनी पड़ा। इस क्षेत्र का नाम आज उत्तराखण्ड है। गढवाल, चमोली, उत्तर काशी, टिहरी आदि मे गढ़वाली बोली जाती है।

स>श तथा न>ण के रूप मे उच्चरित होता है।

अनुनासिकीकरण की प्रवृत्ति भी इसमे है—पैंसा, साँत, छाँया।

ताजुज्बेकी

सोवियत संघ के ताजिकिस्तान तथा उज्बेकिस्तान की सीमा पर हिसार, शहरेनव, रेगार, सूर्ची आदि में बोली जाने वाली इस हिन्दी को डॉ० भोलानाथ तिवारी ने ताजुज्बेकी कहा है। शब्द भण्डार में ताजिक, उजबेक और रूसी ने इसे प्रभावित किया है। इसमे हिन्दी के परसर्ग, सर्वनाम रूप आदि मिलने से डॉ० तिवारी ने इसे हिन्दी भाषा की उपभाषा के अन्तर्गत परिगणित किया है।

निमाड़ी

निमाड़ी मध्यप्रदेश के निमाड क्षेत्र मे बोली जाती है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे राजस्थानी बोली कहा था। डॉ० भोलानाथ तिवारी के मत से यह पश्चिमी हिन्दी की बोली है, क्योंकि राजस्थानी की अपेक्षा यह बुन्देली और ब्रज के अधिक निकट है। निमाड़ी के परसर्ग, सर्वनाम आदि ब्रज और बुन्देली से अधिक मिलते-जुलते और प्रभावित हैं।

□ □